जैनेन्द्र
रचनावली

जैनेन्द्र रचनावली

जैनेन्द्र कुमार हिन्दी के एक ऐसे विरल एवं विदग्ध रचनाकार हैं, जिन्होंने भाषा और साहित्य को अपनी मौलिकता, सहजता व दार्शनिकता से समृद्ध किया। हिन्दी के विराट आकाश में जैनेन्द्र कुमार का रचनात्मक आलोक तेज पुंज के रूप में प्रतिष्ठित हो चुका है। उन्होंने प्रेमचन्द के समय में ही समानान्तर कथा-परम्परा का प्रखर प्रस्थान निर्मित किया। अभिव्यक्ति की अनेक इकाइयों के प्रचलित स्वरूप में मौलिक परिवर्तन करते हुए जैनेन्द्र कुमार ने कथ्य, विचार, संवेदना व संरचना के नवीन पथ प्रशस्त किए। परतन्त्रता और जड़ता के अनेकानेक सामयिक व सनातन प्रश्नों से संवाद करते हुए उन्होंने उपन्यास, कहानी, निबन्ध, संस्मरण, ललित निबन्ध और चिन्तनपरक लेखन में युगान्तर किया। वस्तुतः जैनेन्द्र कुमार स्वयं एक कालजयी शब्द-साधना के प्रतीक बन चुके हैं। एक गूढ़ अर्थ में उनका साहित्य व्यक्ति व समाज की नई नैतिकता का उपनिषद है। उन्होंने धर्म, अध्यात्म, अस्तित्व, जीवन-मूल्य तथा सामाजिक सम्बन्ध आदि को अपनी क्रान्तिदर्शिता से पुनः व्याख्यायित किया। पराधीन भारत के क्रान्तिकारी अहिंसावादी से स्वतन्त्र भारत के मनीषी रचनाकार तक की उनकी यात्रा जीवन और साहित्य में अनेक प्रतिमान स्थापित करती है।

'जैनेन्द्र रचनावली' भारतीय ज्ञानपीठ का एक महत्त्वाकांक्षी आयोजन है। रचनावली के बारह खण्डों में जैनेन्द्र कुमार के विपुल लेखन को संयोजित किया गया है। प्रथम तीन खण्डों में उनके समस्त उपन्यास संग्रहीत हैं। खण्ड चार और पाँच में जैनेन्द्र कुमार के दस कहानी संग्रहों में प्रकाशित समग्र कहानियाँ प्रस्तुत की गई हैं। खण्ड छः, सात, आठ, नौ व दस में सैद्धान्तिक, वैचारिक व दार्शनिक निबन्ध संकलित हैं। खण्ड ग्यारह में ललित निबन्ध तथा संस्मरण और खण्ड बारह में साहित्यिक-सामाजिक-सांस्कृतिक निबन्ध उपस्थित हैं। जैनेन्द्र रचनावली के बारह खण्डों के 8100 पृष्ठों में सर्जना का एक स्वायत्त संसार जगमगा रहा है। प्रत्येक दृष्टि से विशिष्ट, महत्त्वपूर्ण और संग्रहणीय।

ISBN 978-81-263-1490-4 (Set)
978-81-263-1487-4 (Vol. 12)
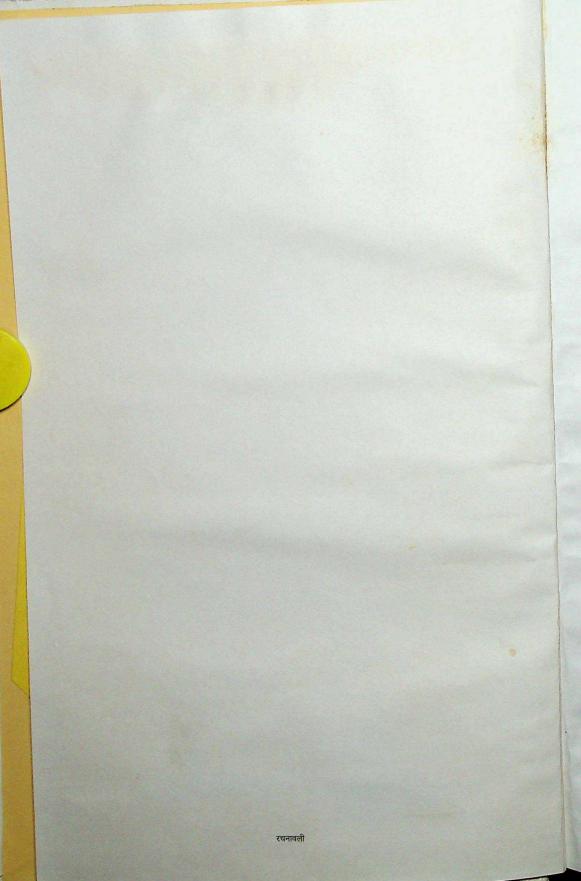
रचनावली

जैनेन्द्र रचनावली : खण्ड–12

(साहित्यिक, सामाजिक, सांस्कृतिक निबन्ध व संस्मरण)

रचनावली

जैनेन्द्र रचनावली

खण्ड-12

जैनेन्द्र कुमार

सम्पादक

निर्मला जैन

सहयोग

प्रदीप कुमार

भारतीय ज्ञानपीठ

लोकोदय ग्रन्थमाला : ग्रन्थांक 918

ग्रन्थमाला सम्पादक

रवीन्द्र कालिया

सह-सम्पादक

गुलाबचन्द्र जैन

ISBN : 978-81-263-1490-4 (Set)
: 978-81-263-1487-4 (Vol. 12)

प्रकाशक :
भारतीय ज्ञानपीठ
18, इन्स्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड
नयी दिल्ली-110 003
ई-मेल : *jnanpith@satyam.net.in, sales@jnanpith.net*
वेब-साइट : *www.jnanpith.net*

मुद्रक : विकास कम्प्यूटर ऐण्ड प्रिंटर्स, दिल्ली-110 032

आवरण-चित्र : राधेश्याम अग्रवाल
आवरण-सज्जा : चन्द्रकान्त शर्मा

पहला संस्करण : 2008
मूल्य : 750 रुपये (खंड : 12)
: 9000 रुपये (बारह खंडों का सेट)

JAINENDRA RACHNAVALI (Vol-12)
(Essays & Reminiscences)
by Jainendra Kumar
Edited by : Dr. Nirmala Jain

Published by
Bharatiya Jnanpith
18, Institutional Area, Lodi Road
New Delhi-110 003

First Edition : 2008
Price : Rs. 750 (Vol. 12)
: Rs. 9000 (One set of Twelve Vols)

अनुक्रम

मेरे भटकाव

ये और वे

कश्मीर की वह यात्रा!

विहंगावलोकन

मेरे भटकाव

प्रारम्भ के प्रभाव

जैनेन्द्रजी, शुरू में आप पर किन-किन लोगों का प्रभाव पड़ा?

—अपने पर पड़े प्रभावों के बारे में अलग-अलग बताना बहुत मुश्किल होगा। जैसा बताया गया बाद में, मैं दो साल का पूरा नहीं हुआ था कि पिताजी की मृत्यु हो गयी। इससे पिताजी की तो याद तक नहीं है। माताजी रह गयीं और माताजी के पास मैं पला। स्वभावतः उनका प्रभाव ही विशेष और गहरा रहा होगा। माताजी वैधव्य पर फिर अपने भाई यानी मामा के पास आ गयीं। उस समय वे रेलवे में काम करते थे। हम लोग उनके साथ ही रहे। तब की इतनी याद है कि मेरी दो बहनें, मामी और उनका लड़का, यानी मेरा छोटा भाई, हम लोग सबके सब बहुत आनन्द से रहते थे। हमारे मामाजी की तनख्वाह 15 रुपये थी। पर कहीं किसी तरह की कमी नहीं थी और 15 रुपये ही पर्याप्त से अधिक होते थे। इसलिए प्रभाव की दृष्टि से माताजी का और उनके बाद हमारे मामा का प्रभाव रहा होगा। मामा भगवानदीनजी थे।

आपका जन्म कब और किस स्थान पर हुआ?

—अलीगढ़ जिले में गाँव ही कहिए, कस्बा तो क्या, कोड़ियागंज। मेरा जन्म अनुमानतः 1905 में हुआ। अनुमानतः इसलिए कहना पड़ता है कि कोई जन्मपत्री है नहीं। इसलिए निश्चित कहना कठिन है। ठीक समय पता नहीं शायद तड़का फूटने से पहले का सवेरा। यह अनुमान हुआ माताजी की लिखी एक कापी की पंक्ति से, उसमें जन्म का सन् 1905 लिखा था। इसलिए जन्म का सन् भर कह सकता हूँ। जन्म की तिथि क्या? इसके बारे में सुनने को मिला कि जब मैं पैदा हुआ तो मुझे पास-पड़ोसियों ने 'सकटुआ' पुकारना शुरू किया। पिताजी लौटकर आये, बाहर गये हुए थे। उन्होंने कहा, 'यह क्या बकवास है, सकटुआ। यह तो आनन्द की घड़ी है। इसलिए उन्होंने आनन्दी ही नाम दे दिया। ऐसे मैं आनन्दी लाल हो गया। 1905 में सकट-चतुर्थी कब पड़ती है इससे अनुमान लगाया जा

सकता है। किसी ने हिसाब लगाकर देखा तो तिथि दो या तीन जनवरी की निकली।

फिर बाद में आपने नाम कब बदला?

—नाम मैंने नहीं बदला। हस्तिनापुर में हमारे महात्माजी (मामा) ने एक गुरुकुल खोला था सन् 1911 में। उस गुरुकुल में कुल पाँच विद्यार्थी भरती हुए। एक मैं था और एक महात्माजी के साथी लाला गैन्दनलालजी का लड़का था। दो-तीन और थे। वहाँ पर नाम बदले गये। अधिकांश नाम इन्द्रान्त रखे गये। और मेरा जैनेन्द्र नाम हो गया। शायद दूसरा इन्द्रासन बचा न होगा। जब मैं वहाँ से निकला तो 'प्राइवेट मैट्रिक' किया और मैंने वही अपना नाम आनन्दी लाल फार्म में भरा। लेकिन जब लिखना शुरू हुआ तो मैं यहाँ दिल्ली में माँ के साथ ही था। माताजी जैनेन्द्र नाम से पुकारने की आदी थीं, आस-पास के लोग भी जैनेन्द्र के नाम से जानते थे, इसलिए जैनेन्द्र नाम चल गया। जिस आनन्दी लाल को साथी जानते थे कॉलेज में, वह बनारस में ही छूट गया। वहाँ के साथियों को यह अनुमान भी न होगा कि जिस आनन्दी लाल को वे जानते थे वह ही जैनेन्द्र हैं। इसकी एक घटना सुनिए—सच्चिदानन्द वात्स्यायन जो अज्ञेय के नाम से प्रसिद्ध हैं, मेरठ में रहते थे। उन्होंने एक साहित्य परिषद् का आयोजन किया था। आये, मैंने पूछा कि कहिए, कैसी व्यवस्थाएँ चल रहीं हैं? उन्होंने कहा कि एक जजसाहब हैं, वे बहुत दिलचस्पी ले रहे और मदद कर रहे हैं। उनके कारण हमको धन इत्यादि की कोई असुविधा नहीं होगी। उन्होंने जानना चाहा था कि कौन-कौन आएँगे। बताया गया कि जैनेन्द्र आएँगे, निराला आएँगे, यह आएँगे, वह आएँगे।...तो जैनेन्द्र नाम की गुहार पर जब मैं मंच पर पहुँचा तो वह जजसाहब एकदम उछलकर ऊपर आये, बोले, 'अरे आनन्दी लाल, तुम जैनेन्द्र?' उनमें जैनेन्द्र के नाम पर उत्कण्ठा थी, पर अनुमान नहीं था कि जो हमारा आनन्दी लाल था वही जैनेन्द्र कुमार हो सकता था। असल बात यह थी कि आनन्दी लाल नाम का लड़का पास हो तो गया था 'प्राइवेट मैट्रिक' और कॉलेज में भी दाखिल हो गया था। पर उसने साइंस वगैरह कभी पढ़ी नहीं थी, इसलिए 'आर्ट्स कोर्स' ले लिया था। आर्ट्स कोर्स में वह बैठा-बैठा सोचा करता कि इसमें पढ़ने को क्या है। जो बतायी जा रही है वे सभी बातें ठीक ही ठीक हैं। वहाँ पढ़ने जैसा है क्या? उमर छोटी थी। समझता हूँ कि 14 वर्ष ही रही होगी : जब कॉलेज के अहाते से बाहर जाते तो द्वार के पास रास्ते पर साइंस के 'प्रैक्ट्रिकल' का रूम पड़ता था। शीशे के अन्दर से दीखता कि लोग जा रहे हैं, आ रहे हैं, बातें कर रहे हैं। कभी उनके हाथ की शीशी में लाल रंग है तो कभी नीला है। तो उस आनन्दी ने सोचा कि यह कुछ दिलचस्प चीज है। सो डेढ़-दो महीने के बाद इस लालच में उसने

'आर्ट्स कोर्स' बदला और साइंस ले लिया। साइंस क्लास में पहुँचा तो उसको खाक समझ में नहीं आया कि प्रोफेसर क्या कह रहे हैं? नतीजा यह हुआ कि 'फर्स्ट इयर' में फिजिक्स में 100 में से शायद उसके 12 नम्बर थे। 'प्रमोशन' मिल गया क्योंकि और सब्जैक्ट्स ठीक थे। उस समय उस आनन्दी लाल को डर एक ही था कि कहीं माँ को यह न सुनना पड़े कि वह फेल हो गया। इस बात का बहुत डर था। वैसे तो वह लापरवाह था, उसे और किसी बात की फिक्र नहीं थी; हालत यह थी कि माँ को इस लड़के पर बिलकुल भरोसा नहीं था। वह जानती थी कि इसको किसी प्रकार का शऊर तो है नहीं। यानी रुपयों का मनीऑर्डर उसके नाम नहीं आता था कॉलेज में। कॉलेज में एक थे दीपचन्द, जिनका गुरुकुल का नाम प्रतीन्द्र था। वह कैराना (उ.प्र.) में वकील थे। उनको समझा जाता था मेरा अभिभावक। रुपया उनको भेजा जाता था। मुझे याद नहीं है कि मैंने कभी जाकर अपनी फीस भी जमा की हो। फीस कैसे कहाँ जमा की जाती थी इस तक का मुझे पता नहीं था। जो मेरे अभिभावक-तुल्य थे, मुझसे एक साल सीनियर थे, वह फीस जमा करते और मेरा खर्च चलाते थे। 'बोर्डिंग' की जो 'मेस' थी उसमें 'बाई रोटेशन' मैनेजर बनाया जाता था। लेकिन किसी को यह कल्पना नहीं होती थी कि जैनेन्द्र, नहीं आनन्दी लाल कहना चाहिए, को कभी यह काम सौंपा जा सकता है। क्योंकि समझा जाता था यह तो है अल्हड़ इस पर किसी प्रकार की जिम्मेदारी नहीं डाली जा सकती। इसी अपने अल्हड़ इकलौते को माँ ऐसा प्यार करती थीं कि बेटा, माँ को तनिक भी निराशा झेलनी पड़े, इस विचार से ही बेहद डर जाता था।

बनारस में हिन्दू विश्वविद्यालय में न?

—यही समझिए। पर तब वह सैन्ट्रल हिन्दू कॉलिज था, कमच्छा में।

क्या कुछ पुस्तकों का प्रभाव भी आप पर पड़ा?

—मैं उस समय भी कुछ किस्से, कहानियों की किताबें पढ़ता था। अच्छी या सस्ती सभी किस्म की। कवि रवीन्द्रनाथ की कहानियाँ पढ़ता था और इधर-उधर की भी। बस इतना ही। लिखने या लिखना सीखने की ओर कोई विशेष रुचि मुझमें नहीं थी। मैंने फिर कॉलेज छोड़ दिया। लोकमान्य तिलक की मृत्यु अगस्त, 1920 को हुई। उसी शाम होस्टल में एक सभा हुई। तदनन्तर कलकत्ता में 'स्पेशल सैशन' हुआ काँग्रेस का। उसमें गाँधीजी का असहयोग आन्दोलन का प्रस्ताव आया और मान्य हुआ। बड़ी काँग्रेस की सभा में उसे फिर स्वीकार किया जाना था। मैंने तब से समझ लिया कि मेरा कॉलेज छूट गया। मैंने पूछा अपने मामा, महात्मा

भगवानदीन से कि मैं 'क्या करूँ?' उन्होंने बहुत डाँट-डपट का पत्र लिखा कि तुम अभी पूछने ही बैठे हो, बजाय इसके कि खबर देते कि तुम यह पढ़ाई और कॉलेज छोड़ चुके हो। बड़ी शर्म की बात है!...कॉलेज छूटने के कुछ अरसे बाद, समझता हूँ कि शायद अगले वर्ष शुरू गर्मी में ही, मुझे नागपुर जाना पड़ा। नागपुर में हमारे मामा भगवानदीन असहयोग आन्दोलन में गिरफ्तार हो गये थे। हमारी मामी यहीं थीं माताजी के पास। माँ ने कहा कि तुम मामी को ले जाओ नागपुर। हम लोग जबलपुर होते हुए नागपुर गये। जबलपुर में माखनलाल चतुर्वेदीजी थे और वहीं से उनका 'कर्मवीर' निकलता था। उनसे परिचय हुआ। वहाँ बहुत युवक थे जिन्होंने स्कूल-कॉलेज छोड़ा था। एक तरह से आश्रम-सा ही बन गया था। उस समय का अल्हड़ जैनेन्द्र काफी बाद में जाकर कलकत्ता के बड़े काँग्रेस अधिवेशन में माखनलालजी के सामने पड़ गया। तब तक वह कुछ लिख तक बैठा था। कुछ नाम और इनाम पा गया था लेखक के रूप में। माखनलालजी ने कहा, 'यह क्या हुआ?' मैंने अचरज से पूछा 'क्या!' बोले, 'तुम जब जबलपुर आये थे तो तुमको दिखाकर हम कहा करते थे कि कुछ लड़के ऐसे बुद्धू और भौंदू होते हैं कि जिनमें किसी तरह की भी सम्भावना नहीं होती। यह एकदम क्या हो गया? तुम तो साहित्यकार निकल पड़े।' मैंने कहा, 'क्या मैं स्वयं यह सवाल आपसे पूछ सकता हूँ?'...तो यह हालत थी मेरी। इससे अन्दाजा हो सकता है कि मैं किस किस्म का फिसड्डी, आवारा, अल्हड़ और बेगाना था। याद है कि मैं जब दिल्ली में रहता था तो एक भी जगह नहीं थी कि घर से निकलूँ तो कहीं पानी भी पा सकूँ। इतना अपरिचित और अबोध किस्म का था। घर से सीधा लाइब्रेरी आता, पढ़ता और फिर घर वापस आ जाता था। यह सिर्फ भटकन मेरी दिनचर्या थी। तभी माखनलालजी दिल्ली आये। भरतपुर में हिन्दी साहित्य सम्मेलन का अधिवेशन हुआ, वे उसके अध्यक्ष थे। वहाँ से आये और चतुरसेन शास्त्री जी के साथ ठहरे। उनके दर्शन के लिए गया तो चतुरसेनजी से मेरा परिचय हुआ। चतुरसेनजी एक बार पूछने लगे कि तुम पढ़ते हो, कुछ लिखने की भी शायद सोचते हो। बताओ किन लेखकों को जानते हो? यों जानने को एक को भी नहीं जानता था, सिर्फ नाम जानता था। मैंने कुछ नाम लिए होंगे। चतुरसेनजी ने पूछा, 'प्रसादजी के बारे में क्या विचार है?' मैंने कहा, 'कौन प्रसाद?' वे असमंजस में पड़ गये। सोचते होंगे कि यह कैसा लड़का है, प्रसाद का नाम भी नहीं जानता। तो मेरी यह निर्बोध दशा थी। इस समय तक, मुझे अचरज लगता है, कि मैं अनायास लिख कैसे बैठा। तब प्रश्न ही प्रश्न मेरे सामने थे। मैं इकलौता लड़का था अपनी माँ का। पिताजी को मैंने जाना नहीं था। माँ का सब आसरा-भरोसा मुझ पर था। मेरी उम्र 20-21 को पार करने लगी। मैंने पाया कि मैं माताजी का सहारा होने के बजाय बोझ हूँ। मन बहुत ही दुःखी रहता था। माताजी बड़े

प्यार से मेरा इन्तजार करती रहतीं कि शाम को आएगा, खाना तैयार करके बैठी रहतीं। मुझे अपने निकम्मेपन की इतनी शरम चढ़ी रहती थी कि जितनी भी देर हो सकती, बाहर ही बाहर रहता था। माँ की आँखों के सामने नहीं आना चाहता था। एक बार आया तो देर हो गयी थी। अँधेरा हो गया, रात आ उतरी। माताजी स्वयं तो पानी भी नहीं पीती थीं अँधेरा होने पर। मेरे ऊपर भी ताकीद थी कि खाना नहीं मिलेगा रात को, सो खाना नहीं मिला। लेकिन मेरी हालत यह थी कि अक्सर अँधेरा हो जाता और रात हो ही जाती थी। एकाध दिन तो वह अपना नियम सह गयीं। आगे उनका प्रेम बरदाश्त नहीं कर सका कि मुझे भूखा रखें। इस तरह अपनी बेबसी और आवारगी से मैं बहुत ही दुःखी रहता था। सोचता था कि तुम किसी के लिए सहारा नहीं हो, सबके लिए बोझ हो। धरती पर ही बोझ हो। ऐसे रहने से क्या फायदा। अक्सर आत्मघात की बात मन में आती थी। फिर सोचता था कि तुम्हें तो छुट्टी मिल जाएगी इस तरह से, लेकिन माँ का क्या होगा? इस दुविधा में मैं उधर कदम नहीं उठा सका। एक बार जाने मुझे क्या हुआ? मैं कलकत्ता भाग गया। सोचा था कि कलकत्ता इतनी बड़ी जगह है, वहाँ कुछ तो नौकरी हाथ आ ही जाएगी और माँ को लिख दूँगा कि अब फिक्र न करो। हावड़ा स्टेशन पर एक धर्मशाला थी। मुझे भला कमरा-वमरा क्या नसीब होता। एक तौलिया था अपने पास और एकाध कुरता होगा उसमें। वह मैंने एक आले में रख दिया। तीन पैसे में तेल का परौंठा मिलता था वहाँ, वह मेरे लिए सुबह और शाम दोनों वक्त के लिए काफी होता था। इस तरह से मैं सात रोज रहा और भटकता रहा। लेकिन 15 रुपये की नौकरी भी नहीं मिली। सोचा, माँ उधर परेशान होगी। मेरे पास पैसा मुश्किल से इतना बचा है कि तीसरे दर्जे का टिकट लेकर वापस दिल्ली पहुँच सकूँ। मैं वापस दिल्ली चला आया। मेरा लिखना इस हालत में शुरू हुआ। यानी यों समझिए कि अपने में डूब रहना मेरे लिए लाजमी था। क्योंकि सामने जब मैं सूने आकाश को और सूने समय को देखता तो देख नहीं पाता था, सहम जाता था। नतीजा यह हुआ कि मेरे लिए जरूरी हुआ कि अपने लिए शगल ढूँढ़ूँ और जैसे-तैसे अपने को भुलाये रखूँ। नहीं तो सामना नहीं हो पाता था भीतर-बाहर की शून्यता का। उस समय कागज-पैंसिल उठाई। कभी कल्पना नहीं थी कि ऐसे लिखा हुआ कुछ छापे में आ जाएगा, किसी भी रोज, किसी भी संयोग से। सिर्फ अपने को खाली और नहीं रहने देने के लिए कागज काला हुआ था। पर उसमें से कुछ छप गया और परमात्मा की करनी कि एक रास्ता-सा मिल गया।

पहले कौन-सी चीज छपी थी आपकी?

—मैं झंडा सत्याग्रह के वक्त नागपुर में था। वहाँ एक अवारी थे जो पीछे जनरल

अवारी के नाम से प्रसिद्ध हुए। वहाँ से दिल्ली आया तो कुछ काल बाद अखबार में पढ़ा कि अवारी गिरफ्तार हो गये। उन्होंने शस्त्र सत्याग्रह शुरू किया था। खुली तलवार लेकर चलते थे और कहते थे कि हमारे भारतीयों का हक है कि तलवार रखें। मैं अहिंसा में विश्वास करता हूँ, तलवार के उपयोग में मैं विश्वास नहीं करता। लेकिन शस्त्र रखने के हक को मुझे कायम करना है। अवारी ने इस तरह अहिंसक शस्त्र सत्याग्रह शुरू किया और उसमें पकड़े गये। मैं इस दिल्ली में आवारा घूमता था। खयाल आया कि एक तेरा साथी इस तरह से जूझ रहा है, चल रहा है, प्राणों पर खेल रहा है—और तू? तो इस आत्मधिक्कार के अधीन मैंने कुछ लिखा और उसका शीर्षक दिया 'देश जाग उठा'। चतुरसेनजी को दिखाया। चतुरसेनजी ने उस पर एक नोट लिखा माखनलालजी के नाम कि—'आपने जिसका शारीरिक परिचय कराया अब मैं उसका आत्मिक परिचय आपको कराता हूँ। यह लेख यथाशीघ्र छपना चाहिए बड़े हाशिये के साथ।' लेकिन वह छपा मुझे दिखाई नहीं दिया। सबसे पहले लिखी चीज वही थी। बाद में एक बार गोरखपुर किसी गोष्ठी में बात कर रहा था तो किसी ने पूछा कि सबसे पहले क्या लिखा? मैंने यही बताया, 'देश जाग उठा'। वहीं एक सज्जन बोले कि लेख वह मेरे पास है। मैंने कह दिया कि यह कैसे हो सकता है। पर वह सचमुच उस लेख को ले आये। कागज जहाँ-तहाँ से फट गये थे। कुछ दीमक चाट गये थे। मैंने पूछा, 'तुम्हारे पास कैसे आया?' तो कहने लगे कि माखनलालजी के पास हम जाते थे, वहीं एक बोरे की रद्दी को टटोला तो उसमें से यह पा गया। आज भी मेरे पास है वह 'देश जाग उठा'। वह नहीं छपा, लेकिन अवारी के बारे में मेरी भावनाएँ जल्दी शान्त नहीं हुईं। चुनाँचे फिर दूसरा लेख लिखा। चतुरसेनजी ने कहा, ''पत्र निकलता है कलकत्ता से 'विश्वमित्र' (साप्ताहिक) उसको भेज दिया है।' वह भी देखने को नहीं मिला। सबसे पहले जो रचना छपी वह थी जरूर मेरी, लेकिन मेरे नाम से नहीं छपी, चतुरसेन शास्त्री के नाम से छपी। वह थी 'देवी अहिंसे।' यह पहली छपी रचना है। यानी अहिंसा की देवी मानकर मैंने उसे सम्बोधित किया और पूछा कि तुम हो क्या? उसमें अवारी का नाम आता है। अवारी तुम्हें (अहिंसा को) देवी मानता है और वही हाथ में नंगी तलवार लेकर चल रहा है, सो तुम सच क्या हो? गद्य काव्य कहिए। वही सबसे पहले छपा था। ऐसे ही एक बार चन्द्रगुप्त विद्यालंकार लाहौर में मुझसे मेरे आरम्भ की बात पूछ बैठे। मैंने यही किस्सा सुनाया तो बोले कि पंजाब में बी.ए. टैक्स्ट में अभी एक पुस्तक लगी है जिसमें चतुरसेन शास्त्री का लेख 'देवि अहिंसे' है। वहाँ 'अहिंसे' से बिन्दी खत्म हो गयी हैं, 'अहिसे' छपा है। मैंने कहा, 'ठीक वही है।' लाहौर से दिल्ली आने पर चतुरसेनजी से मैंने कहा कि रचना बी.ए. के पाठ्य में आ

गयी है, आप संशोधन करना चाहेंगे? वे टाल गये। काफी दिनों के बाद, एक अखबार निकलता था 'अभ्युदय'। पद्मकान्त मालवीय उसे चलाते थे। वे आये और कहने लगे, 'तुम हमारे 'अभ्युदय' को कुछ नहीं देते। अब कुछ न कुछ जरूर देना होगा।' बहुत आग्रह पर मैंने कहा, 'एक रचना है मेरी, लेकिन उसी को 'रिक्लेम' करने की आवश्यकता आ पड़ी है, चाहो तो ले लो।' उनको मामला रोचक लगा। उन्होंने कहा, 'लाओ।' मैंने कहा, 'पहले चतुरसेनजी से मिल लेना चाहिए, अनुमति लेनी चाहिए।' हम दोनों चतुरसेनजी के पास गये। वे चाँदनी चौक में रहते थे। वे नहीं मिले और हम लौट आये। अगले दिन पद्मकान्त कहने लगे, 'अब तो हो भी आये, अब दे दो।' मैंने कहा, 'एक बार और सही।' दूसरी बार फिर नहीं मिले। फिर वह रचना ले ही गये और 'अभ्युदय' में पूरा 'डबल पेज हेडिंग' देकर 'चतुरसेन की चोरी' करके छापी। मैंने कहा था रचना छपे तो एक प्रति शास्त्रीजी को जरूर भेज देना। मैंने समझा कि चतुरसेनजी को भेज दी गयी होगी। एक बार उनके पास बैठा था। अनुमान हुआ कि उनको शायद मालूम नहीं रचना छपी है। मैंने उनसे कहा कि लेख ऐसे-ऐसे छपा है। बहुत नाराज हुए। लेख देखना चाहा और मैंने लाकर दिखा दिया। बहुत बिगड़े, बहुत गुस्सा हुए। पर कभी ठण्डे, कभी गर्म। कहने लगे, 'क्या करना चाहिए?' मैंने कहा, 'आप देख लीजिए।' खैर, उन्होंने सम्पादक को पत्र लिखकर स्वीकार किया कि रचना उनकी नहीं थी। लेकिन जैनेन्द्र को कलम पकड़ना नहीं आता था, सीखने मेरे पास आते थे, इत्यादि। मैंने भी उसी पत्र में लिख दिया कि चतुरसेनजी मेरे गुरु-तुल्य हैं। चोरी आदि की कल्पना भी असम्भव है। पर अखबार ने फिर मोटा शीर्षक देकर छापा, 'चतुरसेन ने चोरी मान ली।' इस प्रकार की अनेक अविश्वसनीय घटनाएँ होती चली गयीं। अनेक सम्पर्क प्राप्त हुए। सबका मुझ पर प्रभाव पड़ा। पर अलग-अलग करके मैं पहचान नहीं सकता। इतना जरूर है कि कुछ लोगों के प्रति मेरे मन में गहरा आदर भाव हुआ। इससे अनुमान हो सकता है कि उनका प्रभाव अधिक पड़ा होगा। जैसे आरम्भ में रवीन्द्रनाथ की कथाएँ मैंने पढ़ी थीं, बाद में रूसी लेखक टाल्सटाय, दोस्तोयेवस्की पढ़े। उनका प्रभाव पड़ा ही होगा। शरतचन्द्र का भी प्रभाव पड़ा। अपने मामा महात्मा भगवानदीनजी की मेरे मन पर बड़ी ही गहरी छाप है। माताजी तो अत्यन्त विलक्षण महिला थीं। उनके लिए आधार रूप कोई भी नहीं रह गया था, भाई घर-बार छोड़ बैठे थे। मेरे पिताजी का देहान्त हो ही चुका था। लेकिन माताजी अदम्य साहसी थीं। निराशा नहीं आने दी, बम्बई चली गयीं। वहाँ थोड़ी कुछ पढ़ी-लिखीं, लेकिन उसी के आधार पर वे बढ़ती गयीं। वे इन्दौर गयीं और वहाँ उनके ऊपर एक संस्था का भार छोड़ दिया गया। दिल्ली कभी-कभी वे आती थीं जैन महिलाओं के आमन्त्रण पर।

आग्रह पर एक बार दिल्ली आयीं और उनके सहयोग से यहाँ जैन महिला आश्रम की स्थापना हुई।

आपने प्रभाव के बारे में पूछा तो मैं समझता हूँ कि इस प्रकार नाना प्रभाव मुझे शिक्षित और दीक्षित करते गये।

आपकी शैली पर किसका प्रभाव पड़ा?

—वह मैं नहीं कह सकता। इतना मुझे याद है कि आरम्भ में मेरा लिखना शुरू हुआ तो चतुरसेनजी ही यहाँ उपलब्ध थे। उनकी एक रचना है 'अन्तस्तल' वह मैंने पढ़ी तो रस मिला। देखा कि उन भावनाओं को चित्रवत् तो अंकित मैं नहीं कर सकता हूँ। फिर भी भावनाओं को अलग-अलग लेकर मैंने लिखना शुरू किया तो चित्रमयता वहाँ गायब लगी, उसकी जगह कुछ विश्लेषण-शीलता आ गयी। तो कहना चाहिए कि चतुरसेनजी का मुझ पर थोड़ा बहुत असर रहा।

वैसे मैं सबसे अधिक कायल हूँ दोस्तोयेवस्की का जो रूस देश में हुए। मानता हूँ कि उनके लिखने का स्तर नैतिक से भी आगे आध्यात्मिक है। टाल्सटाय की भूमिका मैं नैतिक कहूँगा, लेकिन दोस्तोयेवस्की जो आत्मा की संकुलता को पाप के बीच खोजते और दिखाते हैं वह मुझे बहुत प्रिय होता है। दोस्तोयेवस्की के बाद मुझे शरत्चन्द्र में भी दिखायी दिया कि वह पारम्परिक नैतिकता से तुष्ट नहीं हैं। उस स्तर से भी नीचे उनका सन्धान केन्द्र है। आध्यात्मिक शब्द जरा बड़ा है। अध्यात्म में कुछ ईश्वर का बोध आने लगता है। वह तो नहीं है, लेकिन गहराई की दृष्टि से मैं आध्यात्मिक कह भी सकता हूँ। कारण, प्रेम के लिए उन्हें किसी बाहरी समर्थन की आवश्यकता नहीं है। साहित्य में इन दोनों का प्रभाव मेरे मानस पर है। सबसे अधिक प्रभाव मैं समझता हूँ, मेरे ऊपर गाँधीजी का कहना चाहिए। एक समग्र संयुक्त पुरुष का चित्र मैं आँकना चाहूँ तो हठात् वह गाँधीजी का रूप बन जाता है। इसलिए सर्वाधिक प्रभावित तो मैं गाँधीजी के व्यक्तित्व से हूँ।

अपने माता-पिता के बारे में बताएँ?

—मेरा जन्म 1905 में हुआ और दो वर्ष का पूरा नहीं था—1907 रहा होगा कि पिताजी का देहान्त हुआ, जैसा कि बताया जाता है। उनका नाम प्यारेलाल था और मामाजी के लेख से मालूम होता है कि उन्होंने पटवारी की परीक्षा पास की थी और वे कपड़े की पैंठ करते थे। यानी गाँवों की पैठ में देहात का बना कपड़ा बेचते थे। मैंने मामाजी के लेख में यह भी पढ़ा कि उनको किस्से कहने में अच्छी महारत हासिल थी। मुझे पता नहीं, लेकिन हमारे मामाजी ने यह अनुमान लगाया

कि मैं कहानी लेखक बना तो यह प्रभाव पैतृक रूप से मिला होगा। सच यह है कि मेरी कहानियों में शायद किस्सा कोई है ही नहीं।

माताजी की कुशलता का मुझमें सर्वथा अभाव है। यह क्यों हुआ? मैं तो माताजी से बिलकुल उलटा हूँ। इस अर्थ में कि वे बड़ी दक्ष थीं व्यवहार में और उनमें परिवार को जुटाये रखने का, जन-समायोजन का अद्‌भुत गुण था। वह सब मुझमें एकदम नहीं हैं और मैं कभी-कभी सोचा करता हूँ क्या बात है कि इतनी व्यवहारकुशल माता का पुत्र होने पर भी मुझमें व्यवहारशीलता का अत्यन्त अभाव है?

प्रेमचन्द के संस्मरण

उनका देहान्त किस कारण हुआ?

—माताजी का देहान्त 1935 में हुआ। 1936 में प्रेमचन्द का देहान्त हुआ। एक वर्ष पहले उनका देहान्त जलोदर रोग से हुआ और प्रेमचन्द का देहान्त भी जलोदर में ही हुआ। माताजी के देहान्त से कुछ पहले मेरे मन में यह आया था कि शहर का जीवन तुम्हें रुचता नहीं है, इसलिए तय किया था कि गाँव में रहना होगा। सहारनपुर जिले का एक गाँव प्रायः निश्चित भी हुआ था। उस निश्चय के साथ तीन-चार महीने के लिए देहरादून के पास राजपुर में सपरिवार ठहरा भी था। माताजी की बीमारी की बात सुनी तो दिल्ली आया। यह कहने योग्य बात नहीं कि प्राणान्त के क्षण मेरा मन इस चिन्ता के बोझ से दबा था कि कफन कहाँ से आएगा, अर्थी कैसे उठेगी। देहान्त के बाद मेरी बहिनें और उनके बच्चे वगैरह सब आये थे। मैंने फिर 15 नम्बर दरियागंज का मकान लिया जिसमें 7-8 कमरे थे। वह मकान आगरा होटल से लगा था और छत मिली हुई थी। वहाँ से एक-आध चीज चोरी चली गयी थी। इधर प्रेमचन्द बीमार पड़े और वे अपेक्षा में थे कि मैं पहुँचूँगा। कारण, शान्तिनिकेतन जाते समय उनको आश्वासन दे आया था कि आप किसी बात की चिन्ता न करें, जो भी काम-धाम है, मैं आ जाऊँगा, देखता रहूँगा, आप फिक्र में न पड़े। निराला की भेंटवार्ता छपी कि प्रेमचन्द ने कहा, 'जैनेन्द्र आते होंगे, मुझे कोई चिन्ता नहीं है।' मैं पढ़कर सोच में पड़ गया। सोचा कि क्या करूँ? परिवार के सारे सदस्य थे, बड़ा मकान असुरक्षित था, घर में पुरुष सदस्य मैं ही था। इसलिए मुझे एक छोटे मकान की जरूरत हुई जो पीछे की तरफ अत्यन्त सुरक्षित हो। ताकि मैं जाऊँ तो महीने, साल या अधिक जितना भी प्रेमचन्द के पास रहना पड़े तो चिन्ता न हो। तब यह मकान जहाँ अब मैं बैठा हूँ और आप बैठे हैं, लिया गया। यह पूरा बना भी न था। कहना चाहिए

कि मेरे ही निमित्त मकान मालिक ने बनवाया था। इसमें सामान भी नहीं आया था सब कि मैं प्रेमचन्द के पास चला गया। ऐसे प्रेमचन्द की मृत्यु के समय मैं उनकी शैय्या के पास ही था। 1935 में माताजी की मृत्यु हुई, ठीक एक वर्ष बाद उसी रोग से प्रेमचन्द की मृत्यु हुई।

प्रेमचन्द को गये अब सोलह वर्ष होते हैं, लेकिन मन को यह समझाना मुश्किल है कि वह अब स्वर्ग के हैं, हमारे समाज और जमाने के नहीं हैं। सच तो यह है कि उन्हें उठाकर काल ने गलती ही की है। न उनकी उम्र इतनी थी, न किसी तरह वह समय से पीछे थे, थे तो एक कदम आगे ही थे और मौजूदा हालतों में शायद वह पहले से भी आज सही और जरूरी साबित होते हैं।

मेरी पहली मुलाकात उनसे सन् '29 में हुई। जाड़ों के दिन थे, कुम्भ का मेला पूरा हुआ ही था, बनारस से गाड़ी लखनऊ स्टेशन पर कोई चार बजे आ लगी थी। तड़का फूटते मैं उनके लाल मकान पर पहुँचा। लेकिन यह पहुँचना आसान न हुआ। सोचता था कि नामवर आदमी हैं, लाल मकान का पता अपने पास है ही, एक बच्चा तक जगह बता देगा। पर बात उतनी सीधी न निकली, एक-डेढ़ घंटा मुझे लगा अमीनाबाद के पास के उस लाल मकान को पाने में और मालूम हुआ कि आत्मा की और हृदय की और दिमाग की ऊँचाई तथा दुनियादारी की बड़ाई एक चीज नहीं हैं। शायद दोनों समानान्तर हैं।

मकान के ज़ीने के नीचे से आवाज देने पर जब ऊपर प्रेमचन्द प्रकट हुए तो सहसा मन को धक्का लगा, वह देवोपम नहीं मालूम हुआ, और मैं कुछ वैसी ही आस बाँधे था। आगे आये बालों से माथा ढका हुआ, घनी बड़ी मूछें, करीब घुटनों तक बँधी धोती, कन्धों पर लाल किनारी की घिसी-पिटी चादर, कुल मिलाकर जो दृश्य आँखों के सामने पड़ा निश्चय ही मनोहारी न था, लेकिन देखते-देखते वह व्यक्ति लपककर ज़ीने से नीचे आया। फौरन मेरे हाथ से सामान की छोटी-मोटी चीज छीनी, और मुझे इस तरह ऊपर ले चला कि मैं समझ ही न सका कि मैं यहाँ अजनबी हूँ या क्या। ऊपर दालान में एक तरफ मिट्टी का ढेर था, पानी की एक मोटी लकीर कर्ण बनाती हुई इस कोने से उस कोने को मिला रही थी। सहन के बराबर वाले कमरे में, जिसमें हम दाखिल हुए और बैठे, किताबें, कापियाँ, मेज-मूढ़ों पर बेतरतीब खड़ी और पड़ी थीं, और स्याही के धब्बे भी वहाँ होने के लिए हर प्रकार स्वतन्त्र थे। किताबों को झट इधर-उधर सरकारकर मेरे लिए मूढ़े पर जगह हुई, और हम लोग गप करने बैठ गये, ऐसे कि जैसे कब के दोस्त हैं। मैं कच्ची उम्र का अनाड़ी लड़का वह एक पहुँचे हुए बुजुर्ग। साहित्य के वह सम्राट, उसी के तट पर आकर झिझक के साथ झाँकने वाला उत्सुक मैं प्रार्थी। पर प्रेमचन्द की सहृदयता काल-पात्र का यह फर्क नहीं डाल सकी,

मैं तक अपनी हीनता भूल गया और असम्भव नहीं कि चर्चा में, उस समय, कुछ अनाधिकृत बात तक मैं कह गया होऊँ।

कब नौ बज गये, पता न चला, आखिर अन्दर से ताकीद आयी कि दिन इतना चढ़ गया, दवा नहीं लाकर दी जाएगी? तब वह दुनिया की तरफ जागे और जल्दी से पैर में स्लीपर डाल, तकिए से शीशी खींच, नुस्खा तलाश कर, वह दवा लेने दौड़े। कहा, तुम हाथ-मुँह धोओ, मैं अभी आया।

प्रेमचन्द का रूप यह था और सब जगह, सब समय शायद यही रहता था। दुनिया में कुछ कृत्रिमता भी चाहिए, ज्यादा खुले और हार्दिक रहने का यहाँ कायदा नहीं है। जान पड़ता है, प्रेमचन्द को दुनिया के इस जरूरी कायदे का ख्याल दिमागी तौर पर अगर था तो अमल में वह उसे साथ नहीं रख पाते थे।

खा-पीकर बोले, चलो जैनेन्द्र! दफ्तर चलें। मकान से उतरकर मैंने देखा कि हजरत ने अमीनाबाद से ताँगा नहीं लिया, इक्का लिया, मैं एक अच्छे से ताँगे को देखकर उससे बातचीत करना चाहता था, पर वह बोले, नहीं इक्के से चलेंगे। ताँगा हमें खींचता है, इक्के पर हम सवार होते हैं। वही बात हुई कि मुँह हमारा इधर है और खिच हम पीठ की तरफ रहे हैं। अपनी चीज तो इक्का है, कहकर कहकहा लगाया, और एक इक्के वाले को इस तरह सम्बोधन किया, मानो वह इनका कोई जिगरी दोस्त है। दफ्तर में पहुँचकर और बैठकर भी कोई दफ्तरीपन उन पर मैंने चढ़ा नहीं देखा, काम भी हो सकता था और हँसी-ठट्ठा भी हो सकता था।

उस वक्त तो एक ही दिन मैं उनके साथ ठहर सका और उसी रात वहाँ से चला आया। लेकिन उन चन्द घंटों ने हमेशा के लिए मुझे प्रेमचन्द का बना दिया। तब 'हंस' निकालने का ख्याल चल रहा था, ईश्वरी प्रसाद उसके लिए चित्र तैयार करके लाये थे, और उसी दिन टॉलस्टाय के ग्रन्थों का अनुवाद लेकर रुद्रनारायण वहाँ आये थे। दोनों के प्रति उनका व्यवहार देखकर मुझे अचम्भा हुआ, मानो प्रेमचन्द दूसरे के प्रति अपने बर्तने में अपनी खुदी को बाद ही कर देते थे। याद पड़ता है, इस पहले ही मौके पर मैं उनसे पूछ बैठा कि अखबार की नौकरी में पढ़ाने की ऐसी क्या मजबूरी उन्हें होनी चाहिए थी? छोड़िए, छुट्टी लीजिए। आपकी कलम क्या आपके लिए सबकुछ नहीं हो सकती? इस सवाल पर वह ताज्जुब से मेरी तरफ देख गये। समझ गये कि मैं अनुभव से कोरा हूँ, पर नाराज नहीं हुए। जिन्दगी की अपनी लम्बी दास्तान ले बैठे, बताया कि कैसे एक नौकरी से दूसरी नौकरी में गये, इस मुदर्रिसी से वह मास्टरी की। आखिर प्रेस खोला, प्रेस से तंग आकर उसमें ताला डाल घर बैठे। बोले, सुनो एक जगह से पाँच सौ रुपये आने वाले थे ... आखिर एक दिन ढाई

सौ रुपये पहुँच ही गये, सब नोट ज्यों के त्यों मैंने श्रीमतीजी के हाथ में दिए। उन्होंने पूछा, कितने हैं, मैंने कहा, ढाई सौ। झल्लाकर बोलीं, ढाई सौ, और जोर से हाथ को झटककर उन्होंने सारे नोट दालान में फेंक दिए, और मुझे उस वक्त वह-वह सुननी पड़ी कि क्या बताऊँ? तंगी में दिन गुजर रहे थे, सो तो था, लेकिन तब आस तो लगी थी, पाँच सौ की रकम पर। उसकी जगह जो आये ढाई सौ तो पत्नी का धीरज छूट गया। पब्लिशर को तो क्या, सब कुछ मुझको सुनना पड़ा, उसके बाद जो इस जगह का आफर मिला तो मैंने झट कबूल कर लिया। बताओ, तुम क्या नहीं करते? अब रोज-रोज का तो रोना नहीं है।

दिल्ली लौटने के बाद फिर खतो-किताबत का सिलसिला शुरू हो गया। दूसरी मर्तबा मिलना हुआ तो कुछ बड़ी मजेदार बातें हुईं। उस समय उन्होंने मकान बदल लिया था। एक-दूसरे मित्र भी तब लखनऊ में रहते थे, उनसे बात हुई कि चलो प्रेमचन्द के घर चलें। नौकर को हुक्म हुआ कि सवारी लाए। उसने इक्का लाकर खड़ा किया। मित्र ने डाँटकर कहा कि बदशऊर देख के सवारी ला। दुबारा, अच्छा समझकर, एक ताँगा ले आया। मित्र की रुचि के लायक वह भी न निकला, आखिर एक फैंसी रईसी बग्गी लाई गयी। मित्र ने रेशमी शेरवानी पहनी, उसकी जोड़ का चुस्त पजामा, बढ़िया पालिश की शू और सफेद झकझकी टोपी, बाँकी करके लगाई, पहुँचे प्रेमचन्द के यहाँ। वहाँ दरवाजे के पास आते हैं कि देखते क्या हैं, कि बगल से उसी वक्त तेज चाल से चले आ रहे हैं, प्रेमचन्द। बगल में छड़ी है, दूसरे हाथ में झोला, झोले में से ताजा शाक-सब्जी झाँक रही है। बदन पर खाली एक कुर्ता, धोती उसी नमूने की ऊँची बँधी हुई है। साफ था कि कदमों से लम्बी राह नापते आ रहे हैं। उस दृश्य के ये दो विरोधी नमूने भूलते नहीं हैं।

उसी कयास में मैंने पूछा—ये बताइए कि आपको कभी आत्मघात की भी सूझी है या सूझती है?

—बोले—कई बार, और एक तो अभी कुछ महीने की बात है। फिर अपने जीवन का एक किस्सा सुनाया। सवेरे कुछ कहा-सुनी हुई और तय किया कि आज मर डालना होगा। दिन भर घूमते रहे कि आज किसी तरह घर वापस लौटना नहीं है, मर के छोड़ना है। पर यों नहीं, वालंटियर जो पिकेटिंग करते हैं वहीं चुपचाप किसी जत्थे में घुसकर पुलिस की लाठी से सिर तुड़वाकर मरना ठीक होगा। दिन भर इस कोशिश में भटके, पर सिर कहीं टूटा ही नहीं। शाम होने के बाद तीन घंटे अकेले सन्नाटा मार एक बाग में बैठ रहे, पर मौत नहीं आके दी और देखा कि ग्यारह बजे वह अपने ही कदम घर वापस आ रहे हैं।

प्रेमचन्द की हस्ती की सबसे बड़ी खूबी यह थी कि वह हर तरफ से साधारण थे, इस तरह वह जनता और जन के प्रतिनिधि थे, खासतौर पर तो हर कोई बनना चाहता है, आम लोगों में मिलकर खुद खत्म होना कोई नहीं चाहता। प्रेमचन्द की जैसे वही साधना थी और इसके लिए मेरे जैसा आदमी उनका जितना कृतज्ञ हो थोड़ा है।

माताजी का नाम क्या था?

—माताजी का नाम था रामदेवी बाई।

प्रोग्रेसिव कान्फ्रेंस

'प्रोग्रेसिव राइटर्स एसोसिएशन' से भी आपका सम्बन्ध रहा?

—प्रेमचन्द ने मुझसे जिक्र किया था कि कुछ नौजवान लोग हैं तरक्की पसन्द। वे लिखते हैं लेकिन मुस्लिम 'कंजरवेटिव ओपीनियन' वाले उनको बहुत परेशान करते हैं। वे तुमसे मिलेंगे, उनकी मदद करना, हौसला भरना। उसके बाद प्रेमचन्द का लखनऊ से तार आया कि तुम आये नहीं, 'प्रोग्रेसिव कान्फ्रेंस' है।' मैं लखनऊ पहुँचा और सर वजीर हसन साहब के बँगले पर ही प्रेमचन्द के साथ ठहरा। सज्जाद जहीर, सर हसन के साहबजादे थे। वहाँ प्रेमचन्द बोले कि तुम लेट आये हो, खैर, कोई बात नहीं, हमने सवेरे 'मेनिफेस्टो' स्वीकार कर लिया है, लो यह देखो। मैंने कहा कि अभी तो आपने बातचीत की होगी, कान्फ्रेंस शुरू होनेवाली है, 'मैनिफेस्टो' कब, कैसे बन गया? कहने लगे कि भाई, किस चक्कर में पड़ते हो, ठीक है, काम हो रहा है, तुम इस पर 'साइन' कर दो। मैंने कहा कि मैं आपके साथ हूँ, इन लोगों के साथ हूँ। लेकिन दस्तखत इस पर कि 'डिवोशनल लिटरेचर रिएक्शनरी' है, मेरा मन तो यह नहीं कहता। कहने लगे कि तुम जाने किस फेर में हो, इन सब बातों में क्या रखा है। मैंने कहा कि नहीं रखा है तो या तो आप इसको 'ओपन' कर दीजिए बहस के लिए, नहीं तो मुझे माफ कर दीजिए। खैर, उसके बाद भी प्रगतिशील एक-दो कान्फ्रेंस हुईं और मैं सम्मिलित होता रहा। लेकिन बहुत से लोग जो शुरू में शामिल थे धीरे-धीरे करके अलग होते गये। जैसे नरेन्द्र देव और दूसरे जो सोशलिस्ट झुकाव के थे वे। पीछे मालूम हुआ कि सोशलिस्ट और कम्यूनिस्ट इन दो धाराओं में अन्तर है और 'प्रोग्रेसिव' में सोशलिस्ट नहीं आता। ऐसे मेरा भी सम्पर्क ढीला होता गया।

फिर आप पीछे हट गये?

—आगे ही कब बढ़ा था मैं? इससे पीछे हटने का सवाल नहीं था। ऐसा अवश्य

मालूम हुआ कि सर्वथा उनकी तरह से सोचनेवाला उन्होंने मुझे नहीं पाया और इसलिए धीरे-धीरे अपने से मुझे दूर जाने दिया। वैसे मेरे संस्कार भी अनुकूल नहीं थे। जब मैं पहली बार लखनऊ में शामिल हुआ तो ऐसा नहीं था कि मुझे सूर्यास्त से पहले भोजन का नियम हो। लेकिन 7 बजे के करीब भोजन होता था। अब वहाँ ठहरा तो 9 बजे, 10 बजे, 11 और साढ़े ग्यारह भी हो गये और मैं सोचता रहा। ले-देकर 12 के लगभग हम लोग मेज पर पहुँचे। पर मेरे खाने लायक कुछ था नहीं। बड़ी मुश्किल से चपाती और अरहर की दाल निकल पायी। दाल में भी प्याज वगैरह था। बाकी पूछिए नहीं। तो कुछ संस्कार से ही उन्होंने देखा, मैंने भी देखा, कि मैं बिलकुल तरक्कीवाला नहीं हूँ। मैंने प्रेमचन्द से कहा कि उन्हें मेरे कारण असुविधा होती होगी और अगले सवेरे ही मैं उस कोठी से चला आया गंगा पुस्तक माला के दुलारेलाल भार्गव के पास। सवेरे 9 बजे कहीं उठ रहे हैं और बेड-टी आ रही है—इत्यादि कर्म मुझे अनुकूल नहीं हुआ। उन बन्धुओं को क्या मालूम था कि कोई मुझ-सा भी 'प्रोग्रेसिव' हो सकता है।

एक सवाल मैं और आपसे पूछना चाहता हूँ। अक्सर यह कहा जाता है कि प्रेमचन्द मृत्यु से पहले साम्यवाद की तरफ झुक रहे थे। इसमें कितना सत्य है।

—मैं मानता हूँ कि साम्यवादी चिन्तन उन पर प्रभाव डाल रहा था। वे मानने लगे थे कि नैतिक आदर्शवाद वर्तमान परिस्थितियों में पूरा काम नहीं देगा। आर्थिक विषमता उनके लिखने और सोचने में मुख्य विषय थी ही। वे मान चले थे कि आदर्शवाद इस प्रश्न को भावात्मक स्तर पर छोड़ देता है। वह असर थोड़ा उन पर पड़ रहा था। लेकिन मैं यह नहीं मानता हूँ कि नैतिक झुकाव अन्त तक उनसे छूट पाया। कुल मिला कर मैं यह कहूँगा कि गाँधीजी को उन्होंने अन्त तक नहीं छोड़ा। लेनिन की ओर मार्क्स की विचारधारा से प्रभावित जरूर हुए लेकिन इस कारण वे गाँधी प्रभाव या नैतिक रुख से छूट पाये, यह मैं नहीं स्वीकार करूँगा।

जब आपने प्रेमचन्दजी से यह प्रश्न किया कि उनके उपन्यास और उनकी कहानियों में जो देशभक्ति थी और मजदूर और उसके संघर्ष की जो चीजें थीं वह इसलिए आती थीं कि वह उनको दूर से देखते थे तो उन्होंने इसका क्या उत्तर दिया?

—नहीं, वे भी सोचते रह गये। मुझे याद आता है कि एक बार, इन्हीं दिनों की बात है, शायद 1934 की होगी, जवाहरलालजी ने उसका जिक्र किया है अपनी पुस्तक में। वे काशी गये थे ओर मैं भी काशी में संयोग से था और प्रेमचन्दजी बोले, 'जैनेन्द्र, तुम कल आते तो बड़ा मजा आता।' पूछा, 'क्यों।' तो कहने लगे, टाउन हॉल पार्क में एक पार्टी थी। तो उस पार्टी में जिस मेज पर हम थे, वहीं

पर जवाहरलालजी थे और कमलाजी भी थीं। उस अवसर पर नियुक्त फोटोग्राफर ने फोटो लेने की तैयारी में कहा, 'प्लीज जेन्टलमैन—प्लीज जेन्टलमैन।' जवाहरलालजी थोड़ी देर तो सुनते रह गये। फिर जब उसने तीसरी बार 'प्लीज जेन्टलमैन' कहा तो जवाहरलालजी झल्ला के खड़े हुए, बोले, 'क्या 'प्लीज-प्लीज', करते क्यों नहीं अपना काम?' वह बेचारा फिर अपना 'फोकस' जमाता रहा। फिर उसने जो 'प्लीज' कहा तो वह फिर उबल पड़े। कमलाजी बैठी थीं, बोलीं, 'आपको यह क्या हो रहा है? आप क्यों फुदक रहे हैं? बेचारे को काम करने दीजिए।' 'जैनेन्द्र, कमलाजी ने यह जो फुदकने की बात कही तो हमें बड़ा मजा आया।' अगले रोज हिन्दीवालों की गोष्ठी थी, उसमें नेहरूजी का स्वागत था। जवाहरलालजी ने वहाँ कुछ नसीहतें दीं, जिनका जिक्र उन्होंने अपनी पुस्तक में किया है। उसके बाद पीछे कमरे में एक छोटी-सी चाय पार्टी थी। कोई दस-पन्द्रह जने होंगे। सम्पूर्णानन्द साथ आये थे, कमलाजी थीं, नेहरूजी थे और उसमें रामचन्द्र शुक्ल, जयशंकर प्रसाद, प्रेमचन्द और संयोग की बात है कि मैं भी उस समय मौजूद था। तो मैं तो खैर नया था। मेरा कोई अधिकार नहीं था। काशी के सभी शीर्ष साहित्यकार थे, अन्य नेता जन थे। लेकिन मुझे आश्चर्य हुआ कि सब बैठे हैं और बात नहीं हो रही है, करीब दो मिनट चुप्पी-सी रह गयी। न प्रेमचन्दजी बोल रहे हैं, न प्रसादजी, न जवाहरलालजी और न सम्पूर्णानन्द, न और कोई। एकाध मिनट असमंजस ही व्यापा रहा। उसका टूटना आवश्यक था। मैं बोलूँ न बोलूँ, यह सोच ही रहा था कि जवाहरलालजी ने कुछ कहा। कहा कि साहित्यकार को यह करना चाहिए, वह करना चाहिए देश के प्रति, इत्यादि। तो साहस देखिए मेरा कि मैं बोल पड़ा कि साहब, साहित्यकारों को देश के प्रति यह-वह जो करना चाहिए, वह तो ठीक है। लेकिन प्रेमचन्दजी ने जो भी लिखा है उसमें देश को यहाँ से वहाँ तक फैलाकर रख दिया है। लेकिन आपकी लखनऊ काँग्रेस के मन्त्री को यह भी पता है कि प्रेमचन्द ने धरना देने के लिए स्वयंसेवकों में अपना नाम लिखवाया था। वे धरना देने के लिए निकले थे। आपके देश के राजनीतिज्ञों का यह हाल है और हिन्दी के हमारे एक लेखक ने देश के प्रश्नों को यहाँ से वहाँ तक अपने सारे साहित्य पर सजाकर रख दिया है।

और मैं कुछ मानता हूँ कि प्रेमचन्दजी चलती हुई राष्ट्रीय प्रवृत्ति को समीक्षा नहीं सराहना के भाव से देखने के लिए इसलिए विवश थे कि वे उसके अंग नहीं थे, अंग हो नहीं पाये। जेल जाना चाहते थे, वैसा भाग्य नहीं पा सके। उनकी पत्नी अवश्य जेल गयी थीं। उन्होंने मुझे लिखा भी था कि वे चली गयी हैं तो मैं कैसे जेल जा सकता हूँ, कोई तो घर में रहना चाहिए।

अगर वह जेल जाते तो शायद वह 'इल्यूजन' जो उन्होंने पाल रखा था उसमें

'डिसल्यूजनमेंट' आ जाता। बहरहाल जहाँ तक मेरा अपने लिखने का सम्बन्ध है वहाँ तक वह सारी की सारी आन्दोलन की प्रवृत्ति ज्यों की त्यों स्थान नहीं पा सकी। और मेरे मन में जो प्रश्न उठते थे भले वे सूक्ष्मता की ओर जाते हों, उन्हीं का उत्तर मैं अपनी रचनाओं में खोजने का प्रयासी रहा।

और जैसा कि कहा जाता है कि अपने जीवन के अन्तिम वर्षों में प्रेमचन्दजी की आस्था मार्क्सवाद में ज्यादा होती चली गयी और गाँधीजी का प्रभाव उन पर कम होता चला गया तो इस पर आप व्यक्तिगत प्रकाश डालेंगे?

—हाँ मैं जानता हूँ कि गाँधीजी को लेकर एक भावुक आदर्शवाद का उदय प्रेमचन्दजी में हुआ था। समय बाद उनको लगा कि वह अपर्याप्त है। जिसको मार्क्सवाद कहते हैं, यानी गरीब और अमीर में हित-विरोध और हित-विरोध के आधार पर संघर्ष की अनिवार्यता—यहाँ तक तो मैं समझता हूँ कि प्रेमचन्दजी मार्क्सवाद से प्रभावित रहे। लेकिन उससे आगे उस श्रेणी-युद्ध का औचित्य और उसका प्रतिपादन, इसके बारे में मैं मानता हूँ कि अन्त तक भी प्रेमचन्दजी मार्क्स के अनन्य समर्थक नहीं बन सके। इस सम्बन्ध में गाँधीजी के प्रभाव से अन्त तक भी नहीं छूट सके। ऐसा उनमें एक नैतिक झुकाव था, वह उनके हित-विग्रह तक तो पहुँचता था, लेकिन किसी वर्ग के विनाश तक मेरे ख्याल में नहीं पहुँचता था।

लक्ष्य और साधन के बारे में उनके कुछ विचारों में तब्दीली आखिरी दिनों में आयी, आपको मालूम है?

—यह तो मैंने आपसे कहा कि गाँधीजी मुद्रा-मूल्य को ही बदल देना चाहते थे। और उस मूल्य के बदल जाने पर तथाकथित पूँजीपति उनके लिए असह्य नहीं रह जाता था। वरन् सह्य और उपयोगी तक हो जाता था। क्योंकि अगर सिक्का केवल विनिमय का साधन है, उसके कारण किसी को सामाजिक श्रेष्ठता नहीं मिल जाती है, सम्पत्ति पर अधिकार जैसा कुछ नहीं रहता है, तो पूँजी शोषण का साधन नहीं बनती, रचना और निर्माण का उपकरण भर रह जाती है। यह जो एक समग्र कल्पना थी वह प्रेमचन्द के मन पर प्रत्यक्ष नहीं हो पायी। इसलिए आर्थिक विषमता कानून के जरिये दूर की जाए, समाजवाद और साम्यवाद जैसी चीज कानून के जरिये लायी जाए, इसके प्रति उनमें आकर्षण था। मैं मानता हूँ कि गाँधीजी इस रूप में समाधान नहीं देखते थे आर्थिक विषमता का। वे अर्थ को जीवन-मूल्य नहीं बनने देना चाहते थे। अर्थ-मूल्य न रहे, श्रम सामाजिक मूल्य बन जाये तो अर्थ जहाँ भी थोड़ा-बहुत संग्रहीत होगा तो उससे समाज का अहित नहीं होगा, वे ऐसा मानते थे। तो यह चीज प्रेमचन्द जी के निकट इतनी स्पष्ट

नहीं हो पाती थी। और मार्क्सवाद की स्थापना में जो हित-विग्रह और हित-विरोध की बात है, कानून के जोर से जो धनापहरण और राज्यगत सम्पत्तिवाद की बात है, वह उन्हें आकर्षक तथापि किंचित् अनुचित लगती थी। पूँजी पर निजी अधिकार समाप्त होना चाहिए, समाज की ओर से राज्य के अधीन सब अधिकार आ जाना चाहिए या समाजवाद आना चाहिए, इस प्रकार की दृष्टि प्रेमचन्द की हो अवश्य चली थी।

आपके कहने का मतलब यह है कि वह एक तरह से दूसरी तरह के नतीजे पर नहीं पहुँचे?

—नहीं, मैं मानता हूँ कि उनको मार्क्सवादी पूरे तौर पर नहीं कहा जा सकता, गाँधीवादी भी पूरे तरह से नहीं कहा जा सकता, और चूँकि कोई भी वादी उन्हें नहीं कहा जा सकता इसलिए मैं मानता हूँ कि वे मूल में मानव-पक्ष के साहित्यकार थे। यदि वे केवल वादी हो जाते, इधर या उधर झुकते, तो मनुष्य उनकी पकड़ से, उनकी दृष्टि से ओझल हो जाता, सिद्धान्त भर उनके हाथ में रह जाता। तो फिर उनके साहित्य में उतनी मर्म-स्पर्शिता, स्फूर्ति-प्रेरणा नहीं आ सकती थी।

महात्मा भगवानदीन के संस्मरण

महात्मा भगवानदीन ने अपनी नौकरी कौन से सन् में छोड़ी और क्यों छोड़ी?

—उन्होंने जैन शास्त्रों का कुछ स्वाध्याय शुरू किया था। इसमें उनके साथी थे फतहपुर म्युनिसिपल कमेटी के सेक्रेटरी लाला गैन्दनलाल। मामाजी फतहपुर के स्टेशन पर थे और स्वाध्याय के परिणामस्वरूप इन्होंने कुछ प्रतिज्ञाएँ लीं। जैसे चोरी नहीं करनी है, झूठ नहीं बोलना है, आदि। रेलवे स्टेशन पर काम करते देखते थे कि विशेष काम नहीं हो, कोई ट्रेन आनेवाली न हो-तो रात में कुछ नींद भी ले ली जाती है। प्रतिज्ञा के बाद यह चोरी हो नहीं सकती थी। एक-दो दिन के अनुभव के अनन्तर उन्होंने पाया कि या तो नौकरी रह सकती है या व्रत रह सकता है। तीसरे रोज उन्होंने निर्णय कर लिया कि नौकरी नहीं रह सकती और एकदम इस आशय का तार भेज दिया।

कौन से सन् में?

—मैं समझता हूँ कि उन्नीस सौ नौ का अन्त या दस का आरम्भ रहा होगा। कारण, 1911 में तो उन्होंने गुरुकुल की स्थापना कर दी हस्तिनापुर में। नौकरी छोड़ने के बाद एक वर्ष ये घूमते रहे। घूमने में पहले इन्होंने जैन तीर्थों की यात्रा

की। उसके बाद हिमालयों में निकल गये। वापसी पर गुरुकुल कांगड़ी देखा हरिद्वार में। कांगड़ी देखने के बाद मन में संकल्प जमा कि ऐसा ही गुरुकुल खोला जाये और उसकी स्थापना की 1911 में 'हस्तिनापुर ऋषभ ब्रह्मचर्याश्रम' के नाम से।

1911 से 1920 तक वे वहीं रहे?

—वे सरल विचारों के प्रयोगशील पुरुष थे। आश्रम जैन धर्म और समाज की प्रमुख संस्था के रूप में शीघ्र फल-फूल उठा। वहाँ आलू नहीं खाया जाता था, न खिलाया जाता था। वे स्वयं भी आलू नहीं खाते थे। लेकिन तत्त्वाध्ययन और मनन के बाद इनको लगा कि यह परिपाटी है, इसमें धर्म का प्रश्न उतना नहीं है। संस्था के धर्माध्यापक से भी चर्चा की। अन्त में कन्द-मूल के त्याग को उन्होंने त्याग दिया। जब स्वयं आलू अखाद्य नहीं माना तो सोचा कि बच्चों को वंचित रखने का अधिकार नहीं है। तो बच्चों के लिए भी आलू बनने लगा। इस पर जैन समाज में क्षोभ उठा, हो-हल्ला मचा और उस संघर्ष में इन्होंने तय किया कि उन्हें हट जाना चाहिए, वैर-विद्वेष का निमित्त नहीं बनना चाहिए। इस वितंडा के कारण अपने स्थापित गुरुकुल से उन्हें विदा ले लेनी हुई।

फिर असहयोग में भाग लेने से पहले के सालों में उनकी क्या गतिविधियाँ थीं?

—मैं समझता हूँ कि असहयोग आन्दोलन तो खुलकर आया 1920 के बाद। लेकिन 1918 में युद्ध समाप्त हुआ कि तभी से खिलाफत का प्रश्न उठ खड़ा हुआ था। शायद असहयोग की बात खिलाफत कान्फ्रेंस में सबसे पहले आयी थी। उस समय से राष्ट्रीय नवजागरण की शुरुआत हो गयी थी और मामाजी इस प्रवाह में शुरू से जुड़ गये। मैं समझता हूँ कि असहयोग काल में सबसे पहली गिरफ्तारी शायद भगवानदीन जी की हुई है पानीपत में। जैनियों का एक उत्सव था, इन्होंने वहाँ पर भाषण दिया था और उस पर वारन्ट निकला; वारन्ट पर क्या करना चाहिए इस पर मशविरा करने के लिए वे गाँधीजी से मिले अहमदाबाद में। इनके मन में भी था और गाँधीजी ने भी स्पष्ट कर दिया कि वारन्ट से बचने का प्रश्न नहीं है। मैं समझता हूँ कि यह 1919 के आरम्भ की बात होगी। तब तक गिरफ्तारियाँ शुरू भी नहीं हुई थीं। उसके बाद मैं समझता हूँ कि आश्रम छोड़कर ये वर्धा रहे थे। वर्धा में सेठ चिरंजीलाल बड़जात्या एक कार्यकर्ता थे जो पीछे जमनालालजी बजाज के यहाँ काम करते रहे। वहाँ कोई जैन 'बोर्डिंग हाउस' खुला था।

शुरू में इनका कार्यक्षेत्र पानीपत था?

—नहीं, इनका कार्यक्षेत्र पानीपत नहीं था, पानीपत में तो एक जैन उत्सव था,

उसमें वे चले गये थे। कार्यक्षेत्र इनका हस्तिनापुर के बाद वर्धा कहा जा सकता है।

वे मौलिक सूझ-बूझवाले थे, किसी की कापी नहीं थे। गाँधीजी उधर रहे, उनसे ही इनके जीवन में विशेष मोड़ आया सो नहीं। बल्कि ये अपने प्रवाह में चले जा रहे थे और ऐसा लगा कि इनका जीवन प्रवाह और गाँधीजी के आन्दोलन का जो प्रवाह था—ये दोनों दिशाएँ अनायास मिल जाती थीं।

असहयोग आन्दोलन (1920) : जैनेन्द्र का राजनीति में आना

जैनेन्द्रजी, क्या आप यह बताने की कृपा करेंगे कि आपने बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय से किन-किन कारणों से असहयोग किया?

—सन् 1920 की बात है। गाँधीजी ने असहयोग की बात उठायी। कलकत्ता के विशेष अधिवेशन में काँग्रेस ने इस चीज को पास कर दिया था। एक वातावरण बन गया था और लड़के कॉलेज छोड़ रहे थे। तो मैंने अपने मामा महात्मा भगवानदीनजी से लिखकर पूछा कि क्या मुझे कॉलेज छोड़ देना चाहिए? उनका पत्र मिला कि बड़े अफसोस की बात है, शर्म की बात है कि तुम मुझे पूछने के लिए बैठे हो। मुझे तो तुम्हें खबर देनी चाहिए थी कि कॉलेज की पढ़ाई तुम छोड़ चुके हो। बस यह उनका खत आना था कि मैंने कॉलेज छोड़ दिया। कॉलेज छोड़ने के बाद क्या करना है? जब यह प्रश्न उठा तो एकाएक कुछ समझ में नहीं आया। उसके थोड़े दिनों बाद महात्मा भगवानदीनजी तो गिरफ्तार हो गये। उनके अलावा मेरे अपने घर-परिवार में कोई था नहीं जो रास्ता दिखलाता। अपनी माँ का मैं इकलौता लड़का था, और सम्बन्धी दूसरा था नहीं। कुछ दिनों के लिए मैं लाहौर चला गया। वहाँ लाला लाजपतराय ने 'तिलक स्कूल ऑफ पोलीटिक्स' खोला था। वहाँ गया और कुछ समय बाद चला आया। लेकिन सन् 1921 में ही, नागपुर काँग्रेस के बाद, मुझे नागपुर जाने का अवसर मिला। महात्मा भगवानदीनजी गिरफ्तार हो गये थे और मामी को वहाँ पहुँचाने मुझे साथ भेजा गया। मध्य प्रदेश में काँग्रेस के कार्य के लिए जबलपुर होते हुए नागपुर जाना था। जबलपुर में माखनलाल चतुर्वेदी से परिचय हुआ और स्टेशन पर संयोग से पण्डित सुन्दरलालजी भी मिल गये थे। इन दोनों महानुभावों से मिलना हुआ और कहना चाहिए कि थोड़ी-बहुत साहित्यिक आदर्शों के प्रति, मूल्यों के प्रति रुचि उनसे विशेषकर माखनलालजी के कारण हुई होगी। जबलपुर में उस समय स्कूल-कॉलेज से निकले बहुत से लड़के थे। एक आश्रम-सा बन गया था और वहाँ सुभद्रा कुमारी चौहान थीं। सुभद्रा चौहान कवयित्री के रूप में प्रतिष्ठित हो चुकी थीं और मेरा उनसे परिचय ऐसा

था जैसे तल में खड़े आदमी का शिखर से हो। खैर, मैं नागपुर असहयोग आश्रम में आ गया। कुछ ही दिन बाद माखनलाल चतुर्वेदी गिरफ्तार हो गये। उनका मुकदमा बिलासपुर में चलना था और मैं भी वहाँ पहुँचा। सुभद्रा चौहान भी बिलासपुर गयी थीं, हमलोग असहयोग के काम में लग गये थे। गाँव जाते थे, लोगों से मिलते-बताते थे और काँग्रेस के सदस्य बनाते थे। सन् 1921 की बात है। इसी दौर में छिन्दवाड़ा और देहात में कुछ काँग्रेस का काम किया। उस साल के अन्त में अहमदाबाद में काँग्रेस अधिवेशन हुआ और माताजी मेरी बहन के साथ दिल्ली से वहाँ पहुँचीं। उनके साथ मैं भी वापस दिल्ली आ गया। उसके बाद सोचता हूँ कि सन् 1922 होगा कि महात्मा भगवानदीन बैतूल जेल से छूटे। रिहाई के वक्त माँ के साथ मैं बैतूल पहुँच गया था। वह समय ही अजीब था! माताजी वहाँ के अँग्रेज कलेक्टर को राखी बाँधने पहुँच गयीं और उसने भी भाई की तरह रस्म निभायी। तभी महात्मा जी ने कहा कि तुम यहाँ काँग्रेस का काम क्यों नहीं करते हो? कुछ देश का काम करो। और मैं वहीं रह गया।

अब भी मुझे याद है, यद्यपि काफी दिनों की बात है, ताप्ती नदी के किनारे एक गाँव था छोटा-सा। वहाँ हम लोगों ने तय किया कि काँग्रेस का प्रान्तीय सम्मेलन करेंगे। मैं समझिए मुख्य प्रस्तावक था। उस समय गाँव भर में बड़ा उत्साह था, कोई अधिवेशन घर ऐसा न था जहाँ चरखा न हो। सारे गाँव ने तय किया कि कपड़ा पण्डाल में नहीं लगाया जाएगा, सिर्फ हरे पत्ते हर रोज नये लाये जाएँगे। कैसा सुन्दर लगेगा, छाया रहेगी और बचाव भी रहेगा। तभी गया में काँग्रेस होनेवाली थी। और बैतूल से मैं वहाँ गया। मुझे काम सौंपा गया कि प्रान्तीय काँग्रेस अधिवेशन के लिए अध्यक्ष पक्का करके आऊँ। गया में काँग्रेस में दो दल बन गये। कुछ लोग कौंसिलों को उपयोगी और आवश्यक मानते थे और गाँधीजी के कार्यक्रम में कौंसिलों के बायकाट का सवाल था। तो गया में परिवर्तनवादियों और अपरिवर्तनवादियों के दरमियान काफी संघर्ष रहा। यह 1922 के अन्त की बात है। पण्डित सुन्दरलाल उस समय महाकौशल की प्रान्तीय काँग्रेस कमेटी के अध्यक्ष थे। ई. राघवेन्द्र राव उनसे पहले अध्यक्ष थे। उन दोनों के पक्षों में काफी खींचतान चलती थीं। मैं बैतूल से प्रान्तीय काँग्रेस कमेटी का सदस्य बना। पर मुझे तो इन दलों से कोई लेना-देना था नहीं और मैं अपना मत स्वतन्त्र और निरपेक्ष भाव से रख देता था। बाकी मैं समझता था कि यह दलबन्दी कुछ शुभ और सहायक वस्तु नहीं है। पण्डित सुन्दरलाल ने मुझसे कहा कि देखो, तुम्हें हमारे अनुकूल चलना होगा। मैंने कहा कि आपके प्रति मेरा पूज्यभाव है और आप मेरे अभिभावक हैं, लेकिन जो मुझे भीतर से उचित लगे उसके सिवाय मैं दूसरा क्या कह सकता हूँ? यह हो सकता है कि आप चाहें तो मैं वह जगह ही छोड़ दूँ।...संक्षेप यह

कि मैं फिर वापस बैतूल गया नहीं, गया की अधिवेशन से सीधा दिल्ली आ गया। मन को बड़ा सदमा और धक्का लगा। दलगत राजनीति या शक्ति की राजनीति खोखली चीज लगी।

नागपुर झण्डा सत्याग्रह (1923) प्रथम कारावास

उसके बाद सन् 1923 आता है। उस सन् में नागपुर में झण्डा सत्याग्रह शुरू हुआ। सिविल लाइन्स में झण्डे के जुलूस को लेकर जाने नहीं दिया गया था। इस पर तय हुआ कि सत्याग्रह किया जाना चाहिए। मैं उस समय दिल्ली में था। महात्मा भगवानदीनजी के पास से बुलावे का तार आया। मैं गया और नागपुर सत्याग्रह के प्रचार के काम में मुझे लगा दिया गया। नागपुर सत्याग्रह में सुभद्रा चौहान भी आ गयी थीं, उनके पति लक्ष्मण सिंहजी भी काम करते थे। एक छोटी-सी कमेटी थी, पाँच आदमियों की। उनमें प्रकाशन आदि का काम माखनलालजी के सुपुर्द किया गया और वहाँ से वह मुझे सौंपा गया। मैं अनेकानेक पत्रों के संवाददाता के रूप में कार्य करता रहा। तो अब यह इतिहास की बात है कि लोग बड़ी संख्या में जेल गये और अन्त में समझौता हुआ। सरदार पटेल आ गये थे और उनके साथ सरकार की सन्धिवार्ता हुई। तय हुआ कि सिविल लाइन्स में झण्डे के जुलूस ले जाये जा सकते हैं और झण्डा सत्याग्रह की समाप्ति हुई। उस सत्याग्रह के समय काफी लोग ऐसे थे जिनकी याद की जा सकती है। खासतौर से हमारे रुस्तम जी अवारी। वे एक पारसी सज्जन थे, उन्होंने नौकरी छोड़ दी थी मिल से और तब से बराबर आन्दोलन का काम करने लग गये थे। जेल में उनके साथ बेहद सख्तियाँ हुईं लेकिन उनकी हिम्मत को और उनकी लगन को कोई कुछ मन्द नहीं कर सका। अन्य प्रमुखों में थे महात्मा भगवानदीनजी, विनोबाजी और जमनालाल बजाज। सरदार पटेल बाद में आये। ये तो जन थे ही लेकिन उनसे दूसरी पंक्ति में भी कुछ लोग थे जिनका योग इतना ही महत्त्वपूर्ण था, जैसे नीलकंठ राव और आबिद अली आदि। मैं भी अन्त में गिरफ्तार हो गया। गिरफ्तारी के समय की बात याद आती है। मुझे सम्मन मिला था कि कचहरी में अमुक दिन दस बजे हाजिर होऊँ। अब आप देखिए सन् 1923 की यह स्थिति। सम्मन के कागज के पीठ पीछे मैंने लिख दिया कि उस तारीख को आ तो सकता हूँ, लेकिन अगर आप असुविधा न मानें तो तीन बजे मेरी उपस्थिति हो सकेगी। इस प्रकार के विश्वस्त सम्बन्ध आपस में बन गये थे। जो मैजिस्ट्रेट मुझे दण्ड देनेवाला था उसी मैजिस्ट्रेट को, अँग्रेज होते हुए भी, बिलकुल अनौपचारिक रूप से कह दिया जा सकता था कि मैं अमुक समय आऊँगा। मैं मुख्यतया संवाददाता का काम करता था। उस हैसियत से सरकारी अधिकारियों से मिलना-जुलना, आना-जाना रहता

था। 'बोम्बे क्रोनिकल' के एक विशेष संवाददाता थे श्री राघवन। वे सत्याग्रह में योग देने कें लिए बुलाये गये। एक बार की बात है कि जिलाधीश श्री गोवन के कमरे में मैं और राघवन बैठे हुए थे। तब राघवन ने कहा कि इनको आप जानते हैं? वे बोले कि जानता क्यों नहीं, बराबर तो मिलना रहता है। एक बार श्री गोवन ने संवाददाताओं की मीटिंग बुलाई थीं और कहा कि जो आपकी 'रिपोर्ट्स' हों वे हमको दिखाकर आप भेजिए तो वे प्रामाणिक होंगी। मैंने कहा कि यह व्यावहारिक और सम्भव न होगा। कुछ अप्रामाणिक हो हमारी 'रिपोर्ट्स' में तो आप खण्डन कर सकते हैं या बाद में बता सकते हैं। ऐसा लगता है कि उस कारण मैं कुछ उनकी निगाह में चुभ गया। अर्थात् उनकी निगाह में एक अनमनापन साफ था। तब राघवन ने बताया कि यह महात्मा भगवानदीनजी के भाँजे हैं। यह सम्बन्ध उनको मालूम नहीं था। मानते होंगे कि मैं केवल एक संवाददाता हूँ। बस यह था कि अगले दिन ही सम्मन आ गये और झटपट सजा भी मिल गयी। पहले नागपुर जेल में रहे, उसके बाद फिर होशंगाबाद जेल लाये गये। लेकिन फिर समझौता हो गया और जेल से हमको छोड़ दिया गया। यह 1923 की कथा है।

झण्डा सत्याग्रह में जो लोग भाग लेते थे, उसमें कौन-कौन से तबके के लोग ज्यादा थे?

—चारों तरफ से और सब तरह के ही लोग आते थे—सामान्य, गुणी और प्रतिष्ठित सभी—हिन्दू-मुस्लिम, पारसी। गुजरात से बहुत बड़ा जत्था आया था और उसमें शंकरलाल द्वारकादास पारिख और हरिलाल हरजीवनदास नारियलवाला के नाम मुझे याद हैं। नारियलवाला उस वक्त असेम्बली के सदस्य थे। रविशंकर महाराज भी शायद थे। एन.एस. वरदाचारी और के. सन्तानम दक्षिण से आये थे। मुझे लगता है कि उस सत्याग्रह में भाग लेनेवालों में शायद पूरा का पूरा सोसायटी का 'स्पैक्ट्रम' आ जाता था। शायद ही कोई वर्ग बचा हो। खेतिहर थे, मजदूर थे, डॉक्टर थे, वकील थे और अच्छे व्यापारी भी थे। चारों ओर से लोग उमड़ पड़े थे। मैंने स्वयंसेवक एकत्र करने का काम थोड़ा-बहुत किया था इस समय में, जैसे मैं इनके लिए बैतूल गया और देखा कि यदि सौ स्वयंसेवकों की आवश्यकता है तो दुगने, चौगुने प्रस्तुत थे कि हमको भी अवसर दिया जाए। उत्साह का यह हाल था।

जब आप लोगों को भर्ती करते थे तो क्या तथ्य आप लोगों के सामने रहते थे?

—झण्डे के बारे में स्थिति थी ही। लेकिन जो लोगों का जत्था जाता था सिविल लाइन्स में झण्डा लेकर तो सिरे पर ही पुलिस के सिपाही मिलते और उन्हें गिरफ्तार कर लेते। गिरफ्तारी के लिए जानेवाले लोगों को समझाया जाता था कि देखो,

जेल में कष्ट हो सकता है, गोली भी चल सकती है, फाँसी भी लग सकती है, क्या हो सकता है इसका कोई अनुमान नहीं है। पर हमारा हक है कि हम अपने नगर में अपना झण्डा ले जा सकें। अगर इस हक को नहीं माना जाता है तो जीवन नाहक हो जाता है। उस हक को जान देकर भी प्रतिष्ठित करना है। यह हमारी लड़ाई है। इसमें अगर तुमको पक्का विश्वास हो और तुम स्वेच्छा से सब कष्टों को स्वीकार कर सको, बरदाश्त कर सको, तब तुमको जाना चाहिए। अन्यथा पीछे रहकर भी दूसरी तरह के काम कर सकते हो। यह स्पष्टतया सबको बतला दिया जाता था।

मुझे याद है कि पंजाबवाले के. सन्तानम आये थे। उन्होंने एक व्यक्ति की बहुत प्रशंसा की। कहा कि इनको कुछ भी कहने-समझाने की आवश्यकता नहीं है। नाम उनका नहीं बता सकूँगा, वे अभी हैं। पर जेल जाने पर माफी माँगनेवालों में दिखाई दिये। यह सब था, पर कुछ लोग, खासकर वहाँ महाराष्ट्रीय जन जैसे माधव श्रीहरि अणे, मोरेश्वर वासुदेव अभ्यंकर, चोलकर, मुँजे आदि विरोध में थे। श्री अभ्यंकर और अणे से मेरी बात हुई, और वे काफी हल्के ढंग से इस बारे में सोचते थे। एक बात और शायद उल्लेखनीय मान ली जाए। डॉ. केशव बलिराम हेडगेवार जो बाद में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के संस्थापक बने, सन् 1921 में काँग्रेस में थे। मुझे याद है कि मेरे प्रति बहुत अच्छे भाव रखते थे और मिलकर हम सभाओं में जाया करते थे। माधव सदाशिवराव गोलवलकर (गुरुजी) को सब जानते हैं। एक बार की बात है कि गोलवलकर उसी हवाई जहाज से दिल्ली से नागपुर जा रहे थे जिससे मुझे जाना था। यह तब की बात है जब वायुयात्रा आरम्भ ही हुई थी। मैं जा रहा था हैदराबाद। बीच में वे उठकर मेरे पास आ गये। बैठे और कहा, 'जैनेन्द्र, मेरा तुम्हारा परिचय है।' मैंने कहा कि परिचय तो अभी लाला हंसराजजी ने कराया है। बोले, 'यह परिचय नहीं, पुराना परिचय है।' मैं विस्मय में पड़ा तो उन्होंने बतलाया कि हेडगेवार डायरी लिखा करते थे और उनकी डायरी में तुम्हारा कई जगह जिक्र आता है। उन दिनों भी डॉक्टर हेडगेवार के चित्त में कुछ अपने विचार थे कि किस प्रकार देश संगठित होना चाहिए। किन्तु कार्य काँग्रेस में करते थे। आगे जाकर काँग्रेस के स्थानीय नेतृत्व से उनको कुछ असन्तोष हुआ और उन्होंने अपना नया मार्ग धारण किया।

महात्मा गाँधी : जैनेन्द्र की दृष्टि में

अणे और अभ्यंकर झण्डा सत्याग्रह के पक्ष में नहीं थे। तो जब उनसे आपकी बातचीत हुई तो उनके क्या तर्क थे उसके विरुद्ध?

—तर्क-वितर्क को क्या कहीं ढूँढ़ने जाना होता है? वे तो गाँधीजी को ही कुछ महत्त्व देने को तैयार नहीं थे। मजाक उड़ाते थे। जैसे कि गणेश श्री कृष्ण खापर्डे साहब। एक बार सुभाष बोस रेलगाड़ी से उधर से गुजरे। मैं संवाददाता था ही, हर जगह पहुँच सकता था। स्टेशन पर मैं उस डब्बे में गया तो वहाँ ये लोग भी थे। अभ्यंकर थे, अणे भी थे। यह काफी दिनों की बात है। सन् 1923 में, मैं तो छोटा ही रहा हूँगा। समझिए कि कोई 17-18 वर्ष का। इसलिए बढ़कर उनके साथ तर्क तो नहीं कर सकता था, लेकिन सत्याग्रह के महत्त्व पर उनका ध्यान नहीं था। वे समझते थे कि यह एक तमाशा है।

अणे और अन्य लोगों का जो विरोध था, क्या वह इसलिए था कि गाँधीजी के लोग झण्डा सत्याग्रह चला रहे थे?

—मूलत: विचारधारा का अन्तर था। गाँधीजी के ढंग से सोचनेवाले इसके पक्ष में थे लेकिन दूसरे तरीके से सोचनेवाले, जिसको तिलक का तरीका कहा जा सकता है, वे लोग प्रभावित नहीं थे। सत्याग्रह इत्यादि में शायद उतनी आस्था नहीं रखते थे। यही कारण रहा होगा, मैं सोचता हूँ।

हिन्दू-मुसलमानों के आपसी सम्बन्ध (1922 के बाद)

उसके बाद सन् 1923 में झण्डा सत्याग्रह की सफल समाप्ति पर हम दिल्ली आ गये। होशंगाबाद जेल से रिहाई पर वापस नागपुर वगैरह कहीं जाने का सवाल नहीं आया। दिल्ली में हिन्दू-मुस्लिम झगड़ा हुआ। कुछ हत्याएँ हुईं। बहुत से लोग जख्मी हुए और गाँधीजी ने अपना उपवास किया पहला, यहीं दिल्ली में। मौलाना मुहम्मद अली की जगह पर उनके उपवास का प्रारम्भ हुआ और उस उपवास के परिणामस्वरूप यहाँ एक 'यूनिटी कान्फ्रेंस' की गयी थी, काफी बड़े पैमाने पर, और उसका प्रभाव अच्छा पड़ा। गाँधीजी का उपवास टूटा। मुझे उस समय गाँधीजी के पास कई बार उपस्थित होने का अवसर मिला।

आर्यसमाज का अपना एक सोचने का ढंग था। उनमें मुसलमानों के लिए मान्यता थी कि मुख्यता से इनके विचार, इनकी आस्था, इनकी वफादारी अधिक साम्प्रदायिक है, बाहर विदेश में, यानी अपने स्वदेश भारतवर्ष से बाहर, इनका मन रहता है और इसलिए इनसे कोई मेल नहीं हो सकता है। गाँधीजी ने आर्यसमाज के सम्बन्ध में कुछ लिखा था जो उनको प्रिय नहीं हुआ था। आर्यसमाज के नेतागण उनके पास पहुँचे और अपनी शिकायतें रखीं, विशेषकर स्वामी दयानन्द और 'सत्यार्थ प्रकाश' पर उनकी टीका के बारे में। गाँधीजी ने इतना ही कहा कि मैं बहस तो क्या कर सकता हूँ। लेकिन मेरे मन पर जो छाप पड़ी उसके हिसाब

से मैंने लिखा है। मैंने देखा कि गाँधीजी में नम्रता बेहद थी, लेकिन सत्य के प्रति उनका आग्रह और उसके सम्बन्ध में दृढ़ता और अटलता भी पूरी थी। पर नम्रता समीक्षा को कटु नहीं बनने देती थी। परस्परता के सूत्र को टूटने नहीं देती थी। नम्रता रहती, साथ दृढ़ता भी निभती थी। यह अनुभव था तब का।

जब आपने कॉलेज छोड़ा तो उस वक्त आपके साथ और विद्यार्थियों ने भी छोड़ा या आप अकेले ही थे?

—नहीं, असल में बहुत से विद्यार्थियों ने छोड़ा। आचार्य कृपलानी उन दिनों सेन्ट्रल हिन्दू कॉलेज, बनारस में पढ़ाते थे। बनारस यूनिवर्सिटी तभी बनी थी, उनके साथ बहुत से लोगों ने छोड़ा। खासतौर से गाँधी आश्रम के जो प्रमुख कार्यकर्त्ता बने वे सबके सब बनारस के छोड़े हुए थे, जैसे कि विचित्र नारायण, कपिल, राजाराम भाई, धीरेन्द्र भाई। यह सब लोग वहीं के असहयोगी हैं। लेकिन मेरी स्थिति कुछ विचित्र थी। कुछ मैं उम्र में भी कम था और मुझमें हीनभाव बेहद था। इसलिए कृपलानी के समुदाय में नहीं मिल सका, कुछ अकेला-अकेला-सा ही रहा। लाल बहादुर शास्त्री ने भी बनारस से पढ़ना छोड़ा था। मेरे खयाल में टी.एन. सिंह भी वहीं थे। लाल बहादुर शायद उस समय स्कूल में थे, मैं कॉलेज में था। गाँधी आश्रम की स्थापना लगभग वहीं हो गयी। जिन लड़कों ने छोड़ा उनको लेकर आचार्य कृपलानी बैठ गये और वहीं एक संस्था का निर्माण हो गया। काशी के सेठ शिवप्रसाद गुप्त में बहुत उत्कट राष्ट्रीय भावना थी और मानना चाहिए कि काशी विद्यापीठ का सूत्रपात वहीं से हुआ। विद्यार्थी लोग जुट गये और एक संस्था का निर्माण हो गया।

विद्यार्थियों को विश्वविद्यालय छोड़ने के लिए जो प्रोत्साहन मिला उसमें कृपलानी जी का भी कुछ हाथ था?

—कृपलानीजी का काफी कुछ हाथ था। लेकिन गाँधीजी जब आये तो मुझे याद है लड़के उनके पास पहुँचे। मामूली तौर पर गाँधीजी का यह कहना था कि यह शिक्षण तो विषैला है। इस शिक्षण से हमें अलग हट जाना चाहिए, इसे त्याग देना चाहिए। लेकिन जब उनसे व्यक्तिशः विद्यार्थी पूछने जाते थे तो वे कहते थे कि भाई मालवीय जी से पूछ लो। यानी मालवीयजी के विरुद्ध चलो, ऐसा संकेत वे कभी नहीं देते थे। यद्यपि उनका विचार था कि कॉलेज छोड़ना चाहिए विद्यार्थियों को। लेकिन व्यक्तिशः पूछे जाने पर वे कहते थे कि महामना मालवीयजी से मिलो और फिर जैसा तुम उचित समझो, करो। उनकी बात रख सकते हो तो रखो।

आप लोगों ने कॉलेज गाँधीजी के कहने पर छोड़ा या वाकई आप लोगों ने समझा कि ऐसा करने से देश का उद्धार होगा?

—यह तो बहुत मुश्किल है—अपने सम्बन्ध में स्वयं अपने मन का विश्लेषण कर पाना। लेकिन जहाँ तक मैं अपनी बात कहता हूँ उसके जो फलितार्थ थे, वे शायद उतने स्पष्ट मेरे मन में नहीं थे। एक जोश था, एक हवा बनी और उसमें लगा कि ऐसा ही करना चाहिए। खासतौर से महात्मा भगवानदीनजी का जो एक पत्र आया कि शर्म की बात है कि तुम अभी तक पूछने बैठे हो—इससे ऐसा लगा कि अब इसमें बाकी कुछ बचा ही नहीं और फौरन ही छोड़ देना है।

उसमें क्या-क्या गर्भित अर्थ थे, वह सबके सब समझ में भर गये यह मैं नहीं कह सकता। क्योंकि काफी लोग थे जो वापस पहुँचे। जैसे परमात्मा शरण एक विद्यार्थी थे, शायद 'फिफ्थ ईयर' के, वह काफी बढ़कर भाग लेते थे, लेकिन वह फिर वापस गये। तो छोड़नेवालों में से सम्भव हो सकता है कि अधिक प्रतिशत, शायद साठ या सत्तर प्रतिशत से ऊपर फिर वापस गये पढ़ने के लिए। अगर वह सब कुछ समझ-बूझकर हुआ होता और अपने आत्मविश्वास, विवेचन और विवेक के नाते हुआ होता, तो शायद यह घटना नहीं होती। वे फिर वापस क्यों लौटते?

जब आपने गाँधीजी को पहली बार देखा और उनका भाषण सुना उस वक्त वे इक्यावन वर्ष के थे, उनक भाषण बहुत जोशीले नहीं होते थे, हिन्दी टूटी-फूटी बोलते थे। तो क्या चीज नौजवानों को उनकी तरफ आकर्षित करती थी?

—जोशीले तो खैर उनके भाषण इक्यावन वर्ष की उम्र में क्या, पीछे या पहले भी नहीं हुए होंगे। उनकी भाषा सन्तुलित रहती थी, उसमें कभी आवेश नहीं रहता था, लेकिन सच्चाई की दमक कुछ ऐसी थी, जो छू जाती थी और जिसको आवेशवाला जोश कहते हैं, वह नहीं होता था, लेकिन तो भी इतनी जबरदस्त चुनौती रहती थी, एक प्रकार की अदम्यता रहती थी कि सामनेवाला उससे प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता था। उसका विश्लेषण कर सकना बहुत कठिन है। गाँधीजी के पास पहुँचकर एक बात जो मैंने अनुभव की, और जिसका तर्क बिलकुल हाथ नहीं आता है, वह यह कि यदि जैनेन्द्र उनके पास जाये तो लौटने पर अनुभव होता था कि वह सवा जैनेन्द्र बन गया है। हर कोई जितना जाता उससे बढ़कर लौटता था। मान लीजिए कोई जैन है तो और पक्का जैन होकर लौटता। लेकिन मान लीजिए कि कोई मुसलमान जाता है तो वह उतना ही पक्का मुसलमान बनकर लौटता था। प्रत्येक व्यक्ति जो पास जाता था, अपने को बढ़ा हुआ अनुभव करता था, और मैं मानता हूँ कि यह चमत्कार एक ऐसा चमत्कार था कि उसके बाद मैंने तो किसी भी व्यक्ति में वह बात देखी नहीं। और मैं इस विशेषता को बहुत समझने की कोशिश करता हूँ, उसके तर्क को, तुक को, तो समझ नहीं पाता हूँ कि यह कैसे सम्भव होता है। तो गाँधीजी का जादू कुछ यह था। मुझसे विमुख

कोई जाएगा, वह भी वहाँ से अपने को बढ़ा-चढ़ा अनुभव करके लौटेगा, मैं जाऊँगा तो मैं अपने में सवाया-ड्योढ़ा अनुभव करता हुआ लौटूँगा। यानी हरेक के व्यक्तित्व में, उस उपस्थिति में ऐसा कुछ उभार, उन्मेष भर आता था कि आदमी हमेशा के लिए अपने से भी अधिक उनका हो जाता था। अधिकांश नेतागण हैं कि जिनके पास पहुँचकर आप अपने को छोटा अनुभव करते हैं। यदि ऐसा होता है तो हाँ आकर्षण कैसे निर्माण पा सकता है? गाँधीजी के पास होकर मानो आपके अन्दर की सब सम्भावनाएँ जी और जाग जाती थीं। ऐसा मालूम होता था कि कुछ नहीं है जो आप नहीं कर सकते हैं। जैसे उनकी आत्मशक्ति आपमें बह आती हो। इसको मैं एक अनोखी प्रक्रिया ही कहता हूँ, क्योंकि मेरी समझ में नहीं आता है कि यह कैसे सम्भव है। यह सम्भव तभी हो सकता है जबकि पुरुष नितान्त, निःस्व और प्रेमल हो जाए। निज में इतना विमुक्त हो जाये कि दूसरे के स्व में अनायास ढल जाए। यह उसके लिए सम्भव हो सकता है जिसको मुक्त-आत्मा कहते हैं। इसे एक दैवी विशेषता ही कहिए।

गाँधीजी के भाषण जो आपने सुने, शायद वे दिमाग को इतना ज्यादा अपील नहीं करते थे, जितना दिल को करते थे और शायद दिल से अधिक आत्मा को। वे क्या उसको बड़ी गहराई से झिझोड़ देते थे?

—यह बात बिलकुल ठीक है। मैं तो कहता हूँ कि विनोबा जी बोलते हैं तो लगता है उपनिषद् ही बोल रहा है, उसमें 'पंक्चुएशन्स' तक ज्यों-की-त्यों मौजूद हैं। यानी शास्त्र बोल रहा है, और गाँधीजी जब बोलते थे तो लगता था कि यह कुछ ऐसी निर्गुण वाणी है जो सुननेवाले और कहनेवाले के बीच संवादिता स्थापित कर स्वयं गायब हो गयी है। यानी पुस्तक नहीं है, उसमें स्वतन्त्र रूप नहीं है। उसको 'रिकॉर्ड' करें तो लगता है कि पुस्तक नहीं बनती है; उसमें व्याकरण नहीं होता, शुद्धता नहीं होती। आप उसको हृदय की भाषा कहना चाहें तो कहें। लेकिन मैं मानता हूँ कि हृदय की तो वह थी ही, लेकिन भाषा में उनकी आत्म-व्यथा इस तरह से ध्वनित और व्यंजित होती थी कि भाषा बोली जा रही है, यह सुननेवाले को पता ही नहीं रहता था। यानी भाषा का अस्तित्व समाप्त हो जाता था और एक अभेद सुनने और बोलनेवाले के बीच में बनने लग जाता था। गाँधीजी के बारे में यह अद्‌भुत अनुभव आता था। भाषा के तहत व्यक्ति जैसे एक-दूसरे को प्राप्त कर रहा हो, ऐसा लगता था।

सन् 1919 में एक ऐसा तूफान आया और सब वर्गों के लोग गाँधीजी की ओर खिंचते चले गये। आपके विचार में इसका क्या कारण हो सकता है?

—कारण समझने को शेष रह ही जाता है। राजनीति के क्षेत्र में बुद्धि और प्रतिभा की प्रखरता और वाग्मिता से तो लोगों का परिचय था। गाँधीजी के विषय में प्रतीत हुआ कि उस परम्परा में वे कहीं आते ही नहीं हैं। बिलकुल जैसे एक नया तत्त्व लोगों के सामने आया हो, ऐसा भारतवर्ष को लगा और इस प्रचण्ड आकर्षण को किसी प्रकार के प्राचीर रोक नहीं सके। ऊँचे से ऊँचे बुद्धिवादी वाग्मी नेता, आलोचक और कानून के पण्डित, सबके सब खिंचते चले आये। कारण यही कि ऐसा विलक्षण, आश्चर्यजनक 'फिनोमिना' सामने था जिसने विश्लेषण का अवकाश न दिया। सच यह कि उनसे एक असह्य चुनौती आदमी को मिली। लोगों को लगा कि जैसे उनका अन्तःकरण ही उनके रूप में स्वरूप ले उठा है, मानो अन्तस्थ भगवान ही उनके सामने आ खड़े हुए हैं। उस प्रेम की फटकार और ललकार के समक्ष सबमें एक आत्मस्फूर्ति जगी, आत्मानुभूति कौंधी कि हम खुद अपनी तरफ नहीं चल रहे थे, अपने से दूर भटकते हुए चले जा रहे थे। अब शायद अपने को हम पा रहे हैं तो आत्म-लाभ का-सा आनन्द और उपलब्धि राष्ट्र को अनुभव हुई। मैं मानता हूँ कि यह कारण रहा होगा कि हर प्रकार के आदमी झुक पड़े गाँधीजी के इस आन्दोलन में।

आपने अभी कहा कि वे जब विद्यार्थियों से विश्वविद्यालय में मिले, हिन्दू विश्वविद्यालय में, तो उन्होंने कहा कि मालवीयजी से आप मिलिए। तो क्या आपको उस वक्त या अभी ऐसा लगता है कि ऐसी बात करने में केवल शिष्टता ही नहीं थी बल्कि गहरी राजनीति भी थी। वे अपने आलोचकों को बहुत ज्यादा दूर नहीं करते थे, बल्कि और ज्यादा नजदीक लाने की कोशिश करते थे?

—अब आपको कहना पड़ रहा है कि गहरी राजनीति थी। तो यह गहरी क्यों कहना पड़ रहा है? मतलब यह है कि कोरमकोर राजनीतिक निपुणता और शिष्टता नहीं थी, बल्कि वह उससे कुछ गहरी चीज थी। और मैं मानता हूँ कि गाँधीजी की सफलता का सचमुच एक भेद यह है कि वे अपने से अलग, यहाँ तक कि विरोधी विचार रखनेवालों के प्रति भी मन में वही प्रीति और आदर का भाव रखते थे। बल्कि कुछ अधिक। यह केवल औपचारिकता नहीं थी, बल्कि उनके व्यक्तित्व में रची-रमी सत्यता थी। जगत भर के लिए आदर उनमें उतना गहरा रमा हुआ था। इसी का परिणाम था कि उनके विरोधी भी उनसे बिछुड़े नहीं रह पाये। अन्त तक जो उनके दुश्मन ही रहे सो इसलिए कि दूर-दूर से गाँधीजी के बारे में उन्होंने अपनी कल्पना बनायी और उससे डर का नाता जोड़ा। कहिए कि उस भय ने आकर्षण को विकर्षण का रूप दे दिया। उनकी बात मनोविज्ञान के लिए छोड़ दीजिए। और मैं मानता हूँ कि गोडसे का अगर यह भाग्य होता कि वे गाँधीजी

के निकट सम्पर्क में आ पाते तो गाँधीजी को मारते ही उन्हें पता चल जाता कि असली गाँधी और है, यह वह आदमी नहीं है। जो दूर-दूर रहे, गाँधीजी से निकट सम्पर्क से बचे रहे, उन्होंने कल्पना में जाने क्या-क्या रूप बना लिये। उन्हीं भूतों को फिर मारना चाहा या कोसना चाहा। लेकिन गाँधीजी के स्पर्श में जो एक दफा आ गये, उन्होंने देखा कि यह अपने किसी मतवाद में बन्द आदमी नहीं है। इसकी सहानुभूति खुली है और विरोधी से भी विरोधी के प्रति उसके मन में गहरा संवेदन और स्नेह है। यह पूर्णत: सच है कि अवसर आता तो अपने प्रचण्ड-से-प्रचण्ड विरोधी के लिए भी अपनी जान निछावर कर देने में उनको तनिक सोच या विलम्ब न होता। इतनी उनमें एकात्मक भावना थी। बिना किसी शर्त के, बिना किसी माँग के प्रत्येक व्यक्ति के लिए वह जीवनोत्सर्ग को उद्यत तथा लालायित थे। उनकी इस आन्तरिक सच्चाई का बाहर बृहत् परिणाम हुआ। मुझे किसी ने बताया था और मैं इसका विश्वास करता हूँ। पंजाब के 'मार्शल लॉ' में बहुत जानें गयीं। मालवीयजी पहुँचे। मालवीयजी तो बहुत ही सहृदय और कोमल चित्त के पुरुष थे। उनके उमड़े आँसू रुकते न थे। विधवा आती जिसने अपना पति खोया था, माँ आती थी जिसके बच्चे चले गये थे। तो उन सबके लिए उनकी आँखों में आँसू बह आते थे, वे विह्वल हो जाते थे। गाँधीजी गये। दु:खी उनके पास आता तो संवेदना का एक शब्द उनके मुँह से नहीं निकलता था। बल्कि कहते थे, 'अच्छा' तुम्हारे दो बेटे गये। और कोई है? उसको भी तैयार करो।' उनके सम्बोधन में शोक-विषाद नहीं रहता था। लेकिन अन्तरंग में तड़प ऐसी थी, शूरवीरता से भरी कि पंजाब उन पर लट्टू हो गया, उनके पीछे दीवाना बन गया। आँखों में आँसू एक नहीं, लेकिन हृदय इतना विदग्ध, यद्यपि प्रणवान, कि सामनेवाला व्यक्ति स्वयं अपने शोक को भूल रहता और फिर उसमें से शक्ति उपज आता था। तो यह जो चीज है, इतनी एक गहन संवेदन और व्यथा जो प्रकट होने की आवश्यकता में नहीं रहती, प्रत्युत प्रगट पराक्रम के रूप में होती हैं—यह थी जो गाँधीजी की विशेषता थी।

हिन्दू-मुस्लिम यूनिटी कान्फ्रेंस (1924)

शुरू में गाँधीजी का झुकाव ज्यादा मुसलमानों की तरफ था। इसका आप क्या कारण समझते हैं?

—गाँधीजी असल में धर्म के व्यक्ति थे। उन्होंने कहा भी है कि बहुत से लोग ऐसे मिलेंगे कि जो धार्मिक दीखते हैं। लेकिन असल में अन्दर से वे राजनीतिज्ञ हैं। मैं राजनीति के क्षेत्र में दिखाई देता हूँ लेकिन मैं अपने बारे में मानता हूँ कि

धार्मिक हूँ। तो यह जो एक दूसरे के प्रति संशय है, अविश्वास है, यह उनको चुभता था। भारतीय जीवन में धर्म के कारण जो यह भेद पड़ गया है उनको सर्वथा अनर्थ मालूम होता था, अधर्म मालूम होता था। हिन्दू-मुस्लिम एकता, जिसमें शेष सम्प्रदाय के लोग भी गर्भित हो जाते हैं, उनके कार्यक्रम का एक विशेष स्तम्भ थी। मैं मानता हूँ कि यह उनकी कोई योजना नहीं थी, उनके कुल व्यक्तित्व की प्रकृति ही ऐसी थी। यह उनके लिए असह्य था कि धर्म के कारण आपसी वैमनस्य हो। संशय और अविश्वास के वातावरण को वे सह नहीं सकते थे। जब गाँधीजी भारतवर्ष के राजकरण के क्षेत्र में आये तब से कहना चाहिए कि सारे राजकरण का नैतिकीकरण हुआ, यानी वह कुछ आध्यात्मिक होता गया। और यदि ऐसा होना था तो जो दो मुख्य वर्ग थे, हिन्दू और मुस्लिम, उनके बीच में पूरा ऐक्य हो, यह उनके कार्यक्रम का ध्रुव बने बिना कैसे रहता?

जैसा उस वक्त आमतौर पर कहा जाता था कि मुसलमान खिलाफत के बारे में बहुत क्षुब्ध थे और इसलिए गाँधीजी ने उस पर बहुत जोर दिया। मुसलमान सचमुच क्षुब्ध थे कि खिलाफत खत्म की जा रही है और उनका धर्म खतरे में है। क्या आम मुसलमान भी ऐसा मानते थे?

—हाँ, यह बात मैं मानता हूँ। मानना होगा कि खिलाफत आन्दोलन के लिए उस समय आम मुसलमान गहरा अहसास रखता था। यह सन् 1921 की ही बात होगी। मैं खुद सदर बाजार में रहता था। वहाँ काँग्रेस कमेटी बनी। उस समय सदर बाजार में मुसलमान कारबारी ज्यादा थे। शायद 80 फीसदी काँग्रेस कमेटी के लोग खिलाफत आन्दोलन के मुस्लिम थे। उस जमाने में खिलाफत आन्दोलन और राष्ट्र की स्वतन्त्रता का, स्वराज्य का आन्दोलन, ये जैसे दो अलग-अलग धाराएँ ही नहीं रह गयीं थीं। मुसलमानों में खिलाफत के लिए तीव्र भावना थी। खिलाफत के आन्दोलन के लिए औचित्य कितना था, कितना वह टिक सकता था इत्यादि प्रश्न दूसरा है। किन्तु गाँधीजी ने माना कि यह मेरा मजहबी प्रश्न नहीं है, यह तो मुसलमानों का अपना प्रश्न है। लेकिन मुसलमानों में इस बारे में इतनी तीव्र भावना है, इतना मेरे लिए पर्याप्त है कि मैं उसे अपना मान लूँ। यह तर्क धार्मिक व्यक्ति की दृष्टि से बिलकुल ठीक ही था। मुसलमानों में, उस समय काफी क्षोभ था अपने खिलाफत को लेकर, यह सच बात है।

उस समय की कहानी तो आप जानते हैं। दिल्ली की जामा मस्जिद पर सबसे प्रमुख आर्यसमाजी स्वामी श्रद्धानन्दजी को ले जाया गया, और जहाँ पर इमाम ही बैठ सकता है, वाज करता है, वहाँ से उनको बुलवाया गया। यह उस समय की भावना थी।

तीन साल के हिन्दू-मुस्लिम भाईचारे के बाद सन् 1923 में दिल्ली और मुलतान में हिन्दू-मुस्लिम दंगे हुए। यह एकता क्यों टूटी?

—मैं मानता हूँ कि आप जिस तरह से देखते हैं कि एकता टूटी, तो मैं कहता हूँ कि अनेकता जो चली आ रही थी वह हमारी नसों में पैबस्त थी बहुत दूर तक। एकता थी कहाँ, जिसको हम टूटी कहते हैं, वह हमारे भीतर समाया हुआ शकोसुबह का जहर था जो फूटा। मैं मानता हूँ कि पुराने जमाने से हिन्दू और मुस्लिम इन दोनों शब्दों को इस तरह से पकड़कर अलग-अलग बिठाया गया कि एक संशय हमारी नसों में, खून में घुल गया था। बहुत से सन्त लोग आये कि जिन्होंने इस विष को काटना चाहा, लेकिन विष तो सदियों से बनता रहा था और हमारे अन्दर पैबस्त होता रहा था, वह सहसा कट नहीं सकता था। फिर वह दुई अँग्रेज के फायदे की थी। उसने इसकी बुनियादों को मजबूत करने की खूब चालें चलीं। गाँधीजी ने जो प्रयत्न किया और उसके जो परिणाम उनको दिखलायी दिये, उस पर तो विस्मय होना चाहिए। किन्तु मैं मानता हूँ कि शायद एक गाँधी काफी नहीं है, इस विष को हजम करने के लिए और भी गाँधियों की आवश्यकता हो सकती है।

जैसा आपने कहा कि 'हिन्दू-मुस्लिम यूनिटी कान्फ्रेंस' हुई थी जब गाँधीजी ने 21 दिन का व्रत रखा, उसके बारे में आपके क्या कुछ संस्मरण हैं?

—एक संस्मरण यह है कि कुछ लोग इस विचार के थे कि मजहब सदा लड़ाता है। हिन्दुत्व और इस्लाम रहेंगे तो तकरार भी रहेगी। मेल के लिए नास्तिकता का आधार अच्छा रहेगा। सरोजिनी नायडू, डॉ. भगवानदास, पण्डित सुन्दरलाल और इस तरह के कुछ और लोग जमा हुए जिन्होंने कहा कि लामजहबीयत शुरू करनी चाहिए। उसके आधार पर फिर इन्सानियत को खड़ा किया जा सकता है। यह जो मजहबी जुनून पैदा हो जाता है, धर्मावेश, उसके लिए कोई मौका रहेगा ही नहीं। यानी नितान्त सेक्युलरिज्म रह जाए। उन्होंने दो बैठकें कीं। वह नास्तिकता मुझको थोड़ी दिलचस्प चीज मालूम हुई थी। जब यह चीज कुछ आगे बढ़ी तो डॉ. भगवान दास का ठीक 'रिमार्क' तो मुझे याद नहीं रहा, लेकिन उन्होंने कहा कि ठीक है, तुम कहते हो कि खुदा नहीं है। लेकिन जो है वह हमारे नहीं कहने से नहीं तो हो नहीं जाएगा, पर आप चाहते हैं तो कोशिश कर देखिए। फिर वह कोशिश बर नहीं आयी। लेकिन यह मुझको एक रुचिकर रुख लगा, गाँधीजी के बरअक्स, जो पास ही थे। संगम थियेटर में, जो आजकल जगत सिनेमा है, इसमें हुई थी यह 'यूनिटी कान्फ्रेंस'। और पास ही से मौलाना मुहम्मद अली साहब का अखबार 'हमदर्द' निकलता था। यह जगह ज्यादा दूर नहीं थी। वहीं गाँधीजी

थे। उपवास के वक्त गाँधीजी सिमटे-सुकड़े से पड़े रहते थे, शायद तीन 'स्क्वेयर फीट' से ज्यादा जगह में वे नहीं थे। बहुत दुबले हो गये थे और फुसफुसाकर बोलते थे। 'मैट्रोपोलिटन ऑफ इंडिया' भी आये थे तो उस समय यह 'यूनिटी कान्फ्रेंस' सफल 'कान्फ्रेंस' हुई थी, यही मानना चाहिए। क्योंकि सब लोगों ने आपस में मिलकर एक सहमति पत्र को स्वीकृत किया और उस पर सबके हस्ताक्षर हुए।

एक उल्लेखनीय बात यह है कि उसी समय जमुना में बड़ी जबरदस्त बाढ़ आयी हुई थी और लोग 'कान्फ्रेंस' से उठकर जमुना पुल पर गये थे। उस बाढ़ में बहुत से लोग छप्पर पर बैठे बहते चले जाते दीखते थे। उसमें पशु होते थे, जहरीले साँप होते थे और मनुष्य भी। लेकिन बीच का भय विरोध सब खत्म था। बहुत जबरदस्त बाढ़ थी। उस समय जो 'यूनिटी कान्फ्रेंस' में आये हुए थे उनमें बहुत से लोगों ने हिम्मत के साथ आगे बढ़कर उस रक्षा के काम में भाग भी लिया। हम लोग तो थे ही वालीन्टियर्स के तौर पर। वह दृश्य काफी दर्दनाक होता था, कि जब ऊपर से रस्सा लटकाते और वह हाथ न आता और हमारे देखते-देखते लोग, बच्चे, औरतें, बूढ़े, बाढ़ में बहते आगे निकल जाते। 'यूनिटी कान्फ्रेंस' में आये लोगों ने उसमें काफी भाग लिया और साबित होता है कि इनसान मुसीबत में एक होता है।

अभी आपने जफरअली खाँ के बारे में कहा कि वे बाद में मुस्लिम लीगी हो गये थे। अक्सर मुसलमान जो पहले काँग्रेस में थे जैसे जफरअली खाँ, मौलाना शौकतअली, मौलाना मुहम्मदअली, मौलाना हसरत मोहानी। इन लोगों का झुकाव बाद में मुस्लिम लीग की तरफ हो गया था। तो क्या आप कुछ कारणों पर प्रकाश डाल सकेंगे कि यह क्यों हुआ?

—मैं इसका मुख्य कारण यह मानता हूँ कि गाँधीजी हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य के नीचे धर्म-भाव की भूमिका चाहते थे। लेकिन शेष काँग्रेसजन उस धर्म-भाव से कोई सम्बन्ध नहीं रखते थे, वे राजनीतिक और लौकिक भूमिका से सन्तुष्ट थे। मैं मानता हूँ कि 'मुस्लिम मास कंटैक्ट' यानी हिन्दू-मुस्लिम मेल के लिए व्यापक मुस्लिम-सम्पर्क का जो एक मुहिम चलाया गया, उसमें लौकिक और राजनीतिक भावना विशेष थी। उस प्रचार की तीव्र प्रतिक्रिया हुई। गाँधीजी जो मेल-मिलाप की भूमिका में धर्म-भाव चाहते थे उसका अवकाश कम रह गया। परिणाम यह हुआ कि मुस्लिम मानस का नेतृत्व लीग के हाथ में पहुँच गया, मजहबी जमीयत के हाथ नहीं रहा। जमीयतुलउलमा वह संस्था थी जो अन्त तक राष्ट्रीयता पर थोड़ी टिकी रही। कारण, दुनिया से अधिक उसका दीन के साथ सम्बन्ध था। लेकिन मामला दुनियाबी बदावदी का बना तो नेतृत्व जिन्ना या मुस्लिम लीग के हाथ

में चला गया। जिन्ना साहब के सम्बन्ध में मैं नहीं कह सकता कि वह नमाज अरबी में अदा कर सकते थे या नहीं। कुरान जानते थे या नहीं जानते थे। लेकिन इतना तो कहा ही जा सकता है कि उनका नेतृत्व धर्म प्रधान नहीं था, धर्माचरण पर उनका जरा जोर नहीं था। काँग्रेस और गाँधी की मनोभूमि के इस अन्तर से हिन्दू-मुस्लिम प्रश्न दयानत का नहीं रहा, सियासत का बन गया। परिणाम कि हिन्दू और मुसलमान दो अलग-अलग सम्प्रदाय के रंग में ही नहीं बल्कि दोनों विरोधी जमातों के रूप में आमने-सामने खड़े हो आये और बँटवारा ही उपाय रह गया। मुस्लिम लीग में उतनी ही ताकत आ गयी जितनी काँग्रेस ने बलिदान द्वारा अपने लिए प्राप्त की थी। शक्ति ने प्रतिशक्ति को जन्म दिया। प्रतिक्रिया के होने से वह ताकत बराबर की बन आयी। ऐसा अपने आप हो जाता है। अँग्रेज तसफीए को आये तो नतीजा हुआ कि 'पेरिटी' की नीति पर काँग्रेस और लीग के साथ उन्होंने व्यवहार किया और काँग्रेस को इस सम-सन्तुलन को मानना पड़ गया। गाँधीजी पारस्परिक और धार्मिक भूमिका हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य के नीचे आवश्यक मानते थे। बाहरी और तीसरा पक्ष इस भूमिका में सर्वथा असंगत पड़ जाता है। लेकिन हमारे काँग्रेसी नेता धर्म-भाव से बरी थे। वे केवल राजनीतिक और लौकिक रूप में ही विचार करते थे। इस ऊपरी 'सेक्यूलरिज्म' का परिणाम आया कि 'कम्यूनलिज्म' पनपा और मजबूत हुआ और मतान्धता ने जोर पकड़ा।

1930 के आन्दोलन के संस्मरण

उसके बाद गाँधीजी का दूसरा आन्दोलन सन् 1930 में चला उसके कुछ संस्मरण—आप किस तरह से जेल गये और किस तरह से आपने नमक का कानून तोड़ा—आप हमें कुछ बतला सकेंगे?

—सन् 1930 में गाँधीजी का सत्याग्रह आन्दोलन शुरू हुआ और दिल्ली में धूम-धाम मची इस आन्दोलन की। उस समय की स्थिति याद करता हूँ तो विलक्षण मालूम होता है। प्रेमचन्दजी ने मुझको तार दिया कि 'हंस' के विशेषांक के लिए कहानी भेजो। मैंने प्रयत्न किया, लेकिन कहानी नहीं बनी। तीन-चार रोज सोचता रहा, लेकिन नहीं लिख सका, नहीं लिख सका। कारण जब मैंने खोजा तो मालूम हुआ कि बाहर जो उथल-पुथल मच रही है, इससे सर्वथा अगर मैं निःसंग बना हुआ रहूँ, तो मेरा मन लिख नहीं पाएगा। तत्काल मैंने यहाँ के काँग्रेस दफ्तर को लिख दिया कि अमुख तारीख से आप अपने स्वयंसेवकों की 'लिस्ट' में मेरा नाम लिख लीजिए। बस उस पत्र का लिखना था कि फिर कहानी आसानी से लिख गयी और मैंने प्रेमचन्दजी को भेज दी। तो इस अनसोचे ढंग से मैं आन्दोलन में आया।

दिल्ली के सत्याग्रह का नेतृत्व

संयोग की बात है कि जमुना के किनारे सत्याग्रहियों का एक 'कैम्प' लगा तो मुझे वहाँ सत्याग्रह में शामिल होनेवाले स्वयंसेवकों के जत्थे का 'हैड', चुन लिया गया। तय हुआ कि पहला जत्था जाएगा सत्याग्रह के लिए, उसका नेतृत्व मैं करूँगा। मैंने कहा कि यह मेरा अधिकार नहीं है। मैं स्वयंसेवक हूँ लेकिन पहले जत्थे का प्रमुख कोई जाना-माना नागरिक, मान्य नेता होना चाहिए। सब उसे जानते होंगे तो उसका प्रभाव होगा, मैं उस पद का अधिकारी नहीं हूँ। मैं नहीं कह सकता कि क्या कारण हुआ, लेकिन व्यवस्थापक वर्ग यानी काँग्रेस के अधिकारी वर्ग को यह सुझाव पसन्द नहीं आया। माना गया कि मैं विद्रोह उकसा रहा हूँ। मैंने कहा कि जत्थे का मुझे एक साधारण 'वालंटियर' रहने दीजिए, नेता पद का गौरव काँग्रेस के किसी विशिष्ट पदाधिकारी का होना चाहिए। 'कैम्प' के सारे 'वालंटियर्स' ने भी इसमें मेरा साथ दिया। सबका आग्रह था कि 'डिस्ट्रिक्ट काँग्रेस कमेटी' का अध्यक्ष प्रमुख बनना चाहिए या संगठन के प्रमुखों में से किसी को आगे आना चाहिए। देवदास गाँधी बीच में पड़े। मैंने उनको अपना दृष्टिकोण समझाया। परिणाम यह कि मैंने कहा, 'मैं किसी प्रकार की असुविधा आपके लिए नहीं पैदा करना चाहता हूँ। लेकिन मैं अपने को गौरव का अधिकारी नहीं मानता हूँ।' इसलिए स्थिति को सँभाले रखने के लिए मैं उससे अलग हो गया।

दिल्ली में नौजवान भारत सभा (1930) का नेतृत्व

उसी समय नौजवान भारत सभा और उसकी सेना बनी थी, जिसमें वे क्रान्तिकारी तत्त्व थे, जो गाँधीजी के मार्ग को पसन्द नहीं करते थे। उनका केन्द्र यों लाहौर था, पर इस प्रवृत्ति का आरम्भ दिल्ली में ही हुआ। संयोग कि यहाँ चमनलालजी भी थे, जो 'हिन्दुस्तान टाइम्स' के संवाददाता थे। नौजवान भारत सभा की स्थापना के लिए एक मीटिंग हुई जिसमें पाया कि मैं भी उपस्थित हूँ। मुझे उसमें सम्मिलित मान लिया गया और कुछ पद भी शायद दे दिया गया। चमनलालजी, जो पीछे बौद्ध भिक्षु हुए, सेक्रेटरी बने। मैं उन दिनों पहाड़ी धीरज पर रहता था, तो वहाँ पर एक नौजवान भारत सेना खड़ी हो गयी। 6 अप्रैल, 1930 की बात है कि बहुत बड़ा जुलूस निकला और उसमें नौजवान भारत सेनावाले भी शामिल हुए। इन जवानों में बड़ी उतावली थी। उन्होंने कहा कि हम तो जुलूस के आगे रहेंगे। परिणाम यह हुआ कि जुलूस में सबसे आगे यदि महिलाएँ थीं तो उसके पीछे नौजवान भारत सेना के लोग रखे गये। मैं जुलूस की पंक्ति में नहीं चल रहा था,

क्योंकि मैं स्वयंसेवक के बजाय 'चीफ' समझा जाता था। इसलिए मैं पंक्ति से स्वतन्त्र था। कश्मीरी गेट पर मालूम हुआ कि गोली चल गयी और लाठी चार्ज हो रहा है। मैं कश्मीरी गेट पहुँचा, वहाँ मालूम हुआ कि नौजवान भारत सेना के लोग और आगे निकल गये हैं और मैं तेजी से उधर बढ़ा। कश्मीरी गेट के डाकखाने तक आया तो पुल के नीचे से दिखायी दिया कि घुड़सवार दौड़े चले आ रहे हैं लाठी घुमाते हुए। किसी के पास बल्लम भी थे और वह दाएँ-बाएँ भागते लोगों को मारते हुए चले आ रहे हैं। जगह-जगह लोग गिरे हुए हैं, घायल पड़े हैं, कुछ जख्मी मर भी गये हैं। देखकर मैं एकाएक वहीं का वहीं खड़ा रह गया। वहाँ जहाँ दोनों ओर की सड़कों के बीच घास का 'प्लॉट' था।

जैनेन्द्र के मन में भय

मैंने अनुभव किया कि मन में एक दहशत-सी पैदा हुई है। यद्यपि मैं गया नहीं, चला नहीं, हटा नहीं, बल्कि अपनी जगह पर खड़ा रहा। लेकिन मन में एक भय-सा हुआ। उस संघर्ष में मेरे खयाल में नौजवान भारत सेना के शायद चार या अधिक भाई काम आ गये थे। पचासों, सैकड़ों की संख्या में घायल हुए थे। उन सबकी सुश्रूषा का पहाड़ी धीरज पर हमने इन्तजाम किया। लेकिन उस दिन मैंने अनुभव किया कि मैं नेतृत्व के योग्य नहीं हूँ। कारण, भय मेरे भीतर है और भय रखकर मैं कोई ऐसी जिम्मेदारी का पद लूँ तो बहुत भयंकर बात है। भारत नौजवान सेना के लोग जख्मी हुए, मरे, शहीद हुए, भुगतना तो उन्हें पड़ा। मैं जो प्रमुख और प्रधान था, उस पर कोई चोट नहीं आयी। दो-एक लाठियाँ मुझ पर पड़ीं जो मैं मजे में सह गया, शायद मुसकराया भी होऊँ, पर अन्दर डर था। यह अनुताप मेरे मन में होता रहा, और मैं थोड़ी देर बिलकुल शान्त बैठ गया। उसके बाद कृष्णन नायर आये और कहा कि हमारे ग्राम का कार्य बहुत शिथिल है, व्यवस्थित नहीं है, लोग जाते हैं, कुछ कर भी रहे हैं लेकिन वहाँ ग्राम में चेतना पैदा नहीं हो पाती है। तो इसमें तुम कुछ योग दो। मैंने कहा कि ठीक, उस काम में अवश्य अपना समय और योग थोड़ा-बहुत दूँगा, लेकिन नेतृत्व मेरे हाथ में नहीं होगा। इस शर्त के साथ फिर मैं कुछ गाँवों में गया। काफी उत्साह वहाँ पैदा हुआ। लेकिन थोड़े दिन बाद ही 'वारन्ट' निकला, गिरफ्तार हुआ और जेल भेज दिया गया। इस तरह से 1930 में मैं जेल गया। दिल्ली जेल में मुझे 'बी क्लास' दी गयी तो मैंने कह दिया कि मैं 'सी क्लास' में अपने सब साथियों के साथ रहूँगा। मैं क्लास-व्लास नहीं मानता हूँ। गोरा बैरक में 'स्पेशल क्लास' के कैदी रहते थे, 'बी' और 'ए' क्लास के। तो गोरा बैरक में एकाएक मैं नहीं गया। लेकिन फिर मालूम हुआ कि जाना पड़ेगा, नहीं तो मैं शारीरिक 'वाएलेंस'

का अवसर पैदा करूँगा। अन्त में मैं बलात् गोरा बैरक ले जाया गया और उससे अगले ही रोज हम सब क्लासवालों को गुजरात (पंजाब) स्पेशल जेल में भेज दिया गया। वहाँ दिल्ली के, पंजाब और सीमा प्रान्त के विशेष बन्दी एकत्र थे। खान अब्दुल गफ्फार खाँ थे, किचलू थे, डॉ. अंसारी थे, जफरअली खाँ थे, सत्यपाल, आसफ अली सभी लोग वहाँ थे। तो सन् 1930 में जेल जाने की यह गाथा है।

सन् 1920-1930 के आन्दोलनों में अन्तर और उनके प्रभाव

सन् 1930 में जैसा आपने कहा कि दिल्ली में नौजवान सभा बनी थी और अकसर नौजवान सभा के बारे में कहा जाता है, खासकर यशपालजी से लोग कहते हैं कि भगतसिंह और उनके जो साथी थे वे अधिकांश मार्क्सवादी थे। या दूसरे मानो में कहिए साम्यवादी थे। आप उनकी पहली सभा में मौजूद थे। क्या आप इस बात की पुष्टि करेंगे कि उनका दृष्टिकोण वैसा ही था?

—मैं दिल्ली की नौजवान भारत सभा में सम्मिलित हुआ था और यह आन्दोलन आरम्भ हुआ था लाहौर से। मैं मानता हूँ कि इन लोगों का झुकाव जरूर मार्क्सवादी विचारधारा की तरफ था, लेकिन अभी बहुत स्पष्टता नहीं हो पायी थी। क्रान्तिकारियों की परम्परा में जो एक धार्मिक भाव था—पहले के सभी क्रान्तिकारियों में, अरविन्द, हरदयाल आदि में—उस परम्परा से थोड़ी विच्छिन्नता जरूर आ रही थी। धर्मनिरपेक्ष और भौतिक विचारधारा उनको अधिक प्रभावित करती थी।

एक बार नौजवान भारत सभा के प्रतिनिधि की हैसियत से मुझे लाहौर जाना पड़ा। जो वहाँ बैठक में मिले, धन्वन्तरि, एहसान इलाही आदि, उस वर्ग से मेरा कोई परिचय था ही नहीं। जब वहाँ चर्चा शुरू हुई तो मेरी बातें सुनकर वे बड़े विस्मित हुए। क्योंकि मेरे मन में उस समय भी अहिंसा का विश्वास था, गाँधीजी की विचारधारा मुझे कहीं अधिक समर्थ और उपयुक्त मालूम होती थी। वे मेरी तरफ अचरज से देखा किये। चर्चा में हमें मालूम हुआ कि हमारे बीच तो बहुत फॉसला है। शायद उनको लगा कि यह आदमी नौजवान भारत सभा में कैसे आ गया। आपने मार्क्सवादी विचारधारा के बारे में पूछा है। तो उसके जितने फलितार्थ हैं उन सबका शायद भान उनको था या नहीं था, यह विश्वास से मैं नहीं कह सकता। लेकिन झुकाव उनका उस तरफ था और अहिंसा की अक्षमता के बारे में उनके मन में पूरा विश्वास था। गाँधी मार्ग के प्रति उनको बिलकुल श्रद्धा नहीं थी, बल्कि उपहास था, और हिंसक साधनों से ही देश का काम चल सकेगा, आजादी आएगी, ऐसा उनको लगता था। इस बारे में मुझमें भ्रम नहीं है। मार्क्सवादी

विचारधारा के बारे में उनका झुकाव था किन्तु उसकी 'इंप्लिकेशन्स' के सम्बन्ध में उतना अध्ययन और उतनी स्पष्टता शायद नहीं थी।

क्रान्तिकारी आन्दोलन की असफलता

आपने अभी कहा कि नौजवान सभा के नेताओं का गाँधीजी के कार्यक्रम और कार्यपद्धति में विश्वास नहीं था और शायद वे समझते थे कि उनका रास्ता आजादी के लिए काफ़ी नहीं है। क्या कभी आपको ऐसा महसूस हुआ कि गाँधीजी के प्रति उनको कुछ द्वेष था?

—हाँ, असहमति थी और इतनी घोर असहमति थी कि कुछ अवज्ञा का भाव भी उसमें मिल जाता था। एक कान्फ्रेंस उनकी लाहौर में काँग्रेस के 'सैशन' के साथ ही हुई थी। गाँधी विरोध था वहाँ, बहुत तीव्र, काँग्रेस विरोध भी कहा जा सकता है। लेकिन जवाहरलालजी इत्यादि के प्रति वह विरोध उतना नहीं था, मुख्यत: वह गाँधीजी के प्रति था। उसमें मैं उपस्थित था। अब मुझे सही याद नहीं है कि प्रस्ताव की ठीक भाषा क्या थी, लेकिन मैं उससे सहमत न था। जाने मुझमें क्या मूर्खता समाई कि मैंने उस प्रस्ताव की भाषा देखी और मैं बोलने के लिए खड़ा हो गया। मेरे वक्तव्य में गाँधीजी का विरोध तो था ही नहीं, बल्कि एक प्रकार का समर्थन था। मैं बोला और बोलकर बैठा कि पास के एक सज्जन बहुत घबराये दीखे। वे सी.टी. वलेचा नाम के कोई सज्जन थे, पीछे उनका क्या हुआ मुझे नहीं पता। वे एक वकील थे सिन्ध के। सी.टी. वलेचा ने मुझे कहा कि यह तुमने क्या किया? तुमको खयाल नहीं आया कि तुम यहाँ 'लिंच' कर दिये जा सकते हो? तुम मार डाले जाओगे। तुम किस तरह की बातें कर रहे हो? मैंने कहा कि मुझे यह कुछ नहीं मालूम। बोले, 'गनीमत है कि तुम्हारा नाम अभी इतना परिचित नहीं है।' यानी माहौल सच इतना गर्म था कि मुझे वहीं खत्म भी कर दिया जा सकता था। मेरी बात एक आदमी की है जो गिनती के लायक नहीं है। इसलिए सुन ली गयी है, बरदाश्त भी शायद कर ली गयी है। लेकिन इस तरह की मूर्खता तुम्हें कभी करनी नहीं चाहिए, इत्यादि-इत्यादि। तो घोर हिंसक पराक्रम की आवश्यकता है, ऐसा वे लोग अनुभव करते थे। यह मेरी धारणा है।

आप इस बात का विवेचन करेंगे कि हिन्दुस्तान का क्रान्तिकारी आन्दोलन इस कारण सफल नहीं हो सका क्योंकि हिन्दुस्तान के इतिहास और दर्शन में अहिंसा की परम्परा है?

—असल में क्रान्तिकारी आन्दोलन के साथ एक पोशीदगी का भाव रहता था।

इस पोशीदगी के आलम में, पराक्रम के स्रोत में; भय भी रहता है। इसलिए वह जन-आन्दोलन नहीं बन सकता था और न ही बन सका। मैं यह मानता हूँ कि आन्दोलन यदि बड़े पैमाने पर सफल हो, वह तभी हो सकता है जब उसको जन-आन्दोलन का रूप मिले। किन्तु क्रान्तिकारी प्रवृत्तियाँ जितनी हुई, जन-आन्दोलन का रूप वे नहीं पकड़ पायीं। थोड़ा बहुत कुछ विद्रोह हुआ था, या उससे पहले 1857 में 'गदर' हुआ था, उस समय तो उसका जन-आन्दोलन का रूप था और मैं यह मानता हूँ कि चाहे हिंसा साधन हो किन्तु वह एक बड़े पैमाने पर 'मासेज' के द्वारा अपना लिया जाये तो शायद उसका कुछ परिणाम होता भी है, किन्तु जिस ढंग से बंगाल का क्रान्तिकारी आन्दोलन शुरू हुआ, उसमें पोशीदगी का माद्दा था, उसके कारण वह जन-आन्दोलन नहीं बन सकता था। मैं मानता हूँ कि यदि वह सफलता तक नहीं पहुँचा तो उसका कारण यह भी है कि उसमें खुला पराक्रम नहीं था, बचाव-छिपाव था। यह भी सही है कि उससे व्यापक लोक शिक्षण नहीं मिलता और उससे राज्य स्तर से व्यापक तौर पर किये जानेवाले हिंसक दमन को समर्थन मिल जाता है।

इसके अलावा कुछ लोग लुक-छिपकर क्रान्तिकारियों का साथ देते थे, मगर खुले तौर पर उनका साथ नहीं देते थे। तो क्या आपने ऐसा कभी अनुभव किया कि वहाँ ज्यादा भय था, न कि हिंसा के प्रति एक नफरत?

—गाँधीजी की नीति विरोधी पक्ष को सर्वथा पराजित, हतप्रभ करने की नहीं रहती थी। वे जिस मुद्दे को लेकर सत्याग्रह चलाते थे, उसकी वही सीमा रहती थी, उससे आगे जाना वे आवश्यक नहीं मानते थे। जब-जब सत्याग्रह की समाप्ति हो और सत्याग्रह को 'वाइण्ड-अप' किया जाए, उसके लिए शर्त के तौर पर जो मुख्य मुद्दा लेकर चला गया था, उसको फैलाने में वे समझते थे कि अनीति है। शक्ति या जय के वेग में वे अपनी माँगें बढ़ाते नहीं थे। किसी एक मुहिम की जीत में राष्ट्रीय स्वराज को ही सन्धि का मुद्दा बना लिया जाए, शायद दूसरे नेता ऐसा करने की सोचते, लेकिन गाँधीजी की वह नीति नहीं थी। गाँधीजी जिस मुद्दे को, जिस लक्ष्य को लेकर सत्याग्रह का आन्दोलन आरम्भ करते थे, समझौते के समय उस मुद्दे से आगे जाने की बात नहीं सोचते थे, ठीक उतने ही मुद्दे की बात पर दृढ़ रहते थे। उसको प्रतिपक्षी अगर मान लेता है तो वह मान लेते थे कि मेरे लिए हृदय परिवर्तन का उतना ही संकेत पर्याप्त है। मैं समझता हूँ कि यह 'पोलिटीकल स्ट्रेटिजी' कि प्रतिपक्षी यदि कमजोर पड़ता है कि उसे ज्यादा झुका डालो, उनकी नहीं थी। उनका राष्ट्रीय अथवा मानव व्यापार में चलने का तरीका ही वह था। मैं तो पर्याप्त कारण देखता हूँ कि ऐसा ही होना चाहिए।

क्योंकि इससे प्रतिपक्षी के मन में एक निशंकता बनी रहती है, वह नहीं मानता कि यह किसी अवसर का लाभ मुझसे लेगा। हार के और बदले के भाव का मूल ही इस तरह कटता है। दुश्मनी मिटती है, दुश्मन मित्र बनता है। युद्ध, जिसमें पक्ष और प्रतिपक्ष हुआ करते हैं, उनमें एक विशेष प्रकार की स्वच्छता बनी रहती है, परस्पर का विश्वास उगता है।

गाँधी-इर्विन समझौता (1931)

मैं तो मानता हूँ कि गाँधीजी ने जिस मुद्दे को जहाँ से उठाया था, वहीं तक सीमित रखा। यानी नमक के सम्बन्ध में कानून के 'रिपील' होने का, रद्द होने का, जो उन्होंने मुद्दा रखा, और 'गाँधी-इर्विन पैक्ट' को वहीं तक सीमित रखा तो उस सम्बन्ध में मेरे मन में कोई असन्तोष नहीं है। यद्यपि भगतसिंह की फाँसी को रद्द करने की शर्त न रखने के कारण देश में गाँधी-इर्विन पैक्ट के प्रति गहरी शिकायत के भाव बराबर बने रहे हैं।

भय, अहिंसा और आस्तिकता

आपने कहा था कि जब आप किसी एक जुलूस को देख रहे थे कि वहाँ बहुत से आदमी मारे गये और उस परिस्थिति में आपने हिस्सा नहीं लिया, फिर भी आपके मन में बहुत भय रहता था, इसलिए आपने बहुत बार नेतृत्व लेने से इनकार कर दिया, क्या आप यह बता सकेंगे कि भय का क्या कारण था, जो आपके मन में उत्पन्न हुआ?

—भय तो एक प्रकृत भाव है। किन्तु मैंने जिक्र किया था कि अन्दर मैंने भय अनुभव किया, लेकिन उस भय में से कोई पलायन इत्यादि नहीं निकला था और मैं मानता हूँ कि जब तक परिपूर्ण शत-प्रतिशत आस्तिकता व्यक्ति में न आ जाए, तब तक भय अनिवार्य रहेगा। सारा भय ईश्वर का रखिए तो संसार और शरीर का भय समाप्त हो जाएगा। हिंसक पराक्रम भय में से ही निकला करता है। इसलिए भय पाप का और परमात्मा के प्रति, सबका सब अर्पित न हो जाए, तब तक भय भीतर विद्यमान रहने ही वाला है। अत: मैं मानता हूँ कि अहिंसक युद्ध की प्रक्रिया में अनिवार्य है कि व्यक्ति परमात्मा में पूरा भरोसा रखे और मरते-मरते भी माने कि जो उसे मार रहा है, ईश्वरीय लीला का निमित्त मात्र है। उसको दोषी न माने। दुष्ट न माने, यह दर्शन प्राप्त हो सकता है सौ फीसदी आस्तिकता में से ही। इसलिए यदि मुझमें भय था तो यह नहीं कि मैंने माना, मैं सर्वथा अपात्र हूँ, किन्तु माना यह कि आस्तिकता शत-प्रतिशत मुझमें दृढ़ नहीं हो सकी है और नेतृत्व अहिंसक

मुहिम का मुझसे नहीं हो सकता है।

आपने अभी कहा कि भय तभी दूर हो सकता है जब ईश्वर में विश्वास हो और सत्याग्रही यह माने कि जो उसको मार रहा है, वह दुष्ट नहीं है। आपने जिन-जिन संघर्षों में हिस्सा लिया, उसमें जितने लोगों ने काम किया या जो उसमें जेल जाते थे, उसमें आप समझते हैं कि सारे के सारे या लगभग पचास फीसदी से ज्यादा तो इस तरह के सत्याग्रही थे जो मारनेवालों से प्रेम रखते थे, जैसा कि गाँधीजी अकसर कहा करते थे?

—नहीं, ऐसा तो नहीं था। इतना ही नहीं, बल्कि मानता हूँ कि अहिंसा का पालन ऊपर से हुआ, अन्दर से अधिकांश के मन में हिंसा भी रही हो तो मुझे विस्मय नहीं होगा और यह भी मानता हूँ कि स्वराज मिलने के बाद जो संकट पैदा हुआ उसका एक कारण यह भी है कि अहिंसा हममें बहुत गहराई से नहीं उतरी थी। इस कारण उसको हमने एक सामयिक नीति के रूप में तो अपनाया, लेकिन जो उसका गहरा अभिप्राय था, उसको नहीं समझा था, आचरण में नहीं उतारा था। परिणाम आप देख ही रहे हैं। अहिंसा के द्वारा लिए हुए स्वराज में से हिंसा फूट रही है!

जैनेन्द्र का सन् 1932 के आन्दोलन के समय तीसरा 'डिक्टेटर' बनना और कारावास

—सन् 1930 के सत्याग्रह के बाद जब गाँधी-इर्विन समझौता हो गया तो गाँधीजी को सन् 1932 में फिर सत्याग्रह करने की जरूरत महसूस हुई। क्या आप ऐसा नहीं समझते हैं कि जो समझौता था, वह इतना देश के हितों के लिए खराब था कि गाँधीजी को दो साल के बाद फिर संघर्ष जारी करना पड़ा?

—सन् 1932 का जव आन्दोलन आया तो मैं किसी प्रकार के राजनीतिक दल का सामान्य सदस्य भी नहीं था। मेरी इधर रूचि नहीं थी। किन्तु जब आन्दोलन आरम्भ हुआ तभी प्रेमचन्द की चिट्‌ठी आयी, तार आये दो कि हमारे विशेषांक के लिये तुरन्त और आवश्यक रचना भेजो। लेकिन देखो, मैं लिख नहीं पा रहा हूँ, चाहता हूँ तो भी नहीं। मुझे इस बेबसी का रंज रहता था। दो-तीन रोज में ही जब उनका एक दूसरा तार आया और मैं नहीं लिख सका तो अन्त में कागज का टुकड़ा लिया और उस पर एक पंक्ति इन्द्र विद्यावाचस्पति को घसीट भेजी। वे तब यहाँ की काँग्रेस के प्रधान थे। लिख दिया कि आप स्वयं सेवकों की सूची में मेरा नाम दर्ज कर लें, अमुक तिथि से आपकी आज्ञा पर हूँ। बस यह लिखना

था कि देखा, अब मन में किसी तरह का द्वन्द्व नहीं है। तभी तब कहानी भी लिख गयी और प्रेमचन्दजी को भेज दी गयी। तो मेरे मन में थोड़ी-बहुत उलझन शायद रही होगी कि इधर तो लोग उत्सर्ग के मार्ग पर जा रहे हैं, देश में उथल-पुथल हो रही है, तुम किनारा लिये बैठे हो। इसी तरह की दुविधा रही होगी जिससे रचना सम्भव न हुई। इन्द्रजी को यह लिखने के दो ही रोज बाद मेरे पास यहाँ के कुछ प्रमुख व्यक्ति आये और उन्होंने मुझे पण्डितजी (जवाहरलाल नेहरू) के हाथ का लिखा पत्र दिया। आदेश था कि तुमको यहाँ का 'डिक्टेटर' बनाया जाता है,उस युद्ध का। तब इस 'डिक्टेटर' पद्धति का आविष्कार हुआ था। मुझको बहुत विस्मय हुआ, बहुत बुरा भी मालूम हुआ। कहा कि मैंने तो स्वयंसेवक की सूची मे ंनाम दिया था। यह 'डिक्टेटर' बनने की कतई बात नहीं थी। मेरी यह पात्रता नहीं है! एकदम यह गलत तरक्की है। तो उन लोगों ने तर्क देकर कहा कि तुम स्वयसेवक बने हो और तुम्हारे ऊपर यही सेवा डाली गयी है। मैंने पण्डितजी को फिर कहा कि मुझे छोटे-मोटे काम मे ंलगा दिया जाए, यह सम्मान मुझ पर न डालें। लेकिन पण्डितजी ने मुझे मुक्ति नहीं दी। परिणाम हुआ कि मुझे सोचना पड़ा कि योजना क्या करनी चाहिए। यहाँ के जितने प्रमुख कार्यकर्त्ता थे, आसफ अली थे, देशबन्धु गुप्त थे, इन्द्रजी तो थे ही, सबको एकत्र बुलाया। इन्द्रजी तो प्रेजिडेंट की हैसियत से पहले 'डिक्टेटर' थे, दूसरा मुझे बनाया गया। उनका कार्यकाल पूरा हो रहा था और वे जेल जाने को थे, तो मैंने एकत्रित उन सब लोगों को कहा कि हमारी तो अहिंसक लड़ाई है। और आप सभी व्यक्तिश: सत्याग्रह क`लिए जाना हो तो हर घड़ी तैयार हैं ना? एक-एक से पूछा। असफ अली साहब से पूछा, देशबन्धुजी से भी पूछा और-और लोगों से भी। तो मुझे लगा कि शायद मैं गलती कर रहा हूँ, क्योंकि उन लोगों की कार्यपद्धति एक 'शैडो कैबिनेट' बनाकर पीछे से मुहिम चलाने की थी। लेकिन मैंने कहा कि हमारे नगर के मानस पर जब तक कोई अच्छा परिचित व्यक्ति जो बहुत दिनों से नगर का नेतृत्व और उसकी सेवा करता रहा हो और नगर उनको पहचानता हो, ऐसा व्यक्ति सामने न आएगा और अपनी कुर्बानी नहीं देगा, जेल नहीं जाएगा, तब त जन-मानस पर सही प्रभाव नहीं पड़ेगा। इसलिए एक प्रमुख मोर्चा हमको बनाना चाहिए। छोटे-मोटे प्रदर्शन से नहीं चलेगा। इस तरह कार्यक्रम निश्चित हुआ कि कम-से-कम सौ सेवक उस रोज नगर के घण्टाघर पर गिरफ्तार होंगे। उनमें अमुक-अमुक तीन जाने-माने व्यक्ति होंगे। साथ मुझ 'डिक्टेटर' को तो होना ही है। कार्यक्रम सारा बन गया। लेकिन जब ऐन वक्त पर यह कल्पना थी कि इधर से एक जत्था आएगा इतने लोगों का अमुक के नेतृत्व में, उधर से दूसरे व्यक्तियों का अमुक नेता` साथ और उस दिशा से तीसरे नेता अपनी टुकड़ी लाएगे। पर

वैसा कुछ भी हुआ नहीं। मेरे पास एक दिन पूर्व कतिपय विदेशी संवाददाता आए थे और कार्यक्रम जानना चाहते थे। पहले तो मैंने उनसे कहा कि जनाब आप क्या कीजिएगा? लोग आएँगे, लाठियाँ चलेंगी, लोगों के सिर फूटेंगे। यही देखने मे आप दिलचस्पी रखते हैं, उसी को देखना है ना? और इसमें से आपका संवाद बनेगा। मैंने व्यंग्यपूर्वक कहा था और उस पर वे खिन्न दीखे थे और खिन्न मैं भी हुआ था। अगले दिन घण्टाघर पर होने वाली प्रमुख मुठभेड़ का कार्यक्रम उन्‍ बता दिया था, पर समय पर वैसा कुछ भी न हुआ। तीनों नेताओ में से वहाँ एक भी आविर्भूत न हुए, न उनकी टुकड़िया। आखिर मैं ही जितना मेरे पास स्वयंसेवकों का जत्था था, उसको लेकर आगे बढ ?ा और जैसा सविनय अवज्ञा का तरीका था, झण्डा ऊँचा करके और कुछ बोलकर मैं गिरफ्तार हो गया। यह सन् 1932 के सत्याग्रह की गिरफ्तारी थी। खैर, जेल हुई और वहाँ मेरे मन पर ओर भी यह बात प्रत्यक्ष होती गयी। जेल में अपने सत्याग्रही भाइयों के तौर-तरीकों से मेरे मन पर छाप पड़ी कि गाँधीजी के आन्दोलन को, गाँधीजी के मार्ग को, काँग्रेस अपनाती तो है लेकिन उसकी श्रद्धा, मान्यता तदनुसार नहीं है। आगे जाकर हो सकता है कि ये दो सर्वथा अलग-अलग मार्ग हो जाएँ। एक, जिसमें नैतिकता प्रधान हो; दूसरा, जिसमें राजनीतिक आकांक्षा प्रमुख हो। ऐसा मेरे मन में घटित हुआ।

'हाँ, गाँधी-इर्विन समझौते में जो यह आशा की गयी, बहुतों ने की होगी, मैं नहीं कह सकता कि गाँधीजी ने की या नहीं, कि विलायत की सरकार का और साम्राज्यवाद का हृदय परिवर्तन हुआ है। सन् 1932 में ऐसा मालूम हुआ कि वह बात झूठी पड़ गयी। समझौते के बाद गाँधीजी विलायत गये, 'राउण्ड टेबल कान्फ्रेंस' में शामिल हुए, लेकिन जब तक वह भारत की धरती के किनारे पहुँचे तब तक तो संघर्ष फिर शुरू हो गया था। जवाहरलालजी गिरफ्तार किये जा चुके थे और किसान आन्दोलन के सम्बन्ध में सरकार का रुख खुलकर दमन का हो गया था। तो उस समझौते में से यह परिणाम तो अवश्य नहीं निकाला जा सकता है कि साम्राज्यवाद में कोई हृदय परिवर्तन हुआ था। इस दृष्टि से तो आप कह सकते हैं कि समझौता पर्याप्त न था। लेकिन सत्याग्रह जो आरम्भ हुआ वह इतने बड़े प्रश्न को लेकर था भी नहीं। वह तो कानून में अगर हम लचक पैदा कर लेते हैं और औसत आदमी की आवश्यकता को इतना अनुभव करते हैं कि उसकी पूर्ति के लिए गलत कानून को रद्द कर देते हैं, यानी नमक का कानून टूट जाता है, तो इतने में उसकी पूर्ति हो जाती है; अर्थात् सत्याग्रह की सार्थकता बन जाती है। इसलिए गाँधी-इर्विन समझौते को अपने आप में गलत कहने की हिम्मत मुझमें नहीं है। अधूरा था, यानी अपर्याप्त था स्वराज की दृष्टि से, यह

अवश्य कहा जा सकता है।

1932 की जेल यात्रा के बाद राजनीति से सम्बन्ध

सन् 1932 में जो किसानों की दशा उत्तर प्रदेश में थी, उसके बारे में कुछ बताइए।

—मैं उस समय उत्तर प्रदेश में नहीं था, दिल्ली में ही था। उसका मैं कोई प्रत्यक्ष विवरण तो नहीं दे सकता हूँ। किन्तु गाँधीजी के लन्दन से आते ही आन्दोलन ने अखिल भारतीय रूप पकड़ लिया। सन् 1932 के आन्दोलन में भी मैं पड़ा और मुझको जेल भेज दिया गया। सन् 1932 में शायद स्पेशल जेल नहीं थी, मुझे मुलतान सैन्ट्रल जेल भेजा गया था। इसलिए धरती के और किसानों के आन्दोलन के प्रत्यक्ष विवरण में मैं अधिकार भाव से विशेष नहीं जा सकता हूँ।

सन् 1937 में जब सूबों में मंत्रिमण्डल बने, तो आप उनके विरोध में थे या पक्ष में?

—मैं राजनीतिक प्रश्नों के बारे में सीधी और स्वतन्त्र राय बनाने की आवश्यकता नहीं देखता था। फिर विचार आता था तो मालूम होता था कि गाँधीजी का निर्णय ही सही है। उसकी बारीकियों में मैं नहीं जाता था। उस पर जितने तर्क होते थे उन सबके पीछे भी नहीं पड़ता था। चीज सही मालूम पड़ती थी तो इसलिए कि पीछे की मूल दृष्टि सही थी। दिल्ली में एक सम्मेलन हुआ था। उसमें प्रश्न सामने आया था कि मन्त्रालय लेना या नहीं लेना और लेना तो किस विधि और नीति से लेना? सारा यह प्रश्न उलझन का था और सच में तो मनोवृत्तियों का विवाद था। जो सरकार और काँग्रेस के बीच 'जैन्टलमैंस एग्रीमेंट' की बात तय हुई वह गाँधीजी के रूख में से आयी थी। उन्होंने कहा कि जिम्मेदारी से हम हट नहीं सकते। लेकिन अगर जिम्मेदारी निभाने का हमको पूरा अवसर न हो तो लेने से क्या फायदा है? कौंसिलों में जाकर जनहित के दायित्व का काम नहीं करना है, बल्कि भीतर से सरकार के दुर्ग को ही तोड़ना है, यह नीति उनको रुचिकर नहीं थी। किन्तु रचनात्मक कुछ किया जा सके, इस प्रकार का अवसर मिलनेवाला हो तो कौंसिलों में जाना; वह सुविधा नहीं मिलनेवाली हो तो व्यर्थ पद भार लेने से कोई लाभ नहीं है। इस तरह 'जैन्टलमैंस एग्रीमेंट' वाली बात आयी थी कि सरकार से साफ हो जाये कि मिनिस्टरों के काम में अड़चन और अड़ंगा नहीं डाला जाएगा। उनको पूरी जिम्मेदारी के साथ, विश्वास के साथ काम करने दिया जाएगा। इस आधार पर मिनिस्ट्रियाँ हमको स्वीकार होनी चाहिए, उससे हटने का अवकाश नहीं है। कुछ लोग जरूर ऐसे थे जो कहते थे कि यह सब

जाल है, हमको उसमें नहीं फँसना चाहिए। ऐसे लोग भी थे काँग्रेस में, काफी संख्या उन लोगों की थी, जो मानते थे कि जाना तो हमको चाहिए लेकिन क्रान्तिकारी मनोवृत्ति लेकर जाना चाहिए। यानी सरकार को हमें तोड़ना चाहिए, सरकार को 'कोरनर' करना चाहिए, परेशान करना चाहिए। श्री एम.एन. राय उस 'कन्वेशन' में शामिल थे। वे इतने असन्तुष्ट हुए कि अन्त में उसके बाद तो शायद उन्होंने काँग्रेस से अपना सम्बन्ध ही तोड़ दिया। एम.एन. राय से उसके बाद संयोगवश मेरा भी मिलना हुआ लेकिन वह दूसरी बात है।

जब काँग्रेसी मन्त्रियों ने सन् 1939 में युद्ध होने के बाद इस्तीफे दे दिये इस बिना पर कि उनको, सारे भारत को युद्ध का हिस्सा बनाया गया और उनसे पूछा नहीं गया तो गाँधीजी ने उस वक्त यह कहा कि लड़ाई से हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है और अहिंसा के बल पर उन्होंने जोर दिया कि सब लड़ाइयाँ बुरी हैं। इस पृष्ठभूमि में उनका रुख जो पहली जंग की तरफ था उसमें आपको विरोध नहीं मालूम देता है?

—हाँ, देखने में तो कुछ थोड़ा विरोध दिखता है दोनों स्थितियों में। लेकिन शायद उसको विरोधाभास माना जा सकता है। गाँधीजी की अहिंसा और स्वयं गाँधीजी दोनों गतिशील, विकासशील रहे। पहले युद्ध में उन्होंने रंगरूटों की भरती में पूरा भाग लिया। लेकिन अपनी अहिंसा के सम्बन्ध में वे उससे कम दृढ़ थे जैसे बाद में रहे, ऐसा उनका मानना नहीं है। उन्होंने कहा कि जो युद्ध में विश्वास रखते हैं वे ऐसे समय युद्ध से बचें तो यह प्रमाद है, कायरता है। उसके लिए कोई कारण बचने का नहीं है। इस नाते उन्होंने उन रंगरूटों को जो कि युद्ध के सम्बन्ध में निषेध-वृत्ति रखते ही नहीं थे, उनको कहा कि नहीं, तुम्हारा धर्म है कि तुम सहायता में खड़े हो और लड़ो। दूसरे युद्ध के बारे में उनकी स्थिति थी कि भारत को यदि युद्ध में योग देना हो तो वह योग नैतिक रूप का होगा। नैतिक समर्थन, नैतिक बल का योग दिया जा सकेगा। जनबल, धनबल का प्रश्न नहीं उठता। नैतिक बल का योग दे सकते हैं, किन्तु सिद्ध होना चाहिए कि बर्त्तानिया का पक्ष नैतिक पक्ष है भी। अगर ऐसा हो तो हम नैतिक समर्थन अवश्य देंगे। किन्तु सबूत मिलना चाहिए और सबूत इसमें है कि भारतवर्ष के साथ वह किस तरह से व्यवहार करता है। अगर भारत के प्रति उसकी नीयत साफ है तो वह नीयत प्रगट होनी चाहिए। जब तक अपने नैतिक आधार को वे पुष्ट नहीं बनाते हैं तब तक हम कैसे पक्ष समर्थन उनका कर सकते हैं? यह गाँधीजी का कहना था, काँग्रेस का यह मन्तव्य नहीं था।

काँग्रेस में उस वक्त दो राय थीं : जवाहरलाल नेहरू का कहना था कि जर्मनी

इंग्लैंड के मुकाबले में खराब है, इसलिए इन युद्ध में हमें किसी प्रकार अँग्रेजों का समर्थन करना चाहिए। गाँधीजी का रुख था कि युद्ध में हमें अंग्रेजों की कुछ भी सहायता नहीं करनी चाहिए। फिर उन्होंने यह भी कहा कि जब 'हाउस ऑफ कामन्स' पर बम पड़े और वह नष्ट हो जाये तो दुनिया की कला का नाश होगा। इन दोनों में क्या विरोधाभास नहीं है?

—आपने विरोधाभास कहा तो विरोध का आभास तो अवश्य दिखायी देता है। उन्होंने कहा कि 'हाऊस ऑफ कामन्स' है, बकिंघम पैलेस है, इसकी मैं कल्पना करूँ कि बम से वे ध्वस्त हो जाये तो मेरे मन को इतना ही कष्ट होगा जितना कि भारतवर्ष में नाश हो, प्रलय हो, उससे होगा। लेकिन फासिस्ट पक्ष के विरोध में जिस पक्ष का मैं समर्थन करूँ, मालूम तो होना चाहिए कि वह नैतिक भूमिका पर निश्चित रूप से खड़ा हुआ है। उसकी भूमिका निश्चित रूप से नैतिक है जबकि दूसरी ओर अनीति है, ऐसा हो जाये तब तो मैं समर्थन करता हूँ। किन्तु समर्थन की भी एक सीमा है, भारतवर्ष अपना नैतिक समर्थन दे सकेगा। दूसरे लोग मानते थे, जैसा आपने कहा कि फासिस्ट के मुकाबले में हर तरह दूसरा पक्ष समर्थनीय है ही और हमारी कैसी भी अवस्था क्यों न हो हमको उसका समर्थन करना चाहिए, यानी कि मित्र पक्ष का समर्थन करना चाहिए। ऐसी उनकी मान्यता थी। इस स्थिति में गाँधीजी क्या करें? गाँधीजी अहिंसा के व्रती होकर चुप बैठे रहें, यह भी सम्भव नहीं था। इसलिए व्यक्तिगत सत्याग्रह का रूप निकला, जहाँ सत्य-श्रद्धा का 'विंडिकेशन' भी पूरा होता था और अहिंसा को अपनी नीति, कि प्रतिपक्षी को असमंजस में नहीं डालना है, वह भी निभती थी। प्रतिपक्षी जान जोखिम में डालकर लड़ रहा है, अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए, तो इस परिस्थिति का लाभ उठाया नहीं जाएगा, इसकी भी हमें चिन्ता रखनी है। इसलिए बड़े पैमाने पर सत्याग्रह न करके उन्होंने व्यक्तिगत सत्याग्रह का रूप निकाला।

1940 के बाद 1942 में जब उन्होंने 'भारत छोड़ो' और 'करो या मरो' का नारा दिया तो उस वक्त भी जंग जारी थी। तो आप ऐसा नहीं सोचते कि 'भारत छोड़ो' आन्दोलन से अँग्रेजों के जो युद्ध के लिए काम थे उनमें काफी रुकावट पैदा हो सकती थी और एक बड़ा धक्का प्रजातन्त्र को लग सकता था?

—गाँधीजी मानते थे, जब उन्होंने 'करो या मरो' की आवाज दी और 'भारत छोड़ो' का आन्दोलन छेड़ा, कि भारत यदि अँग्रेजों का मित्र रहना चाहता है और उनकी सहायता करना चाहता है तो मित्रता और सहायता सच्ची तभी हो सकती है जब वह अधीन देश न रहे, न ग्रेट ब्रिटेन अधिशासक रहे। तब मित्रता अनायास होगी। यदि वह बलात् होती है तो ब्रिटेन के पक्ष को, नैतिक दृष्टि से बलिष्ठ नहीं,

दुर्बल करेगी। युद्ध की अवस्था ऐसी थी कि आवश्यक था कि सब मित्र देश उसकी मदद करें। यानी सब देश मित्रवत् ही हैं जो इतिहास के संयोग से बर्तानिया के सम्पर्क में आये हैं। यानी यह सब सहज भाईचारे का तकाजा है। लेकिन जब तक गुलाम बना रहेगा भारत तब तक मित्रता का निर्वाह हो नहीं सकता। तो गाँधीजी ने सोचा कि अब स्थिति ऐसी आ गयी है कि हमको इंग्लैंड की मदद करनी चाहिए, लेकिन गुलाम भारत को तो इंग्लैंड की दुश्मनी ही सूझ सकती है, वह मदद कर ही नहीं सकता है। मन में उसके लिए भाव वह पैदा होगा ही नहीं। इसलिए उन्होंने अँग्रेजों से कहा कि तुम भारत पर अगर मालिक की तरह बैठे रहोगे तो तुम कमजोर बनोगे और हिन्दुस्तान से जो तुम उम्मीद करते हो कि वह तुम्हारी मदद करे तो मदद भी हृदय से वह तभी कर सकेगा जब तुम उसके मालिक नहीं रहोगे। तब वह स्वतः सच्चे मित्र के रूप में मदद करने आगे आएगा। इसलिए मैं मानता हूँ कि उनके 'करो या मरो' के सत्याग्रह छेड़ने के भीतर भी मूल आशय उनका यही रहा कि युद्ध में अँग्रेजों की मदद की जा सके। मदद की आवश्यकता है, मदद करनी चाहिए। लेकिन भारतवर्ष की जनता के मन में द्वेष, क्रोध, शत्रुता का भाव रहे, सिर्फ इसीलिए कि वे मालिक बने बैठे हैं; और उसकी मदद करने में असमर्थ बना रह जाए, तो यह उनको सह्य नहीं था। इसीलिए वे चाहते थे कि जल्दी-से-जल्दी शासक के रूप में अँग्रेज यहाँ से हट जाये और हटते ही भारत की जनता में मदद का भाव अनायास नीचे से प्रस्फुटित हो आये। इस ढंग से मैं मानता हूँ कि उनकी स्थिति और नीति अँग्रेज के प्रति मित्रता और अहिंसा दोनों ही दृष्टियों से समर्थनीय हो जाती है।

एम.एन. राय के संस्मरण

आपका एम.एन. राय के साथ कुछ सम्बन्ध रहा है। साम्यवादी पार्टी को छोड़कर, जिसका रुख रूस की वजह से इस आन्दोलन की तरफ बदला था और लड़ाई की तरफ काफी बदल चुका था, एम.एन. राय उन लोगों में से थे जिनका रुख भी इस आन्दोलन के प्रति और युद्ध के प्रति गाँधीजी और काँग्रेस से भिन्न था। कभी आपकी उनसे इस बारे में बातचीत हुई?

—हाँ, मेरा सम्बन्ध विशेष रहा है ऐसा तो नहीं कहा जा सकता। मिलने का अवसर जरूर आया और उसका कारण यह हुआ कि जवाहरलालजी की पुस्तक निकली थी 'मेरी कहानी।' तो उस पर मुझे एक समीक्षा लिखनी थी। एक मित्र सम्पादक थे, उन्होंने आग्रह किया तो समीक्षा लिखी गयी। वह छपी। जरा विस्तृत-सी थी। छपने के बाद उसका अँग्रेजी में भी अनुवाद किया गया। अनुवाद मैं देख नहीं

पाया था, इसलिए वह प्रकाशित नहीं हुआ। फिर दिन बीत गये तो वह पड़ा रह गया। उस अँग्रेजी अनुवाद के पृष्ठ किसी तरह से हाथ में आये एम.एन. राय के। मुझे बताया गया कि एम.एन. राय उन पृष्ठों को पढ़कर दंग रह गये। उन्होंने जानना चाहा कि यह कौन व्यक्ति है? मैं मिलना चाहता हूँ इस आदमी से। तो इस ढंग से मेरा मिलना हुआ। समीक्षा में जवाहरलालजी के व्यक्तित्व का जो एक 'समिंग अप' था, उस सम्बन्ध में जो विवेचन था, उससे वह प्रभावित हुए थे। कारण, उसमें स्तुति नहीं थी, विवेचना, समीक्षा अधिक थी। उन्होंने कहलाया कि इस लेख को अपने पत्र में छापने की मेरी बहुत इच्छा है, लेकिन मेरा पत्र उनके प्रतिकूल समझा जाता है। इसलिए लेख का महत्त्व कम हो जाएगा। छपा तो नहीं, लेकिन उस नाते दिल्ली में उनसे मिलना हो गया। डेढ़-दो घण्टे बात हुई। कहना चाहिए कि हम दोनों ही एक-दूसरे के सम्बन्ध में बहुत विस्मित हुए। वह मुझसे बात करने से पहले जाने क्या आशा रखते होंगे। लेकिन बात करने के बाद मुझसे उनकी सारी आशाएँ कदाचित् भंग हो गयीं। वे समझते थे कि मैं कुछ विद्रोही, क्रान्तिकारी प्रकृति का हूँ। आलोचक हूँ, समीक्षक हूँ। श्रद्धा, आस्था और आस्तिकता इन सब जड़-बाधाओं से बरी होना चाहिए मुझको। जरूर बरी हूँ ऐसा उन्होंने माना होगा। लेकिन जब बात करने लगे तो मालूम हुआ कि हम दोनों में तो कहीं किसी तरह के मेल की भूमिका ही नहीं है। दो घण्टे की बातचीत में नहीं मालूम हुआ कि किसी भी बिन्दु पर हम सहमत हैं, सिवाय इसके कि जवाहरलालजी के प्रति अनुगत का नहीं बल्कि तटस्थ विवेचन का दृष्टिकोण उनको रुचिकर हुआ था। उसके अतिरिक्त हमने पाया कि दोनों के बीच कोई भी सामान्य भूमिका नहीं है। ऐसा अनुभव आया और उसके बाद फिर मिलने का अवसर क्या आना था। राज दृष्टि और राजनीति की अपर्याप्तता उन्हें प्रतीत होने लगी थी, लेकिन समाज से आगे समष्टि-रूप किसी अकल्पनीय की कल्पना उन्हें मिथ्या भावुकता लगती थी। स्वीकार करता हूँ कि उनकी धरती ठोस थी जबकि मेरी आस्था उनके निकट निरी अतर्क्य भावुकता भर थी।

जब आप श्री एम.एन. राय से मिले तो जैसा आपने उनके बारे में देखा होगा कि वे एक जगह किसी भी दर्शन पर चाहे वह जीवन का दर्शन हो या राजनीति का, टिक नहीं सके—क्या इसका आपको कुछ आभास उनसे बातचीत करते समय हुआ?

—मैं मानता हूँ कि बौद्धिक व्यक्ति, जो उत्कटता से बौद्धिक हो, कहीं भी अन्त तक टिकेगा नहीं। कारण वह अपने स्व पर टिका होता है। अन्त में परिणाम यह आता है कि उसकी भाषा, उसका 'स्टैण्ड' उसका दृष्टिकोण इतना अवसरानुकूल,

अन्ततः स्वानुकूल होता है कि हर भाषा उसके काम आने लग जाती है। वह अपनी स्थिति को इतनी जल्दी बदल सकता है कि दूसरे लोग समझते रहें कि बदला है, लेकिन वह तर्क से अपनी पहली स्थिति के साथ उसे पूरी तरह समर्थित करता रहेगा। श्री मानवेन्द्रनाथ राय मुझे तीव्र बुद्धिशाली पुरुष मालूम हुए और मैं मानता हूँ कि बुद्धिशाली व्यक्ति को शब्दों में पकड़ा नहीं जा सकता। उसको आप नहीं कह सकते कि वह अविरोधी रहे। वह समर्थन अपने भीतर से पा लेता है, और अन्त में उसका स्वत्व ही उसके लिए सबसे प्रधान बना रहता है। एम.एन. राय के बारे में मेरी धारणा है कि वे बड़े बुद्धिशाली और प्रतिभाशाली आदमी थे। लेकिन बुद्धि से ऊपर किसी प्रकार की श्रद्धा अथवा आस्था का स्पर्श उन्हें आवश्यक नहीं था। इसलिए इससे उनकी शक्ति बढ़ती थी, लेकिन वही उनकी सीमा भी हो जाती थी।

मेरी दृष्टि में : जवाहरलाल नेहरू

आपने जवाहरलालजी की 'मेरी कहानी' की जो समीक्षा लिखी थी उसमें आपने उनके सम्बन्ध में लिखा था कि 'जवाहरलाल इज ए नोबिल पीस ऑफ ट्रेजडी'। उससे आपका क्या मतलब था?

—अब उसके मतलब की व्याख्या में मैं क्या जाऊँ? मैं समझता हूँ कि वे शब्द काफी स्पष्ट हैं। मुझे लगता था कि जवाहरलालजी के मन में इतिहास का एक चित्रपट उपस्थित रहता हैं। उनको अनुभव होता रहता है कि वे इतिहास के पट पर जी रहे, काम कर रहे और चल रहे हैं और इस चेतना के अधीन जो वे स्वयं हैं, वह उतना नहीं रह पाते, जितना एक 'हिस्ट्री' के 'केनवास' पर चलनेवाले एक चरित्र बन जाते हैं। रह-रहकर उनमें होता है कि जाँचे, इतिहास में महापुरुषों की पंक्ति में वे कहाँ हैं, क्या 'रोल' अदा कर रहे हैं। इसकी चेतना उन्हें सचेत रखती है और वे अपनी निजता को, प्रकृति को, स्वभाव को पूरी तरह से जी नहीं पाते हैं। 'पार्ट' जीते हैं, खुद को नहीं जीते हैं। पग-पग पर उन्हें 'सेकण्ड थाट' आवश्यक होता है। इसीलिए मैंने जो कहा कि 'जवाहरलाल इज ए पीस ऑफ ट्रेजिडी' उनका आशय यही था। क्या उनको होना चाहिए, इतिहास में क्या उनका स्थान होना चाहिए, इस बिम्ब की चेतना को दिमाग से परे शायद ही वे रख पाते हैं। उस कारण कुल मिलाकर एक 'नोबल पीस ऑफ ट्रेजिडी' हो आते हैं। स्वयं में उनकी सार्थकता नहीं रहती, इतिहास में हो आती है। इस तरह का कुछ आशय था।

जैसा अभी आपने कहा कि उनको इस बात की सूझ रहती थी कि उनका इतिहास

के महापुरुषों में क्या स्थान है और अपना जो निजीपन था, उसको खो देते थे, क्या इससे आपको ऐसा लगता है कि उनका इसमें विरोध था, इस तरह के सोचने में। इससे उनकी राजनीति पर क्या असर पड़ा?

—राजनीति पर सीधा प्रभाव यह दीखता है कि महत्त्वाकांक्षा में से उनकी नीति बनी, जिसमें कि भारत की तात्कालिक स्थिति का उतना विचार नहीं भी रहा। हमारी योजनाओं का, हमारी वैदेशिक नीति का प्रधान लक्ष्य यह रहा कि भारत अन्तर्राष्ट्रीय प्रवृत्तियों में खूब भाग ले, ऊँचा जाए, महान बने। ये सारी की सारी बातें भारत के लिए कुछ महँगी पड़ीं, काफी महँगी पड़ीं। जैसे कि हमारे राज-दूतावास ही हैं। आवश्यक हुआ कि राजदूत अन्यान्य अन्तर्राष्ट्रीय और राजनयिक लोगों के समक्ष समान स्तर रखें। उनका रुतबा, रुआब कम नहीं रहना चाहिए, ऐसा उनके मन को लगता था। गाँधीजी कहते थे कि हमारा देश जैसा है, अगर गरीब है तो उसके मुताबिक हमारा प्रतिनिधि रहता है तो उसमें क्या घबराहट है? बल्कि ऐसे वह सच्चा प्रतिनिधि बनता है। लेकिन वह दृष्टिकोण जवाहरलालजी को जँचा नहीं। वे भारत की आन रखना चाहते थे, शान चाहते थे, चाहते थे कि भारत का जो अक्स बाहर पहुँचे वह चमकदार हो, देश के गर्व को बढ़ानेवाला हो। तो यह जो तमाम दृष्टिकोण उनका रहा, आन्तरिक व्यवस्था के सम्बन्ध में जो उनकी योजनाएँ बनीं, वैदेशिक नीति में भारत की आन-बान बनाये रखने को महत्त्व मिला, अन्तर्राष्ट्रीय कार्यों में भारत को आगे बढ़कर भाग और दायित्व लेना चाहिए, यह जो निश्चय हुआ—सो सब परिणाम—क्या कहूँ—उनके अपने 'रोमाण्टिक' दृष्टिकोण का हुआ। मैं मानता हूँ कि भारत के हित में वह बहुत महँगा साबित हुआ और हो रहा है।

मेरी दृष्टि में : गाँधीजी

गाँधीजी और पण्डितजी के दृष्टिकोण में बहुत अन्तर था, इसी तरह से उन दोनों के व्यक्तित्व में भी बहुत भारी अन्तर नजर आता है। गाँधीजी ईश्वर में विश्वास रखते थे और पण्डितजी शायद उतनी गहराई से नहीं रखते थे। पण्डित जी ने शायद एक बार कहा था कि उनको सपने भी अँग्रेजी में आते हैं। गाँधीजी शायद ऐसा नहीं कह सकते थे, फिर भी गाँधीजी ने उनको अपना उत्तराधिकारी घोषित किया। उन्होंने कहा कि मेरे जाने के बाद जवाहरलाल मेरी भाषा बोलेगा। इसके क्या कारण थे?

—मुझे लगता है कि गाँधीजी के जो सीधे अनुयायी थे, वे अनुगत थे, जैसे राजेन्द्र बाबू, वल्लभ भाई और कुछ राजाजी भी। जवाहरलालजी के सम्बन्ध में उन्होंने

देखा कि यह पुरुष अनुयायी नहीं है। और नहीं है, इस यथार्थता को मेरे प्रति पूरे और खुले तौर पर प्रकट करने में संकोच नहीं करता है। इसलिए ईमानदार और खरा आदमी है, सच्चा आदमी है। इसमें अपना निजत्व है, वह मौलिक है और मैं मानता हूँ कि गाँधीजी अनुयायी और अनुगत नहीं चाहते थे, बल्कि प्रत्येक व्यक्ति से चाहते थे कि अपना निजत्व ढूँढ़े और आत्मवान बने। तो मेरे खयाल में गाँधी का उत्तराधिकार उन्हें मिलने में यह कारण था। यों जवाहरलालजी काँग्रेस की कार्यसमिति में हमेशा ही अल्पमत में रहे। गाँधीजी के अनुयायी सदा बहुमत में थे। लेकिन गाँधीजी आगे बढ़कर अपने अनुयायियों की परवाह न करते हुए, जवाहरलालजी को ही काँग्रेस के शीर्ष पर बार-बार रखते रहे। उसका कारण मैं यह मानता हूँ कि उनको सहमति उतनी नहीं चाहिए थी, जितनी कि सच्चाई और ईमानदारी चाहिए थी। जवाहरलालजी में उन्होंने यह देखा। अब जो उन्होंने कहा कि मेरे बाद जवाहरलाल मेरी भाषा बोलेगा, सो आशा पूरी नहीं हुई। पर आशा उनकी अकारण नहीं थी। क्योंकि आदमी में कितनी भी बुद्धि हो, कितना भी गुमान क्यों न हो, हृदय भी अवश्य होता है और गाँधीजी मानते थे कि अगर मेरा व्यवहार जीवन भर जैसा रहा, मेरा प्रेम सच्चा रहा, तो उसका असर जवाहरलाल के दिल पर, दिमाग से ज्यादा दिल पर, जरूर पड़ता रहा होगा। तो मेरे जाने के बाद वह फल लाएगा, वह 'ऑपरेट' करेगा, तो दिमाग की भाषा छूट जाएगी, दिल की भाषा आ जाएगी। मैं समझता हूँ कि यह आशा थी और निराधार नहीं थी। लेकिन वह बात पूरी होने में नहीं आयी। शायद गाँधीजी की जो इस सम्बन्ध में धारणा थी, जो अनुमान था, वह सही नहीं उतरा। क्योंकि राजनीति में वे दिल से काम ले सकें, दिमाग के ऊपर दिल आ जाए, ऐसा अवसर जवाहरलालजी ने जैसे हठात् आने दिया नहीं। अगर जवाहरलाल थोड़ा-सा भी राजनीति से तटस्थ रह पाते, कुछ देर के लिए भी, तो मैं मानता हूँ कि वह अवसर आ जाता। तब उनके दिल के भीतर का बसा गाँधी ज्यादा काम करता, और वह वक्त आया, पर तब देर हो चुकी थी। वार्धक्य आ गया था और नेहरू शिथिल हो चुके थे। लेकिन स्वराज आते ही समस्याएँ इतनी ज्यादा उलझती चली गयीं, इतने ज्यादा 'चैलेंजिज', चुनौतियाँ आती चली गयीं कि जवाहरलालजी को अपने ही गहरे में जाने, वहाँ की बात सुनने का अवकाश नहीं मिला। चुनौतियाँ बहुत ज्यादा आती रहीं और तात्कालिक प्रश्न नेहरू को उद्दीप्त किये रहे, सहृदय और मननशील नेहरू की बारी नहीं आयी। इंपल्सिव 'एक्शनिस्ट' नेहरू को फुर्सत नहीं मिलने दी गयी। और आप जानते हैं कि हरेक का विचार अलग-अलग होता है और जब तक वह काम करता रहा तब तक जवाहरलालजी गाँधीजी की भाषा अपना सकते ही नहीं थे, वह सम्भव भी नहीं। प्रेम आदमी को जिस जगह छूता है

व्यक्तित्व के उस स्तर को उदय में आने का मौका नहीं आया, और आया तो वक्त गुजर चुका था।

1947 में जब देश का बँटवारा होने लगा तब गाँधीजी की राय यकीनी तौर पर यह नहीं थी कि देश का बँटवारा हो और ऐसा अकसर कहा जाता है कि काँग्रेस का जो नेतावर्ग था खासकर, जवाहरलाल नेहरू, सरदार पटेल और दूसरे लोग इन्होंने गाँधीजी को बँटवारे के बारे में पूरा बताया नहीं और उनके विरोध के बावजूद बँटवारे को इन्होंने मान लिया। तो 1946 और '47 में यह जो खाई गाँधीजी के और उनके दूसरे अनुयायियों के बीच में पड़ी, इसका आप क्या कारण समझते हैं? या सत्ता का लोभ इसमें मुख्य कारण था?

—'सत्ता का लोभ' शब्द तो बहुत स्थूल है, बहुत हल्का है। मैं समझता हूँ कि उस समय जो मनोभाव काम कर रहे थे, हमारे काँग्रेसी नेताओं में, वे उनकी समझ से सूक्ष्म थे और वजनी थे। वे थे कि सारे देश ने जो लड़ाई लड़ी, इतना बलिदान किया, परिणामस्वरूप देश में अब स्वराज आया है तो देश हमारी तरफ देख रहा है नेतृत्व के लिए। अब क्या हम अपनी जिम्मेदारी से भाग जाएँ? क्या करें, पीछे हटें? तो यह भाषा उनके दिमाग ने पैदा की कि मोर्चे से भागने का अवसर हमारे लिए नहीं है। राजनीति के क्षेत्र में हमने जनता का नेतृत्व किया है। अब स्वराज आया है तो जिम्मेदारी को अपने कन्धों पर लेने से इनकार कर दें, तो अपनी जनता के साथ विश्वासघात होगा। यह भाषा और यह भाव हमारे नेतृत्व के मन में रहा। अब इसको सत्ता के लोभ का 'रैशनलाइजेशन' कहा जा सकता है या नहीं, इस मनोविज्ञान में मैं नहीं जाऊँगा। लेकिन मैं मानता हूँ कि नेता लोग जेलों में रहे, सारे कष्ट बरदाश्त किये, उससे ऊब गये थे। कष्ट का ही कोई फलसफा हो तो वह उन्हें मंजूर न था। इसलिए उनको सत्ता चाहिए थी अपने लिए ऐसी बात तो नहीं थी। लेकिन गाँधीजी की वह भाषा, वह श्रद्धा जहाँ कि विसर्जन स्वयं अपने आप में मूल्य हो आता है, प्रयोजनाश्रित विसर्जन नहीं, स्वयं विसर्जन, तो वहाँ तक हमारे काँग्रेस नेतृत्व का विश्वास पहुँचा नहीं था। इसलिए गाँधीजी ने जो विकल्प सुझाए वे उनको जँच नहीं सके। गाँधीजी ने तो यहाँ तक सुझाया था, 'अगर अँग्रेज जाते वक्त कहते हैं कि हम किसको सौंपकर जाये सारी राज-व्यवस्था? काँग्रेस को अकेले तो कैसे सौंपी जाए? काँग्रेस और लीग को मिलाकर सौंपते हैं तो दोनों में बनती नहीं है। यह सवाल अगर तुम्हारे सामने रखते हैं अँग्रेज लोग तो उनसे कह दो कि हाँ, हममें और लीग में बनती नहीं है, लेकिन आप चले जाइए, हम आपस में भुगतते रहेंगे। नहीं तो लीग को ही सँभला दीजिए। हाँ, तो लीग को ही सँभाल लेने दो, कोई बात नहीं। अँग्रेज को तो निकल ही

जाने दो। तीसरा और बाहरी आदमी निकल जाएगा, तो दोनों आपस में कुछ लड़ेंगे-झगड़ेंगे, आखिर कुछ-न-कुछ बनाव बनेगा और बैर ठण्डा होगा। कलह स्थायी होती ही नहीं है।' लेकिन यह बात काँग्रेस नेतृत्व को नहीं जमी। मैं मानता हूँ कि यह मूलभूत अन्तर दृष्टि का उस समय अत्यन्त स्पष्ट हो आया था। लीग की तरफ से काँग्रेस आजिज आ गयी थी; यहाँ तक कि गाँधीजी के प्रति अविश्वास का भाव हो आया उनमें और इसलिए उन्होंने सारी चीजों की खबर गाँधी से चोरी रखकर उन्हें नहीं दी, उनका मशवरा नहीं लिया, तो यह तो नहीं रहा होगा। लेकिन यह जरूर रहा होगा कि अन्तर बीच में इतना आ गया था, रुख इतना पलट गया था, कि उन्हें लगा कि अब शायद गाँधीजी को कष्ट देना होगा अपनी राज-व्यवस्था की बातों को उनके पास ले जाना।

यह सही है कि गाँधीजी ने कहा था कि बँटवारा होगा तो मेरी जान पर से होगा, मेरी लाश के ऊपर से होगा। यानी मेरे जीते जी नहीं होगा। लेकिन बँटवारा हुआ और 'ऑल इण्डिया काँग्रेस कमेटी' से बँटवारे को स्वीकार कराने में गाँधीजी की मदद हुई, उन्होंने नेतृत्व को समर्थन दिलाया। गाँधीजी के कारण ही 'ऑल इण्डिया काँग्रेस कमेटी' समर्थन दे सकी, अन्यथा मालूम नहीं क्या होनेवाला था। यह सब जो हुआ उसको समझने में थोड़ी कठिनाई अवश्य है। माना जाता है कि गाँधीजी भी बँटवारे में एक भाग रहे, जबकि दूसरी तरफ वे कहते रहे कि बँटवारा होगा तो मैं जान पर खेल जाऊँगा, मुझको मारकर बँटवारा होगा। यह दोनों बातें कैसे हुईं? तो मैं मानता हूँ, मुझे लगता है कि ईसा को जो सूली लगी थी, कीलों से उनको ठोका गया कि कष्ट और अधिक हो, तो यही सूली गाँधीजी को लग रही थी जब वे काँग्रेस से नेता लोगों को वह समर्थन दिला रहे थे। ऐसी मेरी मान्यता है क्योंकि क्या ईसा मसीह ने अपने सलीब को अपने कन्धों आप ही नहीं ढोया था?

एक तरफ उनका बँटवारे की तरफ तीव्र विरोध और दूसरी तरफ जैसा आपने कहा कि 'ऑल इण्डिया काँग्रेस कमेटी' में उनकी वजह से ही भारत के बँटवारे का प्रस्ताव पास हुआ तो क्या कारण हो सकते हैं कि गाँधीजी ने बँटवारे को न केवल सहन ही किया बल्कि बँटवारे का प्रस्ताव पास कराने में मदद भी की?

—कारण इस आत्महुति का क्या बताया जाए? नेतृत्व ने बँटवारा स्वीकार कर लिया था। वायसराय को वचन दे दिया गया था। काँग्रेस के ही अन्दर तत्त्व थे जो बँटवारे को मानने को तैयार नहीं थे। उन सबसे, एक-एक से गाँधीजी ने बात की। सबके सामने सीधा प्रश्न उन्होंने रखा कि अगर काँग्रेस की जनता तुम्हारी बात माने और तुम्हें विश्वास सौंपे तो तुम अपनी 'वर्किंग कमेटी' बनाने को तैयार

हो, इन नेताओं से अलग? कोई एक भी इसके लिए तैयार नहीं निकला। जो लोग बँटवारे के विरोध में खड़े होने पर उद्यत थे उन्होंने हिम्मत नहीं बतायी। नहीं कहा कि हाँ, हम नहीं मानते हैं विभाजन। अगर राष्ट्र इसमें हमारा साथ देता है तो ठीक है, हम राष्ट्रीय काँग्रेस का दायित्व सँभालेंगे। व्यक्तिशः प्रत्येक से उन्होंने पूछा, पर कोई समर्थन न निकला। गाँधीजी ने देश के राजनीतिक नेतृत्व का दायित्व अपना कभी नहीं माना था। काँग्रेस में कोई तत्त्व तैयार थे नहीं जो बँटवारे के खिलाफ काँग्रेस का नेतृत्व करें। लोग सोचते हैं कि गाँधी तब खड़े हो जाते तो क्या दिक्कत थी? और यहीं से सब भ्रान्ति खड़ी होती है। कोई नहीं मानेगा कि गाँधी में शक्ति नहीं थी। वे उठते तो नेहरू वगैरह सब राजनीतिक नेताओं के विरोध में काँग्रेस जरूर उनके साथ होती। और यहीं गाँधी को समझना मुश्किल होता है। पर मेरी दृष्टि में गाँधीजी राजनीतिक नेतृत्व को काँग्रेस का जिम्मा मानते थे, अपना धर्म नहीं मानते थे। उनका स्वधर्म राजकरण था ही नहीं। इसलिए जब काँग्रेस का कोई व्यक्ति तैयार नहीं निकला इस दिशा में देश और काँग्रेस को ले जाने के लिए, तब क्या करते गाँधी? काँग्रेस से अपने आपको तोड़ लें? विद्रोह का झण्डा उठाएँ? तो इस तरह की बात वे कर नहीं सकते थे क्योंकि उनके निकट देश का राजनीतिक नेतृत्व काँग्रेस का दायित्व था, उसको काँग्रेस का ही रहने देना था। वह धर्मपुरुष थे, राजपुरुष होने की उद्दीपना, सम्भावना उनमें न थी।

सवाल होता है जिन लोगों ने स्वीकार किया बँटवारा, वे उनके अपने ही बनाये हुए तो थे। क्या उन्होंने ही उन्हें वहाँ नहीं बिठाया था? उन्होंने मानो कहा कि हाँ, मैं चाहूँ तो वे मेरे बनाये हुए लोग हैं, मैं उनको हटा भी सकता हूँ। लेकिन फिर मैं करूँगा क्या? नये नेता खड़े करूँगा? आप यों समझ लीजिए कि जिस प्रकार क्राइस्ट ने 'क्रास' को अपने कन्धों पर वहन किया, उसी तरह से गाँधीजी ने खुद अपने को नीचे झुकाकर और कन्धा देकर वह 'क्रास' अपने ऊपर लिया और काँग्रेस में बँटवारे के समर्थन के प्रस्ताव को पारित कराया, और फिर वहाँ से पूरे राजकारण से ही वह दूर चले गये।

मैं मानता हूँ कि परमधर्म ने, जिसकी परिभाषा थी प्रेम और अहिंसा, उनसे ऐसा आचरण कराया। अपने बनाये लोगों पर भी अपने को थोपा नहीं। उन्हें आशीर्वाद दिया कि तुम जियो, तुम्हारी राह में मुझे मरना पड़े तो मरने दो। कहा और एकाकी अपने रास्ते पर चले गये। मैं समझता हूँ कि यह बलिदान-धर्म का मूल कारण इस अतर्क्य व्यवहार का है। इसमें आत्मा की अन्तरंगता के अध्ययन और विश्लेषण की आवश्यकता होगी। अन्यथा पहेली पहेली ही बनी रहेगी, कभी खुल नहीं सकेगी।

आप तो जानते हैं कि गाँधीजी को मारना जिसने पुण्यकृत्य और धर्मादेश

समझा उनके मन में था कि सारे बँटवारे और देश की तबाही का पाप एक गाँधी पर है, उस पापी को जीने नहीं दिया जा सकता। काँग्रेसी नेताओं की तो हस्ती क्या है, वे तो गाँधी के बनाये हुए हैं। ऐसा मानकर उन्हीं को मारा, बाकी सबको बख्शा और माना कि देश की और उसके (सनातन) धर्म की इस तरह उसने रक्षा की है।

तो मैं ऐसा समझ सकता हूँ कि इस अपनी हार में उन्होंने अपने स्वधर्म पर विजय साधी?

—मालूम नहीं कि स्वधर्म क्या होता है, धर्म ही क्या होता है? लेकिन प्रेम से अलग किसी सिद्धान्तवादिता को तो धर्म कहते मुझसे नहीं बनता। धर्मों का सार प्रेम है और मैं समझता हूँ कि प्रेम में जो उत्सर्ग होता है। वह अन्त में धर्माचरण ही सिद्ध है। यह मोह नहीं है। ईश्वर प्रेम और मनुष्य के प्रेम में विग्रह हो आया करता है। अधिकांश ईश्वर के प्रेम में मनुष्य का प्रेम बाधक होता है। लेकिन गाँधीजी के ईश्वर-प्रेम, यानी सत्य-प्रेम और मानव-प्रेम में अगर ऐसा हो कि मानव-प्रेम की उन्होंने रक्षा की और सत्य-प्रेम की हत्या हो जाने दी, तो मैं मान लूँगा कि मोह जीता और सत्य हारा। पर मैं नहीं मान पाता हूँ कि गाँधीजी के साथ ऐसा हुआ। आप जानते हैं कि गाँधीजी का जीवन उसके बाद जिस ढंग से बीता उसमें सत्य-आग्रह और सत्य-वर्तन का जितना तीव्र, प्रचण्ड 'विंडिकेशन' हमें दिखायी देता है उतना पहले शायद नहीं दिखाई दिया। जब वे काँच पर और कर्दम पर वे पाँव-प्यादे चले, चप्पल तक छोड़ दीं, अकेले रहे, अपने साथियों को भी विदा किया, यह सब जो गुजरा उससे क्या यह कहा जाएगा कि मानव-प्रेम की रक्षा में ईश्वर प्रेम को उन्होंने कीमत में तज दिया? इसलिए मैं उसे मोह की विजय नहीं मानूँगा, उसको धर्म की पराजय नहीं, धर्म की विजय ही मानूँगा।

गाँधीजी अकसर कहा करते थे कि उनकी इच्छा 125 साल तक जीने की है और जहाँ तक मैंने सुना है और पढ़ा है, आखिर के दिनों में वे बहुत दुःखी थे और यह कहना भी शायद गलत नहीं होगा कि वे निराश ही मरे। इसका कारण क्या हो सकता है कि उन्होंने 125 साल तक जीने की इच्छा भी छोड़ दी थी?

—मैं समझता हूँ कि यह विरोध प्रत्येक अवतारी जीवन में, अन्त में प्रकट होता ही है। ईसा अन्त समय में रो पड़े, उनके आँसू आ गये। जो व्यक्ति ईश्वर से, उसके सत्य से और विधान से तद्गत हो गया है उसको दुःख-शोक की क्या आवश्यकता है? लेकिन जब तक व्यक्ति सदेह है, रूपाकारयुक्त है, तब तक ईश्वर से किंचित् व्यवधान और अन्तर बीच में रहता ही चला जाता है। मोहभंग का

अवकाश शेष रहता ही है। सचमुच मोहभंग हुआ और 125 वर्ष तक रहने की जो उनकी भावना थी, जिसको परमेश्वर का विधान मानते थे, परमेश्वर के नियमों के अनुसार जो जिये उसे 125 वर्ष से पहले जाना नहीं है, विधान ऐसा है और इसलिए 125 वर्ष तक उनको जीना है, वह भावना जाती रही। मालूम हुआ कि उनका संसार जिस विधि से चल रहा है उस सबके बीच 125 वर्ष तक जीने की इच्छा भी मोह है। मोहभंग हुआ महात्मा गाँधी का, और होना था। प्रत्येक उस पुरुष के जीवन में, जो अपने जीवन को शत-प्रतिशत ईश्वराधीन मानता है, अन्त में ऐसा वक्त आएगा ही आएगा जब प्रतीत होगा कि संसार और ईश्वर में फाँक है और उसमें निराशा व्यापेगी। कृष्ण भगवान की मृत्यु हुई तो मानना होता है कि यादवों की जीवन-प्रक्रिया देखकर उनमें शायद मृत्यु के वरण की इच्छा ही जनमी थी। जो हो रहा था उस सबके प्रति उनमें वितृष्णा हुई कि कथा में आता है कि पैर में व्याघ्र का तीर लगा और उन्हें देह का अन्त प्राप्त हुआ। लेकिन मैं समझता हूँ कि तीर लगने की घटना ही उनकी भावना में से फलित हुई थी। मृत्यु उन्हें अनुकूलता में मिली। मैं मानता हूँ कि अवश्यम्भावी यह प्रक्रिया है जिसमें सम्पूर्ण आस्था के रहते भी परमेश्वर में और संसार में व्यवधान दीखता है। परमेश्वर की प्रकृति में अनुराग के कारण ही संसार के प्रति एक वितृष्णा का क्षण आता है। इसमें एक अवश्यम्भाविता है और कोई तर्क-विमुखता नहीं है। आपकी बात सही है कि काँग्रेस में अधिक लोग खुलकर हिंसा के समर्थन को तैयार नहीं थे, लेकिन सहानुभूति थी और वैसे कामों में वे मदद देते थे। मानना होगा कि इसके कारण दोनों आन्दोलनों में कमजोरी आयी, काँग्रेस के अहिंसक आन्दोलन में और हिंसक क्रान्तिकारी आन्दोलन में भी। कुछ लोग थे जो पूरे योग से इसमें साथ नहीं दे सकते थे, कारण जो हो। उधर काँग्रेस आन्दोलन में वे साथ थे, काम करते थे, लेकिन आधा मन उनका हिंसक नीति की तरफ भी रहता था। इसी का परिणाम था कि गाँधीजी ने लाहौर काँग्रेस में बम विस्फोट पर वाइसराय के बच जाने पर बधाई दी थी और बम काण्ड की निन्दा की थी। वह प्रस्ताव काँग्रेस में बहुमत से पास हुआ था, सर्वसम्मति से नहीं। काफी बड़ा भाग काँग्रेस कार्यकर्ताओं का था, जिनके मन में उस विस्फोट के प्रति निन्दा का भाव नहीं था, कोई विरोध नहीं था। बल्कि किंचित् सहमति थी और समर्थन था। काँग्रेस समर्थन में समर्थन गाँधी की नीति अथवा गाँधी की अहिंसा का नहीं था, वह समर्थन था तो गाँधी की राजनीति अनिवार्यता के कारण था। देश के स्वतन्त्रता आन्दोलन के लिए गाँधी का नेतृत्व काँग्रेस को अनिवार्य था। इसलिए बहुतेरे लोग उस संघटन में थे जो अहिंसा मन से नहीं मानते थे बल्कि मन-ही-मन हिंसक साधनों की आवश्यकता के सम्बन्ध में सहमत थे।

दिल्ली के नेता और राजनीति

सन् 1930 के आन्दोलन में दिल्ली में जिन लोगों ने भाग लिया, खासकर प्रमुख कार्यकर्ता जो इस आन्दोलन में थे, उनके नाम और उनके बारे में कुछ आप बता सकेंगे?

—डॉक्टर अंसारी तो थे ही। आसफ अली थे, देशबन्धु गुप्त थे, इन्द्रजी (विद्या वाचस्पति) थे। आरिफ हसवी भी थे जो उन दिनों जिला काँग्रेस के अध्यक्ष थे। यहाँ के पत्रकार जे.एन. साहनी थे। सत्यवतीजी थीं। ये सब लोग उस समय, उस आन्दोलन में थे और आज के स्थानीय राजनीतिक नेताओं में से काफी लोग थे। युद्धवीर सिंह थे, राधारमण थे। याद आता है, युद्धवीर सिंह और राधारमण स्पेशल जेल में नहीं थे, या तो उन्हें क्लास नहीं मिली थी, या क्या बात थी। डॉ. अंसारी, आसफ अली तो थे वहाँ। डॉ. अंसारी के सुझाव पर, स्पेशल जेल में की इस सुविधा के कारण, वहाँ एक पार्लियामेंट शुरू की गयी। एक घटना याद आती है। मैं चुपचुपाना रहता था। आगे आने की मुझमें सिफत नहीं थी। लेकिन एक बार पार्लियामेंट में जाने क्या चर्चा आयी, खादी के बारे में या किस बारे में, तो अचरज हुआ कि मैं बोल पड़ा। थोड़ा ही बोला। अगले दिन देखता हूँ कि आसफ साहब 'सेल' में पधारे हैं। विस्मय हुआ, क्योंकि मैं सदा का बहुत नगण्य व्यक्ति था। जेल के गणनीयों में मैं किसी ओर से नहीं आ सकता था। आसफ साहब ने कहा कि जैनेन्द्र, तुम कल बोले थे और मेरे मन में हुआ कि तुमसे बातचीत की जाए। मैं तुमसे यह कहने के लिए आया हूँ कि तुम्हें राजनीति में सक्रिय भाग लेना चाहिए। मैंने कहा कि मुझमें तो इससे उलटा निर्णय बन चुका है। यह कि मुझे राजनीति में सक्रिय भाग नहीं लेना है। वे समझाने लगे कि यह बहुत गलत फैसला है तुम्हारा। कहा कि राजनीति में काम करनेवाले बहुत हैं सोचनेवालों की कमी है। जो गहराई में जाएँ ऐसों की जरूरत है। तुम कभी इस मैदान से किनारा मत करना। मैंने कहा कि यह सब चीज अपने बस की मालूम नहीं होती है। फिर सबसे अहम यह है कि मैंने पा लिया है कि भीतर मेरे भय बैठा है। भय रखकर मैं शामिल हुआ तो उस अहिंसक आन्दोलन के साथ न्याय नहीं कर सकूँगा। हिंसक पराक्रम में तो भीतर भय रह भी सकता है। उसमें सेनापति पीछे रहे तो कोई कठिनाई नहीं। सेनापति आदेश देता है, उसमें हो सकता है कि लड़ें सिपाही, जानें तो उनकी जाएँ, और 'चीफ' पीछे सकुशल रहे। लेकिन अहिंसक आन्दोलन में, उसके सत्याग्रह में इसका बिलकुल अवकाश नहीं है। अहिंसक आन्दोलन में तो सेनापति को, या जो भी हो, उसके सामने आकर छाती पर वार लेना चाहिए। अन्यथा अहिंसा खरी अहिंसा नहीं है। जब आपने दिल्ली के लोगों

की बात कही तो मुझे यह घटना याद आ गयी।

पंजाब के सभी प्रमुख नेता वहाँ थे। डॉक्टर गोपीचन्द भार्गव थे, सत्यपाल थे, सैफीदीन किचलू थे। जफरअली ख़ाँ थे जो कि बाद में मुस्लिम लीगी बन गये, लेकिन उन दिनों बहुत सरगर्म 'नेशनलिस्ट' थे, मुहम्मद आलम थे, फ्रंटियर के अब्दुल गफ्फार ख़ाँ और उनके साथी थे।

दिल्ली में नमक सत्याग्रह कैसे चला था?

—एक कैम्प लगा था यमुना पर और वहाँ से बाद में जत्था भेजा गया। पहला जत्था पाँच आदमियों का था। मैंने आपसे कहा कि उस जत्थे का नेता बनाकर मुझे भेजे जाने का निर्णय था और क्यों मैंने असहमति जताई थी। लेकिन जत्था गया और कोई जाने-माने काँग्रेसी नेता उसके नेता नहीं थे। स्वयंसेवकों में से ही वह जत्था तैयार किया गया था। शाहदरा में जाकर उसने नमक तैयार किया। नमक तैयार करना माने बड़ी कड़ाही में पानी डाला गया, उसको पकाया गया, उसमें से मिट्टी निकाली गयी इत्यादि-इत्यादि। जब पहला नमक बना तो लोग एक-एक चुटकी लेने झपटे और उस नमक को बड़ा पवित्र समझा गया। बराबर जत्थे जाते थे और नमक तैयार होता था और वे गिरफ्तार किये जाते थे।

जेलों में वर्गीकरण

आपने 1920 का और 1930 का भी आन्दोलन देखा। इन दोनों आन्दोलनों में जो लोग सम्मिलित हुए थे उसमें आपको कुछ फर्क नजर आया? 1920 और 1930 के आन्दोलनों में किन-किन तबकों के लोग ज्यादा थे?

—अन्तर था। मैं अपने अनुभव के आधार पर कहना चाहूँगा कि सन् 1920 के आन्दोलन में औसतन जो गये थे वे कार्यकर्ता जन थे। यानी सारे देशभर में एक प्रकार की जागृति पैदा हुई थी। नेता-जनता का भेद उतना न था। लेकिन सन् 1930 के आन्दोलन में शहरों में से लोग सामने आये। वे शुद्ध कर्तव्य और त्याग के नाते नहीं उठे थे, बल्कि एक वृत्ति होती है सब तरह के सार्वजनिक कामों में आगे दिखने की। वह वृत्ति उभर चली थी। सन् 1930 के आन्दोलन में इस ढंग के लोग ज्यादा थे। सन् 1920 में भावनाशील अधिक थे।

सन् 1930 के आन्दोलन में, जो कि जन-आन्दोलन था, ज्यादा आम लोग ही शामिल थे, जो कि निचले तबकों के थे जैसे कि किसान या शहर के मजदूर और छोटे काम करनेवाले, या बड़े लोगों का भी ज्यादा 'पार्टिसिपेशन' था?

—हाँ, सन् 1920 और 1930 के आन्दोलन में यह अन्तर कहा जा सकता है। सन् 1920 के आन्दोलन में जन-वर्ग और नेतृ-वर्ग, इनमें विशेष अन्तर नहीं बना था, लेकिन 1930 के आन्दोलन में नेतृ-वर्ग आगे आनेवाला प्रमुख वर्ग अलग दीखता था और जन-वर्ग कुछ थोड़ा अलग था। सन् 1920 से सन् '30 में अपेक्षाकृत यह भेद अधिक था। क्लासिज ए, बी, सी, सन् 1920 के आन्दोलन में लगभग नहीं थी, इससे बड़े-छोटे में एक तरह का आपसीपन रहता था। ए, बी, सी क्लासिज सन् 1930 के आन्दोलन में पैदा हुईं और इसने थोड़ा-सा इस आन्दोलन पर भी प्रभाव डाला। अन्तर बढ़ता गया लगातार। नेतृ-वर्ग एक हो गया और जन-वर्ग अर्थात् सिपाही अलग-सा छूटा रह गया। यह कम-बढ़ की भावना थोड़ी पैदा हुई।

जेलों में सरकार ने जो वर्गीकरण किया अर्थात् जो पढ़े-लिखे और प्रतिष्ठित लोग थे, उनको एक वर्ग में और दूसरों को दूसरे वर्ग में, इससे क्या आप ऐसा मानते हैं कि उसने जो आगे आनेवाले जन-आन्दोलन थे उनको कुछ हद तक कमजोर किया और कार्यकर्ता आपस में मिल-जुल नहीं सके?

—हाँ, मैं मानता हूँ कि इससे नुकसान हुआ, आन्दोलनों में ढील आयी, लोगों में फर्क आया। मैं अपनी ही बात कहता हूँ। यह शायद सन् 1930 की बात नहीं, सन् 1932 के आन्दोलन की बात है। मेरा 'केस' अगली तारीख को था। उससे पहले एक दिन एक अधिकारी काँग्रेस नेता का 'केस' था। मैंने उनसे पूछा कि आपके 'केस' में कुछ 'क्लास' की चर्चा आयी थी? उन्होंने कहा, 'हाँ, पूछा था कि आपकी आमदनी क्या है?' तब मैंने पूछा, 'आपने क्या उत्तर दिया?' उन्होंने कहा कि मैंने बताया, 'जितना एक आई.सी.एस. का वेतन होता है वह मेरा एक मास का खर्च है।' सुनकर मन को बहुत धक्का लगा। मैंने सोचा कि अगर हमारे नेता खर्च के बारे में गर्व के साथ इस प्रकार की बात कह सकते हैं कि आई.सी.एस. की तनखाह क्या चीज है, उतना मेरा खर्च है; तो यह तो आन्दोलन की कमजोरी हुई! अगले दिन मेरा 'केस' था। 'केस ट्राई' करनेवाला मैजिस्ट्रेट अँग्रेज था। इसलिए अँग्रेजी में ही बातचीत हुई थी। अन्त में उन्होंने पूछा, 'आप कहाँ वकालत करते हैं, दिल्ली में?' मुझमें गुस्सा था, कहा, 'आप क्या कह रहे हैं, वकालत? वकालत से मेरा क्या ताल्लुक है?' कहने लगे, 'फिर आप कहीं यूनिवर्सिटी में प्रोफेसर होंगे?' मैंने कहा, 'क्या आप मेरा मजाक उड़ाना चाहते हैं? मैं मैट्रिक तक पढ़ा आदमी हूँ। वकालत और प्रोफेसरी की बात आप क्या करते हैं?' कहने लगे, 'तो-तो' और वे उलझन में दिखे। मैंने कहा, 'साहब, क्या आप मेरी आमदनी पूछते हैं? मेरी आमदनी का कुछ ठीक ठिकाना नहीं है। यानी 'इट इज मीगर

इनफ, एण्ड एट दि टोप ऑफ इट, इट'स क्वाइट प्रिकेरियस।' अब वे मेरी तरफ देखने लगे और कहने लगे, 'देन आई कैन नाट गिव यू ए क्लास?' मैंने कहा, 'यू कैन नाट गिव मी इवन बी? यू आर जस्ट नाट एन्टाइटल्ड टु गिव मी इवन बी क्लास?' यानी मुझे चिढ़ थी पिछले दिन की बात की। जब मैं लौटकर आया तो मालूम हुआ कि मुझको 'बी क्लास' दिया गया है। मैंने 'प्रोटेस्ट' करना चाहा, लेकिन जैसा मैंने आपसे कहा कि मुझे जबरदस्ती उस बैरक से हटा दिया गया। यह तो मन की कमजोरी है कि अपने को विशिष्ट ऊँचा बताया या दिखाया जाए। यह कमजोरी व्याप्त हो रही थी। कई लोग मैं ऐसे जानता हूँ जिसको 'सी क्लास' मिली क्योंकि वे इतने जाने-माने आदमी नहीं थे। लेकिन उन्होंने अपने 'इनकम टैक्स' के 'सर्टिफिकेट' वगैरह 'कोर्ट' में पेश किये कि हम पैसेवाले आदमी हैं। अगर यह बात आ गयी तो जिस आन्दोलन में अपने आत्मोत्सर्ग की बात है, बलिदान की बात है, साधारण से साधारण जनता से एकीभाव में मिल जाने की बात है, उस आन्दोलन की रीढ़ कच्ची तो रह ही जाएगी, और यह हुआ, लेकिन गाँधी का प्रभाव गहरा था और पूरा राष्ट्र एक उत्सर्ग और बलिदान के भाव से उबल पड़ा था।

क्या आप इससे यह अन्दाजा लगा सकते हैं कि जो सन् 1920 का आन्दोलन था उसका नैतिक स्तर सन् 1930 के आन्दोलन से काफी ऊँचा था यद्यपि 'मास पार्टिसिपेशन' के नुक्ते निगाह से चाहे वह कुछ कम रहा हो?

—हाँ, मैं तो ऐसा कहूँगा। किन्तु नैतिक शब्द जरा विवादपूर्ण भी हो जाता है। कारण, मैं मानता हूँ कि अहिंसा के फलितार्थ का उस समय भी पूरा बोध नहीं था। इसलिए चरित्रबल उसे कहिए, नैतिक बल न कहिए; क्योंकि चौरी-चौरा काण्ड हो गया। सन् 1930 में ऐसी किसी चौरी-चौरा के होने की बात नहीं थी। इसलिए चरित्रबल तो शायद कह दिया जाए, अहिंसक शब्द थोड़ा विवादग्रस्त हो सकता है।

जैनेन्द्रजी, जब आप राष्ट्रीय आन्दोलन में भाग लेने लगे तो आपकी साहित्य की तरफ रुचि कैसे हुई?

—मैं जो राष्ट्रीय आन्दोलन में भाग लेने लगा, वह किसी अपनी विशेष प्रेरणा या रुचि-विवेक के कारण नहीं, संयोग ऐसा हुआ कि महात्मा भगवानदीनजी मेरे सम्बन्धी थे और मध्य प्रान्त के आन्दोलन में एक प्रमुख कार्यकर्ता के रूप में उनको जेल जाना पड़ा। इस कारण मेरा राष्ट्रीय क्षेत्र से सम्पर्क हुआ। अन्यथा मैं यह अनुभव करता था कि राजनीति के लिए जितना दबंगपना आवश्यक है, वह मुझमें

नहीं है। मैं बहुत चुप-चुपाना, संकोची ढंग का आदमी था। मुझे लगता है कि मेरा ही प्रश्न होता तो शायद मैं इस क्षेत्र में न आता। चूँकि मैं संकोची, दब्बू-सा आदमी था इसलिए भी शायद मेरा मन खुलकर सफलता के क्षेत्र की ओर नहीं जा सका, या उस सम्बन्ध में नहीं सोच सका। कुछ अन्दर ही अन्दर घुमड़ता रहता था और प्रबल कर्म में फूट नहीं पाता था। इससे हो सकता है कि आन्तरिकता साधन बनी हो और शब्द में प्रगट होने पर मैं साहित्यिक समझ लिया गया हूँ।

सन् 1922 में मैं नागपुर में था और वहाँ फिर मध्यप्रदेश में, मैंने काँग्रेस के कार्य में योग दिया। वहीं से गया काँग्रेस में प्रतिनिधि बनकर गया। इन सम्पर्कों के कारण सन् 1923 में मुझे झण्डा सत्याग्रह में शामिल होना पड़ा। उसके बाद, झण्डा सत्याग्रह का जब अन्त हुआ तो दिल्ली में काँग्रेस का 'स्पेशल सेशन' हुआ। उसके बाद काकीनाडा काँग्रेस हुई थी, जिसमें मौलाना मुहम्मद अली अध्यक्ष थे। उस समय प्रश्न गर्म था कि कौंसिल प्रवेश खुले या निषिद्ध ही रहे। यह काँटे का प्रश्न बना और उस पर काँग्रेस में भेद भी पड़ गया। काकीनाडा काँग्रेस में यह अपने उत्कर्ष पर था। तो इस संसर्ग से मैं राजनीति के क्षेत्र में कहिए, विवश और अनायास भाव से आ गया। गुण-कर्म-स्वभाव से मैं शायद उसके योग्य नहीं था। राजनीति का पहला ही एक खट्टा अनुभव जैसे जीवन भर के लिए मुझे काफी हुआ।

उस वक्त जो 'कौंसिल एंट्री' का सवाल पैदा हुआ, उसमें महात्मा भगवानदीन की क्या राय थी और वे किस पक्ष में थे?

—महात्मा भगवानदीन और पण्डित सुन्दरलाल—इन दोनों की लगभग अभिन्न जोड़ी थी—और ये दोनों ही कौंसिल प्रवेश के कट्टर विरोध में थे। जिसको 'नो-चेंजर' कहते थे उन दिनों ये दोनों ही उस ग्रुप में थे और बहुत सख्ती और कट्टरपन के साथ।

आप 1930 में कैद हुए। 1930 के आन्दोलन के बारे में ऐसा अक्सर कहा जाता है कि जो हिन्दुस्तानी अफसर थे वे इस आन्दोलन के प्रति कुछ सद्भावना रखते थे और इस कारण से जब कभी वारण्ट 'इश्यू' हो जाते थे तो लोगों को गिरफ्तार करने में देर कर देते थे और किसी प्रकार की सुविधाएँ लोगों को दे देते थे, आपकी इस बारे में क्या राय है?

—यह बात सही है कि अधिकांश हिन्दुस्तानी अफसर मन ही मन सद्भावना और सहानुभूति भी रखते थे। लेकिन मैंने आपको कहा कि सन् 1920 के आन्दोलन में शायद चरित्रबल था और 1930 के आन्दोलन की अपेक्षा दृढ़ता विशेष थी।

उसका उदाहरण मैं दे सकता हूँ। नागपुर झण्डा सत्याग्रह के सम्बन्ध में जब मेरे नाम सम्मन आया, गिरफ्तारी कहिए, तो उसी पर मैंने लिख दिया कि यदि आपत्ति न हो तो सम्मन में लिखे समय के बजाय अमुक समय मैं उपस्थित हो सकूँगा। मैजिस्ट्रेट अँग्रेज मि. स्लेनी थे। यह मैंने लिख दिया और नागपुर से वर्धा चला गया। किसी तरह की कोई कानूनी कार्यवाही मेरे खिलाफ नहीं की गयी। लिखा था उसके हिसाब से मैं तीन बजे निश्चित दिन जा पहुँचा और मि. स्लेनी ने अभिवादनपूर्वक मेरा स्वागत किया। सजा तो मुझे दी। लेकिन 'एक्यूज्ड' और 'मैजिस्ट्रेट' के बीच इनसानी रिश्ता बन सका। मुलजिम के प्रति न्यायाधीश का इस तरह का व्यवहार क्या सम्भव हो सकता है? पर सम्भव हुआ, यहाँ तक कि अभियुक्त अपनी उपस्थिति का समय स्वयं नियत करता है और बावजूद इसके कि यह कानून की अवज्ञा है और कोई दुष्परिणाम नहीं होता! आप देखें कि वह ऑफिसर अँग्रेज था। हिन्दुस्तानी अफसरों में सन् 1930 के आन्दोलन में अवश्य सद्भाव रहा, सहानुभूति रही अपने सत्याग्रही भाइयों के प्रति। लेकिन मुझे लगता है कि स्वयं अँग्रेज में उस तरह का जो समझौते का भाव था, एक लिहाज था वह शायद उतना ही नहीं था जितना सन् '20 आदि के आन्दोलन में था। कारण, तब चरित्र पर बल था।

अँग्रेज का जो दृष्टिकोण बदला इसके आप क्या कारण समझते हैं? क्या इसीलिए वह बदला कि सन् '30 का आन्दोलन ज्यादा तेज था और वे यह समझ रहे थे कि इससे उनका खतरा पैदा हो सकता है और सन् '20 का आन्दोलन उतना प्रबल नहीं था?

—ऐसा मैं नहीं मानता हूँ। मुझे लगता है कि सन् '30 के आन्दोलन के रूप को उन्होंने अधिक राजनीतिक माना, जिसमें चालाकी और चालबाजी वगैरह की भी गुंजाइश हो सकती है। सन् '20 का आन्दोलन स्पष्टता से भावनात्मक और आदर्शात्मक विशेष था। इसलिए अँग्रेज को शको-सुबह की जरूरत कम मालूम होती थी। विरोध तो जरूर करते थे, जुल्म भी करते थे, लेकिन शक कम और भरोसा अधिक था। सन् '30 के आन्दोलन में मुझे लगता है कि वह बात नहीं रही, उनको शक हो गया कि ये चालबाजी से भी काम ले सकते हैं। मुझे अपनी याद है सन् '30 के आन्दोलन की। एक गाँधी विचारधारा में पगे भाई ने कहा, 'देखो यह झण्डा लो और इसको जेब में रखो। यह डण्डी है, इसे इस तरह से लेकर जाओ जैसे कि तुमको छड़ी रखने की आदत है। इस डण्डी को झण्डे पर चढ़ाना घण्टाघर पहुँचकर। वहाँ सत्याग्रह करना है।' मैंने कहा कि डण्डे को छिपाकर ले जाना पड़ेगा? तो कहने लगे, 'हाँ-हाँ' सत्याग्रह तो उस जगह पर

पहुँचकर करना है।' सन् 1930 में यह बात हुई। मुझे लगता है कि सन् '20 में यह होशियारी शायद किसी को नहीं सूझती। नागपुर में झण्डा सत्याग्रह हुआ। उस वक्त इस तरह की बात किसी के मन में नहीं आती कि वहाँ तक छिपकर ले जाना है और इस-उस तरह से करना है। ऐसा मालूम होता था तब कि विद्रोह है तो खुला है, खुली अवज्ञा है। इस तरह मुझे लगता है कि दोनों स्थितियों में तनिक अन्तर था।

अगर गाँधीजी का अभय का विचार लोगों में अच्छी तरह से फैल जाता जो सन् '20 के आन्दोलन का मूल सूत्र था तो सन् '30 का आन्दोलन और मजबूत होता परन्तु वह नहीं हुआ। इसके क्या कारण थे?

—यह जो आपने 'अगर' की बात कही, यह बहुत बड़ा अगर है। राजनीतिक आजादी हासिल करने की आतुरता भी इसमें कारण हो सकती है। नीति-अनीति क्या होती है? यह सब क्या झमेला है? आजादी हमको लेनी है कि नहीं? लड़ाई आजादी की है न? तो क्या इन छोटी-मोटी बातों पर अटककर रह जाया जाए? सचमुच आगे चलकर गाँधी के सिद्धान्तों के फलित क्या हैं, चरितार्थ क्या है, उस सम्बन्ध में उतनी सावधानी नहीं रही। जैसे आन्दोलन की क्षमता बढ़ी, साधन शुद्धि का ध्यान कम होता गया। और तो और सन् '42 के आन्दोलन को आप लीजिए। सबसे बड़े और प्रामाणिक गाँधीवाद के, गाँधी विचारधारा के व्याख्याता मशरूवाला माने जाते हैं। गाँधीजी तो जेल में थे। मशरूवाला ने तोड़-फोड़, रेल गिराना, पटरी उखाड़ना, इन सबका उन्हीं के पत्र के सम्पादकीय में समर्थन कर डाला। अब मशरूवाला जैसी व्यक्ति भी अहिंसा के गर्भित अर्थ क्या है, उसकी चरितार्थता क्या है, इस सम्बन्ध में चूक कर सकता है, तो साधारण आदमियों से हम क्या अपेक्षा कर सकते हैं? मशरूवाला के मन में कोई किसी प्रकार की आसक्ति नहीं थी, लोभ नहीं था। वे सत्ता नहीं चाहते थे। वे तो शुद्ध तत्त्व-विचार के व्यक्ति थे। लेकिन फिर भी वे अहिंसा को समझने में चूक कर गये। गाँधीजी को जब मालूम हुआ तो उन्होंने उसका खण्डन किया और मशरूवाला से पूछा कि यह क्या? तो मशरूवाला ने माना कि हाँ, उनके समझने में गलती हुई। आपने जो 'अगर' कहा है, वह बहुत बड़ा अगर है। मैं मानता हूँ कि अगर देश जितनी एक व्यापक इकाई पर अहिंसा का प्रयोग किया जाएगा, तो उसमें इस तरह की त्रुटियाँ होना तो थोड़ा सम्भव रहेगा ही।

गाँधी-इर्विन पैक्ट

1930 के आन्दोलन के बाद जो 'गाँधी-इर्विन पैक्ट' हुआ, उसको काँग्रेस के तरुण

दल ने पसन्द नहीं किया, जिसके नेता जवाहरलाल और सुभाष बाबू थे। क्या आपके विचार में इतने बड़े जन-आन्दोलन का यह जो अन्त हुआ, क्या वह राजनीतिक दृष्टिकोण से सही था?

—उन्होंने 'गाँधी-इर्विन पैक्ट' को मूलतः नहीं माना या नहीं मानना चाहा, ऐसी तो मेरी धारणा नहीं है। मैं मानता हूँ कि 'गाँधी-इर्विन पैक्ट' की कुछ बातें ऐसी थीं, जिनसे उनको असन्तोष था। लेकिन कुल मिलाकर ये लोग, नेहरू वगैरह, जड़ से ही 'गाँधी-इर्विन पैक्ट' के खिलाफ थे, ऐसा मैं नहीं मानता हूँ। लेकिन आप जानते हैं कि 'गाँधी-इर्विन पैक्ट' के बाद कराची में काँग्रेस हुई थी और वहाँ पर गाँधीजी को काले झण्डे दिखाये गये थे, काले फूल पेश किये गये थे। हाँ, एक वर्ग था जो 'पैक्ट' के तो इतना विरुद्ध था नहीं, जितना कि 'पैक्ट' में भगत सिंह को छुड़ाने की शर्त न रखे जाने पर क्रुद्ध था। इन लोगों की धारणा थी कि 'पैक्ट' में एक शर्त भगत सिंह को फाँसी से छुड़ाने की लाजमी होनी चाहिए थी। वह शर्त उसमें नहीं थी, इस पर लोगों में व्यापक और गहरा असन्तोष था। यह माना जा सकता है, लेकिन जवाहरलालजी उसके मूलतः विरोध में थे, ऐसी तो मेरी धारणा नहीं है।

मैं आपसे पूछ रहा था कि इतने बड़े जन-आन्दोलन का अन्त जिस 'गाँधी इर्विन पैक्ट' में हुआ, उसकी जो शर्तें थीं, वह कहाँ तक राष्ट्रीय हित में थी और 1930 के आन्दोलन के जो मूल लक्ष्य थे, वे कहाँ तक पूरे हुए, इसके बारे में आपकी क्या राय हैं?

—हमें याद रखना होगा कि गाँधी राजनीति से अधिक धर्मनीति के पुरुष थे। उनकी युद्ध-नीति को समझने के लिए यह तत्त्व-दृष्टि बहुत आवश्यक है। लड़ाई अवश्य स्वराज्य की थी। पर सत्याग्रह, सन् '30 का नमक कानून की अनैतिकता के मुद्दे पर केन्द्रित था। लोगों को अचरज था कि स्वराज्य जैसे बड़े प्रयोजन के बीच इस नमक के मुद्दे की क्या हैसियत है? पर गाँधी के दांडी-कूच ने देश भर में अद्भुत जान फूँक डाली। राज्यसत्ता के विरोध में एक सामान्य आदमी के अधिकार की उससे प्रतिष्ठा हुई। राष्ट्र से भी अधिक मानव-अधिकार का प्रतीक बना वह आन्दोलन। अर्थात् राजनीति के ऊपर मानव-नीति की उसने जय साधी। 'गाँधी-इर्विन सन्धि' में से यह फल मिलता हमें प्रत्यक्ष नहीं होता है, इसीलिए आपका सवाल है। इसलिए वह फल अपर्याप्त-सा प्रतीत हो सकता है। पर मैं मानता हूँ कि उसमें एक गहरी और बुनियादी विजय गर्भित है।

देश का मानस भगत सिंह आदि क्रान्तिकारियों को लेकर उस समय बहुत उद्विग्न और उद्दीप्त था। सन्धि-पत्र में गाँधी ने उस तक की चिन्ता और रक्षा नहीं की और उन देश भक्तों को फाँसी लग जाने दी। इस पर सच ही देश बहुत

क्षुब्ध था। पर गाँधी ने उन क्रान्तिकारियों को फाँसी के दण्ड से बचाने का प्रयत्न भरपूर किया। सिर्फ सन्धि की एक शर्त के तौर से उस पर नहीं अड़ सके। क्या उनकी इस असमर्थता में भी आप एक गहरा सत् सिद्धान्त नहीं देख सकते हैं? क्या आप राज्य को बदलने या पलटने के उपाय के रूप में राजनीतिक हत्या का समर्थन कर सकेंगे? क्या यह आवश्यक नहीं माना जाएगा कि समाज में परस्पर हिंसा का अधिकार सर्वथा निषिद्ध और अवैध रहे, और केवल वैध रूप में उस प्रकार के दमन या दण्ड का अधिकार राज्य के पास ही सुरक्षित रहे? इसको अमान्य करना समूची सभ्यता के विरुद्ध जाना ही जाएगा।

'गाँधी-इर्विन समझौता' चाहे अब ठण्डा-सा प्रतीत हो सकता हो, पर वह आन्दोलन था, और उसमें पायी गयी विजय थी, जिसने हिन्द-स्वराज्य को दूर से पास किया और जिसने विदेशी साम्राज्य की नींव को ढीला कर दिया।

एक और बात ध्यान देने की है। गाँधी का मानना था कि आन्दोलन की जीत में भी उसके मूल मुद्दे को फैलाना अनैतिक होगा। यह प्रतिपक्ष की कमजोरी का लाभ उठाना हो जाएगा। राजनीति में इस चतुराई का जितना भी चलन हो, गाँधी-नीति में इसका अवकाश किंचित् भी नहीं है।

जैनेन्द्रजी, जेल से छूटने के बाद जब आप दूसरी बार सन् 1932 में जेल गये, इस दौरान में आपका राजनीति में कौन-सा क्षेत्र रहा?

—सन् 1930 के आन्दोलन के बाद स्थितियाँ कुछ थोड़ी उलझ गयी थीं। कारण, नौजवान भारत सेना के नाम से पंजाब में एक आन्दोलन चला और वे युवजन गाँधीजी के शान्तिमय आन्दोलन की प्रकृति एवं प्रवृत्ति से सन्तुष्ट नहीं थे। समझौता हुआ 'गाँधी-इर्विन पैक्ट'। लेकिन उससे वे लोग बहुत असन्तुष्ट थे। यहाँ तक कि कराची काँग्रेस अधिवेशन में गाँधीजी को काले झण्डे दिखाये गये। और भी काँग्रेस में कुछ तत्त्व थे जो उससे सन्तुष्ट नहीं थे।

राऊण्ड टेबिल कान्फ्रेंस सन् '30

बाद में गाँधीजी जब 'राऊण्ड कान्फ्रेंस' में गये और लौटे, तब तक फिर एक संघर्ष उपस्थित हो गया था। संयुक्त प्रदेश में उस समय वहाँ किसानों के प्रश्न को लेकर जवाहरलालजी खड़े हुए और उनको गिरफ्तार कर लिया गया। गाँधीजी लौटकर बम्बई में उतरे तो उनको यह समाचार मिला। उनके लिए तब दूसरा रास्ता था ही नहीं और फिर युद्ध छेड़ देना पड़ा। जहाँ तक मेरा प्रश्न है, मेरे साथ एक अजीब घटना हुई। सन् 1930 में नमक सत्याग्रह के लिए यहाँ अभियान आरम्भ

हुआ तो उसमें पहला जत्था बना सत्याग्रह करने के लिए, और उसका नेता मुझे बना दिया गया। मैं तो काँग्रेस का सक्रिय कार्यकर्ता था नहीं। इसलिए यह अपना अधिकार नहीं मानता था। कह दिया कि जत्थे में एक सामान्य स्वयंसेवक तो रह सकता हूँ, लेकिन उसका नेता बनने का मेरा अधिकार नहीं है, कोई जनता के समक्ष जाने-माने व्यक्ति का ही यह अधिकार हो सकता है। तत्कालीन काँग्रेस कार्यकर्ताओं की नीति शायद यह थी कि युद्ध लम्बा चलेगा, इसलिए प्रमुख तत्त्वों को पीछे से काम करना चाहिए, समक्ष आने को नये स्वयंसेवक इत्यादि रहें। ऐसी मान्यता मेरी नहीं थी। मैं समझता हूँ कि अहिंसक युद्ध तो श्रद्धा के आधार पर चलता है। हम पीछे रहेंगे और ऐसे उसे सफल बनाएँगे, यह मानकर दूसरे तो चलाये जा सकते हैं, अहिंसक युद्ध नहीं चलाया जा सकता। उसमें तो नेता को सामने और पहले होना चाहिए। अतः मैं पद स्वीकार नहीं कर सका। मैंने कहा कि किसी प्रकार की बाधा मैं पैदा नहीं करना चाहता हूँ, इसलिए मुझे आप अलग हो जाने दें, तो मैं शिविर से चला आया। कार्यकर्त्तागण मेरे साथ थे। उन पर यह प्रभाव पड़ा कि नेता लोग अपने को पीछे रखना चाहते हैं, युद्ध में सामने नहीं आना चाहते हैं। उस समय एक आन्दोलन नौजवान भारत सेना का चला। एक साथी ने कहा कि कुछ बन्धुओं की सभा हो रही है, तुम्हें उसमें आना है। मुझे उसका कोई पता न था। हुआ यह कि नौजवान सेना बनी और पाया कि मैं प्रधान हूँ।

सन् 1930 के आन्दोलन से लौटने के बाद यद्यपि मैं कराची गया था और थोड़ा-बहुत राजनीतिक गतिविधियों की दिशा में अपने को अवगत भी रखता था, लेकिन सन् 1932 का जब आन्दोलन आया तो मैं किसी प्रकार के राजनीतिक दल का सामान्य सदस्य भी नहीं था। मेरी इधर रुचि नहीं थी। किन्तु जब आन्दोलन आरम्भ हुआ तभी प्रेमचन्द की चिट्ठी आयी, तार आये दो कि हमारे विशेषांक के लिए तुरन्त और आवश्यक रचना भेजो। लेकिन देखा, मैं लिख नहीं पा रहा हूँ, चाहता हूँ तो भी नहीं। मुझे इस बेबसी का रंज रहता था। दो-तीन रोज में ही जब उनका एक दूसरा तार आया और मैं नहीं लिख सका तो अन्त में कागज का टुकड़ा लिया और उस पर एक पंक्ति पण्डित इन्द्र विद्यावाचस्पति को घसीट भेजी। वे तब यहाँ की काँग्रेस के प्रधान थे। लिख दिया कि आप स्वयंसेवकों की सूची में मेरा नाम दर्ज कर लें, अमुक तिथि से आपकी आज्ञा पर हूँ। बस यह लिखना था कि देखा, अब मन में किसी तरह का द्वन्द्व नहीं है। तभी तब कहानी भी लिख गयी और प्रेमचन्दजी को भेज दी गयी। तो मेरे मन में थोड़ी-बहुत उलझन शायद रही होगी कि इधर तो लोग उत्सर्ग के मार्ग पर जा रहे हैं, देश में उथल-पुथल हो रही है, तुम किनारा लिये बैठे हो। इसी तरह की दुविधा

रही होगी जिससे रचना सम्भव न हुई। इन्द्रजी को यह लिखने के दो ही रोज बाद मेरे पास यहाँ के कुछ प्रमुख व्यक्ति आये और उन्होंने मुझे पण्डितजी के हाथ का लिखा पत्र दिया। आदेश था कि तुमको यहाँ का 'डिक्टेटर' बनाया जाता है, उस युद्ध का। तब इस 'डिक्टेटर' पद्धति का आविष्कार हुआ था। मुझको बहुत विस्मय हुआ, बहुत बुरा भी मालूम हुआ। कहा कि मैंने तो स्वयंसेवक की सूची में नाम दिया था। यह 'डिक्टेटर' बनने की कतई बात नहीं थी। मेरी यह पात्रता नहीं है। एकदम यह गलत तरक्की है। तो उन लोगों ने तर्क देकर कहा कि तुम स्वयंसेवक बने हो और तुम्हारे ऊपर यही सेवा डाली गयी है। मैंने पण्डितजी को फिर कहा कि मुझे छोटे-मोटे काम में लगा दिया जाए, यह सम्मान मुझ पर न डालें। लेकिन पण्डितजी ने भी मुझे मुक्ति नहीं दी। परिणाम हुआ कि मुझे सोचना पड़ा कि योजना क्या करनी चाहिए। यहाँ के जितने प्रमुख कार्यकर्ता थे, आसफ अली थे, देशबन्धु गुप्त थे, इन्द्रजी तो थे ही, सबको एकत्र बुलाया। इन्द्रजी तो प्रेजिडेंट की हैसियत से पहले 'डिक्टेटर' थे, दूसरा मुझे बनाया गया। उनका कार्यकाल पूरा हो रहा था और वे जेल जाने को थे। तो मैंने एकत्रित उन सब लोगों को कहा कि हमारी तो अहिंसक लड़ाई है। और आप सभी को व्यक्तिशः सत्याग्रह के लिए जाना हो तो हर घड़ी तैयार रहना हैं ना? एक-एक से पूछा। आसफ अली साहब से पूछा, देशबन्धुजी से भी पूछा और-और लोगों से भी। तो मुझे लगा कि शायद मैं गलती कर रहा हूँ, क्योंकि उन लोगों की कार्यपद्धति एक 'शैडो कैबिनेट' बनाकर पीछे से मुहिम चलाने की थी। लेकिन मैंने कहा कि हमारे नगर के मानस पर जब तक कोई अच्छा परिचित व्यक्ति जो बहुत दिनों से नगर का नेतृत्व और उसकी सेवा करता रहा हो और नगर उनको पहचानता हो, ऐसा व्यक्ति सामने न आएगा और अपनी कुर्बानी नहीं देगा, जेल नहीं जाएगा, तब तक जनमानस पर सही प्रभाव नहीं पड़ेगा। इसलिए एक प्रमुख मोर्चा हमें बनाना चाहिए, छोटे-मोटे प्रदर्शन से नहीं चलेगा। इस तरह कार्यक्रम निश्चित हुआ कि कम-से-कम सौ सेवक उस रोज नगर के घण्टाघर पर गिरफ्तार होंगे। उनमें अमुक-अमुक तीन जाने-माने व्यक्ति होंगे। साथ मुझे 'डिक्टेटर' को तो होना ही है। कार्यक्रम सारा बन गया। लेकिन जब ऐन वक्त पर यह कल्पना थी कि इधर से एक जत्था आएगा इतने लोगों का अमुक के नेतृत्व में, उधर से दूसरे व्यक्तियों का अमुक नेता के साथ और उस दिशा से तीसरे नेता अपनी टुकड़ी लाएँगे। पर वैसा कुछ भी हुआ नहीं। मेरे पास एक दिन पूर्व कतिपय विदेशी संवाददाता आये थे और कार्यक्रम जानना चाहते थे। पहले तो मैंने उनसे कहा कि जनाब आप क्या कीजिएगा? लोग आएँगे, लाठियाँ चलेंगी, लोगों के सिर फूटेंगे। यही देखने में आप दिलचस्पी रखते हैं, उसी को देखना है ना? और इसमें से आपका संवाद

बनेगा। मैंने व्यंग्यपूर्वक कहा था। और उस पर वे खिन्न दीखे थे और खिन्न मैं भी हुआ था। पर अगले दिन घण्टाघर पर होनेवाली प्रमुख मुठभेड़ का कार्यक्रम उन्हें बता दिया था। पर समय पर वैसा कुछ भी न हुआ। तीनों नेताओं में से वहाँ एक भी आविर्भूत न हुए, न उनकी टुकड़ियाँ। आखिर मैं ही जितना मेरे पास स्वयंसेवकों का जत्था था, उसको लेकर आगे बढ़ा और जैसा सविनय अवज्ञा का तरीका था, झण्डा ऊँचा करके और कुछ बोलकर मैं गिरफ्तार हो गया। यह सन् 1932 के सत्याग्रह की गिरफ्तारी थी। खैर, जेल हुई और वहाँ मेरे मन पर और भी यह बात प्रत्यक्ष होती गयी। जेल में अपने सत्याग्रही भाइयों के तौर-तरीकों से मेरे मन पर छाप पड़ी कि गाँधीजी के आन्दोलन को, गाँधीजी के मार्ग को, काँग्रेस अपनाती तो है लेकिन उनकी श्रद्धा, मान्यता तदनुसार नहीं है। आगे जाकर हो सकता है कि ये दो सर्वथा अलग-अलग मार्ग हो जाएँ। एक, जिसमें नैतिकता प्रधान हो; दूसरा, जिसमें राजनीतिक आकांक्षा प्रमुख हो। ऐसा मेरे मन में घटित हुआ। तब से, सन् 1932 के बाद फिर मैं किसी भी सक्रिय आन्दोलन में गया नहीं।

इन्द्र विद्यावाचस्पति के संस्मरण

जैसा अभी आपने कहा कि दिल्ली के जो दूसरे नेतागण थे, आसफअली और डॉ. अंसारी वगैरह ये खुद जेल में उस समय नहीं जाना चाहते थे तो डॉ. अंसारी के बारे में ऐसा क्या था?

—डॉ. अंसारी मैंने नहीं कहा। मैंने देशबन्धु गुप्त कहा।

तो ये लोग सिर्फ एक 'टैक्टिक्स' की वजह से नहीं जाना चाहते थे या कुछ प्रदेश काँग्रेस कमेटी में दलबन्दी के कारण?

—दलबन्दी के सम्बन्ध में मेरी विशेष कुछ गहरा परिचय था नहीं। इसलिए मैं नहीं कह सकता हूँ। लेकिन मेरी धारणा है कि युद्ध चलाने की उनकी अपनी जो कल्पना थी वह थी कि पीछे अगर कुछ जिम्मेदार लोग सँभालने वाले रहेंगे तो देर तक युद्ध चलाया जा सकेगा, धन और जन-संग्रह का काम ठीक से चलता रह सकेगा, इसमें निरन्तरता रहेगी। ऐसी धारणा रही होगी। अपने को बचाने की बात तो शायद इतनी नहीं होगी। इस दृष्टि में डॉ. अंसारी को मैं शामिल नहीं कर सकता हूँ, क्योंकि डॉ. अंसारी का स्थान दिल्ली की प्रादेशिक काँग्रेस कमेटी से कुछ ऊपर था। वे प्रदेश की राजनीति में उतने नहीं थे। देश की राजनीति में हाँ, थोड़ा-बहुत मतभेद था। पर वह अलग बात है। पण्डित इन्द्रविद्यावाचस्पति

गिरफ्तार हुए, यह सन् 1932 की बात मैं कह रहा हूँ, तो जेल में साथ ही थे। दिल्ली जेल में उन्होंने जो अपनी कहानी सुनाई उससे मेरे मन को कुछ अच्छा नहीं लगा था। वे जेल में गये तो थे, लेकिन बतला रहे थे कि किस प्रकार की विवशता थी। वे यद्यपि अध्यक्ष थे, पर जेल जो गये, विवशता के नाते गये, किसी हताशा में गये। प्रसन्नता या उत्साह की प्रेरणा नहीं थी।

जेल में पण्डितजी इन्द्रविद्यावाचस्पति से जो बात हुई थी, उसको जरा तफसील में आप बताइए?

—मैं समझता हूँ ज्यादा तफसील में जाने की जरूरत नहीं है। उन्होंने यही कहा कि जिन हालतों में मुझे सत्याग्रह करना पड़ा जत्थे के साथ, मेरी अभी वह कल्पना नहीं थी। लेकिन मैं विवश हो गया। काँग्रेस का पद मेरे पास था, लेकिन काँग्रेस की धन-जन शक्ति पर जिनका नियन्त्रण था वे दूसरे ही व्यक्ति थे। एक अनिश्चित प्रकार का खिन्न-भाव उनमें था, और इधर हमारे राजनीतिक सत्याग्रहियों में 'क्लासिज' हो गयी थीं।

उस समय दिल्ली प्रदेश काँग्रेस में जैसे अभी आपने कहा कि इन्द्रजी ने कहा कि जो सत्ता है वह किन्हीं और लोगों के हाथ में है तो इन्द्रजी का इशारा देशबन्धु गुप्त की तरफ तो नहीं था?

—हाँ, माना जा सकता है, लेकिन नेता और भी थे। यहाँ से फिर हम लोग मुलतान जेल में भेजे गये थे। मुलतान जेल में आसफअली साहब तो नहीं आये लेकिन इन्द्रजी गये ही थे। देशबन्धुजी भी मुलतान में थे और उन्हें 'ए क्लास' दी गयी थी। मैं पण्डितजी से जिक्र करता तो साफ दीख आता कि उनके मन में बड़ा क्षोभ-सा रहता था, इस ए-बी क्लास की बात को लेकर। यह सम्भव हो सकता है, बल्कि शायद सही होगा कि सूत्र, संचालन के और सत्ता के, जहाँ तक कि दिल्ली की काँग्रेस की राजनीति का सम्बन्ध था, देशबन्धु जी के हाथ में विशेष थे।

तो इन लोगों के आपस में प्रदेशीय काँग्रेस कमेटी के अन्दर जो फर्क थे वे ज्यादा आदर्शों पर निर्धारित थे या व्यक्तिगत थे?

—आदर्शों का तो मैं समझता हूँ विशेष प्रश्न था नहीं। काँग्रेस की नीति एक थी और इन दोनों की, देशबन्धुजी और इन्द्रजी की पृष्ठभूमि आर्य समाज की थी। इसलिए कोई विशेष आदर्शों का या नीतियों का भेद तो मैं नहीं मानता हूँ। व्यक्तित्व में विविध तत्त्व रहते ही हैं। उनमें स्पर्धा देखी जाती है। व्यक्तित्व का प्रश्न ही

अधिकांश कहिए। थोड़ा-बहुत यह प्रतियोगिता का भाव भीतर रह ही जाता है।

सन् 1932 के आन्दोलन की ओर पिछले आन्दोलनों की बनिस्बत क्या कोई नये लोग, नवयुवक आदि आकर्षित हुए या नहीं?

—मुझे लगता है कि सन् 1930 और सन् 1932 के आन्दोलनों के स्तर में कुछ अन्तर था। जो उत्कटता, प्रखरता सन् 1930 में थे, और जो आकर्षण था नवयुवकों के लिए सन् 1932 में, मैं मानता हूँ कि शायद उतना नहीं था। सन् 1932 के बाद जो एक 'पीरियड' आया, एक ढलाव आया सारे आन्दोलन में, वह लगभग इस बात को सिद्ध कर सकता है कि हम जिस उत्कर्ष बिन्दु पर पहुँचे थे सन् 1930 में, तो उसके बाद वह 'ग्राफ' कुछ नीचे की ओर सरक चला था।

गाँधीजी और भगत सिंह की फाँसी

इसका कारण क्या हो सकता है? यह हो सकता है कि गाँधीजी भगत सिंह को फाँसी से मुक्त नहीं करवा सके इसलिए जो नवयुवक थे वे गाँधीजी से क्षुब्ध थे और इस आन्दोलन में नहीं आना चाहते थे और दूसरी तरफ जा रहे हों, या इसका और कोई कारण था?

—यह तो कारण नहीं रहा होगा। मुझे ऐसा नहीं लगता। हम लोग गाँधीजी का जो उग्र योद्धा का रूप था, जिससे सैकड़ों जोश से भर आते थे, उसमें तो हम विश्वास करते थे। लेकिन उनका जो बुनियादी सात्विक रूप था उसका जब-जब आग्रह समक्ष आता था तो मालूम होता था कि उसके प्रति हममें आकर्षण उतना नहीं है। गाँधीजी के आन्दोलन में उत्सर्ग की सार्थकता स्वयं में ही थी, उसके फल में नहीं थी। अर्थात् उत्सर्ग एक स्वयंसिद्ध मूल्य था। लेकिन जो लोग सामने आये वे इतने गहरे उस चीज में नहीं उतरे थे। उनकी कुछ आसक्तियाँ थीं और जब फल आसक्ति की दृष्टि से देखा गया तो पर्याप्त नहीं प्रतीत हुआ। तो उनमें थोड़े से निराशा के भाव आये।

गाँधीजी भगत सिंह को नहीं छुड़ा सके, उन्होंने उनको छुड़ाने के मुद्दे को अपनी सन्धि-वार्ता में शर्त के तौर पर रखा भी नहीं। सिर्फ साग्रह अनुरोध किया कि वे यह चाहेंगे और ऐसा होना चाहिए; लेकिन उसकी शर्त के रूप में उस पर हठ नहीं बाँधा। इस कारण कुछ लोगों में असन्तोष रहा। लेकिन मैं मानता हूँ कि गाँधीजी में अँग्रेजी साम्राज्य को एक भी क्षण न सह सकने की जो उत्कट आकुलता थी, उससे देश आश्वस्त था। देश में उस चीज को, उनके अहिंसा के आग्रह को लेकर मेरे खयाल में उतनी शिकायत नहीं थी, क्योंकि इसकी ओट

में उनमें किसी प्रकार की दुर्बलता नहीं देखी जाती थी। अगर ऐसा न होता और उस दशा में हिंसक आन्दोलन ही प्रखर होता, तो भी समझ में नहीं आ सकता था। लेकिन वह खास प्रबल हुआ नहीं।

अर्जुनलाल सेठी के संस्मरण

आप अर्जुनलालजी सेठी के सम्पर्क में आये थे। क्या आप बता सकते हैं कि उनका काँग्रेस की ओर रुख और उनके विचारों में तबदीली क्यों आयी?

—अर्जुनलालजी के साथ का सम्पर्क काफी पहले का कहा जा सकता है। वे एक आदर्शवादी पुरुष थे और काँग्रेस संगठनात्मक राजनीति में सही-सही 'फिट' नहीं हो पाते थे। अजमेर के काँग्रेस तन्त्र के साथ उनकी पटरी बैठती नहीं थी। इसलिए वहाँ दो काँग्रेस कमेटियाँ बन गयी थीं। काँग्रेस की उच्च कमान ने अजमेर की प्रतिस्पर्धी शाखा को स्वीकार किया तो उनको बहुत क्षोभ हुआ, गहरी निराशा हुई। कानपुर के काँग्रेस अधिवेशन में तो मैं साक्षी था कि किस तरह वे 'सत्याग्रह' में काँग्रेस के पण्डाल के बाहर जमीन पर लोट गये थे और उनको लाठी की चोटें आयी थीं। उन्होंने प्रतिरोध किया था और उन पर वालंटियरों की मार पड़ी थी। जवाहरलालजी अनुशासक थे। वे नहीं बरदाश्त कर सकते थे कि काँग्रेस का कोई भी आदमी अनुशासन भंग करे। यों मिजाजपुर्सी के लिए वे बाद में उनके पास गये थे। अनन्तर सेठीजी के पास गाँधीजी गये। पर चित उनका क्षुब्ध ही रहा, संवेदनापूर्वक गाँधीजी के उनके साथ बातचीत करने के बावजूद।

अजमेर में, जमनालाल की सहायता और समर्थन जिनको प्राप्त था, ऐसे लोगों का अच्छा संगठन था। सेठीजी कुछ उनके साथ जोड़ नहीं बिठा पाते थे। यह संघर्ष बहुत दिनों तक चलता रहा। अर्जुनलालजी के संस्कार पुराने क्रान्तिकारी दल के थे। यह जो विधि-विधान का, वैधानिकता का, संगठन इत्यादि का, लोगों के साथ मिल-जुलकर, 'ग्रुप' बनाकर चलने का प्रश्न है—उसमें वे इतने दक्ष नहीं थे। इस कारण उनको काफी कठिनाइयाँ हुईं। आप तो जानते हैं कि अन्त में कुछ उनकी मानसिकता में विक्षेप भी आ गया। उनके बारे में सुना गया है—इसका राजनीति से विशेष सम्बन्ध नहीं है कि वे अपने को हिन्दू अथवा जैन कहलाने में लज्जा मानने लगे थे। क्या इस्लामी श्रद्धा उनमें जोर पकड़ चली थी? लेकिन यह व्यक्तिगत बात है। सामुदायिक राजनीति में वे ठीक तरह जम ही नहीं पाये। प्रतिभाशालियों की यह गति हो जाया करती है।

और सेठी जी का इस तरह का जो बर्ताव उनके सहयोगियों से मिला उनके पीछे खासतौर पर कौन आपकी जेहन में है?

—शुरू में शायद चाँदकरण सारदा। पीछे आकर तो रामनारायण चौधरी, हरिभाऊ उपाध्याय इत्यादि। लेकिन अन्त में तो मैं मानता हूँ कि सेठीजी के मन में प्रतिपक्ष के केन्द्र के रूप में हरिभाऊ उपाध्याय ही रहे जिनका गाँधीजी और जमनालालजी के साथ निकट सम्पर्क था। काफी पृष्ठ-बल था उन्हें उनलोगों का। तो उनके साथ निभाने में उन्हें असुविधा होती थी। हरिभाऊ उपाध्याय अजमेर में बैठे थे तो 'सस्ता साहित्य मण्डल' आरम्भ हुआ, 'त्यागभूमि' मासिक पत्र निकला। ऐसे एक अच्छा संगठन वहाँ बन गया था। अखिल भारतीय स्तर के नेताओं का अधिक विश्वास उन्हें प्राप्त था। यह सेठीजी की बड़ी कठिनाई थी। शिकायत थी कि उच्च नेताओं का व्यवहार लोकतान्त्रिक नहीं है।

तो आप ऐसा समझते हैं कि जो अखिल भारतीय स्तर के नेता थे खासतौर पर वह लोग काँग्रेस की सत्ता जिनके हाथ में थी, उनकी कोई अर्जुनलाल सेठी से शिकायत थी?

—वही अनुशासन की शिकायत थी। अब जैसे प्रान्तीय काँग्रेस का संगठन, जिसका प्रतिनिधित्व मान लीजिए हरिभाऊजी करते हैं, उसको यदि अखिल भारतीय कमान मान्य करती है, और आप अमान्य करते हैं, तो तन्त्र टूटता और अनुशासन भंग होता है, ऐसे में वे नेता क्या कर सकते हैं? यही ना कि जिसको वैधानिक रूप प्राप्त हो उसको बहाल रखे। आप जबरदस्ती आग्रह करेंगे कि हम काँग्रेस हैं, ऑल इण्डिया काँग्रेस कमेटी के हम असल मेम्बर हैं तो उसमें कठिनाई ही तो उपस्थित होगी। मैं समझता हूँ कि इस प्रकार की वैधानिक पेचीदगियाँ बनीं। अर्जुनलालजी के प्रति निजी द्वेष इत्यादि का प्रश्न तो था नहीं। इतना जरूर था कि उनका अपना एक अदम्य व्यक्तित्व था और इस प्रकार की वैधानिकताओं में वे अटकते नहीं थे, रुकते नहीं थे। अलग एक तरफ छूटे रह जाना भी उन्हें स्वीकार्य नहीं था। आग्रह रखते थे तो फिर टक्कर में आ ही जाना हुआ।

राष्ट्रीय आन्दोलन और साहित्य में उसका प्रभाव

और इस दौरान में जैसे उन दिनों आप आन्दोलनों में जाते रहे तो उनका आपके साहित्य पर क्या असर पड़ा? आपने ऐसी कहानियाँ या उपन्यास लिखे हैं जिनमें उन आन्दोलनों का एक खुलासा मिलता हो?

—नहीं, जो एक रचनात्मक रूप था आन्दोलन का, वह मेरे लिखने में सीधा नहीं आया। मेरे मन में जो-जो प्रश्न उठते रहे, मैंने उन प्रश्नों का समाधान अपने लेखन

में और उसके द्वारा खोजने की कोशिश की। वे प्रश्न राजनीतिक नहीं थे, साहित्यिक भी नहीं थे। मुझे याद है कि गुजरात 'स्पेशल' जेल प्रवास यानी सन् 1930 में मैंने कुछ लिखा नहीं। दिन पर दिन बीतते गये। बाहर मेरी पहली कथा-कहानी की पुस्तक छपनेवाली थी। प्रकाशक ने चाहा कि इसमें एक-दो कहानियाँ ऐसी भी हों जो किसी पत्रिका में पहले न छपीं हो। मैंने स्वीकार किया। उस समय जेल में साथ राजाराम शास्त्री भी थे। वे अब भी हैं और कानपुर में श्रम क्षेत्र के मुस्तैद कार्यकर्ता हैं, उ.प्र. असेम्बली में रहे हैं। तो वे आया करते थे और अकसर पूछा करते कि कैसे लिखते हो और क्या लिखते हो? एक कहानी मुझे याद है 'चलित-चित्त'। वह कहानी जैसे-जैसे मैं लिखता जाता था वैसे-वैसे वे पढ़ते जाते थे। उनको विस्मय था कि यों ही अनायास लिखा जा रहा है, प्रयास दरकार नहीं है।

अब 'चलित-चित्त' कहानी में मेरे जेल जीवन का या किसी राष्ट्रवाद का तनिक भी प्रभाव नहीं है। कोई उससे वास्ता ही नहीं है। उसका योग तो भीतर की गहन प्रश्न और जिज्ञासा से है। मेरे मन में प्रश्न उठा कि आदमी में कुरेद अगर पैदा हो जाए, और भाव जम जाये कि यह मैंने क्या किया, पापबोध उत्कट होता जाए, तो यही आकुलता इतनी तीव्र हो सकती है क्या कि जीवन भारी और दुस्सह हो जाये और मृत्यु सहज। तो 'चलित-चित्त' कहानी इस जिज्ञासा के उत्तर में लिखी गयी थी। मैंने एक और भी कहानी वहाँ लिखी 'साधु की हठ।' ये दो कहानियाँ ही जेल में लिखी गयीं। लेकिन उस समय जो चलता हुआ आन्दोलन का रूप था, राजनीति का द्वन्द्व था, संघर्ष का तनाव था, प्रेरणा उनकी सीधी उसमें से नहीं आयी। मैं आन्दोलन में था, लेकिन मालूम होता था कि वह रूप मेरा दीखने भर का है, वह कार्यकर्ता का रूप। पर मेरा ही अधिक भाग तो वह था जो अदृश्य था, भावात्मक था, सीधा उजागर था नहीं। वह जैनेन्द्र, आन्दोलन से अधिकांश तटस्थ, अन्वेषाभिमुख समीक्षण एवं विश्लेषण प्रधान बन जाता था। इसलिए मेरे साहित्य में समय, समाज या राष्ट्र कोई भी सीधा नहीं आया है। बल्कि मैं प्रेमचन्दजी से कहता भी था कि आपके साहित्य में यह देश और देश का स्वराज और उसका आन्दोलन क्यों यहाँ से वहाँ तक छाया रहता है? और मैंने सुझाया कि कहीं कारण यह तो नहीं है कि आप इन चीजों को दूर से देखते हैं, सीधे उस आन्दोलन में उतरे नहीं हैं। इसके प्रति एक रोमांटिक आकर्षण का भाव आपमें रह जाता है। आप अगर जेल में हो आएँ तो शायद है कि जेल जाने में एक तीर्थयात्रा की पवित्रता जो आप मान लेते हैं, शायद उसकी आवश्यकता नहीं रह जाएगी। तो कुछ भी कारण हों, मेरे मन में इस सारे राजनीतिक कर्म के प्रति कोई बहुत मनोरम भाव, उपासना भाव, स्पृहा का भाव बन नहीं पाया।

बल्कि यूँ कहना चाहिए कि वह समाप्त होता गया। और यहाँ तक कि बाद में लाहौर मैं गया तो एक साहित्यिक की हैसियत से मेरे स्वागत की व्यवस्था हुई बहुत बड़े ठाठदार हॉल में। बहुत से विशिष्टजन आये वहाँ। यह सन् 1933 की बात है। मैं मुख्य अतिथि था और अभिनन्दन मेरा हो रहा था। पर जिस केन्द्र की मेज पर मुझे बिठाया गया, वहाँ देखा कि मेरे खाने लायक कुछ है ही नहीं। यानी मैं तो मात्र उपलक्ष था। तो इस प्रकार का वह स्वागत! आतिथेय के स्तरानुकूल कुछ अतिविशिष्ट नागरिक भी थे। डॉ. सत्यपाल गुजरात जेल में साथ ही रहे थे। डॉ. सत्यपाल ने कहा कि ये बड़े देशभक्त हैं, सेवक हैं, सैनिक हैं, यद्यपि इनके साहित्य के बारे में मैं कुछ कह नहीं सकता हूँ। मेरे देश के लिए कष्ट-सहन और त्याग की जो उन्होंने प्रशंसा की तो मुझे याद है कि अपने उत्तर में मैंने कहा कि मित्रो, मैं जेल गया इससे देशभक्त हूँ ऐसा मत मान लीजिए। मेरे मन से वह भाव चला गया है। जेल जाने में किसी विशेष देश के प्रति भक्ति आदि की बात मेरे मन में नहीं बैठती। इस श्रेय को मैं ले नहीं सकता। उस प्रशंसा को अपने लिए अग्राह्य मानता हूँ और अस्वीकार करता हूँ। तो इस प्रकार के आत्मसमीक्षक और आत्मविश्लेषक भाव मेरे मन में रहे। इसलिए यह सारी राजनीतिक समझी जानेवाली दृष्टि, और राजनीतिक आन्दोलन, ज्यों-का-त्यों इसका अक्स मेरे लेखन में नहीं देखा जा सकता है।

श्रेष्ठ कृति कौन-सी ?

आपकी सबसे अच्छी कृति कौन-सी है?

—इस बारे में मैं कभी कुछ निश्चयपूर्वक कह नहीं पाया हूँ। कई बार यह प्रश्न पूछा गया और उत्तर में मैं असमर्थ बना रह गया। एकान्त पाकर सोचा कि इस प्रश्न का उत्तर देने से बचते क्यों हो? जानना चाहा कि उत्तर क्या हो सकता है। घर में देखा कि पाँच बच्चे हैं और सोचने लगा कि किसको मैं ज्यादा प्यार करता हूँ। तो उत्तर मिला कि जब जो बीमार पड़ जाता है उतने समय के लिए उस पर ज्यादा प्यार उमड़ता है। उसके बाद जब यह प्रश्न पूछा तो मैंने कहना शुरू किया कि जो रचना सबसे कम चर्चित है वह मुझे सबसे प्रिय होनी चाहिए। इस तरह से उत्तर में मैं अपने को छुटाता रहा हूँ। इसलिए मैं अपने बारे में, अपनी कृतियों के बारे में कुछ कह नहीं पाता हूँ।

हीरानन्द सच्चिदानन्द वात्स्यायन के संस्मरण

और दिल्ली में उस वक्त जो यहाँ एक ऐसा गुट था जो अपने आपको क्रान्तिकारी

कहता था, खासतौर पर जो 'दिल्ली षड्यन्त्र केस' के विमल जैन और दूसरे लोग थे, उनका आपके साथ कुछ सम्पर्क रहा?

—मेरे साथ क्रान्तिकारी ग्रुप का वैसा कोई सम्पर्क बना नहीं। कारण, मैं मानता हूँ कि सब लोग मेरे सम्बन्ध में एकदम निभ्रम थे कि मुझमें उस तरह की सम्भावनाएँ नहीं हैं। लेकिन व्यक्तिगत रूप से मैं कुछ के परिचय में आया। श्री सच्चिदानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय' नाम से ख्यात हैं। हिन्दी साहित्यकार के रूप में उनसे मेरा सम्पर्क रहा। बाद में ही मुझे पता चला कि जो विमल प्रसाद जैन मुझे जब-तब मिलते रहते थे, वे क्रान्तिकारी प्रवृत्तियों में थे। वात्स्यायनजी का परिचय संयोगवश प्राप्त हुआ। 'दिल्ली षड्यन्त्र केस' की यहाँ बड़ी धूम थी। उस सम्बन्ध में सबसे प्रमुखता से वात्स्यायनजी का नाम प्रेस में आता था। श्री आसफ अली यद्यपि उनके वकील थे, लेकिन स्वयं अभियुक्तों की ओर से भी पैरवी की जाती थी। यह काम दल की ओर से वात्स्यायनजी अधिकांश करते थे। सारी दिल्ली टूटकर पड़ती थी अदालत में, लेकिन मैं एक दिन भी कोर्ट नहीं गया। प्रमाद ही कहिए।

एक बार एक अपरिचित बन्धु एक रचना दे गये। रचना किसकी है? पूछने पर उन्होंने नाम नहीं बताया। मुझे बड़ा अजब लगा। खैर, तीसरे-चौथे दिन आये तो पूछा, 'आपने पढ़ी?' मैंने कहा, 'हाँ पढ़ ली।' 'कैसी लगी?' 'अच्छी, बहुत अच्छी लगी।' कहने लगे, 'यह सम्मति आप एक पर्चे पर लिखकर दे सकते हैं?' मैंने कहा, 'क्यों नहीं दे सकता हूँ? पर सम्मति किसके लिए?' कहने लगे, 'अगर हर्ज न समझें तो चिट पर लिख दीजिए।' तो मैंने अखबार का कोना फाड़कर उस पर लिख दिया। उसके बाद तो मेरे पास बहुत सारे कागज चले आये। उनमें काफी कुछ लिखा हुआ था। कहानियाँ थी, और जाने क्या-क्या था। एक 'सिनोपसिस' अँग्रेजी में लिखा हुआ था जिसका पीछे विशद रूप 'शेखर : एक जीवनी' हुआ। तो इस तरह वात्स्यायनजी से मेरा परिचय हुआ। चिट्ठी-पत्रियाँ आने लगीं। अन्त में उन्होंने लिख भेजा कि आज हमारा 'सैशन' में 'केस' है, आज ही फैसला हो जाएगा और कल दिल्ली से 'ट्रांसफर'। बहुत इच्छा है, आप आ सकें तो ही दर्शन पा सकता हूँ। कोर्ट मैंने देखा नहीं था, पर गया और वात्स्यायनजी को देखकर चमत्कृत हो गया। हथकड़ियाँ लगी हुई थीं और स्वरूप, स्वर-रूप, खिलती वय के वात्स्यायन सामने खड़े मुसकरा रहे थे। बड़ा ही भव्य दर्शन था। इस तरह से कहिए दिल्ली के क्रान्तिकारी वर्ग के मैं स्पर्श में आया।

धनवन्तरी और एहसान इलाही से भेंट

उसके बाद उनकी रचनाएँ बराबर आती रहीं। पहले मैं कह ही चुका हूँ कि

धनवन्तरी और एहसान इलाही से कैसे भेंट हुई। वे आरम्भ कर्ताओं में थे। भगत सिंह आदि को क्रान्ति की ओर प्रेरित उन्होंने किया था। और धनवन्तरी ने शायद वात्स्यायन को इस ओर दीक्षित किया था। पर तब मुझे इसका पता नहीं था। अनायास नौजवान भारत सभा के संयोग से इनसे सम्पर्क हो गया, अन्यथा मुझे विशेष इस वर्ग से परिचय-लाभ का मौका क्या मिलता!

राष्ट्रीय आन्दोलन—प्रेरणा-भावनात्मक

जैनेन्द्रजी, एक तरफ तो आपने कहा कि जिन-जिन आन्दोलनों में आपने हिस्सा लिया उनका आपके साहित्य पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा और दूसरी ओर आपने कहा कि देशभक्ति भी काफी हद तक उन आन्दोलनों में जाने का कारण नहीं थी। तो फिर कौन-सा ऐसा कारण था जिससे आप आन्दोलनों की ओर आकर्षित हुए?

—कारण का मूल सब अन्दर है। बाहर बस निमित्त है। मैं अपना विश्लेषण करूँ तो मुझे अपने को देशभक्त कहने में संकोच होता है। मुझको यह भी लगता है कि देश की भक्ति के लिए, उसी देश के यथार्थ से अलग उसका एक काल्पनिक रम्यरूप—जैसे भारतमाता इत्यादि बनाना पड़ता है। तब तो शायद भक्ति का सम्बन्ध थोड़ी देर के लिए हो भी जाए। लेकिन जिसमें 50 करोड़ आदमी बसते हैं वह देश इतना परोक्ष और अमूर्त्त तत्त्व हो आता है कि उस सब यथार्थता के साथ सम्बन्ध आदमी की समझ का बनता है। भक्ति का कैसे बनता होगा? जिनका बनता होगा, बनता होगा। मैं उसका श्रेय नहीं पा सकता हूँ।

जवाहरलालजी की पुस्तक मैंने पढ़ी थी। उसके साथ मुझे जूझने का भी बहुत दिनों तक मौका आया। उसमें यह लिखा है कि मैं लोगों के पास जाता था, हजारों-लाखों की भीड़ होती थी और मैं उनसे बात कहता था कि 'भारतमाता की जय' 'तो तुम बोलते हो, क्या भारतमाता है, जानते हो?' तो पढ़कर ऐसा लगता था कि भारतमाता, और भारत देश, जवाहरलाल के लिए सिर्फ शब्द नहीं है, बल्कि एक प्रत्यक्ष, मूर्त, स्फूर्ति-प्रद धारणागत आकार है। गाँधीजी के सम्बन्ध में मानता हूँ कि वे तो सत्यरूपी परमेश्वर के साक्षात्कार के लिए बढ़े जा रहे थे। उसमें जितना उनके आसपास और समक्ष जगत है, सब आत्मवत् या भगवत् स्वरूप हो आता है। यह उनकी साधना थी। तो इस प्रकार के लोगों के लिए तो देश भारत एक तथ्य का रूप प्राप्त कर सकता है जो सीधा प्रेरित करे। लेकिन मैं अपने सम्बन्ध में कहता हूँ कि मेरा सम्बन्ध उसके साथ समझ का तो बनता है, भावनात्मक प्रेरणा का नहीं बन पाता है। दूसरे लोगों के सम्बन्ध में मैं नहीं कह सकता हूँ

कि क्या प्रेरणाएँ काम करती थीं। इसलिए मेरी अपनी रचनाओं में उस सारी चीज को सार्थक मानकर ज्यों-का-त्यों चित्रित करने में कभी रुचि मुझमें पैदा हुई नहीं। मेरे मन में बहुत शंका और समीक्षा उठती रहती। उसी यथार्थ को लेकर मैं अपने से लिखता रहा। इसलिए कहीं पट के रूप में देश काम आ गया हो तो दूसरी बात। अन्यथा चित्र में वह 'फोकल प्वाइंट' बन जाए, कोई प्रतिपाद्य बन जाए, ऐसा नहीं हो पाया है।

मेरे भटकाव

और उसके बाद फिर आपका कार्यक्षेत्र सिर्फ साहित्य ही रहा या और कुछ रचनात्मक कार्यों में भी आपने हिस्सा लिया?

—नहीं, मैं किसी भी काम में नहीं जा पाया। एक बार जब गाँधीजी ने समग्र सेवक की कल्पना दी थी तो मैंने गाँधीजी को लिखा था एक पत्र। मुझसे मशरूवाला ने और हरिभाऊ ने कहा था कि तुम गाँधी सेवा संघ के सदस्य बन जाओ। मैंने उसका साहित्य मँगाकर पढ़ा। आगे बात हुई तो मैंने कहा कि मैं अग्नि परीक्षा से बचना नहीं चाहता हूँ। इसलिए मैं गाँधी सेवा संघ का सदस्य नहीं बनूँगा। उन्होंने पूछा, 'क्या मतलब है?' मैंने कहा कि अपनी आसपास की परिस्थितियों से अलग जाकर एक किसी संघ का सदस्य बन जाऊँ जो कि जीविका का भार मेरे ऊपर से हटा ले तो यह एक प्रकार से कृत्रिम सहारा हो जाता है। फिर लोक-सेवा कुछ जीविकार्जन का माध्यम भी बन चलती है। मैं नागरिक परीक्षा से बचना नहीं चाहता हूँ। इसलिए मैं गाँधी सेवा संघ की सदस्यता नहीं अपना सका। समग्र सेवा के सम्बन्ध में जब गाँधीजी से बातचीत हुई, तो भी मेरे मन में था कि किसी गाँव में जाकर बैठ जाया जाए, लेकिन गाँव के रहनेवालों के सुख-दुख के साथ समभागी बनकर। हमारा जीवन समस्तरीय हो न हो, और हम अनुदान के आधार पर उनका सेवकत्व धार लें तो हम तो गाँव के उद्धारक बन जाते हैं। वैसे गाँव की समस्याओं में हम उतर नहीं पाते हैं, एक तरह उत्तीर्ण से रह जाते हैं। तो मैंने कहा गाँधीजी से कि सोचता हूँ, अगर गाँव में रहा जाए, तो उनका-सा होकर। फिर जो कठिनाइयाँ गाँववालों को आती हैं वे मेरी अपनी कठिनाइयाँ बन जाएँगी। तो गाँधीजी ने कहा, 'उत्तम है।' उनका मतलब यह था कि अगर ऐसा हो सके तो बहुत अच्छा है। इस आवश्यकता से अधिक अपनी समीक्षक वृत्ति के कारण मैं किसी रचनात्मक कार्य में भी न जा सका। ले-देकर अन्त में यही काम मेरे पास रह गया लिखने का। अब यह लिखने का काम मेरे ऊपर कैसे आया, शायद

इसमें आपको दिलचस्पी हो सकती है।

मैं बहुत थोड़ा-सा पढ़ा था। मैट्रिक के बाद मेरा पढ़ना आगे चला नहीं। मैं अपनी माँ का अकेला लड़का था। पिता या कोई रिश्तेदार थे नहीं। महात्मा भगवानदीनजी थे जरूर, पर वे तो पहले ही संसार से विरक्त थे। परिणाम यह कि संसार में मुझे मार्ग दिखलानेवाला कोई नहीं था। मेरी उमर हो गयी। समझ में ही न आता कि मैं क्या काम करूँ। मन पर बड़ा बोझ रहता था और ग्लानि रहती थी कि जिस माँ के तुम अकेले लड़के हो उसके लिए सहारा तो हो नहीं पाते हो और उलटे उन पर बोझ बने हुए हो। इतनी ग्लानि रहती थी कि कभी-कभी आत्मघात की बातें सोचता था। पर करूँ तो करूँ क्या, यह समझ में नहीं आता था। नौकरी पाने की कोशिश की। मुझे 15-20 रुपये की नौकरी भी नहीं मिली। दिल्ली छोटी जगह थी। सोचा, कलकत्ता बड़ी जगह है, वहाँ चला जाऊँगा, माँ की आँखों से दूर रहूँगा, शायद कोई नौकरी हाथ आ जाए। सात दिन वहाँ भटकता रहा। नौकरी हाथ नहीं आयी, नहीं आयी। क्या करूँ?...तो ऐसी विमूढ़ हालत में लिखना शुरू हुआ। साफ है कि छपने की उम्मीद तो बिलकुल हो नहीं सकती थी। पर आदमी पानी में गिर पड़े तो पानी खुद ऊपर फेंकता है। वही कुछ घटा समझिए। पेंसिल से पीले-पीले कागज पर लिखना हुआ तो समझा जा सकता है कि महत्त्वाकांक्षा की छाया भी न थी। किसी आशा की दृष्टि से लिखा नहीं गया। खैर, इस तरह लिखा हुआ घटनावश कुछ छपने में आ गया तो मालूम हुआ मैं लेखक बन बैठा हूँ। मेरी कोई लेखक बनने की तैयारी तो नहीं थी, पर रास्ता ऐसे थोड़ा-बहुत खुलता दीखा। उससे सहारा मिला, शारीरिक-मानसिक दोनों। तो यह लिखना ही भाग्यवश और मुख्यता से मेरे साथ रह गया। मैं समझता हूँ कि कोई भी रचनात्मक या राजनीतिक प्रवृत्ति उस काल में मेरे समझ नहीं आयी। साहित्य में मेरा स्थान बनता तो गया, लेकिन साहित्यिक प्रश्नों में, या साहित्य की जो अपनी एक राजनीति होती है, उसमें मुझे तब भी रुचि नहीं थी और अब भी नहीं है। मेरे मन को ये तथाकथित सामाजिक, नैतिक, राजनीतिक, तात्त्विक इत्यादि जो प्रश्न हैं वही सब घेरे रहते थे। उस समय भी और अब भी घेरे रहते हैं। किन्तु उस दिशा में क्रियात्मक प्रवृत्ति के खुलने का कोई अवसर नहीं आया।

कमाई और भिखाई

जैसा कि अभी आपने कहा कि इस देश में साहित्यकार की आर्थिक दशा पिछले 50-60 वर्षों में खराब हो रही है तो इसका मूल कारण आप क्या समझते हैं?

—इस बारे में मेरे कुछ अजीब ही विचार रहे हैं। अभी परसों लोग मुझे मिले

और उन्होंने कहा कि साहित्यकार को अपने लेखन के लिए जो पारिश्रमिक मिलता है, जो दरें मिलती हैं, आप उनको उठाने में बड़ा काम कर सकते हैं, और आपको यह करना चाहिए। आपका स्थान है, आप जो भी चाहें आपके लेख के लिए वह दर आपको मिलेगी इत्यादि।...लेखक को जो आर्थिक कठिनाइयाँ भुगतनी पड़ती हैं और पड़ी हैं उसका कारण आप जानना चाहते हैं। यानी लेखक नाम के प्राणी के प्रति आपकी सहानुभूति है। लेकिन मैंने लिखा और वह बिका। तो मैं सोचता हूँ कि गाँव में आदमी आठ घण्टे मेहनत करता है, पसीना बहाता है, फिर भी भूखा रहता है। मैंने उसके मुकाबले में कुछ भी मेहनत नहीं की होगी। न उसके मुकाबिले में तनिक भी असुविधाएँ या कठिनाइयाँ सही होंगी। मुझे क्या हक है कि मैं कहूँ कि समाज मुझको सब तरह की सुविधाएँ दे। जो श्रमी है, खेतिहर है, मजदूर है उसको जो कष्ट बराबर मिलता है और अभाव में रहना पड़ता है, उसकी ओर न देखें और लेखक अपना अधिकार जताने लग जाये तो यह बात मेरी समझ में नहीं आती। अब भी मानता हूँ कि लेखक को जितनी भी असुविधाएँ मिलती हों, फिर भी उसकी कोशिश होनी चाहिए कि वह सामान्य से सामान्य व्यक्ति से तत्सम होकर रहे। गरीब से गरीब होकर रहे और अपनी सुविधाओं से उनकी तुलना करता रहे। जब तक उसको यह न लगे कि मेरा सुख कम हो, क्योंकि वह सुख दूसरों से अधिक है, तब तक मैं मानता हूँ कि भारतीय साहित्यकार का आदर्श स्तर उसे प्राप्त नहीं है। गोसाईं तुलसीदास के सम्बन्ध में किसी को क्या पता है कि कभी उन्हें भूखा भी रह जाना पड़ता होगा कि नहीं। उनको भिक्षा आरम्भ में सदा मिल ही जाती होगी क्या? अब तुलसीदास के 'रामचरितमानस' से कितने प्रकाशकों ने कितना कमा लिया, कितने महल खड़े किये। क्या आप समझते हैं कि तुलसी को चिन्ता होनेवाली है कि वे अपनी 'रॉयल्टी' का हिस्सा माँगे। मैं तो यह मानता हूँ कि समाज में एक वर्ग ऐसा रहना चाहिए जो सुख-सुविधा बटोरने की तरफ देखे-सोचे ही नहीं। आपको शायद यह न मालूम हो कि इसी उधेड़-बुन में मैंने बारह वर्ष अपने जीवनकाल में लिखना स्थगित रखा। कमाई का दूसरा काम भी नहीं किया। हाँ, लिखित शब्द की जगह शायद बोले हुए शब्द के, यानी प्रेम के और लोगों के कृपा के बल भरण-पोषण मेरा और परिवार का ज्यों-त्यों निभता गया।

इसके मुख्य कारण यही हैं कि मैं इस आर्थिक प्रश्न पर जब-जब सोचता था तो मुझको लगता था कि 'कमाई' शब्द सच्चा शब्द नहीं है, एक मिथ्या गढ़न्त है। किसी की जेब से पैसा निकल आता है और आपकी जेब में आ जाता है तो बस यह कमाई है। और इस कमाई शब्द के सहारे एक आदमी अपने ऊपर बीस हजार खर्च करे तो यह भी जायज है क्योंकि उसकी कमाई उतनी है, और

दूसरा अपने बच्चे को दूध भी न दे सके, तो यह भी जायज है क्योंकि उसकी कमाई नहीं है, तो यह पातक समाज में 'कमाई' की ओट में चालू है। यानी यह कमाई का 'रिवाज' एक धोखा है, ऐसा मुझे लगा। और मैंने इसके बारे में लिखा भी। एक लेख लिखा, 'कमाई और भिखाई।' शब्द गढ़ डाला भिखाई और कहा, 'भिखाई सच्ची, कमाई झूठी।' तो इस तरह की बातें मैं लिख रहा था और अपने लिखने का पुरस्कार भी कमाई के रूप में पा रहा था। अन्त में हठात् अपने अन्दर देखा कि लिखना ही मेरे लिए कमाई का साधन बना हुआ है। न सिर्फ यह कि उसकी वजह से पैसा आ जाता है, बल्कि यह भी कि मन में चेतना रहती है कि पैसा आता रहे। मन में भीतर तक 'लिखाई और कमाई' ये दोनों जुड़ी हुई हैं। बस वह दिन था कि मैंने लिखना छोड़ दिया। तेरह-चौदह वर्ष तक शायद बीच में लिखा ही नहीं। तो आपके प्रश्न को एक सामाजिक प्रश्न के रूप में विचारणीय मैं मान सकता हूँ, लेकिन व्यक्तिगत रूप से मानता हूँ कि स्वेच्छापूर्वक लेखक को तैयार रहना चाहिए कि वह सामान्यतम मनुष्य बने। और वह सोचे कि परिवार किये बिना भी चल सकता है, अविवाहित रहकर चल सकता है, तो क्यों पारिवारिक बने, क्यों परिग्रह बटोरे? उसको इस दिशा में सोचना चाहिए, सम्पन्न बनने की दिशा में सोचना ही नहीं चाहिए। कारण, सबके सब उस दिशा में सोचने लग जाएँगे तो समाज जंगल बन जाएगा। छीन-झपट, चोरी-मक्कारी समाज का नियम बन जाएगा। सब चाहेंगे कि हम ज्यादा से ज्यादा खींचे, हम बढ़-चढ़कर कमाई करें। तब साहित्य-संस्कृति का आधार समाज को रहेगा नहीं, निरी स्पर्द्धा का आधार रहेगा और उससे हिंसा बढ़ेगी, भ्रष्टाचार ही शिष्टाचार बनेगा। सामाजिक प्रश्न के रूप में मुझे यह बहुत ही प्राथमिक और विचारणीय प्रश्न मालूम होता है। मैं समझता हूँ कि इस सम्बन्ध में विशेष चिन्तन होना चाहिए। हमारी अर्थ रचना सही नहीं है। वह ऐसी बनी हुई है कि श्रमहीन को चतुराई के बल पर कितना भी प्राप्त हो सकता है और अगर कोई सीधा-सादा ईमानदार श्रमिक है तो अपने श्रम के बल पर वह अभाव और भूख ही कमा सकता है। जीवन के लिए आवश्यक उपादान श्रम के बल उपार्जित हो नहीं सकते। यह स्थिति बहुत शोचनीय है और जिसको समाजवाद, साम्यवाद कहते हैं, मैं मानता हूँ कि स्थिति का सही निराकरण वे भी सुझा नहीं पाते। साम्यवादी देशों में तो और भी अर्थ ही विचार का मूल बना हुआ है। इसलिए वहाँ श्रमिक यदि सुविधा की परिस्थिति में हैं तो इसी शर्त पर हैं कि राज्य उसको सुविधा की परिस्थिति में रखता है। राज्य निरपेक्ष होकर केवल श्रम के बलबूते सुविधाजनक परिस्थिति अपने लिए जुटा सकता है, न कोई पूँजीवादी देश में, और न साम्यवादी देश में ही। तो इसलिए अपने जीवन में कभी मैंने इस तरफ ध्यान नहीं दिया कि मेरी रचनाओं

की 'रॉयल्टी' कितनी आती है और कितनी आनी चाहिए। कभी मैंने इस ओर देखा नहीं। क्योंकि मैं मानता हूँ कि हमारा जो बाजार है वह इस कदर गलत है कि उस बाजार की गलती को 'एक्सप्लाइट' करके मैं अपने लिए अधिक 'रॉयल्टी' खींच भी ले जाता हूँ तो उससे मूल परिवर्तन की दशा में होता क्या है? उससे कोई स्थितियों में बदलाव नहीं आता है। मैं तो यही कहूँगा कि लेखक हिम्मत करके आगे आये और कम से कम में सन्तुष्ट रहकर जो भी उसके भीतर सबसे अधिक मार्मिक है, मूल्यवान है, उसके सम्प्रेषण का प्रयास करे।

फिर सन् '40 और '42 का आन्दोलन

उसके बाद सन् 1940 और 1942 के जो संघर्ष हुए उसमें आपने कोई भाग नहीं लिया?

—सन् 1942 के आन्दोलन के समय मैं दिल्ली में नहीं था। सपरिवार एक छोटे देहात में था। अगर दिल्ली में होता तो संघर्ष में भाग लेता या न लेता, पता नहीं है। लेकिन लगता है कि भाग नहीं भी लेता तो भी शायद पकड़ा तो जाता। लेकिन संयोग ऐसा हुआ कि मैं था ही नहीं दिल्ली में।

गाँधीजी पकड़े गये 'क्विट इण्डिया' आन्दोलन में। उस आह्वान की गहरी पकड़ थी मुझ पर। अगस्त के दिन थे और उस देहात में पूरा परिवार मलेरिया में धर लिया गया। उस हालत में भी मैंने निकलने की कोशिश की तो मालूम हुआ कि पटरी उखाड़ डाली गयी है और ट्रेन बन्द है। स्टेशन पर आकर फिर वापस लौट जाना पड़ा। दिल्ली सरकार को या किसी को पता नहीं चल पाया कि मैं कहाँ था। सम्भव हो सकता है कि मैं दिल्ली में होता तो कुछ न कुछ भाग लेता। नहीं भी लेता तो जेल जाने का श्रेय तो मिल ही जाता। ऐसे विवशता में मैं आन्दोलन से किनारे रह गया। लेकिन तब भी उस आन्दोलन को हठात् जो स्वरूप मिल गया, किंचित् हिंसात्मक, उस दशा में मुझे उत्साह न था।

1942 के आन्दोलन का देश की राजनीति पर क्या प्रभाव हुआ?

—मैं समझता हूँ सन् 1942 का ही आन्दोलन था, जिसने ब्रिटिश सरकार के मन में जमा दिया कि आगे-पीछे उनको यहाँ से जाना है। सन् 1942 के आन्दोलन से पहले शायद उनमें एक प्रकार का आग्रह शेष था कि, नहीं, ब्रिटिश राज को यहाँ रहना है, उसको मजबूत करने का प्रयत्न करना है। मेरी कल्पना है कि सन् 1942 के आन्दोलन ने यद्यपि कुछ मात्रा में वह रूप पकड़ा जो गाँधीजी को मान्य

नहीं होता, गाँधीजी ने पीछे जेल से आने के बाद इस सम्बन्ध में अपने को स्पष्ट भी किया; लेकिन राष्ट्र का संकल्प इतना दृढ़ और अमोध होकर सामने आया कि अँग्रेज लोगों ने देख लिया कि अब यहाँ पर जमना और देश को अपने काबू में रखना बन नहीं सकेगा। देशवासी हमको बरदाश्त नहीं करेंगे। तो यह लोकमानस था सारे देश का, गाँव और शहर दोनों ही इसमें सम्मिलित थे। उस समय मैं मानता हूँ कि बड़ी गहराई में से वह ज्वार आया था। राष्ट्र में राजनीतिक चेतना इतनी तीव्र हो गयी थी कि अँग्रेज देख सका, उसके मन में पक्का हो गया, कि आगे-पीछे उसको वापस चले जाना है।

जिस गाँव में आप रहते थे और गाँववाले अनपढ़ लोग थे उनसे कभी उसके बारे में बातचीत हुई?

—नहीं, इसका अवसर नहीं आया क्योंकि हम लोग तो सबके सब बीमार पड़े थे। अगर तनिक भी इस स्थिति में होते तो दिल्ली आने का प्रयास करते। कारण, रेल की दिक्कत तो समझता हूँ, और शायद आठ-दस रोज से अधिक यह स्थिति नहीं रही। रेल चलने लगी थी।...नहीं, गाँववालों से विशेष बातचीत नहीं हुई।

और फिर जब सन् 1944 में जेल से लोग छूटे, उसके बाद और स्वराज मिलने तक आपने क्या-क्या किया?

—मेरे पास अपने जीवन का हिसाब देने के लिए है नहीं। यानी मैंने कभी हिसाब रखा नहीं और मुझे सचमुच पता नहीं है कि कैसे वक्त बीतता चला गया और मैं क्या करता रह गया। मैं तो यह मानता हूँ कि मैंने जिन्दगी में कुछ नहीं किया। मैंने लिखा भी है 'कायमी बेरोजगारी' जिसको कहते हैं जीवन भर मैं उसमें मुब्तिला रहा। यानी न मैं कुछ करता था क्रिया में और लेखन में भी मैंने बहुत दिनों तक कुछ नहीं किया। अर्थात् मेरी हालत तो बहुत दयनीय-सी रही।

देश विभाजन प्रस्ताव सन् '44 (दरियागंज, दिल्ली में अ.भा. काँग्रेस कमेटी का इजलास)

और जो अखिल भारतीय काँग्रेस कमेटी का इजलास यहाँ दरियागंज में हुआ था, जिनमें हिन्दुस्तान के बँटवारे का फैसला हुआ था, उसमें आप मौजूद थे?

—हाँ, मैं उस सभा में था, और जो अखबार में आता था, जो होता रहता था उस पर मन जाता था और बुद्धि भी जाती ही थी। तरह-तरह की प्रतिक्रियाएँ भी उठती रहती थीं। मैंने गाँधीजी को देखा उस सभा में बोलते समय। वे नहीं

होते तो 'ऑल इण्डिया काँग्रेस कमेटी' में प्रस्ताव पास हो नहीं सकता था। देश को बाँट देने और काट देने के समर्थन का प्रस्ताव था वह। गाँधीजी कह चुके थे कि देश बँटेगा तो यह मेरी लाश पर, मेरी जान लेकर बँटेगा। फिर भी वह प्रस्ताव गाँधीजी की सिफारिश पर ही काँग्रेस की अखिल भारतीय कमेटी द्वारा पास हुआ और मैं दर्शक के रूप में उस दृश्य का साक्षी बना। और मैंने अनुभव किया कि गाँधीजी पर क्या कुछ नहीं बीत रहा होगा तब। शायद ही कोई व्यक्ति होगा जो गाँधीजी के इस परम विसर्जन और आत्मदहन के रूप को सही-सही समझ सकता हो। अच्छे से अच्छे लोग यह मानते हैं कि गाँधीजी ने उस वक्त दुर्बलता दिखायी। अन्यथा कैसे हो सकता था कि वह पुकार देते और काँग्रेस ही नहीं बल्कि सारा देश उनके साथ खड़ा न हो जाता। गाँधीजी ने अगर यह नहीं किया तो अहिंसा के नाम पर भोली भावुकता का ही मात्र प्रदर्शन किया। अपने साथियों के पक्ष में वे कमजोर बन गये, कुछ 'सेन्टिमेंटल' हो गये। अधिक से अधिक उदारतापूर्वक भी जो गाँधीजी के जीवन-इतिहास को समझना चाहते हैं वे इसी रूप से व्याख्या करते हैं कि गाँधीजी ने लिहाज बरता, दया बरती, सहृदय ही नहीं अतिरिक्त दयावान हो गये और सत्य के आग्रह का पल्ला उनसे छूट गया शायद अहिंसा के नाते।

मैं अपनी ओर से जब गाँधीजी को समझने की कोशिश करता हूँ तो लगता है कि उनका कौल कि देश बँटेगा तो मेरे शव पर बँटेगा, वह कौल झूठा नहीं हुआ। उन्होंने काँग्रेस के नेताओं को अपनी शरण दी, सुरक्षा दी, काँग्रेस की भीड़ को कहा कि यह तुम्हारे मान्य नेता हैं, उन्होंने एक बात मानी है और तुमको चाहिए कि तुम उनके फैसले को मान्य करो और उनका साथ दो। तो मुझे विश्वास है कि यह सब कहने में 'उन्होंने अपनी ही आहुति, अपनी बलि' दी, अपने 'क्रॉस' को स्वीकार किया। उसके बाद जो उनका व्यवहार रहा उससे यह प्रमाणित हो जाता है। क्योंकि उन्होंने अपने को चैन नहीं लेने दिया। प्रगट किया कि भाइयो, हुकूमतें दो हो गयीं तो हो गयीं, लेकिन दिल तो दो नहीं हो गये हैं। और पाकिस्तान में जो लोग हैं वे मेरे अपने भाई ही तो हैं और इसलिए क्या मैं उनसे मिलने के लिए 'पासपोर्ट' लेकर जानेवाला हूँ। सब लोग जानते हैं कि उनका कार्यक्रम था कि वे पाकिस्तान जाएँगे। सिर्फ इस बात की उनको प्रतीक्षा थी कि मुसलमानों का जानोमाल यहाँ इतना ही सुरक्षित है जितना किसी अन्य का हो सकता है, हिन्दू का हो सकता है। यह चीज वह देख लें, इस सम्बन्ध में विश्वस्त हो जाएँ, तब वे पाकिस्तान की सरकार के सामने प्रश्न उठाएँगे कि क्या कारण है, क्या वजह है कि एक हिन्दू वहाँ उतने ही अधिकार से, उतनी ही सुरक्षा से नहीं रह सकता है जितना कि कोई मुस्लिम। यानी ये जो विस्थापित लोगों की समस्या

सामने रह आयी, दोनों देशों की, उन समस्याओं को उस रूप में गाँधीजी बिलकुल स्वीकार नहीं करना चाहते थे। उन्होंने यहाँ की सरकार को भी कहा कि तुम अपना दायित्व मानो, और विस्थापितों से भी कहा कि तुम कभी न समझो, कि जो घर-बार तुम छोड़कर आये हो वह तुम्हें नसीब न होगा और तुम्हें वापस वहाँ नहीं पहुँचना है। उनके मन में था कि जो जहाँ था उसको उखाड़ने का हक किसी सरकार को नहीं है, उनको फिर वापस अपना हक पाना है। इसलिए मैं पूरे विश्वास से कह सकता हूँ कि ऊपर की तथाकथित वैधानिक राजनीति के दायित्व को, उसकी करनी को, उन्होंने अपने ऊपर स्वीकार नहीं किया। वहाँ यदि विभाजन हो गया तो भी उससे गहरे स्तर पर उन्होंने एक क्षण के लिए भी देश का विभाजन नहीं मान्य किया था। यदि उनको अवसर मिलता थोड़े भी दिन और जीने का, तो लोग देखते कि अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर एक नैतिक प्रश्न खड़ा हो आया है। मैं मानता हूँ कि आज दुनिया के संकट का मुख्य कारण यह है कि हम राजनीतिक प्रश्नों को नैतिक भूमिका पर ला नहीं पाते हैं। इसलिए हल उनका नहीं हो पाता है। किन्तु यदि गाँधीजी भारतीय स्वराज्य के बाद थोड़े दिन भी जीते तो पाकिस्तान-हिन्दुस्तान के विभाजन के प्रश्न को लेकर नम्बर एक की चुनौती वे सारी मानव जाति के समक्ष कर देते कि क्या राज्य कोई ऐसा हो सकता है जो 'सौवरेंटी' के अधिकार तो रखता हो लेकिन मानव नीति से स्खलित हो जाए? लेकिन गाँधी जी तो चले गये। और हमारे काँग्रेसी नेताओं की हालत यह बन आयी कि सबके सब भारत सरकार और भारतीय राज के अंग बनकर उसी सीमा में दबे और छिपे रह गये। एक महान मानव प्रश्न को छूने के स्तर पर पहुँचने के योग्य कोई न रह गया। भारत के राजनीतिक सीमान्त के आगे उनकी क्षमता समाप्त हो जाती थी, तनिक भी शेष रह नहीं जाती थी। इसलिए हिन्दुस्तान और पाकिस्तान का प्रश्न मालूम होता है, ऐसे विकट संकट का प्रश्न बन चुका है कि जिसका हल कहीं दिखाई नहीं देता। मानव जाति के स्वास्थ्य के लिए वह नासूर है। गाँधीजी की जगह पर कोई दूसरा व्यक्ति नहीं है जो खण्डित देश से परिबद्ध न हो और जिसकी आवाज सारी मानव जाति की आवाज, सत्य और न्याय की आवाज, समझी जा सकती हो। इसलिए मालूम नहीं कि इस संकट का क्या निस्तार होगा, इसका कब निबटारा होगा। कारण, सारी मानव नीति राष्ट्रीय राजनीतियों की द्वन्द्व से आच्छन्न है और इस स्थल पर गाँधीजी का अभाव मुझको विश्व के हित में बहुत चिन्ताजनक लगता है। गाँधीजी के जाने के बाद सेवाग्राम में सर्वोदय सम्मेलन हुआ था। गाँधीजी को अपना माननेवाले, गाँधीजी के पारिवारिक समझे जानेवाले जितने भी बन्धु थे, सब वहाँ जमा हुए थे। मेरी कल्पना थी कि देश-विभाजन द्वारा यह अहिंसा की हमारी सबसे बड़ी जो पराजय हुई है, सबसे बड़ी चुनौती

हमको प्राप्त हुई है, यह जो देश का विखण्डन हुआ है, इसकी चेतना वहाँ होगी और इसके उपचार में वहाँ कुछ सोचा जाएगा, किया जाएगा। मैं वहाँ गया था। मैं तो वहाँ से एक घोर निराशा साथ लेकर आया। उस चुनौती की चेतना वहाँ थी ही नहीं। तात्त्विक चर्चा थी अहिंसा की, सर्वोदय की। लेकिन व्यवहार के क्षेत्र पर राजनीति में अहिंसा के सामने जो विकटतम चैलेंज है, उसका आभास तक वहाँ नहीं था। क्या वही चैलेंज, गुणानुगुणित होकर विध्वंसक हिंसोपकरणों के रूप में दो महाशक्तियों की ध्रुवीकृत प्रतिस्पर्धा के रूप में मानव जाति के समक्ष नहीं है?

स्वाधीनता आन्दोलन : कुछ और स्मृतियाँ

सन् 1947 का वर्ष भारतवर्ष के लिए एक साथ अदम्य आशा और घोर निराशा का वर्ष था। यह नया वर्ष खुला तो गहरे काले बादल छाये हुए थे। अन्तरिम सरकार का प्रयोग चल रहा था और साम्प्रदायिक-ज्वार चढ़ती पर था। बंगाल में नृशंस हत्याकाण्ड हुआ था और उसकी प्रतिक्रिया में और भी दूर-पास उत्पात हो निकले थे। स्वराज्य को तो निश्चित रूप से आना ही था, क्योंकि अँग्रेज जान गया था कि प्रभु के रूप में उसका यहाँ टिकना और सम्भव नहीं है। विलायत से आया 'क्रिप्स-मिशन' अपना डोमिनियन स्टेट्स का प्रस्ताव रख चुका था और कुछ हेर-फेर के साथ आपस में अन्तिम मन्तव्य स्वीकार्य भी हो चुका था। पर काँग्रेस के समक्ष मुस्लिम लीग थी और ब्रिटिश शासन दोनों को बराबरी के तल पर रखने पर तुला था। पाकिस्तान की आवाज उठ चुकी थी और केन्द्र में बनी अन्तरिम-सरकार के लीगी सदस्य हठ बाँधकर अपने काँग्रेसी साथियों के साथ मिल-जुलकर चलने के बजाय राज्य के चलाने में अड़ँगा डालने में ही सार्थकता मानते थे। नेहरू प्रधानमंत्री थे। गृह विभाग पटेल के पास था, लेकिन वित्त मन्त्रालय पर लियाकत अली ख़ाँ थे। वित्त का सहयोग न हो तो कैसे कोई विभाग काम कर सकता है? फिर बाहर मुस्लिम अभिमत ने पाकिस्तान की आवाज उठाकर द्वेष-विद्वेष का वातावरण पैदा कर दिया था। देश संकट में था और कुछ उपाय समझ न आता था।

गाँधी राजनीति से दूर बंगाल—नौआखली में अपनी अन्तिम प्रायश्चित की यात्रा पर थे और घोषणा कर चुके थे कि बलात् विभाजन नहीं होगा और होगा तो उसके शव पर से होगा। हिन्दू-मुस्लिम दुश्मन बन रहने के लिए नहीं हैं और भारतीय-राष्ट्रीयता की यह परीक्षा है।

साम्प्रदायिक क्षेत्र में परस्पर संशय का यह बीज राजनीति से बाहर समाज और संस्कृति में भी व्याप चला था। हिन्दी और उर्दू के बीच का तनाजा सन् 1936

में बनी 'भारतीय साहित्य परिषद्' को एक तरह से खत्म कर चुका था। गाँधी उसके अध्यक्ष थे और वह भी उसको सँभाल नहीं सके थे। उसकी स्थापना में प्रेमचन्द और कन्हैयालाल मुंशी के साथ मेरा भी योग था, यद्यपि श्री पुरुषोत्तमदास टण्डन के हिन्दी सम्बन्धी रुख के कारण मैंने अपना हाथ लगभग खींच लिया था। लेकिन यह धुन तो मुझमें थी ही कि भाषाओं में आपसी सहयोग होना चाहिए और इस प्रकार भारतीय साहित्य के वर्चस्व की अस्मिता और प्रतिष्ठा दुनिया के समक्ष आनी चाहिए। वैसे हिन्दी-उर्दू कोई दो भाषाएँ हैं भी नहीं। उनमें की दूरी तो हटनी ही चाहिए। केवल दो लिपियों के कारण उनमें और उनके साहित्यकारों में बिलगाँव रहे—यह सही नहीं है। सन् '33 में पहली बार प्रेमचन्द दिल्ली आये तब इस विचार से हिन्दुस्तानी-सभा बनायी गयी थी, जिसमें डॉ. जाकिर हुसैन, जोश मलीहाबादी, पितरस आदि शामिल थे। फिर हिन्दी-उर्दू का मसला सिर्फ उत्तर का था। यों यहाँ की सभी भाषाएँ मिलकर भारतीय-साहित्य के गौरव को ऊँचा उठा सकती और भारतीयता के सच्चे निर्माण में योग दे ही सकती थी। इसलिए नया प्रयत्न किया गया था—दिल्ली में एक 'भारतीय-साहित्य-सम्मेलन' के अधिवेशन की योजना बनाकर। यह उसी सन् '47 के आरम्भ की बात है, जब आपसी द्वेष चोटी पर पहुँचा था और तरह-तरह की वारदातों की खबर से दिल्ली की हवा गर्म रहा करती थी।

उस समय की एक बात याद आती है। सब भाषाओं से एक-एक स्थानीय परामर्शदाता नियुक्त हुआ था। अपने प्रदेश के अतिथियों के स्वागत और आवास का भार उन्हें उठाना था। प्रश्न आया तमिल भाषा का। मैंने तेलुगू, कन्नड़ और मलयालम के बन्धुओं से कहा कि आप इस सम्बन्ध में राजगोपालाचारी से परामर्श कर लें, और उसी अनुसार हमें चलना चाहिए।

मलयालम के बन्धु एक आई.सी.एस. अधिकारी थे। उन्होंने आकर बताया कि राजाजी ने तो हमें बड़ी डाँट पिलाई है। बोले, 'कान्फ्रेंस की स्वागत समिति को या आयोजकों को क्या अधिकार था कि दक्षिणी भाषाओं के प्रतिनिधियों को वे सीधे प्राप्त करें। हम दक्षिणवालों को इसमें एक होकर चलना चाहिए।'

उनकी यह बात सुनकर मैं दंग रह गया। दक्षिण-भारत उत्तर से अलग कोई भू-खण्ड है—ऐसा मानना ही मेरे लिए अकल्पनीय था। अभी हाल में ही तमिलनाडु के मुख्यमन्त्री ने केवल दक्षिण के चार प्रदेशों के मुख्यमन्त्रियों की जो बैठक बुलाई है तो उससे वह पुरानी याद ताजा हो गयी। अगर उत्तर और दक्षिण के बीच यह भावना बनी हुई रहती चली जाती है तो भारतीय राष्ट्रीयता के लिए यह अतिशय चिन्ता की बात है। संयोग यह कि मुख्यतया उन्हीं के प्रदेशों में आज जनता सरकार नहीं है। कश्मीर, बंगाल और एकआध छोटे राज्य की बात दूसरी है, क्योंकि वहाँ

प्रादेशिक मुद्दे हैं और प्रादेशिक पार्टियाँ भी हैं। किन्तु उत्तर-दक्षिण की अपनी-अपनी अलग चेतना राष्ट्र और राष्ट्रीयता के एकीकरण के अभ्युदय में बाधा हो सकती है। भाषाई स्तर पर तो वह एक बड़ी अड़चन है ही। मैं मानता हूँ कि भारत जैसे विशाल और प्राचीन तथा अनन्त वैविध्य से भरे महादेश को एकीकृत बनाये रखने की क्षमता भारतीय संस्कृति की वह विशेषता मानी जा सकती है, जिससे विश्व को पाठबोध मिले। अन्यथा यूरोप में अपने-अपने राष्ट्रवादों को लेकर युद्ध होते ही चले आये हैं और नाना प्रयत्नों के बावजूद उसे तनिक भी अखण्डता प्राप्त नहीं हो सकी है।

उस समय की दो स्मृतियाँ बड़ी सूचक मानी जाती हैं। साहित्य-सम्मेलन के हमारे उर्दू परामर्शदाता जामा-मस्जिद के पास चितली कबर की गली में रहते थे। एक रोज मैं उनके दरवाजे पर पहुँचा और घण्टी दी। वह उतरकर आये और मुझे सामने देखकर फक पड़ गये। जल्दी से साथ लेकर वह अलग एक कमरे में पहुँचे और बोले, 'तौबा-तौबा! यह आपने क्या किया? आप क्यों आये?' मैंने काम की बात छेड़नी चाही, पर वह कहने लगे, 'आपको मालूम नहीं है कि हाल क्या है? यहाँ एक हिन्दू नहीं फटक सकता था। गनीमत मानिए कि आप बच गये हैं। नहीं तो खैर न थी। आपको कुछ हो जाता तो बतलाइए मैं फिर किसी को अपना मुँह दिखा सकता था? अब आप वायदा कीजिए कि आइन्दा इधर न आएँगे। लोगों पर दहशत छायी है। खामखाह उसका शिकार बनना नादानी है। मेरा कुछ भी खयाल हो तो अर्ज है कि आप आइन्दा न आएँ!'

उनकी घबराहट मैं समझ सकता था। लेकिन सच कहूँ कि मुझे उसका बिलकुल चेत न था। हो सकता है कि मैं जिस बेबाकी से चलता चला आया, उसमें किसी के लिए शक की गुंजाइश न हुई हो। शायद मेरे अन्दर दहशत रही होती तो किसी को वार करने की उकसाहट भी मिल सकती थी।

इस सम्मेलन के काम में हाथ बँटानेवाली श्रीमती सत्यवती मलिक कनाट प्लेस में रहती थीं। उनके घर के जीने से उतरता हूँ कि क्या देखता हूँ कि एक-आध आदमी सड़क पर बिछा पड़ा है और कुछ लोग बगल में जिस-तिस चीज को दबाये इधर-उधर भागे जा रहे हैं। दो दुकानें लूटी जा रही थीं और इसमें कुछेक जन जख्मी भी हुए थे। कह नहीं सकता कि अभी अगस्त महीना शुरू हो ही गया था। ऐसे काण्ड शायद जाते जून से ही शुरू हो गये थे।

हमारे पड़ोस में एक मुस्लिम परिवार रहता था। लगी हुई इससे घटा-मस्जिद है और वहाँ भी कुछ मुस्लिम बन्धु रह-सह लेते होंगे। परिवार की बड़ी 'बी' को हम मुमानी कहते थे। शायद मैं ही एक था, जिसकी राय थी कि वह घबराएँ नहीं और उनका यहाँ कुछ नहीं बिगड़ेगा। लेकिन उनके मन में दहशत थी और

दूसरे लोगों से उस दहशत को बढ़ावा ही पहुँचता था। कुछ दिन बाद अपने बोरिया-बिस्तर बाँधकर वे सब जन पुराना किला पहुँच गये; जहाँ शरणार्थियों का कैम्प था और वहाँ से फिर पाकिस्तान।

साहित्यिक स्मृतियाँ वर्ष 1947

आप चाहते हैं कि उस समय के अपनी साहित्यिक-गतिविधियों का हाल भी आपको बताऊँ। असल में लेखन को किसी दायित्व भावना के साथ मैंने कभी नहीं अपनाया। लिखते लिख गया और उसका पैसा मिलने लग गया, यह दूसरी बात है। खाली जिन्दगी और इसमें ऊल-जलूल सब कुछ मैं सोचा करता था। सोचते-सोचते मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि कमाई झूठा शब्द है। इस शब्द के झूठ के सहारे घोर विषमता समाज में छायी हुई है। एक भूखा मर रहा है, दूसरा ऐश कर रहा है। क्योंकि एक की कमाई सिफर है। दूसरे की कमाई बेतहाशा है। कमाई का यह भेद और यह जाल समाज की श्रेणियों को थामे हुए हैं और इस श्रेणीबद्ध व्यवस्था को सभ्यता कहकर हम गौरव से जीये चले जाते हैं, अर्थात् लेखन व्यवसाय बने यह मुझे मान्य नहीं हो पाता था। पर जीने के लिए पैसे की जरूरत होती है। सो वह पैसा कहाँ से आये! मेरे जैसे के पास कोई उपाय था ही नहीं, जो मुझ तक पैसा खींच ला सके। पर दिमाग ने कहा कि कमाई अगर झूठ है तो लिखकर कमा नहीं सकते हो। सच यह है कि लिखाई मेरे लिए कमाई का साधन थी। ऊपरी तौर पर नहीं, भीतर की प्रेरणा के नाते भी! बस, दिमाग की इस जिद में लिखना मैं छोड़ बैठा। इस सिलसिले में यह इसलिए याद आ रहा है कि उन्हीं दिनों मैंने एक कहानी लिखी थी 'चोर'। उसमें मुमानी बी का नाम आता था और उनके घर के दो-एक और भी आ जाते थे और अचरज यह कि कहानी में तब के हिन्दू-मुस्लिम तनाव के वातावरण की तनिक गन्ध न थी और जाने कैसे वह कहानी बंगला के विमल मित्र के पढ़ने में आ गयी। मैं उन्हें एकदम नहीं जानता था और पटना में सार्वजनिक रूप से जब उन्होंने उस कहानी का जिक्र किया तो मुझे विस्मय हुआ कि तत्काल के वातावरण से कटी और अयथार्थ कहानी भी गहराई तक प्रभावित कर सकती है! शायद उस कहानी के बाद 12 वर्ष तक जिद में आकर मैंने कुछ नहीं लिखा। '47 का वर्ष इसी न लिखने के दौर का था। लेकिन जिस खुराफात को अपने लिखने में फेंककर मैं बरी हो जाता था, उससे ऐसी आसानी से तो छुटकारा नहीं मिल सकता था। यानी जमीन छोड़ आसमान की बातें मुझमें उठती और मुझे सताती ही रहती थीं। अचरज होगा आपको इस बीच मेरा गुजारा कैसे हुआ? अचरज मुझे भी है। लेकिन करिश्मा

यह कि कोई दिक्कत पेश नहीं आयी। लिखा शब्द छूटा कि बोला शब्द पल्ले पड़ गया। यह शब्द मंच का होता है और जल्दी ही ग्राह्य बन जाता है। इसमें खर्च हुए पैसे से ज्यादा ही मुझे मिलता गया और मुझे मौका न था कि मैं उसे अपनी कमाई मानूँ।

फिर लिखना क्यों सिर आया? इसकी दूसरी कहानी है। जो यहाँ संगत नहीं है। सार-संक्षेप यह कि खामख्यालियों से मेरा पिण्ड नहीं छूटा था। न अब छूटा है। न शायद कभी छूटेगा। देश की, और समाज की, और दुनिया की बातें सोचूँगा; यही नहीं सोच पाऊँगा कि घर की आमदनी कैसे बढ़े और रहने के लिए ठीक मकान कैसे प्राप्त हो? वही बात थी कि सन् '47 में 'भारतीय साहित्य सम्मेलन' के अधिवेशन की धुन में मैं पड़ा था। कई समझदार लोग साथ हो गये थे। जिनमें प्रो. गुरुमुख निहाल सिंह की याद इसलिए आती है कि वह एकदम अलग किस्म के आदमी थे। पीछे वह मुख्यमन्त्री हुए जो उनके लायक चीज थी। तो साहब, इस सम्मेलन की तैयारी जोर-शोर से चल रही थी कि अगस्त महीना आ गया। यहाँ और जहाँ-तहाँ उपद्रव फूट पड़े। सम्मेलन के लिए यहाँ-वहाँ से रुपया बरस चला था और कमी नहीं थी। लेकिन अगस्त आते-आते डाक में गड़बड़ हो चली थी! मनीऑर्डर चलते और पहुँच न पाते। एक बार सात रोज तक कोई चिट्ठी नहीं आयी। हमी को ही नहीं, किसी को भी नहीं मिली। परेशान होकर गोल डाकखाने पहुँचे तो वहाँ डाक के ढेर लगे थे। कोई देखने-पूछनेवाला न था। क्या किया जाता? मैंने कहा सम्मेलन अब नहीं हो सकता है। यशपाल जैन दफ्तर सँभालते थे। उनकी और औरों की राय थीं कि जो भी हो इतनी तैयारी है तो अब कुछ कर ही डालना चाहिए। लेकिन कत्ल होने लगे और 'अल्लाहो अकबर' और 'हनुमानबली की जय' के नारों का शोर गूँजने लगा। कान्फ्रेंस एक तरफ हुई और जुनून दूसरा सिर पर सवार हो गया। हँसी आती है अब सोचकर, लेकिन तब मेरे ही साथ यह गुजरा कि हम दस-बारह जन सिर पर मोटा साफा बाँधकर रात के दस बजे हाथ में लाठी लिए छत पर जमा हो बैठे हैं कि हमला होगा तो हम भी देख लेंगे। पक्की खबर दी गयी है कि कुछ लोग अभी घटा-मस्जिद में जमा हैं और बाकी रात को जामा-मस्जिद से हुजूम आएगा और सब मिलकर दरियागंज पर धावा बोलेंगे। सो जवाब में हम लोगों ने रतजगा किया। पर दूर से हो-हल्ले की गूँज कभी-कभार सुनाई दी, उससे ज्यादा कुछ न हुआ। उस वक्त शूरवीर और कायर की एक ही पहचान थी कि वह दूसरे पक्ष के लिए अपने अन्दर कितनी नफरत भरी रख सकता है!

लेखक होने के नाते मैं अपने अन्दर नफरत जमा करके नहीं रख सकता था, इसलिए मानता हूँ कि मैं सही अर्थों में शूरवीर नहीं, कायर सिद्ध हुआ। आँखों

देखी तो नहीं कह सकता हूँ, लेकिन सीधी सुनी कई बखानों की बात अवश्य जिम्मेदारी के साथ कह सकता हूँ। कइयों ने सुनाया कि कैसे उन्होंने और उनके साथियों ने तपते तेल के कड़ाहों में जीते-जागते बच्चों को फेंककर भून डाला। कैसे औरतों की बेइज्जती की। बाद में हत्या कर डाली। अनेकों को कैसे मौत के घाट उतारा गया। कहनेवाले दर्शक नहीं, सहयोगी ही थे। अनेकों में वे भी थे जो दया-माया के लिए विख्यात तक माने जा सकते थे। कई जैन थे, जो हिंसा की बात सुन तक नहीं सकते थे। क्या वे मानते थे कि उनके ये कृत्य उधर पंजाब और दूसरी जगहों में लोमहर्षक और जघन्य गाथाओं का उत्तर दे रहे हैं? क्या सचमुच हत्या का उत्तर हत्या हो सकता है? लेकिन मानव प्रकृति की सम्भावनाएँ अगम हैं और निर्वैयक्तिक कुछ ऐसी अन्धी प्रेरणाएँ हो सकती हैं जो मनुष्य को दानव बना दें या दूसरी ओर उसे देवता बना डालें!

राजनीतिक वातावरण दिन-दिन घोर विषम होता जा रहा था। अँग्रेज जाते-जाते भी मानो कूटनीति का पल्ला नहीं छोड़ सके। मालूम हुआ कि स्थितियाँ उत्कट हो गयी हैं और देश का बँटवारा माने बना गति नहीं है। एक आदमी था जो परिस्थिति के कारण कोई बेबसी स्वीकार नहीं कर सकता था—वह था गाँधी। उसकी आस्था डिगनेवाली न थी और वह मानता था कि हर परिस्थितियों का सामना यदि मरने का भय न हो तो अपनी मानवता को अक्षुण्ण बनाये रखकर किया जा सकता है और स्थिति के ऊपर मनुष्यता की प्रभुता की प्रतिष्ठा की जा सकती है। पर वह आदमी तो निपट बन रहा! काँग्रेस-संगठन के हर पद से ही नहीं, सदस्यता तक से विहीन। फिर राजनीतिज्ञों के समक्ष ठहरा वह एक असम्भव आदर्शवादी। इसलिए काँग्रेस के व्यवहार-कुशल नेताओं ने लार्ड माउण्टबैटन के साथ मिलकर विभाजन को काँग्रेस की ओर से अधिकृत रूप से स्वीकार कर लिया। बाद में यह खबर हो सकी गाँधी को। देश विचलित हुआ, पर आशा रही कि आखिर काँग्रेस की वर्किंग कमेटी का किया हुआ आएगा तो अन्त में मान्य बनने के लिए 'ऑल इण्डिया काँग्रेस कमेटी' के समक्ष जिनको विभाजन स्वीकार्य न था, उन्हें पूरा भरोसा था कि 'अखिल भारतीय काँग्रेस' की बैठक गलती को सुधार देगी और विभाजन मान्य न हो पाएगा। आखिर गाँधी मौजूद हैं। विभाजन के बारे में उनका वचन राष्ट्र को मिल ही चुका है। उनके रहते पीठ पीछे किये गये काँग्रेसी नेताओं के समझौते का मूल्य ही क्या है?

तो 'ऑल इण्डिया कमेटी' की वह बैठक 14-15 जून सन् '47 को हुई दिल्ली में। पास ही मेरे कॉमर्स कॉलेज के हॉल में वह अधिवेशन हुआ था। प्रदीप

उस समय 7-8 साल के रहे होंगे, वे कहते हैं कि उनके बड़े भाई दिलीप तब वालियण्टर थे और उसे भी अपने साथ उस सभा में वे ले गये थे। पटेल, नेहरू, गाँधी को मंच पर बैठे देखने की उसे अब तक याद है।

बताते हैं कि सरोजिनी नायडू, अमृत कौर, कृपलानी, जयप्रकाश, नरेन्द्रदेव, मौलाना आजाद आदि भी वहाँ थे। मैं बड़े भरोसे के साथ दर्शकों में बैठा था। मैं मानता था कि अँग्रेज की कूटनीति अन्त तक नहीं चल पाएगी और कोई न कोई उपाय विभाजन को टालने का निकल आएगा। भारत की और गाँधी की हार की मैं या मेरे जैसे अन्य बहुत से लोग कल्पना भी नहीं कर सकते थे। सबकी तरह मैं भी इस बात को मानता था कि काँग्रेस की सत्ता गाँधीजी से बाहर नहीं जा सकती, और न ही गाँधीजी का जनता को दिया गया कौल झूठा हो सकता है।

लेकिन जो हुआ वह अघटनीय घटना है। शायद ही कोई उसको सही परिप्रेक्ष्य में रखकर समझ पाये। गोडसे को इसी कारण गाँधी की हत्या पर उतरना पड़ा। उसने माना और बहुत से इतिहासकार मानते हैं कि बँटवारे की सीधी जिम्मेदारी गाँधी पर है। नेहरू, पटेल, आजाद ने मान ही लिया था तो भी क्या गाँधी के बस का यह न था कि काँग्रेस को उस माने हुए को रद्द करने की सलाह देते और नेतृत्व को सीधे अपने हाथ में लेने को तैयार हो जाते। पर जो किया गाँधी ने वह उससे बिलकुल उलटा ही था। उसने सलाह दी काँग्रेस को कि वह अपने नेताओं का सम्मान रखें और उनके किये को अनकिया करने की कोशिश न करें।

मैं साक्षी था। जो उस समय देख और अनुभव कर रहा था। उसके आधार पर कह सकता हूँ, यदि गाँधी का सहारा न होता, सिफारिश न होती, तो अखिल भारतीय काँग्रेस कमेटी के सदस्यों का बहुमत नेताओं के निर्णय को मान्य करनेवाला न था। उसका पूरा भरोसा इस अर्थ में गाँधी पर था कि कायदे आजम जिन्ना की मुस्लिम लीग की धमकी और तशद्दुत के डर से गाँधी डिगनेवाले नहीं हैं। मई के महीने में उन्होंने बंगाल के सैदपुर में सलाह दी भारत के लोगों को कि वे अन्याय और अत्याचार के नीचे न झुकें। दिल्ली में फिर उन्होंने साफ कहा था कि अगर उनका बस चला तो शान्ति स्थापना से पहले पाकिस्तान कभी न बन सकेगा और अँग्रेज के मार्फत तो हरगिज नहीं। दोनों पंजाब, सीमा प्रान्त, बंगाल, बिहार में से, कत्लोगारत की दास्तानें आतीं और सबके कानों पर पड़ती थीं, लेकिन गाँधी का कहना था कि हिंसा से डरकर—जो गलत है असत् है उसको मान लेना हमेशा-हमेशा के लिए हिंसा को बढ़ावा देना हो जाएगा। जिन्ना और लीगवाले हिंसा में विश्वास करते हों तो उस विश्वास को अपना समर्थन हमें अपनी ओर

से बिलकुल नहीं देना है; बल्कि अपने व्यवहार से यह बताना है कि हिंसा का भरोसा बाँधना अपनी और दूसरे की मानवता के अपमान से अलग कुछ नहीं है। अर्थात् भूल जाओ कि हिंसा के उत्पन्न से कुछ सधनेवाला है।

यह सब कुछ जानकर देश और काँग्रेस का बहुजन समुदाय आश्वस्त था कि देश कटे और टूटेगा नहीं। प्रस्ताव का बैठक में घोर विरोध भी हुआ। कहा गया कि यह तो जिन्ना के 'दो राष्ट्र सिद्धान्त' के आगे आत्मसमर्पण करना हो गया। न इसमें साम्प्रदायिक समस्या का कोई समाधान ही दीखता है।

सरदार पटेल ने अपने भाषण में बलपूर्वक कहा कि कार्य समिति ने विभाजन की योजना किसी डर से स्वीकार नहीं की है। डर वे जानते ही नहीं हैं। जो बड़े पैमाने पर खूनख्वारी बरती गयी है, इस पर वह क्या कहें? तीस आदमियों के एक कुटुम्ब में सिर्फ दो बचे, बाकी सबके सब मार डाले गये। इस प्रलय में से हम गुजरे हैं। लेकिन भय एक ही है कि इन बहुत से वर्षों में जो कुछ हमने कड़ी मेहनत से किया और बनाया है, वह सब ढह न जाए!

हमने स्वतन्त्रता के लिए काम किया था और इस देश को जितना सम्भव हो सके उतने बड़े भाग को मुक्त और मजबूत हम देखना चाहते हैं। यह मौका है कि भारत स्वतन्त्र रूप से उठे और अपना निर्माण करे। तीन-चौथाई से अधिक देश हमारे आगे है और यह चुनौती है हमारे लिए कि हम उसे सम्पन्न और हर तरह से समृद्ध करके दिखाएँ। हम इस चुनौती से पीछे नहीं हट सकते!

अध्यक्ष उस समय आचार्य कृपलानी थे। उन्होंने कहा, 'मैं तीस साल से गाँधीजी के साथ चम्पारन के समय से चल रहा हूँ। उनके प्रति अपनी वफादारी में कभी नहीं डिगा हूँ। मतभेद के समय भी मैंने माना है कि मेरे सारे तर्कों के सामने उनकी सहज सूझ कहीं विश्वसनीय है। आज भी मैं मानता हूँ कि अपनी अनुपम निर्भयता में सही वह हैं और मैं अपनी गलती पर हूँ, लेकिन अँग्रेजी साम्राज्य के खिलाफ अहिंसक असहयोग का उपाय हमें उन्होंने बताया तो विशाल पैमाने पर उसे सार्थक करके भी दिखा दिया। ऊपरी ही सही, पर हमनें उन्हें माना है और हम सफलता तक पहुँचे हैं। लेकिन अब तो वही अनिश्चय में पड़े दीखते हैं। नोआखाली और बिहार में जो उन्होंने किया, वह करिश्मा हो सकता है। यह कहते हैं कि यहाँ से भारत की समस्या का हल होगा, पर वैसा होता हमें नहीं दीखता है। ऐसी परिस्थिति में बेहद व्यथा के साथ विभाजन का मैं समर्थन करता हूँ।'

बैठक के शुरू में गाँधी का भाषण मार्मिक था। उन्होंने कहा, 'मेरे विचार इस विषय में सबको मालूम हैं। सभा को कार्य समिति के निर्णय को मानने और न मानने का अधिकार है। लेकिन याद रखना होगा कि कार्य समिति उनके प्रतिनिधि

की हैसियत से जो करती है, उसको मान्य रखना, इस ए.आई.सी.सी. का सामान्य कर्तव्य है। हाँ, अगर वे उत्कटता के साथ मानते हैं कि इसमें देश का अनिष्ट है तो वह प्रस्ताव गिरा सकते हैं। लेकिन उसे गिराने का अर्थ होगा कि उन्हें अपने बीच नये नेता खड़े कर लेने हैं, जो न केवल कार्य समिति बनाएँ बल्कि सरकार चलाने का भार भी अपने ऊपर लें। कार्य समिति के सदस्य परखे हुए नेताजन हैं और वही काँग्रेस की रीढ़ हैं। आज की घड़ी में उनको हटाना असम्भव नहीं तो अबुद्धिमानी का काम तो होगा ही। काँग्रेस पाकिस्तान के विरुद्ध रही और वह खुद भारत-विभाजन के सख्त खिलाफ हैं। फिर भी ए.आई.सी.सी के सामने वह उपस्थित हुए हैं यह कहने के लिए कि प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया जाए। कभी-कभी बड़े कड़वे और अनहोने निर्णय भी करने या स्वीकार करने पड़ जाया करते हैं।'

मैं उस क्षण का साक्षी था। गाँधी के शब्दों में सन्दिग्धता तनिक भी नहीं थी। पर एक ऐसी प्रशान्त वेदना उनमें व्याप्त थी कि किसी को छुए बिना उस समय न रह सकी। प्रस्ताव, जिस विमूढ़ और स्तब्ध वातावरण में स्वीकृत हुआ उसको मैं आज भी अपनी आँखों के सामने उसी तरह स्पष्ट देख सकता हूँ।

महाभारत में श्रीकृष्ण ने पितामह भीष्म से पूछा कि आपकी मृत्यु चाहिए! इसका उपाय बताइए। यहाँ गाँधी से पूछा नहीं गया। पर नेहरू, पटेल ने जैसे उनके अनजान में माउण्टबैटन के साथ काँग्रेस की ओर से अपना फैसला करके उन्होंने मानो मौनपूर्वक उनकी मौत को माँग ही लिया और गाँधी ने आशीर्वादपूर्वक कहा तथास्तु! तुम खण्डित भारत के राज्य का मुकुट अपने सिर के लिए चाहते हो तो लो और सुख से राज्य करो। लेकिन इतिहास सन्देह में है कि वह राज्य एक क्षण के लिए भी अब तक सुखपूर्वक किया जा सका है!

□
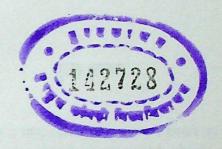
ये और वे

कुछ शब्द

सम्पर्क में आए कुछ मान्य व्यक्तियों के सम्बन्ध में लिखने का अवसर पहले आया था। उन रचनाओं का संकलन 'ये और वे' नाम से प्रकाशित होते समय एक वह मन्तव्य भी सम्मिलित कर लिया गया जो स्वयं मेरा मेरे बारे में था। 'आकाशवाणी' के आदेश पर तब मुझे मरना हुआ था और फिर 'जैनेन्द्र कुमार की मौत पर' लिखना पड़ा था। इस नए संस्करण में उसमें एक अतिरिक्त योग हुआ है। 'कादम्बिनी' के सम्पादक के आदेश पर फिर कल्पना करनी पड़ी कि मैं मर रहा हूँ। वह विभोर कल्पना भी इसमें शामिल कर ली गयी है जिसके लिए 'कादम्बिनी' का आभार मुझे स्वीकार कर लेना चांहिए।

7/36, दरियागंज,
नयी दिल्ली-110002

—जैनेन्द्र कुमार

रवीन्द्रनाथ ठाकुर

रवीन्द्रनाथ ठाकुर के नाम और साहित्य से आप कब और कैसे परिचित हुए?

—छुटपन से ही नाम सुनता और चित्र देखता आया था। कहा ही नहीं जा सकता कि नाम का परिचय पहले कब हुआ। होश आया, तब से ही वह नाम परिचित रहा है। नोबेल-पुरस्कार पाते ही इस नाम की दुनिया में धूम हो गयी। मैं तब बच्चा ही था और अक्षराम्भ में था। उनका आविष्कार मुझे नहीं करना पड़ा जैसे कि और लेखकों के नामों के सम्बन्ध में हुआ। आदि दिन से जैसे सूरज और चाँद देखते हैं। वैसा ही रवि ठाकुर के बारे में हुआ। अस्त का तो पता चला, उदय की खबर नहीं। मैंने तो उन्हें मध्याह्न में ही पाया।

नाम के साथ ही 'गीतांजलि' का नाम परिचित हो गया। पूरी पुस्तक उनकी पहले-पहल कब और कौन-सी पढ़ी याद नहीं, पर उनकी कहानियाँ यहाँ-वहाँ काफी छोटेपन में सामने आ गयी थीं। उनके बारे में पढ़ने को किताबों और अखबारों में हर जगह मिलता रहता था। छठी-सातवीं में पढ़ता था तब अंग्रेज़ी में 'काबुलीवाला' कहानी देखने की याद है।

कभी आपको उनसे मिलने की उत्सुकता भी हुई?

—उत्सुकता तो क्या कहूँ क्योंकि मेरी कल्पना उतनी ऊँची न जाती थी। वह तो मनोलोक के देव-पुरुष थे, मैं हीनता से दबा था। पर मिलने का अवसर ऐसे आ गया कि पता ही न चला। भाग्य बेपता ही रहता है। पहली बार सन् 30-31 में भेंट हुई?

यह भेंट किस प्रकार हुई?

—बनारसीदास चतुर्वेदी को आप जानते होंगे। हिन्दी के साहित्य-क्षेत्र का उन्हें प्रहरी ही कहिए या दादा-गुरु कह दीजिए। अनोखे पुरुष थे। 'विशाल भारत' के वह सम्पादक थे और नयी-नयी चर्चाएँ उनके पत्र से आरम्भ होती थीं। प्रवासी

भारतीयों के बारे में उन्होंने कोई वक्तव्य दिया, जो तब की सरकार को अनुकूल न प्रतीत हुआ। अभ्यर्थना के साथ बातचीत और मुलाकात के लिए उन्हें राजधानी दिल्ली बुलाया गया। मैं जेल काटकर तब दिल्ली लौट आया था। गाँधी-इरविन-पैक्ट हो गया था और जेल से छुटकारा कुछ पहले ही मिल गया था। यहाँ दादा-गुरु मिले और बोले—''देखो जी, यह जो इन लोगों ने डब्बल फर्स्ट क्लास का फालतू पैसा दे दिया है, उसका एक यही न उपयोग हो सकता है कि जितने बन सकें हिन्दी साहित्यिकों को कवि-गुरु से भेंट कराने के लिए ले जाऊँ। यह दूरी अच्छी नहीं है, और कवि ठाकुर की वय काफी है। इतना बड़ा पुरुष भारत को मिला है और हम हिन्दीवालों को समय रहते उनका लाभ ले लेना चाहिए। अब तुम कहो, चलोगे न...लो मैं भी उलटे पूछने लगा...कहता हूँ, चलना होगा तैयार हो जाओ।''

दादा-गुरु की यह विशेषता है। बात ऐसे वेग से सिर पर गिराते हैं कि इधर-उधर के लिए अवसर ही नहीं छोड़ते। उस प्रसंग को मैं याद नहीं करना चाहता। क्योंकि बातों-बातों में एक चोट की बात मैंने उन्हें कह दी और उन्हें रूठा दिया था। पर उससे क्या होना-जाना था। दादा की वदान्यता पर उसका असर क्या पड़ता था। उन्होंने अपने अर्थ-कष्ट की बातें सुनाईं। कर्ज होने का जिक्र किया और कहा, ''जैनेन्द्र, देखो, इस डब्बल फर्स्ट क्लास के मिले पैसे का बताओ क्या करूँ, और तुम नये हो। आओ चलो! रवि ठाकुर के दर्शन से कुछ पाओगे ही।''

यह कृपा उलटी थी, अयाचित ही नहीं, बलात् सिर पर आयी। मैं अपनी हीनता से शायद न उभर पाता पर बनारसीदासजी के सद्भाव का वेग अनिवार्य था। ऐसे में कलकत्ता पहुँचा और फिर बनारसीदासजी के संरक्षण और नेतृत्व में शान्ति-निकेतन कवि-गुरु के चरणों में। साथ माखनलाल चतुर्वेदी, सुदर्शनजी, सत्यवती मल्लिक और दूसरे लोग थे।

आपको कवि-गुरु कैसे लगे?

—जैसे हिम-शिखर, 'धवल' और 'तुंग'। वैसे ही निर्मल और विरल।

आपकी उनसे कुछ बातचीत भी हुई?

—वह तो होती ही। भेंट में चुप थोड़े ही बैठा रहा जा सकता है, लेकिन उस सबका तो पूरा स्मरण नहीं।

क्या कुछ भी स्मरण नहीं?

—नहीं, स्मरण है। पारिपार्श्विक कुछ तो ध्यान में अटका रह गया है।

बनारसीदासजी सचिन्त थे। वह मानो हमें तीर्थ पर ले जा रहे थे, जीवित-तीर्थ। रवि ठाकुर के बँगले का नाम उत्तरायण था। पास ही कवि ने तभी-हाल 'शामली' शीर्षक देकर मिट्टी की कच्ची कुटिया बनवाई थी। बँगला छोड़ उनका उसी में रहने का विचार था। उत्तरायण के हाते में प्रवेश करने पर राह चलते हुए बनारसीदासजी बार-बार चिहुँकते कि हमारे जूतों की आवाज कर्कश भाव से तो कवि के कानों तक न पड़ेगी, और वह हौले पाँव रखते और चाहते कि हम सब आवाज बचाएँ। कभी वह सोचते, कवि का मूड कैसा होगा। उनके लेखे 'मूड' सब-कुछ था, और वही असल तत्त्व होता है। कहीं आराम न कर रहे हों? और जो व्यग्र हुए तो? और कहीं प्रसन्न मिल जाएँ तो बात ही क्या है। उनकी मानो एक भक्त की-सी स्थिति थी, जिस पर पौरोहित्य का काम आ पड़ा हो। मेरा जूता देसी था, और चूँ-चाँ किये बिना न रहता था। कवि का डर पीछे हो, दादा का डर साथ और सामने था। पाँव कितने ही हौले रखता। देसी जूता, अपनी आन न छोड़ता था। बिना बोले रहता न था ऐसी हालत में हम बरामदे में पहुँच गये। वहाँ कुरसियाँ और मूढ़े पड़े थे, बाकी कोई न था। एक-दो-तीन मिनट हो गये। क्या सूचना नहीं दी गयी, या हम बेवक्त हैं? दादा का एक पैर टिकता तो दूसरा उठता। कहीं विश्राम न कर रहे हों? क्या आवश्यक है कि उन्हें कष्ट ही दिया जाए? फिर न देखा जाए, और अभी लौटकर ही चला जाए...कि इतने बराबर के कमरे से आवाज आयी। बंगाली बोली थी और एक ओर से शब्दों का उच्चारण महीन न था। मालूम हुआ, माली है। साक-सब्जी की कुछ बातचीत है। माली बेधड़क है और बेखौफ और स्वयं कवि-गुरु के समक्ष।...हम खाली बरामदे में खड़े ही रहे। विमूढ़ कि कर्तव्य क्या है? हो सकता है कि पाँच से आगे सात मिनट भी हो गये हों। मैंने सोचा कि कुछ होना चाहिए। हलके से सुझाया कि कुछ करना चाहिए। कवि पीछे खिन्न हो सकते हैं कि हम लोगों के आते ही उन्हें सूचना क्यों नहीं दी गयी। यदि जानें कि हम बाहर व्यर्थ प्रतीक्षा में खड़े रहे तो उन्हें कष्ट हो सकता है। इस अन्याय से उन्हें बचाना चाहिए। अपने लोगों की आतुर स्तब्धता मुझे समझ न आ रही थी। मैंने जैसे कदम बढ़ाया कि चार डग भरकर दरवाजे पर पहुँचकर कहूँ कि बाहर हिन्दी के अभ्यागत आ गये हैं। कठिनाई से एक कदम रखा होगा कि कवि दरवाजे से बाहर आये। धीमे और स्थिर कदम, कन्धे जरा आगे को झुके हुए, बदन शुभ्र, ढीली पोशाक, नीचे चुन्नट से लटकती धोती, पाँव में विद्यासागरी चप्पल।

कुछ देर स्तब्ध असमंजस रहा। कवि बढ़ते हुए आये। कुरसी के पास तक आ गये तब हम लोगों ने बारी-बारी से बढ़कर चरणस्पर्श किये।

वह कुरसी पर बैठ गये, और बनारसीदास चतुर्वेदी ने सबका परिचय कराया।

बात हँसी-खुशी के साथ मुक्तभाव से लहराती-सी चलने लगी। कवि हिन्दी समझ लेते थे, लेकिन बोलते अँग्रेजी में, जो हम सब समझ पाते थे। हिन्दी के बारे में उन्होंने कहा : ''क्या आप यह नहीं चाहेंगे कि हिन्दी के निकट मैं किसी राष्ट्रीय कर्तव्य की प्रेरणा से नहीं; बल्कि स्वत: रस-लाभ और आनन्द लाभ की दृष्टि से आया हूँ। राष्ट्रभाषा तो है, पर आप हिन्दीवालों को इतने से सन्तोष क्यों हो जाना चाहिए? संख्या के बल पर उसे नहीं टिके रहना है। रस और आनन्द की उपलब्धि के लिए उधर जब आप ही लोग खिंचेंगे तब उनका मान स्वप्रतिष्ठ मानना चाहिए।''

कहते समय उनकी दृष्टि किसी विशेष की ओर नहीं होती। अधिकांश नीचे को देखते थे या किसी प्रश्न पर प्रश्नकर्ता की ओर निगाह उठी तो आँखें मानो थोड़ा मुसकराकर वहाँ से हट जाती थीं। अपनी कहानी सुनाते हुए कहने लगे : ''मेरी तो विवशता थी। बँगला की परम्पराएँ बनी तो थी नहीं, बन रही थीं, पर संस्कृत का भण्डार भरा था ही। इससे हम झट उसका सहारा ले-लेते थे। वहाँ शब्दों का कहाँ अन्त, कहाँ उनकी थाह; पर हिन्दी में तो इतना सन्त-साहित्य पड़ा है! अनेक देशज-शब्द हैं या संस्कृत से आकर बन-सँवर गये हैं। हिन्दी तो उस सम्पदा से भरपूर है। वह अधिक लोक-सुलभ हो सकती है।''

बनारसीदासजी ने कहा कि लेखकों को कुछ सन्देश दीजिए। किंचित् असमंजस में रहकर बोले : ''लिखने में लेखक को साफ होना चाहिए—सादा और सीधा। अँग्रेजी के शब्द थे Straight, Simple, & Direct.''

मैं तल्लीनता से सुन रहा था। बोला : ''आपने डायरेक्ट कहा और सिम्पल भी। आपकी भाषा तो अलंकृत लगती है और गूढ़। सीधी कहाँ? उसमें तो फेर और पेंच दीखते हैं।''

यह मैंने क्या किया? जैसे भारी पाप किया हो। धृष्टता और असह्य क्या होगी। सामने बनारसीदास जी अकुला आये। उनकी आँखों में मानो मेरे लिए लज्जा थी और भर्त्सना।

मुँह से बात निकल तो गयी, पर मैं बेहद सहम आया। मेरा बचपन ही रहा होगा। कवि के प्रति मेरा मन आस्था और सम्मान से भरा था। अनास्था का कहीं कण भी न था। इसलिए वह भूल थी। इसलिए वह भूल थी तो व्यवहार की ही थी और किसी और की त्रुटि न थी।

जान पड़ा कि बनारसीदासजी भर्त्सना का भाव अन्दर ही रोककर नहीं रह सकते। उन्होंने फटकार में कुछेक शब्द कहे भी। स्पष्ट था कि समुदाय के अन्य जन भी उनसे असहमत नहीं हैं, लेकिन तभी सब असमंजस और दुविधा को काटती हुई कवि की वाणी उठी। एक-एक शब्द स्पष्ट था, स्वर स्थिर और गति

मन्थर, बोले : "Yes, I want you not to follow me. I want you to follow one. I want to follow yourself." (हाँ, मैं नहीं चाहता कि आप मेरा अनुकरण करें या अनुकरण किसी का भी करें। अनुकरण करना है आपको तो अपना।)

कहते समय किसी विशेष की ओर नहीं देख रहे थे। चेहरे पर सच्चाई और संलग्नता थी। मैं उसमें सब उत्तर पा गया। कहीं उन शब्दों में आत्मसमर्थन न था, न आत्मरक्षा का प्रयत्न था, और न आत्म-व्याख्या का प्रयत्न था। किंचित् भी रोष की ध्वनि न थी। वाणी की उस संलग्नता पर सहसा औरों का विभाव भी शान्त हुआ।

याद है इसके बाद हल्की-फुल्की बातचीत हो आयी। मैं बार-बार उनके चेहरे को देखता था। भाल पर रेखाएँ थीं, फिर भी कहीं से वह कुंचित न था, कान्तिमान था। चेहरा सर्वथा निर्दोष प्रतीत हुआ, मानो मनुष्य से अधिक देवमूर्ति का हो। भव्यता इतनी नितान्त निर्दोष हो सकती है। सहसा यह विश्वसनीय न जान पड़ता था। हठात् मैं मानता था कि कहीं कुछ मिश्रण होना ही चाहिए। इतनी निर्दोषता—मनुष्याकृति सहज वहन कैसे कर सकती है? किन्तु चेहरे को बारीकी से देखकर भी त्रुटि वहाँ-कहीं मैं धर नहीं पाता था। सोचा चेहरे के निम्नार्थ में हो-न-हो कुछ मिलावट हो सकती है और दाढ़ी उसे हमसे बचाये रखती है। सत्त्व तो अकेला होता नहीं, रजस और तमस भी साथ होता है। प्रकृति तभी बनती है, लीला अन्यथा सम्भव नहीं। किन्तु कृष्ण ने गीता में कहा, 'निस्त्रैगुण्यो भावार्जुन'। तो क्या निस्त्रैगुण्यता वहाँ है? मानो मैं आशा से उस चेहरे पर बार-बार खोजता और बार-बार निराश पाता रहा। त्रिगुणात्मिका प्रकृति को प्रतीति में लाना सहज है। निस्त्रैगुण्य कल्पनीय ही है, सहज प्रत्यय आनेवाली वस्तु नहीं। मैं नहीं मान सकता था कि वह देवता हैं क्योंकि मनुष्य होना उससे बड़ी बात है। देवत्व सहज कमनीय है। पुरुषत्व पुरुषार्थ द्वारा ही साध्य है। इससे मैं देवता नहीं चाहता था, पर समक्ष देवोपमता के अतिरिक्त कुछ मिल ही न रहा था...

मुलाकात खत्म हो गयी। कवि उठकर हमारा नमन स्वीकार कर आशीर्वाद देते हुए हमसे मुड़े और हम लोग भी वापस हो लिए। अब बाधा न थी, और चतुर्वेदी जी ने मुझे आड़े-हाथों लिया। मेरी निगाह में वह चेहरा था जो बात करते समय नीचे देखता था, पर जो मैं मानता था कि बन्द आँखों से सब देखता था।

मुझे याद नहीं पड़ता कि फिर मैंने किसी बात का कुछ जवाब दिया। चार-एक दिन हम वहाँ रहे। समारोह और खुले सभास्थलों में उन्हें देखा। बोलते तो ध्यान मानो भृकुटियों के मध्य आ केन्द्रित होता और दृष्टि नासाग्र पर स्थिर, जैसे अन्तरंग में से बोलते हों, और अपेक्षतया अपने ही प्रति बोलते हों। सदा वही लीन और तद्गत मुद्रा।

उसके अतिरिक्त उस अवसर की एक ही बात का और ध्यान है। जाने वर्ष का कौन-सा विशेष दिवस था कि वहाँ आस-पास के आदिवासी सन्थाल लोग मेले में जमा हुए। यूथ-के-यूथ सन्थाल स्त्री और पुरुष, शान्ति-निकेतन के खुले मैदान में नृत्य-क्रीड़ा, आमोद-प्रमोद में वर्ष सार्थक करने वहाँ एकत्रित हुए थे। विशेष कुतूहल न था। अनायास ही वहाँ पहुँच गया था। रात के दस से ऊपर हो चुके थे। पाख उजला था और चाँदनी बिछी थी। मानो उत्सव का अभी तो आरम्भ मुहूर्त ही था। रात बीतती गयी और उत्सव मध्याह्न पर आता गया। रात का बारह हो आया। अनेक-अनेक टोलियाँ, व्यूह-बद्ध होकर, लय-ताल से नृत्य कर रही थीं। अर्धचन्द्राकार में नवयौवनाओं की पाँत हिलोर-सी लेती और सामने से चंग और मृदंग थामे चार-पाँच युवकों का समूह धूम मचाता-सा उनकी ओर आता, और आता नहीं कि पीछे फिर जाता। जाने क्या नशा था, आज भी मैं उसको समझ नहीं सकता हूँ। मैं सिल की तरह वहीं बँधा खड़ा रह गया। आज भी वह दृश्य भूलता नहीं है। बारह के बाद कब एक हो गया, दो भी हो गया, पता ही न चला। देखा कि सामने की टोली विश्राम के लिए तनिक बिखरी है। नवांगनाएँ पाँत से टूटकर हँसी-ठिठोली करती एक-दुक हो गयीं। तब सरदी का पता चला। पता चला कि ऋतु शीत है। कपड़ा कम है। चाँद ढला चाहता है। तीन के ऊपर समय हो रहा होगा। इस चेत में चल तो दिया, लेकिन विभोरता सहसा टूटती न थी और जगह पर आकर लेटने पर भी नींद से पहले और नींद के सपनों में उन तरुणियों का नृत्य रह-रहकर दीखता रहा।

रवीन्द्रनाथ की भव्यता और सन्थालों की अनगढ़ता में सादृश्य चाहे न हो, पर दोनों स्मृतियाँ साथ अंकित हुईं और साथ ही रहती आयी हैं, और मैं तो हठात् मान लेता हूँ कि उनमें विषमता नहीं है। दोनों में ही प्रकृति की अंकुरित स्वीकारता है और उस महामाया की भाव-भंगिमा के साथ लयलीनता!

इस भेंट के समय तक आपने 'लिखना तो शायद प्रारम्भ ही कर दिया था?'

—हाँ, उस सन् '29 में ही मेरी पहली पुस्तक 'परख' निकली थी और रवि ठाकुर से मिलकर लौट ही रहे थे कि रास्ते में बनारसीदासजी ने अखबार खोला और बताया कि उसे एकेडमी-पुरस्कार मिला है। मेरे लिए यह अनोखी चीज थी, क्योंकि मैं बेहद अनाड़ी था। तीर्थ-लाभ के प्रसंग का यह अभिनन्दन हो गया।

रवि ठाकुर से आपकी यह अन्तिम मुलाकात थी या इसके बाद भी उनसे मिलने का अवसर आया?

—बाद में भी मिलना हुआ। मुझे याद है, तब गरमी के दिन थे। मुलाकात करीब

ढाई बजे हुई। हम लोग (साथ श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी थे) शायद सिर पर तौलिया डाले गये। कवि बरामदे में बैठे थे। बाहर सरकण्डों का परदा पड़ा था। सामने खुली बड़ी मेज थी। वह बैठे मूढ़े पर थे जिसमें पीठ न थी। सीधे मानो ध्यानस्थ, एकाग्र, सामने कागज फैला चित्रकारी कर रहे थे। दूर से देखने पर जो राजसी विलास का मण्डल कवि के चारों ओर मालूम होता था, पास से जान पड़ा कि उसका रहस्य क्या है। मालूम हो गया कि कीर्ति सस्ती वस्तु नहीं है। महँगे मोल ही उसे उपार्जित किया जा सकता है। सब सिद्धि के नीचे तप है। जो तब दीखा वह अब भी याद है। मानो उस व्यक्ति के लिए विराम और विश्राम कहीं नहीं है—अजस्र और निरन्तर तप ही एक मार्ग। हर भले आदमी का यह विश्राम का समय था। मानो ऊपर की तपती घाम आदमी को यह कहती है, पर उसके उत्तर में नीचे की ओर से भी वैसी ही दारुण और प्रखर तप भेजा जा सकता है, इसका अनुमान बहुतों को न होगा। पर तप ही सत्य है। सृष्टि यज्ञ से चलती है। और अगर ऊपर सूरज है तो नीचे भी कुछ आदमी सूरज हुआ करते हैं। तभी सृष्टि कायम है और धरा रसातल नहीं जा पाती है।

मन में प्रश्न हुआ कि क्या इन्हें समय का पता नहीं है? आतप के ताप का पता नहीं है? आसपास सब तरह की असुविधा का पता नहीं है? पता लगा कि जैसे सचमुच ही इन सब बातों का इस सामने बैठे साधक को पता नहीं है। पसीना आता है और अगर वह बहुत हो जाता है तो अनायास पोंछ लिया जाता है, अतिरिक्त उसकी चिन्ता नहीं है।

देखकर मैंने मन-ही-मन बहुत-सी बातों को समझ लिया (सुनते हैं पीछे गाँधीजी ने गुरुदेव को कहा कि दिन में घण्टा-भर अवश्य नींद ले लिया करें तो गुरुदेव ने कहा कि 'कैसे लूँ। नींद कभी मुझे दिन में आयी नहीं है, आती नहीं है।') समझ सका कि कुछ है बहुत गहरे में, कुछ विरह है जो चैन नहीं लेने देता। 'आशिक होकर सोना क्या?' विरही-भूत-स्नेह सतत इस पुरुष को जगाये रखता है। इसमें निष्क्रिय कैसे हुआ जाए। अनवरत क्रिया में ही निष्कृति है। अहरह जप, अहरह सृष्टि।

उसी समय मेरा 'सुनीता' उपन्यास निकला था। भाई हजारीप्रसादजी ने गुरुदेव से कहा कि आपके 'घरे-बाहरे' की 'सुनीता' के साथ तुलना की गयी है। गुरुदेव ने दिलचस्पी के साथ ऊपर देखा। मैंने कहा कि 'क्या आपका अभिप्राय यह है कि घर और बाहर के बीच रेखा रहनी चाहिए? किंचित् विरोध और वैमुख्य। 'घरे-बाहरे' का 'संदीप' मानो बाहर की ओर से प्रहार है। घर के अन्तरंग को उससे अपने को बचाये रखना है। बाहर बहिर्गत और बहिष्कृत ही रहे। अन्तःस्वीकृत होने देना, मानो विपदा मोल लेना है। क्या वस्तुस्थिति और 'घरे-

बाहरे' की परिणति यही है, इच्छा थी कि पूछूँ कि संदीप को वैसा लुब्धक अहेरी का-सा रूप देकर आपने यही जतलाना चाहा है?

रवि बाबू बंगला में बोले। आँखें बन्द हो आयीं। चेतना मानो मूर्धनस्थ हो रही। चेहरा निर्विकार और तल्लीन। जैसे हिमगिरि से भागीरथी फूटी हों। पहले अनायास और नीरव, फिर शनैः-शनैः द्रुत और उच्छलित भाषा। यह शब्दों की न थी, मानो उससे अधिक मूर्त और सचित्र हो। मैं बंगला नहीं जानता था, पर मेरे अज्ञान को भेदकर उस भाषा का भाव मुझे मिलता गया। उस दृश्य को भूल नहीं सकता। हिमालय के श्रृंगों और उपत्यकाओं से जाह्नवी बहती होंगी, जैसे उनके मुख से नाना भंगिमाओं के साथ वाग्धारा निसृत हुई। नाना छन्द और लय उसमें समाहित जान पड़े। कभी अवरोह में शान्त और सौम्य, कभी आरोह में दृप्त और तप्त। मानो जो कह रहे हों, बन्द आँखों से देख भी रहे हों। कहते-कहते भाल पर कभी रेखाएँ सिमट आतीं और हाथों की मुट्ठियाँ बँध आतीं कि क्षण में मुसकराहट खिली दीखती।

उनके कहने का भाव था कि पश्चिम से दस्यु-वृत्ति का प्रवेश हुआ है। वह बल को जानती है, वह स्फीत है और दुर्दान्त। वह आखेट के लिए निकली है। मानो सब उसकी भूख के लिए भोज्य हैं। यहीं उसके होने की सार्थकता है कि वह भोग में आये। दर्पोद्धत यह दस्युता प्रभुता बनना चाहती है, पर मानव-संस्कृति क्षण के लिए भूले, अन्त में चेतेगी। वह भ्रष्ट न होगी, नष्ट न होगी। अन्त में आत्मलाभोन्मुख होगी। संदीप में वही दस्यु-वृत्ति है। उसे परास्त और पराजित होना है।

इत्यादि भाव अनोखे रंगों से मानो उन शब्दों की छटा में से फूटकर इन्द्रधनुष की भाँति उस समय छा गया था। वाक्-प्रवाह को छुआ नहीं जा सकता, रोका नहीं जा सकता था, यहाँ तक कि पूरा हृदयंगम भी नहीं किया जा सकता था। मानो उसकी शोभा का साक्षी होना ही सम्भव था। वह कहते गये, कहते गये। मैं उनके चेहरे की ओर देखता रहा। एक दिव्यता-सी लिखी दिखी थी। ऐसे आधे-घण्टे से ऊपर हो गया हो तो अचरज नहीं। शनैः-शनैः विराम आया, जैसे संगीत समाप्त तो हुआ हो पर मूर्छना भरी हो। उन्होंने आँख खोली और हमारी ओर देखा।

वह प्रवचन ही मेरा अन्तिम दर्शन रहा, पर वह अविस्मरणीय है।

रवि बाबू का जन्म एक अभिजात कुल में हुआ था और उनका पालन-पोषण भी उसी वातावरण में हुआ। आपको उनके व्यक्तित्व और साहित्य में इस विशेषता का कितना आभास मिला?

—इसका आभास तो उनकी रचनाओं में यहाँ से वहाँ तक सब तरफ मिलता है।

व्यक्तित्व से भी अनायास वह मिलता था, लेकिन मैं हठात् मानता हूँ कि आभिजात्य पाकर यद्यपि वह उसे पहने रहे, फिर भी भीतर-ही-भीतर उनकी चेष्टा रही कि वह उसे उतारकर अलग कर सकें। ऐसा हो नहीं पाया, लेकिन इससे अभिलाषा और चेष्टा का मूल्य कम नहीं होता। यही साबित होता है कि आदत बड़ी ताकत है। इसी से उसे दूसरा स्वभाव मान लिया जाता है।

आपने कहा कि उनकी रचनाओं में सब तरफ आभिजात्य मिलता है किन्तु अपने व्यक्तित्व में से वह उसे हटाने की चेष्टा कर रहे थे। क्या साहित्य में ऐसा प्रयत्न उन्होंने नहीं किया?

—प्रयत्न यदि व्यक्तित्व में रहे तो साहित्य में झलक आने से कैसे बचेगा? यह कविता क्या आपको याद है कि ईश्वर को तू कहाँ खोजता है। सब कहीं से लौटकर खोज उस कविता में अन्त में धरती में पसीना डालते मेहनती पर पहुँचती है और वहाँ मानो ईश-तत्त्व की उपस्थिति दिखाती है। ऐसे स्थल उनकी कृतियों में और भी अनेक हैं। जहाँ मानो विशिष्टता से उतरकर साधारणता में रम जाने की अभीप्सा व्यक्त हुई है।

रवीन्द्रनाथ की कविता में जो रहस्यवादी भावना है, उसमें विशिष्टता से उतरकर साधारणता की ओर जाने की अभीप्सा तो नहीं दिखाई देती?

—वहाँ तो समाज के साधारण और विशिष्ट—दोनों ही पीछे छूट जाते हैं। सामाजिक आभिजात्य वहाँ संगत ही नहीं रहता। वहाँ नितान्त प्राणमन और निवेदन है। मानो अहम् वहाँ दीप-शिखा के धुएँ की भाँति प्रार्थना में ऊर्ज्वसित हो, ऊपर उठता-उठता शून्य में विलीन हो जाता है। यह प्रक्रिया साधारणीकरण से विरोधी नहीं है; बल्कि उसको परिपूर्णता देनेवाली कही जा सकती है।

हिन्दी कविता पर उनकी रहस्यवादी कविता का जो प्रभाव पड़ा, उसे आप कहाँ तक संगत मानते हैं?

—प्रभाव तो अनिवार्य था। कुछ प्रभाव वह है जो आत्मसात् होकर प्रगटा; वह तो इष्ट। फिर कुछ प्रभाव ऐसा भी देखा गया और अब तक देखा जाता है, जिसने सीधे अनुकरण को पकड़ा, उसको इष्ट कहना कठिन है।

रवीन्द्रनाथ के दार्शनिक विचारों पर सर्वपल्ली श्री राधाकृष्ण ने 'फिलासफी ऑफ़ रवीन्द्रनाथ' पुस्तक लिखी है इसी तरह कई आलोचक और विद्वान उन्हें दार्शनिक मानते हैं।—क्या उनका कोई विचार-दर्शन ऐसा था जिसके आधार पर उन्हें मूलतः दार्शनिक कहा जा सके?

—नहीं, वह कवि थे। दर्शन था यदि उनका तो कवि का था। इससे छायामय हो सकता था। पुष्ट दर्शन के लिए निषेध आवश्यक है। निषेध उनमें पर्याप्त से कम है। देखिए उनके चेहरे को; वस्त्राच्छादन को; रहन-सहन को; मानो सबको रहने देने और समाये रखने की उद्यतता है। कपड़े परिमाण से अधिक ढीले और आवश्यकता की मात्रा से काफी अधिक। साथ उनके गाँधी की याद कीजिए, और कल्पना में लाने की कोशिश कीजिए उन रवीन्द्रनाथ को, जिनका सिर घुटा हो और घुटने खुले हों। कल्पना पछाड़ खा रहेगी और बढ़ न सकेगी। गाँधी भी दार्शनिक न थे, महात्मा थे। यों समझिए कि कवि और महात्मा के अधबीच दार्शनिक होता है। कवि का स्वधर्म भिन्न है और रवीन्द्रनाथ उससे अभिन्न थे। ध्यान में लीजिए वह कविता; जहाँ कवि कहते हैं कि मुक्ति उनके लिए नहीं है, इन्द्रियों के निरोध में; बल्कि इन्द्रियों के भोग में से ही उन्हें उसे पा लेना है। इसमें सहसा दर्शन की दृढ़ता दीखती हो; पर निस्संशय यह वृत्ति कवि की उपलब्धि है।

यह तो आप मानते ही हैं कि रवीन्द्र की कविता का प्रभाव हिन्दी-कविता पर पड़ा। क्या इसी प्रकार हिन्दी कथा-साहित्य पर भी उनका प्रभाव पड़ा है?

—पड़ा तो है, पर कथा-रचना में भी रवीन्द्र कवि हैं, और कहानी घटनावलम्बी होने के कारण साम्प्रतिकता से कुछ अधिक दूर होकर नहीं चलती। यह युग का वेग तो आप देखते ही हैं। द्रुत-गति से परिवर्तन हो रहा है। इसलिए कहानी पर पड़ा उनका प्रभाव अब उसकी काया पर उतना देखने में नहीं आता।

कहते हैं कि आपके उपन्यासों पर— विशेषत: 'सुनीता' पर रवीन्द्रनाथ के उपन्यासों— विशेषत: 'घरे-बाहरे' का कुछ प्रभाव है?

—कैसे कहूँ कि कहनेवालों की बात गलत है। अपने पर पड़े प्रभावों को छाँटकर अलग-अलग करना मेरे लिए सम्भव नहीं है। प्रभाव तो अनन्त अवकाश है और अनादि इतिहास का भी है, इसलिए अपने ऋण और कृतज्ञता को विभक्त करके क्यों बाँटूँ? अविभक्त रूप में उसे ईश्वर के प्रति देकर मानता हूँ सब वही करता है और कराता है। मुझसे कुछ नहीं हो पाता। कारण, वही तो है, उससे बाहर होने को बच क्या जाता है?

उपन्यासकार के रूप में रवीन्द्रनाथ आपको ज्यादा अच्छा लगे या कवि के रूप में?

—उनका रूप तो कवि का है। उपन्यास में भी वह बिगड़ता नहीं है। हाँ,

उपन्यासकार से इधर जगत को जो अपेक्षा हो चली है, वह कविता से नहीं है। इस तरह याद तो वह कवि के रूप में ही किये जाएँगे।

रवीन्द्रनाथ ने अपने उपन्यासों में अनेक सामाजिक और राजनीतिक समस्याओं पर डाइरेक्ट और इन्डाइरेक्ट रूप से अपने विचार व्यक्त किये हैं, क्या उन्हें पढ़कर ऐसा लगता है कि वह किसी एक मतवाद के पोषक थे?

—मुझे तो ऐसा नहीं लगता। मतवाद वृत्ति की भाँति एक बन्द और चौकस वस्तु होती है? रवीन्द्र अपने लिखने में खुले मुझे प्रतीत हुए। मतवाद मनुष्य की सहानुभूतियों पर सीमा डालता है। प्रतिमत के लिए या उसके वादी या अनुयायी के लिए पर्याप्त सहानुभूति अमुक मतवादी में रह नहीं पाती। वह सूख जाती है और हरियालापन नष्ट हो जाता है। उसकी जगह एक शुष्कता, कर्कशता और कट्टरता जमने लगती है। क्या वैसा आभास रवीन्द्रनाथ की कृतियों में आप देख पाते हैं? शायद नहीं?

चाहे उनमें शुष्कता और कर्कशता न हो, किन्तु उनमें अपने कुछ विचारों के प्रति कट्टरता अवश्य थी। जैसे ब्रह्म-समाज का समर्थन और फासिज़्म का विरोध आदि। क्या इसे आप कट्टरता मानेंगे?

—'गोरा' में जो प्रचलित हिन्दुत्व का प्रबल समर्थन है, उसमें क्या हृदय की ऊष्मा भी उनकी ओर से नहीं आ मिली है? और फासिज़्म के जिस विरोध को आप कट्टर कहते हैं मैं उसे दृढ़ कहता हूँ। कट्टर इसलिए नहीं कि गाली के जवाब में गाली नहीं है और दृढ़ इसलिए कि वह अदम्य है। टूट वह इसीलिए नहीं सकता कि उसमें लचक है। सहने की शक्ति का प्रमाण वह लचक है। सख्ती में सहनशक्ति नहीं होती। इससे उसकी मजबूती ऊपरी है। कठोर को अन्त में टूटना ही होता है।

भारतीय साहित्य की परम्परा में रवीन्द्रनाथ की सबसे बड़ी देन आप क्या मानते हैं?

—प्रकृति की स्वीकृति। प्रकृति में अन्तर-बाह्य—दोनों ही रूप सम्मिलित मानिए। शिक्षा में उन्होंने देखा कि बौद्धिकता विशेष है, रागात्मकता पर्याप्त नहीं। विज्ञान से हम वस्तु को और विषय को पकड़ना चाहते हैं। भावना का हार्दिक सम्बन्ध इसमें दुर्बल पड़ जाता है। प्रकृति के साथ सामंजस्य उसका क्षीण होता है। शान्ति-निकेतन की स्थापना के मूल में मानो, अभाव-सम्बन्धी यही भावानुभूति काम कर रही थी। वहाँ पक्के कमरों में भी, बल्कि वन-वायु और लता-वृक्ष की निकटता

में—शिक्षा लेना और देना मान्य किया। पेड़ों की छाँह में अथवा खुली धूप में अध्यापक-विद्यार्थी बैठते और सीखते। मानो यह सीखना जीवन से कोई अलग व्यापार न था। शिक्षा और लीला की बीच की खाई उन्हें समझ न आयी। कला और क्रीड़ा के साथ उसका योग हुआ। इस सब में वही मूल तत्त्व देखता हूँ अर्थात् प्रकृति की स्वीकृति।

फिर उनके उपन्यासों और निबन्धों को देखिए! 'चार अध्याय' में क्या है? 'घर और बाहर' में क्या है? मानो मनुष्य की अह्ममन्यता में से निकली हुई निषेध-वृत्ति का प्रतिरोध और प्रतिक्रमण है। हठपूर्वक जयी और जेता ने चाहा कि वह अपने स्नेह को अस्वीकार करेगा लेकिन रवीन्द्रनाथ ने बताया कि यह व्यर्थ चेष्टा है। इसमें पराजय निश्चित है और शुभ है। मनुष्य की जय सन्धि में है, सामंजस्य में है; विग्रह और वैषम्य में नहीं है। व्यक्ति की स्पर्धा को निखिल के समक्ष उन्होंने सदा परास्त दिखाया है। मानो मानव-दर्प मानवहीनता का ही परिचायक है और मानव-सम्पूर्ति प्रेमार्पित उसके आकिंचन्य में ही है। उनका सन्देश मुझे तो उनकी रचनाओं में स्पष्ट मुखरित दीखता है और अपने शब्दों में मैं उसे अन्तःप्रकृति की अकुण्ठित स्वीकृति कहना चाहूँगा।

इससे यह स्पष्ट हो कि इसी प्रकार राष्ट्रीय अथवा सामयिक उपयोगिता के प्रश्नों से उन्हें जोड़े रखना न्याय न होगा। प्रासंगिक रूप से वे तो आते ही हैं और समाधान की दिशा की सूचना भी पायी जा सकती है। कारण, यह कि मानव-सम्बन्ध और उनकी पारस्परिकता तो यह है जिन पर उनके आत्मचित्र उतरते हैं। उस लाभ को तो आनुषंगिक कहना चाहिए। मूल लगन तो कृतिकार की उस तत्त्व की शोध के प्रति है, जो एक में नहीं हैं; अनेक में नहीं हैं; बल्कि सब में है। और एक-एक की भाषा में लें तो केवल परस्परता में है। वही मर्म है, वही सत्य है। वह अखण्ड भी है और अमर है। काल में वह विभक्त नहीं है, और शाश्वत है। उसके प्रति मानव-व्यक्ति का सम्बन्ध अनिवार्यता विभोर-भक्ति का हो रहता है। स्नेह और प्रेम का सघन और निस्स्व रूप ही भक्ति है। इसलिए रवीन्द्रनाथ के वे गान, जिन पर दुनिया झूम आयी और अपना सर्वश्रेष्ठ पुरस्कार देकर भी मानो अपने को उनके ऋण से उऋण न मान सकी, निश्शेष तल्लीनता की साधना का सन्देश देनेवाले हैं। उस सन्देश में विशेष प्रयोजनीयता नहीं है, लौकिकता भी नहीं है। इसीलिए कभी वह खो जाता है और हम भी खो जाते हैं; लेकिन उसी से हम गहरी तृप्ति भी पाते हैं, और फिर-फिरकर फिर उसी के लिए तरसते हैं। लौकिक को यह सन्देश तब अलौकिक मालूम हो तो क्या विस्मय है!

प्रेमचन्द : मैंने क्या जाना और पाया

इस साल की होली को गये दिन अभी ज्यादा नहीं हुए। इस बार उस दिन हमारे यहाँ रंग-गुलाल कुछ नहीं हुआ। 'मुन्नी'[1] घर में बीमार थी। मैं अपने कमरे में अकेला बैठा था। मामूली तौर पर होली का दिन फीका नहीं गुजरा करता, पर मुझे पिछले बरस का वह दिन खासतौर से याद आ रहा था। मैं सोच रहा था कि वह दिन तो अब ऐसा गया कि लौटनेवाला नहीं है। ये बीतते हुए दिन आखिर चले कहाँ जाते हैं? क्या कहीं ये इकट्ठे होते जाते हैं? इस भाँति उन जाते हुए दिनों के पीछे पड़कर मैं खुद खोया-सा हो रहा था।

तभी सहसा पत्नी ने आकर कहा : "पारसाल इस दिन बाबूजी यहीं थे..."

कहते-कहते बीच ही में रुककर वह सामने सूने में देखती हुई रह गयी। मैं भी कुछ कह नहीं सका। उस वक्त तो उनकी ओर देखना भी मुझे कठिन हुआ।

थोड़ी देर बाद बोलीं : "मैं आखिरी वक्त उन्हें देख भी न सकी—अम्माजी से अब तक मिलना न हुआ।"

यह कहकर फिर मौन साधकर वह खड़ी हो गयीं।

तब मैंने कहा, "उस बात को छोड़ो। यह बताओ, मुन्नी का क्या हाल है? सो गयी है?"

"हाँ, बड़ी मुश्किल से सुलाके आयी हूँ।"

इतने में ही रंग-बिरंग मुँह, तर-बतर कपड़े और हाथ में पिचकारी लिये बड़ा बालक[2] ऊपर आन पहुँचा। जाने क्या उसके कान में भनक पड़ी थी। आते ही उछाह में भरकर बोला : "अम्मा, बाबाजी आएँगे? कब आएँगे?"

अम्मा ने पूछा : "कौन बाबाजी?"

बालक ने कहा : "हाँ, मैं जानता हूँ—पारसाल जो होली पर थे नहीं, वही

---

1. लेखक की ज्येष्ठ कन्या—कुसुम।

2. स्व. दिलीप।

बाबाजी! मैं सब जानता हूँ। अम्मा, वह कब आएँगे?''

उस समय मैंने उसे डपटकर कहा : ''जाओ, नीचे बालकों में खेलो।''

इस पर वह बालक मुझसे भी पूछ उठा : ''बाबूजी, बनारसवाले बाबाजी आनेवाले हैं? वह कब आएँगे?''

मैंने भी डपटकर कहा : ''मुझे नहीं मालूम। जाओ, तुम खेलो।''

बालक चला तो गया था। हो सकता है कि नीचे खेला भी हो, लेकिन इस तरह उस पारसाल के होली के दिन की याद के छिड़ जाने से मन की तकलीफ बढ़ गयी।

पत्नी मेरी ओर देखती रहीं, मैं उनकी ओर देखता रहा। बोल कुछ सूझता ही न था, आखिर काफी देर बाद वह बोलीं : ''तुम बनारस कब जाओगे? मैं भी जरूर चलूँगी।''

मैंने इतना ही कहा कि देखो...

बात यह थी कि पारसाल इसी होली के दिन प्रेमचन्दजी नीम की सींक से दाँत कुरेदते हुए धूप में खाट पर बैठे थे। नाश्ता हो चुका था और पूरी निश्चिन्तता थी। बदन पर धोती के अलावा बस एक बनियान था जिसमें उनकी दुबली और लाल-पीली देह छिपती न थी। वक्त साढ़े नौ का होगा। ऐसे ही समय होलीवालों का एक दल घर में अनायास घुस आया और बीसियों पिचकारियों की धार से और गुलाल से उस दल ने उनका ऐसा सम्मान किया कि एक बार तो प्रेमचन्दजी भी चौंक गये। पलक मारते वह तो सिर से पाँव तक कई रंग के पानी से भीग चुके थे। हड़बड़ाकर उठे, क्षण-एक रुके, स्थिति पहचानी, और फिर वह कहकहा लगा कि मुझे अब तक याद है। बोले : ''अरे भाई जैनेन्द्र, हम तो मेहमान हैं!''

मैंने आगत सज्जनों से, जिनमें आठ बरस के बच्चों से लगाकर पचास बरस के बुजुर्ग भी थे, परिचय कराते हुए कहा : ''आप प्रेमचन्दजी हैं।''

यह जानकर सब लोग बहुत प्रसन्न हुए।

प्रेमचन्दजी बोले : ''भाई, अब तो खैर है न? या कि अभी जहमत बाकी है?''

''लेकिन इस दिन खैरियत का भरोसा क्या कीजिए! और होली के दिन का तो और भी ठिकाना नहीं है।''

इस पर प्रेमचन्दजी ने फिर कहकहा लगाया। बोले : ''तो कौन कपड़े बदले! हम तो यहीं बैठते हैं खाट पर कि आये जो चाहे।''

...सच, यकीन करना मुश्किल होता है कि वह दिन अभी एक बरस पहले था और प्रेमचन्दजी अब नहीं हैं। फिर भी, प्रेमचन्दजी तो नहीं ही हैं। इतने दूर हो गये हैं कि जीते-जी उन्हें नहीं पाया जा सकता। इस सत्य को जैसे भी चाहे

हम समझें, चाहें तो उसके प्रति विद्रोही ही बने रहें, पर किसी भी उपाय से उसे अन्यथा नहीं कर सकते।

[दो]

छुटपन से प्रेमचन्द का नाम सुनता-पढ़ता आया हूँ। वह नाम कुछ-कुछ इस तरह मन में बस गया था जैसे पुराण-पुरुषों के नाम, मानो वह मनोलोक के ही वासी हैं! सदेह भी वह हैं और इस कर्मकलाप-संकुलित जगत में हम-तुम की भाँति कर्म करते हुए जी रहे हैं—ऐसी सम्भावना मन में नहीं होती थी। बचपन का मन था, कल्पनाओं में रस लेता था। इन्हीं पर पल-झूलकर वह पक रहा था। सन् '26 में शायद या सन् '27 में, 'रंगभूमि' हाथों पड़ी। तभी चिपटकर उसे पढ़ गया। कदाचित् एक ही भाग मिला था, वह भी दूसरा। पर उससे क्या! प्रेमचन्दजी की पुस्तक थी, और शुरू करने पर छूटना दुष्कर था। उसे पढ़ने पर मेरे लिए प्रेमचन्दजी और भी बाध्यता से मनोलोक के वासी हो गये।

पर दिन निकलते गये और इधर मेरा मन भी पकता गया। इधर-उधर की सूचनाओं से बोध हुआ कि प्रेमचन्दजी लेखक ही नहीं हैं और आकाशलोक में ही नहीं रहते, वह हम-तुम जैसे आदमी भी हैं। यह जानकर प्रसन्नता बढ़ी, यह तो नहीं कह सकता। पर यह नया ज्ञान विचित्र मालूम हुआ और मेरा कौतूहल बढ़ गया।

सन् '29 आते-आते मैं अकस्मात् कुछ लिख बैठा। यों कहिए कि अघटनीय ही घटित हुआ। जिस बात से सबसे अधिक डरता रहा था—यानी लिखना—वही सामने आ रहा। इस अपने दुस्साहस पर मैं पहले-पहल तो बहुत ही संकुचित हुआ। मैं, और लिखूँ—यह बहुत ही अनहोनी बात मेरे लिए थी। पर विधि पर किसका बस! जब मुझ पर यह आविष्कार प्रकट हुआ कि मैं लिखता हूँ, तब यह ज्ञान भी मुझे था कि वही प्रेमचन्द जो पूरी 'रंगभूमि' को अपने भीतर से प्रकट कर सकते हैं, लखनऊ से निकलनेवाली 'माधुरी' के सम्पादक हैं। सो कुछ दिनों बाद एक रचना बड़ी हिम्मत बाँधकर डाक से मैंने उन्हें भेज दी। लिख दिया कि यह सम्पादक के लिए नहीं है, ग्रन्थकर्ता प्रेमचन्द के लिए है। छापे में आने योग्य तो मैं हो सकता ही नहीं हूँ, पर लेखक प्रेमचन्द उन पंक्तियों को एक निगाह देख सकें और मुझे कुछ बता सकें तो मैं अपने को धन्य मानूँगा। कुछ दिनों के बाद वह रचना ठीक-ठीक तौर पर लौट आयी। साथ ही एक कार्ड भी मिला जिस पर छपा हुआ था कि यह रचना धन्यवाद के साथ वापस की जाती है। यह मेरे दुस्साहस के योग्य ही था, फिर भी मन कुछ बैठने-सा लगा। मैं उस अपनी कहानी को तभी एक बार फिर पढ़ गया। आखिरी स्लिप समाप्त करके

उसे पलटता हूँ कि पढ़ता हूँ, पीठ पर फीकी लाल स्याही में अंग्रेज़ी में लिखा है—'प्लीज़ आस्क इफ़ दिस इज़ ए ट्रान्सलेशन।' जाने किस अतर्क्य पद्धति से यह प्रतीति उस समय मेरे मन में असंदिग्ध रूप में बस गयी कि, हो न हो, ये प्रेमचन्दजी के शब्द हैं, उन्हीं के हस्ताक्षर हैं। उस समय मैं एक ही साथ मानो कृतज्ञता में नहा उठा। मेरा मन तो एक प्रकार से मुरझा ही चला था, लेकिन इस छोटे-से वाक्य ने मुझे संजीवन दिया। तब से मैं खूब समझ गया हूँ कि सच्ची सहानुभूति का एक कण भी कितना प्राणदायक होता है और हृदय को निर्मल रखना अपने-आपमें कितना बड़ा उपकार है।

पर मैंने न प्रेमचन्दजी को कुछ लिखा, न माधुरी को लिखा। फिर भी तब से अलक्ष्य भाव से प्रेमचन्दजी के प्रति मैं एक ऐसे अनिवार्य बन्धन से बँध गया कि उससे छुटकारा न था।

कुछ दिनों बाद एक और कहानी[1] मैंने उन्हें भेजी। पहली कहानी का कोई उल्लेख नहीं किया। यह फिर लिख दिया कि लेखक प्रेमचन्द की उस पर सम्मति पाऊँ, यही अभीष्ट है, छपने लायक तो वह होगी ही नहीं। उत्तर में मुझे एक कार्ड मिला। उसमें दो-तीन पंक्तियों से अधिक न थीं। स्वयं प्रेमचन्दजी ने लिखा था : 'प्रिय महोदय, दो (या तीन) महीने में माधुरी का विशेषांक निकलनेवाला है। आपकी कहानी उसके लिए चुन ली गयी है।'

इस पत्र पर मैं विस्मित होकर रह गया। पत्र में प्रोत्साहन का, बधाई का, प्रशंसा का एक शब्द भी नहीं था। लेकिन जो था वह ऐसे प्रोत्साहनों से भारी था। प्रेमचन्दजी की अन्तःप्रकृति की झलक पहली ही बार मुझे उस पत्र में मिल गयी। वह जितने सद्भावनाशील थे, उतने ही उन सद्भावनाओं के प्रदर्शन में संकोची थे। नेकी हो तो कर देना, पर कहना नहीं—यह उनकी आदत हो गयी थी। मैंने उस पत्र को कई बार पढ़ा था और मैं दंग रह गया था कि यह व्यक्ति कौन हो सकता है जो एक अनजान लड़के के प्रति इतनी बड़ी दया का, उपकार का, काम कर सकता है, फिर भी उसका तनिक श्रेय लेना नहीं चाहता। अगर उस पत्र के साथ कृपा एवं अनुग्रह से भरे वाक्य भी होते तो क्या बेजा था! लेकिन प्रेमचन्द वह व्यक्ति था जो उनसे ऊँचा था। उसने कभी यह जाना ही नहीं कि उपकार किया है या वह कर सकता है। नेकी उससे होती थी, उसे नेकी करने की जरूरत न थी। इसलिए वह ऐसा व्यक्ति था जिससे बदी नहीं हो सकती।

लेकिन मैं तो तब बच्चा था न! अपने को छपा देखने को आतुर था। लिखा, 'अगर वह कहानी छपने योग्य है तो अगले अंक में ही छपा दीजिए। विशेषांक के लिए और भेज दूँगा।'

---

1. 'अन्धे का भेद'।

उत्तर आया, 'प्रिय महोदय, लिखा जा चुका है कि वह कहानी विशेषांक के लिए चुन ली गयी है, उसी में छपेगी।'

इस उत्तर पर मैं उसके लेखक की ममताहीन सद्भावना पर चकित होकर रह गया। अब भी मैं उसको याद कर विस्मय से भर जाता हूँ। मुझे मालूम होता है कि प्रेमचन्दजी की सबसे घनिष्ठ विशेषता यही है। यही साहित्य में खिली और फली है। उनके साहित्य की रग-रग में सद्भावना व्याप्त है। लेकिन भावुकता में वह सद्भावना किसी भी स्थल पर कच्ची या उथली नहीं हो गयी। वह अपने में समायी हुई है, छलक-छलक नहीं पड़ती। प्रेमचन्द का साहित्य इसीलिए पर्याप्त कोमल न दिखे, पर ठोस है और खरा है। उसके भीतर भावना की अडिग सचाई है। व्यक्ति के व्यक्तित्व की एक सहज दुर्बलता है दया। दयावान दूसरे को दयनीय मानता है तभी दया कर सकता है। उसमें दम्भ भी आता है। प्रेमचन्द इस बात को समझते थे और वह शायद ही कभी वहाँ तक नीचे गिरे। सचाई तक ही उठने की कोशिश करते रहे।

उसके बाद अचानक उनका एक पत्र आया। लिखा था : 'त्यागभूमि' में तुम्हारी कहानी[1] पढ़ी। पसन्द आयी। बधाई!'

इस पत्र से तो जैसे एकाएक मुझ पर बादल आ टूटा। मन की सद्भावना कैसे किसी को भीतर तक भिगोकर कोमल कर सकती है, उसे अपने अपदार्थ होने का भान करा सकती है, यह तब से मैं समझने लगा हूँ। उस पत्र से मेरा दिल तो बढ़ा ही, लेकिन सच पूछो तो कहीं भीतर कठोर बनकर जमा हुआ मेरा अहंकार उस पत्र की चोट से बिलकुल बिखर गया और मैं मानो एक प्रकार के सुख से रो-रो आया।

अहंकार आत्म के बचाव का जरिया ही है। वह अपनी हीनता के दबाव से बचने के प्रयत्न का रूप है। उसमें व्यक्ति अपने में ही उभरा हुआ दीखना चाहता है। प्रयास यह अयथार्थ है। जब हम अपनी हीनता दूसरे के निकट स्वीकार लेते हैं, उसे निवेदन कर देते हैं, तब अहंकार व्यर्थ होकर सहसा ही बिखर जाता है। तब एक निर्मल स्वास्थ्य का भाव होता है जिसका गर्व-बोध से सम्बन्ध नहीं होता। उससे आत्म-गौरव को बल्कि प्रतिष्ठा मिलती है और यह अहंकार से बिलकुल ही और वस्तु है।

प्रेमचन्दजी के उस पत्र के नीचे मैंने अपने को कृतार्थ भाव से अल्प स्वीकार किया और मैंने उसको प्रेमचन्दजी का आशीर्वाद ही माना। उस समय किसी भी प्रकार मैं उसको अपनी योग्यता की सनद नहीं मान सका। फिर भी आशीर्वाद

---

1. परीक्षा।

का पात्र बन सका, यही गर्व क्या मेरे लिए कम था! मैंने पाया है, गुरुजनों का आशीर्वाद मन के काठिन्य को, कल्मष को धोता है, पर उसे आशीष के रूप में ग्रहण करना चाहिए। अपना प्राप्य और हक मानकर वही शाप भी हो सकता है।

उसके बाद से पत्र-व्यवहार आरम्भ हो गया। फिर जो कहानी[1] भेजी, उसको प्रकाशन के लिए अस्वीकार करते हुए उन्होंने खुलकर लिखा—कहानी में यह होना चाहिए, कहानी ऐसी होनी चाहिए। मेरी धृष्टता देखिए कि मैंने शंका की, कहानी में क्यों यह होना चाहिए और क्यों वह 'ऐसी' ही होनी चाहिए। छोटे मुँह बड़ी बात करते मुझे शर्म आनी चाहिए थी, पर प्रेमचन्दजी ने जरा भी वह शर्म मेरे पास न आने दी। इतना ही नहीं, बल्कि मुझे मालूम होता है कि उस प्रकार की निर्लज्ज शंका के कारण तो मानो और भी उन्होंने मुझे अपने पास ले लिया। शंकाओं के उत्तर में एक प्रकार से उन्होंने यह भी मुझे सुझाया और याद रखने को कहा कि 'मुझे निर्भ्रान्त न मानना। कहानी हृदय की वस्तु है, नियम की वस्तु नहीं है। नियम हैं और वे उपयोगी होने के लिए हैं। हृदय के दान में जब वे अनुपयोगी हो जाएँ तब बेशक उन्हें उल्लंघनीय मानना चाहिए...।' उनका जोर इस अन्तिम 'लेकिन' पर अवश्य रहता था। नियम बदलेंगे, वे टूटेंगे भी, पर इस 'लेकिन' से सावधान रहना होगा। प्रेमचन्दजी इस 'लेकिन' की, और उससे आगे की, जिम्मेदारी स्वयं न लेकर मानो निर्णायक के ऊपर ही छोड़ देते थे, जैसे कहते हों : 'उधर बहुत खतरा है, बहुत खटका है। मेरी सलाह तो यही है, यही होगी, कि उधर न बढ़ा जाए। फिर भी यदि कोई बढ़ना चाहता है तो वह जाने, उसका अन्तःकरण जाने। कौन जाने मुझे खुशी ही हो कि कोई है तो, जो खतरा देखकर भी (या ही) उधर बढ़ना चाहता है।' कई बार उन्होंने कहा है : ''जैनेन्द्र, हम समाज के साथ हैं, समाज में हैं।'' यह इस भाव से कहा है कि मानो व्यक्त कर देना चाहते हों कि जो हीन-दृष्टि इतना तक नहीं देखता, उसे तर्क में पड़ने की मेरी ओर से पूरी छुट्टी है!

[तीन]

इस भाँति दूर-दूर रहकर भी चिट्ठी-पत्री द्वारा परस्पर का अपरिचय बिलकुल जाता रहा था। कुम्भ के मेले पर इलाहाबाद जाना हुआ। वहाँ प्रेमचन्दजी का जवाब भी मिल गया। लिखा था : 'अमीनुदौला पार्क के पास लाल मकान है। लौटते वक्त आओगे ही। जरूर आओ।'

सन् '30 की जनवरी थी। खासे जाड़े थे। बनारस से गाड़ी लखनऊ रात

---

1. आतिथ्य।

के कोई चार बजे ही जा पहुँची थी। अँधेरा था और शीत भी कम न था। ऐसे वक्त अमीनुदौला पार्क के पासवाला लाल मकान मिल तो जाएगा ही, पर मुमकिन है, असुविधा भी कुछ हो। लेकिन दरअसल जो परेशानी उठानी पड़ी, उसके लिए मैं बिलकुल तैयार न था।

क्या मैं जानता न था कि मैं प्रेमचन्दजी के यहाँ जा रहा हूँ? जी हाँ, वही जो साहित्य के सम्राट हैं, घर-घर जिनके नाम की चर्चा है। उनके-से मशहूर आदमी हैं कितने! मैं जानता था और बड़ी खुशी से हर किसी को जतलाने को उत्सुक था कि मैं उनके, उन्हीं के, यहाँ जा रहा हूँ।

लेकिन मैं अपने को कितना भी ज्ञानी जानता होऊँ और अखबार में छपने लायक दो-एक कहानियाँ भी लिख चुका होऊँ, पर यह जानना मुझे बाकी था कि मैं कितना भूला, भोला, कितना मूर्ख हूँ। महत्ता के साथ मेरे दिमाग में जैसे अगले कदम पर ही महल आ जाता था। जो महल में प्रतिष्ठित नहीं है, क्या ऐसी भी कोई महत्ता हो सकती है? पर मुझे जानना शेष था कि महल और चीज है, महत्ता और चीज है। उन दोनों में कोई बहुत सगा सम्बन्ध नहीं है। महत्ता मन से बनती है, महल पत्थर का बनता है। अतः इन दोनों तत्वों में मित्रता अनिवार्य नहीं। किन्तु इस सद्ज्ञान से मैं तब तक सर्वथा शून्य था।

पाँच बजे के लगभग अमीनुदौला पार्क की सड़क के बीचोबीच आ खड़ा हो गया हूँ, सामान सामने एक निर्जन दुकान के तख्तों पर रखा है। इक्का-दुक्का शरीफ आदमी टहलने के लिए आ-जा रहे हैं। मैं लगभग प्रत्येक से पूछता : जी, माफ कीजिएगा। प्रेमचन्दजी का मकान आप बतला सकते हैं? नजदीक ही कहीं है। जी हाँ, प्रेमचन्द!

सज्जन, विनम्र, कुछ सोच में पड़ गये। माथा खुजलाया, बोले : प्रेमचन्द! कौन प्रेमचन्द?

''जी, वही आला मुसन्निफ। नावलिस्ट। वह एडिटर भी तो हैं, साहब? मशहूर आदमी हैं।''

''ऐं-ऐं, पि...रे...म...च...न्द!'' और सज्जन विनीत असमंजस में पड़कर मुझसे क्षमा माँग उठे। क्षमा माँग, विदा ले, छड़ी उठा, मुझे छोड़, वह अपनी सैर पर बढ़ गये।

उस सड़क पर ही मुझे छः बज आये। साढ़े छः भी बजने लगे। तब तक दर्जनों सज्जनों को मैंने क्षमा किया। लगभग सभी को मैंने अपने अनुसन्धान का लक्ष्य बनाया था। लेकिन मेरे मामले में सभी ने अपने को निपट असमर्थ प्रकट किया। मैं उनकी असमर्थता पर खीज तक भी तो न सका, क्योंकि वे सचमुच ही असमर्थ थे।

आस-पास मकान कम न थे और लाल भी कम न थे। और जहाँ मैं खड़ा था वहाँ से प्रेमचन्दजी का मकान मुश्किल से बीस गज निकला। लेकिन उस रोज मुझे सम्भ्रान्त श्रेणी से प्रेमचन्दजी तक के उस बीस गज के दुर्लंघ्य अन्तर को लाँघने में काफी देर लगी। और क्या इसे एक संयोग ही कहूँ कि अन्त में जिस व्यक्ति के नेतृत्व का सहारा थामकर मैं उन बीस गजों को पार कर प्रेमचन्दजी के घर पर आ लगा, वह कुल-शील की दृष्टि से समाज का उच्छिष्ट ही था।

मैंने अचानक ही उससे पूछा था : ''भाई, प्रेमचन्दजी का घर बता सकते हो?''

उसने कहा : ''मुंशी प्रेमचन्द?''

किन्तु मैं किसी प्रकार के मुंशीपन की मार्फत तो प्रेमचन्दजी को जानता न था। मैंने कहा : ''अच्छा, मुंशी ही सही।''

''वह तो है'', यह कहकर वह आदमी उठा और मेरे साथ बताने चल दिया। मैंने कहा : ''ठहरो, जरा सामान ले लूँ।'' वह व्यक्ति इस पर मेरे साथ-साथ आया, बिना कुछ कहे-सुने मेरे हाथ से सामान उसने ले लिया। और प्रेमचन्दजी के मकान के जीने के आगे उसे रखकर बोला : ''घर यह है। अब गुहार लो।''

मैंने आवाज दी। वह आवाज इस योग्य न रही होगी कि दूसरी मंज़िल पर चढ़कर द्वार-दीवार लाँघती हुई भीतर तक पहुँच जाए। इसलिए उस व्यक्ति ने तत्पर होकर पुकारा—''बाबूजी! बाबूजी!''

थोड़ी देर बाद जीने के ऊपर से आवाज आयी—''कौन साहब हैं?''

''मैं, जैनेन्द्र।''

''आओ भाई!''

[चार]

जीने के नीचे से झाँकने पर मुझे जो कुछ ऊपर दीखा, उससे मुझे बहुत धक्का लगा। जो सज्जन ऊपर खड़े थे, उनकी बड़ी घनी मूँछें थीं, पाँच रुपये वाली लाल इमली की चादर ओढ़े थे, जो काफी पुरानी और चिकनी थी, बालों ने आगे आकर माथे को कुछ ढँक-सा लिया था और माथा छोटा मालूम होता था। सिर जरूरत से छोटा प्रतीत हुआ। मामूली धोती पहने थे जो घुटनों से जरा नीचे तक आ गयी थी। आँखों में खुमारी भरी देखी। मैंने जान लिया कि प्रेमचन्द यही हैं। इस परिज्ञान से बचने का अवकाश न था। प्रेमचन्द उन्हें ही जानकर मेरे मन को कुछ सुख उस समय नहीं हुआ। क्या जीते-जी प्रेमचन्द इनको ही मानना होगा? इतनी दूर से इतनी आस बाँधकर क्या इन्हीं मूर्ति के दर्शन करने मैं आया हूँ? एक बार

तो जी में आया कि अपने मन के असली रमणीक प्रेमचन्द के प्रति आस्था कायम रखनी हो तो मैं यहाँ से लौट ही क्यों न जाऊँ। प्रेमचन्द के नाम पर वह सामने खड़ा व्यक्ति साधारण, इतना स्वल्प, इतना देहाती मालूम हुआ कि—इतने में उस व्यक्ति ने फिर कहा : "आओ भाई, आ जाओ।"

मैं एक हाथ में बक्स उठा जीने पर चढ़ने को हुआ कि उस व्यक्ति ने झटपट आकर उस बक्स को अपने हाथ में ले-लेना चाहा। बक्स तो खैर मैंने छिनने न दिया, लेकिन तब वह और दो-एक छोटी-मोटी चीजों को अपने हाथ में थामकर जीने से मुझे ऊपर ले गये।

घर सुव्यवस्थित नहीं था। आँगन में पानी निरुद्देश्य फैला था। चीजें भी ठीक अपने-अपने स्थान पर नहीं थीं। पर पहली निगाह ही यह जो कुछ दीखा, दीख सका। आगे तो मेरी निगाह इन बातों को देखने के लिए खाली ही नहीं रही। थोड़ी ही देर में मुझे भूल चला कि यह तनिक भी परायी जगह है। मेरे भीतर की आलोचनाशक्ति न-कुछ देर में मुरझा सोयी।

सब काम छोड़ प्रेमचन्दजी मुझे लेकर बैठ गये। सात बज गये, साढ़े सात बज गये, आठ होने आये, बातों का सिलसिला टूटता ही न था। इस बीच में बहुत-कुछ भूल गया। यह भूल गया कि यह प्रेमचन्द हैं, हिन्दी के साहित्य-सम्राट् हैं। यह भी भूल गया कि मैं उसी साहित्य के तट पर भौचक खड़ा अनजान बालक हूँ। यह भी भूल गया कि क्षण-भर पहले इस व्यक्ति की मुद्रा पर मेरे मन में अप्रीति, अनास्था उत्पन्न हुई थी। देखते-देखते बातों-बातों में मैं एक अत्यन्त घनिष्ठ प्रकार की आत्मीयता में घिरकर ऊपरी सब बातों को भूल गया।

उस व्यक्ति की बाहरी अनाकर्षकता उस क्षण से जाने किस प्रकार मुझे अपने-आप में सार्थक वस्तु जान पड़ने लगी। उनके व्यक्तित्व का बहुत-कुछ आकर्षण उसी अ-कोमल आन-बान में था। अपने ही जीवन-इतिहास की वह प्रतिमा थे। उनके चेहरे पर बहुत-कुछ लिखा था जो पढ़ने-योग्य था। मैं सोचा करता हूँ कि बादाम में गिरी के लिए, उस गिरी में मिठास के लिए, उस मिठास की रक्षा के लिए, क्या यह नितान्त उचित और अनिवार्य है कि उसके ऊपर का छिलका खूब सख्त हो? मैं मानता हूँ कि उस छिलके को कड़ा होने का अवकाश, वैसी सुविधा, न हो तो बादाम की गिरी को कभी वैसा उपादेय बनने का सौभाग्य भी नसीब न हो!

इस जगह आकर प्रेमचन्द की मेरी अपनी काल्पनिक मूर्तियाँ, जो अतिशय छटामयी और प्रियदर्शन थीं, एकदम ढहकर चूर हो गयीं और मुझे तनिक भी दुःख नहीं होने पाया। माया सत्य के प्रकाश पर टूट बिखरे तो दुःख कैसा! आते ही एक-डेढ़ घण्टे के करीब बातचीत हुई और फलतः प्रेमचन्द के प्रति मेरी आस्था

इतनी पुष्ट हो गयी कि उसके बाद किसी भी वेशभूषा में, रंग-रूप में वह उपस्थित क्यों न होते, अकुण्ठित भाव से उनके चरण छुए बिना मैं न रहता।

मैं यह देखकर विस्मित हुआ कि आधुनिक साहित्य की प्रवृत्ति से वह कितने घनिष्ठ रूप में अवगत हैं। यूरोपीय साहित्य में जानने-योग्य उन्होंने जाना है। जानकार ही नहीं छोड़ दिया, भीतर से उसे पहचाना भी है और फिर विवेक से छानकर आत्मसात् किया है। वह अपने प्रति सचेत हैं, तत्पर हैं। साथ, स्थिति के प्रति सावधान और उद्यत हैं।

मैंने कहा : ''बँगला-साहित्य हृदय को अधिक छूता है—इससे आप सहमत हैं? तो इसका कारण क्या है?''

प्रेमचन्दजी ने कहा : ''सहमत तो हूँ। कारण, उसमें स्त्री-भावना अधिक है। मुझमें वह काफी नहीं है।''

सुनकर मैं उनकी ओर देख उठा। पूछा : ''स्त्रीत्व है, इसी से वह साहित्य हृदय को अधिक छूता है?''

बोले : ''हाँ तो। वह जगह-जगह 'रिमिनिसेंट' (स्मरणशील) हो जाता है। स्मृति में भावना की तरलता अधिक होती है, संकल्प में भावना का काठिन्य अधिक। विधायकता के लिए दोनों चाहिए...''

कहते-कहते उनकी आँखें मुझसे पार कहीं देखने लगी थीं। उस समय उन आँखों की सुर्खी एकदम गायब होकर उनमें एक प्रकार की पारदर्शी नीलिमा भर गयी थी। मानो अब उनकी आँखों के सामने जो हो, स्वप्न हो। उनकी वाणी में एक प्रकार की भीगी कातरता बज आयी थी। वह स्वर मानो उच्छ्वास में निवेदन करता हो कि 'मैं कह तो रहा हूँ, पर जानता अन्त में मैं भी नहीं हूँ। शब्द तो शब्द हैं, तुम उनपर मत रुकना। उनके अगोचर में जो भाव ध्वनित होता हो उसी में पहुँचकर जो पाओगे, पाओगे। वहीं पहुँचो, हम-तुम पर रुको नहीं। राह में जो है, बाधा है, लाँघते जाओ, लाँघत जाओ। उल्लंघित होने में ही बाधा की सार्थकता है।'

बोले : ''जैनेन्द्र, मुझे कुछ ठीक नहीं मालूम। मैं बंगाली नहीं हूँ। वे लोग भावुक हैं। भावुकता में जहाँ पहुँच सकते हैं, वहाँ मेरी पहुँच नहीं। मुझमें उतनी देन कहाँ! ज्ञान से जहाँ नहीं पहुँचा जाता, वहाँ भी भावना से पहुँचा जाता है। वहाँ भावना से ही पहुँचा जाता है। लेकिन जैनेन्द्र, मैं सोचता हूँ, काठिन्य भी चाहिए...''

कहकर प्रेमचन्द जैसे कन्या की भाँति लजा उठे। उनकी मूँछें इतनी घनी थीं कि बेहद। उनमें सफेद बाल तब भी रहे होंगे। फिर भी मैं कहता हूँ, वह कन्या की भाँति लज्जा में घिर गये। बोले : ''जैनेन्द्र, रवीन्द्र-शरत् दोनों महान

हैं। पर हिन्दी के लिए क्या वही रास्ता है? शायद नहीं। हिन्दी राष्ट्रभाषा है। मेरे लिए तो वह राह नहीं ही है।''

उनकी वाणी में उस समय स्वीकारोक्ति ही बजती मुझे सुन पड़ी। गर्वोक्ति की तो वहाँ सम्भावना ही न थी।

बातों का सिलसिला अभी और भी चलता, लेकिन भीतर से खबर आयी कि अभी डॉक्टर के यहाँ से दवा तक लाकर नहीं रखी गयी है, ऐसा हो क्या रहा है? दिन कितना चढ़ गया, क्या इसकी भी खबर नहीं है?

प्रेमचन्द अप्रत्याशित भाव उठ खड़े हुए। बोले : ''जरा दवा ले आऊँ, जैनेन्द्र। देखो, बातों में कुछ खयाल ही न रहा।''

कहकर इतने जोर से कहकहा लगाकर हँसे कि छत के कोनों में लगे मकड़ी के जाले हिल उठे। मैं तो भौचक रहा ही। मैंने इतनी खुली हँसी जीवन में शायद ही कभी सुनी थी।

बोले : ''और तुम्हें भी तो अभी नित्यकर्म से निवृत्त होना होगा! वाह, यह खूब रही!'' और हँसी का वह कहकहा और भी द्विगुणित वेग से घर-भर में गूँज गया। अनन्तर मेरे देखते-देखते लपककर स्लीपर पहने, आले में से शीशी उठायी और उन्हीं कपड़ों दवाई लेने बाहर निकल गये।

मेरे मन पर प्रेमचन्द के साक्षात्कार की पहली छाप यह पड़ी। यानी कि यह व्यक्ति जो भी है, उससे तनिक भी अन्यथा दीखने का इच्छुक नहीं है। इसे अपने महत्त्व या दूसरों के मान में आसक्ति नहीं है। इस व्यक्ति को अपने सम्बन्ध में इतना ही पता है कि कोटि-कोटि आदमियों के बीच में वह भी एक आदमी है। उससे अधिक कुछ होने का, या पाने का वह दावेदार नहीं है। मानवोचित प्राप्य का हकदार वह है। और बस, उससे न कम, न ज्यादा।

उन दिनों अपने सरस्वती प्रेस, काशी से 'हंस' निकालने का निश्चय हो रहा था। मैंने पूछा : ''प्रेस छोड़कर, अपने गाँव का घर छोड़कर, यहां लखनऊ में नौकरी करें, ऐसी क्या आपके साथ कोई मजबूरी है?''

उनसे यह मेरी पहली मुलाकात थी। हममें कोई समानता न थी। मेरा यह प्रश्न धृष्टतापूर्ण समझा जा सकता था। लेकिन मैंने कहा न कि पहले ही अवसर पर उनके प्रति मैं अपनी सब दूरी खो बैठा था। मैं लाख छोटा होऊँ, पर प्रेमचन्दजी इतने बड़े थे कि अपनी उपस्थिति में वह मुझे तनिक भी अपने तईं हीन अनुभव नहीं होने देते थे। प्रश्न के उत्तर में निस्संकोच और अकुण्ठित भाव से अपनी आर्थिक अवस्था, अथवा दुरवस्था, सब कह सुनायी। तब मुझे पता चला कि यह प्रेमचन्द जो लिखते हैं, वह केवल लिखते ही नहीं हैं, उसको मानते भी हैं, उस पर जीते भी हैं। असहयोग में उन्होंने नौकरी छोड़ दी थी। कुछ दिनों तो वह असहयोग

ही एक काम रहा। फिर क्या करें? कुछ दिनों कानपुर-विद्यालय में अध्यापकी की। फिर काशी-विद्यापीठ में आये। आन्दोलन तब मद्धिम पड़ गया था। सोचने लगे, कहीं ऐसा तो नहीं है कि मैं और मेरा वेतन विद्यापीठ पर बोझ हो रहा है। इस तरह के सोच-विचार में उसे छोड़ दिया। अब क्या करें?

''क्यों,'' मैंने कहा, ''आपके हाथ में तो कलम थी। फिर प्रश्न कैसा कि क्या करें?''

''नहीं जैनेन्द्र,'' वह बोले, ''तुम्हारा खयाल ठीक नहीं है। यह मुल्क विलायत नहीं है। विलायत हो जाए, यह भी शायद मैं नहीं चाहूँगा।''

फिर बताया कि लिखने पर निर्भर रहकर काम नहीं चलता। मन भी नहीं भरता, खर्च भी पूरा नहीं होता। तबीयत बेचैन हो जाती है। फिर किन-किन हालतों में से गुजरना पड़ा, यह भी सुनाया। आखिर यहाँ-वहाँ से कुछ पूँजी बटोरकर प्रेस खोला। पर बाजारवालों से निपटना न आता था। प्रेस गले का ऐसा कौर बन गया, जो न निगला जाए, न उगलते ही बने। अपना लेना पटे नहीं, देनदारों को देना सो पड़े ही। ऐसी हालत में प्रेमचन्दजी जैसे व्यक्ति की गति अकथनीय हो गयी। और कुछ न सूझा तो प्रेस में ताला डाल घर बैठ रहे। प्रेस न चले तो न सही, पर जान को कब तक घुलाया जाए! पर ऐसी हालत में पैसे का अभाव ही चारों ओर दीखने लगा। और उस अभाव से घिरकर तबीयत घुटने लगी।

''अब बताओ जैनेन्द्र,'' वह बोले, ''क्या तब भी नौकरी न करता? अब यह है कि रोटी तो चल जाती है। प्रेस प्रवासीलाल चलाते हैं।'' और बोले कि प्रेस से एक मासिक पत्र निकालना तय किया है, 'हंस'। क्या राय है?

मैंने पूछा : ''क्यों तय किया है?''

''प्रेस का पेट भरना है कि नहीं! छपाई का काम काफी नहीं आता और फिर हमारा यह साहित्य का शगल भी चलता रहेगा।''

मैंने कहा : ''अच्छा तो है।''

बोले, ''हंस' को कहानियों का अखबार बनाने का इरादा है। उम्मीद तो है कि चल जाना चाहिए। ईश्वरीप्रसादजी को तो जानते ही होगे। नहीं? खैर, शाम को 'हंस' का कवर-डिजाइन लाएँगे। जिन्दादिल आदमी हैं, मिलकर खुश होंगे। कहानियों का एक अखबार हिन्दी में हो, इसका वक्त आ गया है। क्यों?''

'हंस' के सम्बन्ध में उनको मिथ्या आशाएँ न थीं, पर वह उत्साहशील थे। 'हंस' के समारम्भ को लेकर वह उस समय नवयुवक की ही भाँति अपने में वेग अनुभव करते थे।

पहली बार मैं वहाँ ज्यादा नहीं ठहर पाया। सवेरे गया, शाम चल दिया। लेकिन इसी बीच प्रेमचन्दजी की अपनी निजता और आत्मीयता पूरी तरह प्रस्फुटित

होकर मेरे भाग्य में आ गयी।

[पाँच]

खाना खा-पीकर बोले : ''जैनेन्द्र, चलो दफ्तर चलते हो?''

मैं चलने को उद्यत था ही। बाहर आकर जिस ढंग से उन्होंने इक्केवाले को पुकारा, उसको पटाया, इक्के में बैठते-बैठते उसके कुशल-क्षेम की भी कुछ खबर ले ली, जिस सहज भाव से उन्होंने उससे एक प्रकार की अपनी समकक्षता ही स्थापित कर ली—वह सब कहने की यह जगह शायद न हो, लेकिन मेरे मन पर वह बहुत सुन्दर रूप में अंकित है। इसलिए और भी कि तभी और उसी लखनऊ में एक मित्र के साथ का अनुभव था कि वह तो इक्के में बैठ न सकते थे, ताँगा करता तो उनका नौकर, और मजाल कि वह एक लफ्ज इस-उससे बोलना गवाँरा करें!

रास्ते में एकाएक बोले : ''कहो जैनेन्द्र, सामुद्रिक शास्त्र के बारे में तुम्हारी क्या राय है?''

मैंने पूछा : ''आप विश्वास करते हैं?''

बोले : ''क्या बताऊँ! लेकिन दफ्तरी एक दोस्त हैं, अच्छा हाथ देखना जानते हैं। भाई, उनकी बतायी कई बातें ऐसी सही बैठी हैं कि मैं नहीं कह सकता, यह सारा शास्त्र पाखण्ड है।''

मैंने कहा, ''तो आप विश्वास करते हैं! मैं तो कभी नहीं कर पाया।''

बोले : ''इतने लोग इतने काल से ईमानदारी के साथ इस ओर अनुसन्धान में लगे रहे हैं, उनके परिणामों की हम अवज्ञा कर सकते हैं?''

मुझे सुनकर विस्मय हुआ। मैंने कहा, ''तो विश्वास करना ही होगा, आप परमात्मा में जो विश्वास नहीं करते हैं।''

प्रेमचन्दजी गम्भीर हो गये। बोले : ''जैनेन्द्र, मैं कह चुका हूँ, मैं परमात्मा तक नहीं पहुँच सकता। मैं उतना विश्वास नहीं कर सकता। कैसे विश्वास करूँ जब देखता हूँ, बच्चा बिलख रहा है, रोगी तड़प रहा है? यहाँ भूख है, क्लेश है, ताप है, वह ताप इस दुनिया में कम नहीं है। तब उस दुनिया में मुझे ईश्वर का साम्राज्य नहीं दीखे, तो यह मेरा कसूर है? मुश्किल तो यह है कि ईश्वर को मानकर उसे दयालु भी मानना होगा। मुझे वह दयालुता नहीं दीखती। तब उस दयासागर में विश्वास कैसे हो? जैनेन्द्र, तुम विश्वास करते हो?''

मैंने कहा, ''उससे बचने का रास्ता मुझे कहीं नजर नहीं आता।''

प्रेमचन्दजी मौन हो गये। उनकी आँखों की पुतलियाँ स्थिर हो गयीं और कहीं दूर गड़ गयीं। मग्न मौन की वह गम्भीरता ऐसी थी कि हम सब उसमें

दब ही जाएँ।

ऑफिस पहुँचकर उन मित्र को मेरा हाथ दिखलाया गया। उन्होंने काफी युक्तिपूर्ण बातें कहीं। मेरे लिए दुष्कर था कि कह डालूँ कि जो कुछ बताया गया, वह गलत है। ऑफिस से लौटते वक्त प्रेमचन्दजी ने पूछा—"कहो जैनेन्द्र, अब क्या कहते हो?"

मैंने कहा : "सामुद्रिक शास्त्र पर मेरी आस्था की बात पूछते हैं? वह ज्यों-की-त्यों है, यानी दृढ़ नहीं हुई।"

यह बात सुनकर जैसे प्रेमचन्दजी को दुःख हुआ। दूसरों के अनुभव-ज्ञान की यह उन्हें अवज्ञा ही प्रतीत हुई। प्रेमचन्दजी के मन में यों मूलतत्व, अर्थात् ईश्वर के सम्बन्ध में चाहे अनास्था ही हो, लेकिन मानव-जाति द्वारा अर्जित वैज्ञानिक हेतुवाद पर और उसके परिणामों पर उनको पूरी आस्था थी। असम्मान उनके मन में नहीं था। वह कुछ भी हों, कट्टर नहीं थे। दूसरों के अनुभवों के प्रति उनमें ग्रहणशील वृत्ति थी। धर्म के प्रति उपेक्षा और सामुद्रिक शास्त्र में उनका यथाकिंचित् विश्वास—ये दोनों वृत्ति उनमें युगपत् देखकर मेरे मन में कभी-कभी कुतूहल और जिज्ञासा भी हुई है। लेकिन मैंने उनके जीवन में अन्त तक इन दोनों परस्पर विरोधात्मक तत्त्वों को निभते देखा है। वह अत्यन्त स-प्रश्न थे, किन्तु तभी अत्यन्त श्रद्धालु भी थे। कई छोटी-मोटी बातों को ज्यों-का-त्यों मानते और पालते थे, कई बड़ी-बड़ी बातों में साहसी सुधारक थे।

उसी शाम रुद्रनारायणजी भी आये थे। टॉल्स्टाय के लगभग सभी ग्रन्थ उन्होंने अनुवाद कर डाले थे। पर छापने को कोई प्रकाशक न मिलता था। इतनी लगन और मेहनत अकारथ जा रही थी। साधारण प्रकाशक तो इस काम को उठाता किस भरोसे पर, पर साधन-सम्पन्न बड़े प्रकाशक भी किनारा दे रहे थे। इस स्थिति पर प्रेमचन्द भी खिन्न थे। उनका मन वहाँ था जहाँ साहित्य की असल नब्ज है। बाजार की यथार्थताओं पर उनका मन मलिन हो आता था।

रात को चलने की बात आयी तब बोले, "तो आज ही तुम चल भी दोगे? मैं सोचे बैठा था, कुछ रोज ठहरोगे।"

उनके शब्दों में कोई स्पष्ट आग्रह नहीं था। आग्रह उनके स्वभाव में ही नहीं था। किसी के जाने-आने की सुविधा-व्यवस्था के बीच में वह कभी अपनी इच्छाओं को नहीं डालते थे। किसी के काम में अड़चन बनने से वह बचते थे। यहाँ तक कि लोगों से मिलते-जुलते असमंजस होता था कि कहीं मैं उनका हर्ज न कर रहा होऊँ। आज के कर्मव्यस्त युग में यह उनके स्वभाव की विशेषता बहुत ही मूल्यवान थी—चाहे साहित्य-रसिकों को यह थोड़ी-बहुत अखरे भी।

[छह]

फिन सन् '30 का राष्ट्रीय आन्दोलन आ गया जिसमें बहुत लोग जेल पहुँचे। इस बीच 'हंस' निकल गया ही था। प्रेमचन्दजी उसके तो सम्पादक ही थे, इधर-उधर भी लिखते थे, आन्दोलन में योग देते थे और 'गबन' उपन्यास तैयार कर रहे थे। यह भाग्य ही हुआ कि वह जेल नहीं गये। पर उनका जेल के बाहर रहना ज्यादा कठिन तपस्या थी। जेल में मैंने जो उनके पत्र पाये, उनमें मैंने जाना कि प्रेमचन्दजी में मैंने क्या निधि पायी है। आरम्भ में ही प्रेमचन्दजी ने सूचना दी : 'मेरी पत्नीजी भी पिकेटिंग के जुर्म में दो महीने की सजा पा गयी हैं। कल फैसला हुआ है। इधर पन्द्रह दिन से इसी में परेशान रहा। मैं जाने का इरादा ही कर रहा था पर उन्होंने खुद जाकर मेरा रास्ता बन्द कर दिया।'

उनके पत्रों में हिन्दी-साहित्य की विहंगम आलोचना रहा करती थी, कुछ अपने मन की, स्थिति की, सुख-दुःख की बातें रहा करती थीं। एक पत्र में लिखा :

'...गबन' अभी तैयार नहीं हुआ, अभी सौ पृष्ठ और होंगे। वह एक सामाजिक घटना है। मैं पुराना हो गया हूँ और पुरानी शैली को निभाये जाता हूँ। कथा को बीच से शुरू करना या इस प्रकार शुरू करना कि जिसमें ड्रामा का चमत्कार पैदा हो जाए, मेरे लिए मुश्किल है।'

मंगलाप्रसाद पारितोषिक पर लिखा : 'पुरस्कारों का विचार करना मैंने छोड़ दिया। अगर मिल जाये तो ले लूँगा, पर इस तरह जैसे पड़ा हुआ धन मिल जाए। (अमुक) को या (अमुक) पा जाएँ, मुझे समान हर्ष होगा।'

आगे लिखा : 'मैं तो कोई स्कूल नहीं मानता। आपने ही एक बार प्रसाद-स्कूल प्रेमचन्द-स्कूल की चर्चा की थी। शैली में जरूर कुछ अन्तर है; मगर वह अन्तर कहाँ है, यह मेरी समझ में कुछ नहीं आता।...प्रसादजी के यहाँ गम्भीरता और कवित्व अधिक है। रीअलिस्ट हममें से कोई भी नहीं है। हममें से कोई भी जीवन को उसके यथार्थ रूप में नहीं दिखाता, बल्कि उसके वांछित रूप में ही दिखाता है। मैं नग्न यथार्थवाद का प्रेमी भी नहीं हूँ।'

किसी को अपनाने का उनका तरीका अलग था। इस पत्र में मुझे अपनाया क्या, बनाया ही गया है। पर सम्पादकीय रवादारी देखते ही बनती है। मैं तो इस पर पानी-पानी होकर रह गया था। तिस पर यह कि पहली ही मुलाकात के बाद यह लिखा गया था :

प्रिय जैनेन्द्रजी !

में थर-थर काँप रहा हूँ कि आप 'हंस' में पुस्तकों की आलोचना न पावेंगे

तो क्या कहेंगे। मैंने आलोचना भेज दी थी। कह दिया था, इसे अवश्य छापना। पर मैनेजर ने पहले तो कई लेख इधर-उधर के छाप डाले और पीछे से स्थान की कमी पड़ गयी। मेरी एक कहानी जो राष्ट्रीय रंग में थी, रह गयी। आपकी कहानी भी रह गयी। अब वे सब फरवरी के अंक में जा रही हैं, क्षमा कीजिएगा।

'गबन' छप गया है। बाइडिंग होते ही पहुँचेगा। उस पर मैं आपकी दोस्ताना राय चाहूँगा।

भवदीय
धनपत राय

उनकी व्यावसायिक स्थिति और मानसिक चिन्ता का अन्दाज इस पत्र से कीजिए :

प्रिय जैनेन्द्र,

तुम्हारा पत्र कई दिन हुए, मिला। मैं आशा कर रहा था, देहली (घर) से आ रहा होगा, पर आया लाहौर (जेल) से! खैर, लाहौर (जेल) मुलतान (जेल) से कुछ कम दूर है। उससे कई दिन पहले मुलतान मैंने एक पत्र भेजा था। शायद वह लौटकर आ गया हो, तुम्हें मिल गया हो। अच्छा, मेरी गाथा सुनो। 'हंस' पर जमानत लगी। मैंने समझा था, आर्डिनेन्स के साथ जमानत भी समाप्त हो जाएगी। पर नया आर्डिनेन्स आ गया और उसी के साथ जमानत भी बहाल कर दी गयी। जून और जुलाई का अंक हमने छापना शुरू कर दिया है, पर मैनेजर साहब जब नया डिक्लेरेशन देने गये तो मजिस्ट्रेट ने पत्र जारी करने की आज्ञा न दी, जमानत माँगी। अब मैंने गवर्नमेण्ट को एक स्टेटमेण्ट लिखकर भेजा है। अगर जमानत उठ गयी तो पत्रिका तुरन्त ही निकल जाएगी। छप, कट, सिलकर तैयार रखी है। अगर आज्ञा न दी गयी तो समस्या टेढ़ी हो जाएगी। मेरे पास न रुपये हैं, न प्रॉमेसरी नोट, न सिक्योरिटी। किसी से कर्ज लेना नहीं चाहता। यह शुरू साल है, चार-पाँच सौ वी.पी. जाते, कुछ रुपए हाथ आते। लेकिन वह नहीं होना है।

इस बीच मैंने 'जागरण' को ले लिया है। जागरण के बारह अंक निकले लेकिन ग्राहक-संख्या दो सौ से आगे न बढ़ी। विज्ञापन तो व्यासजी ने बहुत किया, लेकिन किसी वजह से पत्र न चला। उन्हें उस पर लगभग पन्द्रह सौ का घाटा रहा। वह अब बन्द करने जा रहे थे। मुझसे बोले, यदि आप इसे निकालना चाहें तो निकालें। मैंने उसे ले लिया। साप्ताहिक रूप में निकालने का निश्चय कर लिया है। पहला अंक जन्माष्टमी से निकलेगा। तुम्हारा इरादा भी एक साप्ताहिक निकालने का था। यह तुम्हारे लिए ही सामान है! मैं जब तक इसे चलाता हूँ। फिर यह

तुम्हारी ही चीज है। धन का अभाव है, 'हंस' में कई हजार का घाटा उठा चुका हूँ। लेकिन साप्ताहिक के प्रलोभन को न रोक सका। कोशिश कर रहा हूँ कि सर्वसाधारण के अनुकूल पत्र हो। इसमें भी कई हजारों का घाटा ही होगा। पर करूँ क्या! यहाँ तो जीवन ही एक लम्बा घाटा है। यह कुछ चल जाएगा तो प्रेस के लिए काम की कमी की शिकायत न रहेगी। अभी तो मुझे ही पिसना पड़ेगा, लेकिन आमदनी होने पर एक सम्पादक रख लूँगा। अपना काम केवल एडिटोरियल लिखना होगा!

'कर्मभूमि' के तीस फॉर्म छप चुके हैं, अभी करीब छः फॉर्म बाकी हैं। अब उसे जल्द समाप्त करता हूँ। सबसे पहले तुम्हारे पास भेजी जाएगी और तुम्हारे ही ममताशून्य फैसले पर मेरी कामयाबी या नाकामी का निर्णय है।

...इधर पण्डित श्रीराम शर्मा का 'शिकार', स्वामी सत्यदेवजी की कहानियों का संग्रह, डॉ. रवीन्द्रनाथ की 'षोडशी' आदि पुस्तकें निकली हैं। बाबू वृन्दावनलालजी का 'कुण्डली-चक्र' बड़े शौक से पढ़ा। लेकिन पढ़कर मन उभरा नहीं। गर्मी नहीं मिली, न चुटकी, न खटक। शायद मुझमें भावनाशून्यता का दोष हो।

एक उलहने का पत्र देखिए :

प्रिय जैनेन्द्र,

आदाब अर्ज! भाई वाह! मानता हूँ। जून गया, जुलाई गया और अगस्त का मैटर भी जानेवाला है। जुलाई बीस तक निकल जाएगा। लेकिन हुजूर को याद ही नहीं। क्यों याद आए! बड़े आदमी होने में यही तो ऐब है। रुपए तो अभी कहीं मिले नहीं। लेकिन यश तो मिल ही गया है। और यश के धनी क्या कुछ (कम) मगरूर और भुलक्कड़ होते हैं?

अच्छा, दिल्लगी छोड़ो। यह बात क्या है? तुम क्यों मुझसे तने बैठे हो? न कहानी भेजते हो, न खत भेजते हो। कहानी न भेजो, खत तो भेजते रहो। मैं तो इधर बहुत परेशान रहा। याद नहीं आता, अपनी कथा कह चुका हूँ। बेटी के पुत्र हुआ और उसे प्रसूति-ज्वर ने पकड़ लिया। मरते-मरते बची। अभी तक अधमरी-सी है। बच्चा भी किसी तरह बच गया। आज बीस दिन हुए, यहाँ आ गयी है। उसकी माँ भी दो महीने उसके साथ रही। मैं अकेला रह गया था। बीमार पड़ा, दाँतों ने कष्ट दिया, महीनों उसमें लगे। दस्त आये और अभी तक कुछ-न-कुछ शिकायत बाकी है। दाँतों के दर्द से भी गला नहीं छूटा। बुढ़ापा स्वयं रोग है। और अब मुझे उसने स्वीकार करा दिया कि अब मैं उसके पंजे में आ

गया हूँ।

काम की कुछ न पूछो। बेहूदा काम कर रहा हूँ। कहानियाँ केवल दो लिखी हैं, उर्दू और हिन्दी में। हाँ, कुछ अनुवाद का काम किया है।

तुमने क्या कर डाला, अब यह बताओ। (वह प्रबन्ध) निभा जाता है या नहीं? कोई नयी चीज कब आ रही है? बच्चा कैसा है, भगवतीदेवी कैसी हैं, माताजी कैसी हैं? महात्माजी कैसे हैं? सारी दुनिया लिखने को पड़ी है, तुम खामोश हो!

'सरस्वती' में वह नोट तुमने देखा? आज...मालूम हुआ कि यह (अमुक) जी की दया है। ठीक है। मैं तो खैर बूढ़ा हो गया हूँ और जो कुछ लिख सकता था, लिख चुका, और मित्रों ने मुझे आसमान पर भी चढ़ा दिया। लेकिन तुम्हारे साथ यह क्या व्यवहार! भगवती प्रसाद वाजपेयी की कहानी बहुत सुन्दर थी। और इन (चतुरसेन) को हो क्या गया है...कि 'इस्लाम का विष-वृक्ष' लिख डाला। उसकी एक आलोचना तुम लिखो और वह पुस्तक मेरे पास भेजो। इस कम्युनल प्रॉपेगेण्डा का जोरों से मुकाबला करना होगा।...'

उनकी कैसी ही अवस्था हो, पर साहित्य में कदर्य और कदर्थ का विरोध करने में उन्हें हिचक न होती थी।

परिस्थितियों ने उन पर कभी रहम नहीं किया। प्रेमचन्दजी ने भी कभी उनसे रहम नहीं माँगा। वह जूझते ही रहे। सारी उम्र इसी में गुजारी, फिर भी नयी विपत्तियों का सामना करते उन्हें डर न होता था। वह बचते न थे, कर्तव्य से कतराते न थे। उन्हें पैसे का लोभ न था। हाँ, घाटे का डर तो था ही। आमदनी चाहे कौड़ी न हो, पर ऊपर से घाटे का भूत तो मुँह फाड़कर खाने न दौड़े। इतना ही चाहिए। पर इतना भी नहीं हुआ। इस घाटे ने उनकी कमर तोड़ दी। 'हंस' चलाया, 'जागरण' चलाया। दोनों में भावना सेवा की भी थी। मैं कह सकता हूँ कि उनमें व्यवसाय की भावना नहीं के बराबर थी। पर दोनों उनका मन और तन तो लेते ही रहे, तिस पर उनसे धन भी माँगते रहे। धन उनके पास देने और देते रहने को कहाँ था! आखिर सिनेमा की ओर से आये निमन्त्रण को उन्हें सुनना पड़ा। 20-4-34 को उन्होंने पत्र लिखा :

'प्रिय जैनेन्द्र,

तुम्हारा पत्र ऐन इन्तजार की हालत में मिला। तुमसे सलाह करने की खास जरूरत आ पड़ी है। अभी न बताऊँगा, जब आओगे, तभी उस विषय में बातें होंगी। मगर तुम्हें क्या सस्पेंस की हालत में रखूँ! बम्बई की एक फिल्म-कम्पनी

मुझे बुला रही है। वेतन की बात नहीं, कण्ट्राक्ट की बात है—8,000/- साल। मैं उस अवस्था को पहुँच गया हूँ जब मेरे लिए इसके सिवा कोई उपाय नहीं रह गया है कि या तो वहाँ चला जाऊँ या अपने उपन्यास को बाजार में बेचूँ। मैं इस विषय में तुम्हारी राय जरूरी समझता हूँ। कम्पनीवाले हाजिरी की कोई कैद नहीं रखते। मैं जो चाहे लिखूँ, जहाँ चाहे लिखूँ, उनके लिए चार-पाँच सिनेरियो तैयार कर दूँ। मैं सोचता हूँ कि मैं एक साल के लिए चला जाऊँ। वहाँ साल-भर रहने के बाद कुछ ऐसा कण्ट्राक्ट कर लूँगा कि मैं यहीं बैठे-बैठे तीन-चार कहानियाँ लिख दिया करूँ और चार-पाँच हजार रुपए मिल जाया करें। उससे 'जागरण-हंस' दोनों मजे में चलेंगे और पैसों का संकट कट जाएगा। फिर हमारी दोनों की चीजें धड़ल्ले से निकलेंगी। लेकिन तुम यहाँ आ जाओ तब कतई राय होगी। अभी तो मन दौड़ा रहा हूँ।...'

इसके कुछ ही दिन बाद दूसरा पत्र मिला : 'भले आदमी, मकान छोड़ा था तो डाकिए से इतना तो कह दिया होता कि मेरी चिट्ठियाँ फलाँ पते पर भेज देना। बस, बोरिया-बकसा सँभाला और चल खड़े हुए। मैंने तुम्हारे जवाब में एक बड़ा-सा डिटेल्ड खत लिखा था। वह शायद मुर्दा चिट्ठियों के दफ्तर में पड़ा होगा।...(मैंने शायद तुम्हें लिखा है, कि) मुझे बम्बई कम्पनी बुला रही है। क्या सलाह है? मुझे तो कोई हरज नहीं मालूम होता अगर वेतन सात-आठ सौ मिले। साल-दो साल करके चला आऊँगा। मगर मैंने अभी जवाब नहीं दिया है। उनके दो तार आ चुके हैं। प्रसादजी की सलाह है, 'आप बम्बई न जाएँ।' तुम्हारी भी अगर यही राय है तो मैं न जाऊँगा। जौहरीजी कहते हैं, जरूर जाइए। और चिरसंगिनी दरिद्रता भी कहती है कि जरूर चलो। जीवन का यह भी अनुभव है।'

आखिर फिल्मी लाइन में गये ही। लेकिन अनुभव ने बताया कि वहाँ के योग्य वह न थे। फिल्म और प्रेमचन्द, दोनों में पटना सम्भव न हुआ। वहाँ से उन्होंने लिखा :

'मैं जिन इरादों से आया था, उनमें एक भी पूरा होता नजर नहीं आता। ये प्रोड्यूसर जिस ढंग की कहानियाँ बनाते आये हैं, उस लीक से जौ-भर नहीं हट सकते। Vulgarity को ये Entertainment Value कहते हैं। अद्भुत में ही इनका विश्वास है। राजा-रानी, उनके मन्त्रियों के षड्यन्त्र, नकली लड़ाई, बोसेबाजी—ये ही उनके मुख्य साधन हैं। मैंने सामाजिक कहानियाँ लिखी हैं जिन्हें शिक्षित समाज भी देखना चाहे। लेकिन फिल्म करते इन लोगों को सन्देह होता है कि चलें या न चलें। यह साल तो पूरा करना है ही। कर्जदार हो गया था, कर्ज पटा दूँगा, मगर और कोई लाभ नहीं। उपन्यास (गोदान) के अन्तिम पृष्ठ लिखने बाकी

हैं। उधर मन ही नहीं जाता। (जी चाहता है) यहाँ से छुट्टी पाकर अपने पुराने अड्डे पर जा बैठूँ। वहाँ धन नहीं है, मगर सन्तोष अवश्य है। यहाँ तो जान पड़ता है, जीवन नष्ट कर रहा हूँ।'

उनका एक फिल्म निकला था, 'मजदूर'। उसका जिक्र करते हुए एक पत्र में लिखा :

'मजदूर' तुम्हें पसन्द न आया। यह मैं जानता था। मैं इसे अपना कह भी सकता हूँ, नहीं भी कह सकता। इसके बाद ही एक रोमांस जा रहा है। वह भी मेरा नहीं है। मैं उसमें बहुत थोड़ा-सा हूँ। 'मजदूर' में भी इतना जरा-सा आया हूँ कि नहीं के बराबर। फिल्म में डायरेक्टर सब-कुछ हैं। लेखक कलम का बादशाह ही क्यों न हो, यहाँ डायरेक्टर की अमलदारी है। और उसके राज्य में उसकी हुकूमत ही चल सकती। हुकूमत माने तभी वह रह सकता है। वह यह कहने का साहस नहीं रखता, 'मैं जनरुचि को जानता हूँ, आप नहीं जानते।' इसके विरुद्ध डायरेक्टर जोर से कहता है, 'मैं जानता हूँ, जनता क्या चाहती है। और हम यहाँ जनता की इसलाह करने नहीं आये हैं। हमने व्यवसाय खोला है, धन कमाना हमारी गरज है। जो चीज जनता माँगेगी, वह हम देंगे।' इसका जवाब यही है—'अच्छा साहब, हमारा सलाम लीजिए। हम घर जाते हैं।' वही मैं कर रहा हूँ। मई के अन्त में काशी में बन्दा उपन्यास लिख रहा होगा। और कुछ मुझमें नयी कला न सीख सकने की भी सिफत है। फिल्म में मेरे मन को सन्तोष नहीं मिला। सन्तोष डायरेक्टरों को नहीं मिलता, लेकिन वे और कुछ नहीं कर सकते, झख मारकर पड़े हुए हैं। मैं और कुछ कर सकता हूँ, चाहे वह बेगार ही क्यों न हो। इसलिए चला जा रहा हूँ। मैं जो प्लान सोचता हूँ, उसमें आदर्शवाद घुस आता है और कहा जाता है, उसमें Entertainment Value नहीं होता। इसे मैं स्वीकार करता हूँ। मुझे आदमी ऐसे मिले जो न हिन्दी जानें, न उर्दू। अँग्रेजी में अनुवाद करके उन्हें कथा का मर्म समझाना पड़ता है और काम कुछ नहीं बनता। मेरे लिए अपनी वही पुरानी लाइन मजे की है। जो चाहा, लिखा।'

'...मेरा जीवन यहाँ भी वैसा ही है जैसा काशी में था। न किसी से दोस्ती, न किसी से मुलाकात। मुल्ला की दौड़ मस्जिद। स्टूडियो गये, घर आये। हिन्दी के दो-चार प्रेमी कभी-कभी आ जाते हैं; बस!...'

इस भाँति फिल्म-लाइन से किनारा लेकर उन्हें लौट आना पड़ा। इसके बाद कुछ बहुत ज्यादा दिन उन्हें इस दुनिया में रहने के लिए नहीं मिले।

[सात]

मुझे याद है, मुल्तान-जेल में उनका एक पत्र मिला था। लिखा था : 'कभी-कभी

यहाँ बहुत सूना मालूम होता है, जैनेन्द्र। जी होता है, तुम कुछ लोगों से गले मिल लूँ और फिर जिन्दगी से रुखसत हो जाऊँ। तुम बाहर कब आओगे? तुम इतनी दूर खड़े हो कि मैं तड़फड़ाकर रह जाता हूँ...'

इस पत्र को पढ़कर मुझे सुख नहीं हुआ था। मालूम हुआ था, जैसे जीवन में रसानुभूति उन्हें स्वल्प रह गयी है। धन की, प्रतिष्ठा की, पद-मर्यादा की उन्हें लालसा नहीं थी; फिर भी साहित्यिक दिशा में उनकी आकांक्षाएँ उड़ती ही थीं। साहित्य को लेकर, लोक-संग्रहात्मक कार्यों और योजनाओं की ओर रह-रहकर उनकी रुचि जाती थी। पर व्यवहार-क्षमता का उनमें अभाव था और वातावरण इतना जाग्रत् न था कि उनका आवाहन करे, उनका उपयोग ले लें। अत: इच्छाएँ उनमें उठतीं और वे फलवती न हो पातीं। परिणामत: एक व्यर्थता, निष्फलता, पराजय का भाव उनमें घर करता जाता था।

यह अनुभव करके उनको साहित्य के सार्वजनिक कार्यों की ओर खींचकर लाने की कुछ विधि की गयी, पर वह प्रयोग भी विशेष सफल नहीं हुआ। इधर शरीर में रोग घर कर चला था। जीवन के इस ह्रास ने उसमें योग दिया। वह धीमे-धीमे जीवन के उस किनारे जा लगने लगे। न कह सकूँगा कि मन की साध उनमें बुझ गयी थी। बुझी न थी, पर उस पर अविश्वास की, जैसे एक पराभव के भाव की राख छा गयी थी। जिन्दगी के हाथों कम थपेड़े उन्होंने नहीं खाये थे। वे सब उनके चेहरे पर, उनकी देह पर लिखे थे। वे चोटें जिस हद तक हो सकीं, प्रेमचन्द के मानस में से शुद्ध (सब्लिमेट) होकर साहित्य के रूप में प्रस्फुट हुई थीं, पर तलछट में अब भी अवशेष बचा ही था। उसी ने उनके मन को किसी कदर खट्टा बना दिया था। अन्त समय में भी वह खटास पूरी तरह उनको नहीं छोड़ सका।

किन्तु इस सम्बन्ध की चर्चा इस स्थल पर विशेष न हो सकेगी। यहाँ मैं उनके एक पत्र का उल्लेख करने का लोभ सँवरण नहीं कर सकता जो उनके मन के उद्विग्न स्नेह को फुहार की भाँति ऊपर खिला देता है। यह माताजी के देहान्त पर उन्होंने मुझे लिखा था। माताजी की मृत्यु पर तो शायद मैं नहीं भी रोया, पर इस पत्र पर आँखें भीग ही आयीं :

'प्रिय जैनेन्द्र,

कल तुम्हारा पत्र मिला! मुझे यह शंका पहले ही थी। इस मर्ज में शायद ही कोई बचता है। पहले ऐसी इच्छा उठी कि दिल्ली आऊँ। लेकिन मेरे दामाद तीन दिन से आये हुए हैं और शायद बेटी जा रही है। फिर यह भी सोचा कि तुम्हें समझाने की तो कोई बात है नहीं। यह तो एक दिन होना ही था। हाँ, जब यह सोचता हूँ कि वह तुम्हारे लिए क्या थीं, और तुम उनके काल में आज भी

लड़के-से बने फिरते थे, तब जी चाहता है, तुम्हारे गले मिलकर रोऊँ। उनका वह स्नेह, वह तुम्हारे लिए जो-कुछ थीं वह तो थी हीं, मगर उनके लिए तो तुम प्राण थे, आँख थे, सब-कुछ थे। बिरले ही भागवानों को ऐसी माताएँ मिलती हैं। मैं देख रहा हूँ, तुम दुःखी हो, तुम्हारा मुँह सूखा हुआ है, संसार सूना-सूना-सा लग रहा है और चाहता हूँ, यह दुःख आधा-आधा बाँट लूँ, अगर तुम दो। मगर तुम दोगे नहीं। उस देवी का इतना ही तो तुम्हारे पास है, मुझे देकर कहाँ जाओगे? इसे तो तुम सारे-का-सारा अपने सबसे निकट के स्थान में सुरक्षित रखोगे।

काम से छुट्टी पाते ही अगर आ सको तो जरूर आ जाओ। मिले बहुत दिन हो गये। मन तो मेरा ही आने को चाहता है, लेकिन मैं आया तो तीसरे दिन रस्सी तुड़ाकर भागूँगा। तुम—मगर अब तो तुम भी मेरे-जैसे हो, भाई। अब वे बेफिक्री के मजे कहाँ!

और सच पूछो तो मेरी ईर्ष्या ने तुम्हें अनाथ कर दिया। क्यों न ईर्ष्या करता! मैं सात वर्ष का था तब माताजी चली गयीं। तुम सत्ताईस वर्ष के होकर मातावाले बने रहो, यह मुझसे कब देखा जाता! अब जैसे हम, वैसे तुम। बल्कि मैं तुमसे अच्छा। मुझे माता की सूरत भी याद नहीं आती। तुम्हारी माता तुम्हारे सामने हैं और बोलती नहीं, मिलती नहीं!

और तो सब ठीक है। चतुर्वेदीजी ने कलकत्ते बुलाया था कि जापानी कवि नोगुची का भाषण सुन जाओ। यहाँ नोगुची हिन्दू यूनिवर्सिटी आये, उनका व्याख्यान भी हो गया। मगर मैं न जा सका। अक्ल की बातें सुनते और पढ़ते उम्र बीत गयी। ईश्वर पर विश्वास नहीं आता, कैसे श्रद्धा होती है। तुम आस्तिकता की ओर जा रहे हो। जा नहीं रहे, पक्के भगत बन रहे हो। मैं सन्देह से पक्का नास्तिक होता जा रहा हूँ।

बेचारी भगवती अकेली हो गयी।

'सुनीता' जाने कहाँ रास्ते में रह गयी। यहाँ कहीं बाजार में भी नहीं। चित्रपट के पुराने अंक उठाकर पढ़े, पर मुश्किल से तीन अध्याय मिले। तुमने बड़ा जबर्दस्त आइडियल रख दिया—महात्माजी के एक साल में स्वराज्य पानेवाले आन्दोलन की तरह। मगर तलवार पर पाँव रखना है।

तुम्हारा
धनपतराय

(इस पत्र के अन्तिम पैरे के कारण यह कह देना आवश्यक है कि 'सुनीता' पूरी पढ़ने पर प्रेमचन्दजी उससे सहमत न हो सके थे।)

[आठ]

प्रेमचन्दजी के स्वभाव में बहिर्मुखता जरूरत से कम थी। उनके जीवन का सार्वजनिक पक्ष इसलिए अन्त समय तक कुछ अक्षम ही बना रहा। अन्तर्मुखता भी धार्मिक प्रकार की न थी; उसके प्रकार को कुछ बौद्धिक कहना होगा। वह शंका से आरम्भ करते थे और इस भाँति एक समस्या खड़ी करके उसका समाधान पाने आगे बढ़ते थे। फिर भी लोक-जीवन में जिन मूलभूत नैतिक धारणाओं की स्वीकृति उन्होंने देखी, उन धारणाओं पर प्रेमचन्दजी अडिग विश्वास से डटे रहे।

बातचीत में उनके साथ अत्यन्त घनिष्ठ बातों का प्रसंग भी अकसर आ गया है। पारिवारिक अथवा व्यक्तिगत वृत्तों को ऐसे समय उन्होंने निश्छल विश्वास के साथ खोलकर कह दिया है। उस सबके आधार पर मैं कह सकता हूँ कि उनका जीवन लगभग एक आदर्श सदाशय का जीवन था। बुद्धि द्वारा उन्होंने स्वतन्त्र और निर्बाध चिन्तन के जीवन-व्यवसाय को अपनाया सही, पर कर्म में वह अत्यन्त मर्यादाशील रहे। आर्टिस्ट के संकुचित पच्छिमी अर्थों में उन्होंने आर्टिस्ट बनने की स्पर्द्धा नहीं की। यही मर्यादाशील प्रामाणिकता उनके साहित्य की धुरी है। उनके साहित्य में जीवन की आलोचना तीव्र है, चहुँमुखी है। किन्तु एक सर्वसम्मत आधारशिला है जिसको उन्होंने मजबूती से पकड़े रखा और जिस पर एक भी चोट उन्होंने नहीं लगने दी।

जीवन को, विशेषकर लोक-जीवन की समस्याओं को, सर्वथा बौद्धिक और नैतिक-मानसिक रूप देने का परिणाम ही यह हुआ कि जब कि वह जीवन के सफल चित्रकार, भाष्यकार, व्याख्याकार हो सके तब उस जीवन को आन्दोलित करके उसमें नवचेतन और निर्माण-प्रेरणा डालने में उतने सफल नहीं हो सके। वह जननायक, लोकसंयोजक नहीं हो सके। बात यह है कि उनके साहित्य में लोक-पक्ष की जितनी प्रधानता मालूम होती है, ठीक उतनी ही गौणता उस पक्ष को उनके जीवन में प्राप्त थी। वह अन्त तक अपने-आपमें एक संस्था नहीं बने, उन्होंने कोई संस्था नहीं बनायी। उनके उपन्यासों में ('गोदान' को छोड़कर लगभग सबमें) संस्थाएँ बनी हैं और उन संस्थाओं द्वारा लोक-जीवन के प्रश्नों का, उनके सुधार का, समाधान दिया गया है। पर प्रेमचन्दजी के जीवन के प्रकाश्य पक्ष में उसका अभाव नजर आता है।

आगामी साहित्य-समीक्षक और इतिहास-विवेचक को भीतरी कारण के प्रकाश में इस गाँठ को समझना और खोलना होगा।

वह भीड़ से बचते थे। भीड़ को दिशा देने की उनमें क्षमता न थी। बात यह थी कि भीड़ में पड़कर वह उस भीड़ को समझते रह जाते थे। वह भीड़ के नहीं थे। सभा-सम्मेलनों में वह मुश्किल से ही जाते थे। सभा और सम्मेलन

उनको पाकर भी विशेष लाभान्वित होते थे, यह नहीं कहा जा सकता। उनकी उपस्थिति अवश्य किसी भी सभा और किसी भी सम्मेलन के लिए गौरव का विषय थी; पर ऐसा लगता था कि प्रेमचन्दजी उस सभा में भाग क्या ले रहे हैं, मानो उस सभा का तमाशा देख रहे हैं।

दिल्ली में प्रान्तीय साहित्य-सम्मेलन किया और सभापति बनाया प्रेमचन्दजी को, पर वह आने को ही राजी न हों। चिट्ठी-पर-चिट्ठी दी, तार दिये। आखिर माने ही तो तार में लिखा—Well, I accept with protest.

सार्वजनिक सभाओं के प्रति जब यह रुख था, तब दूसरी ओर उलटा ही हाल था। इससे कुछ ज्यादा रोज पहले की बात न थी। एक सवेरे गली में दीखता क्या है कि कन्धे पर कम्बल डाले, खरामा-खरामा चले आ रहे हैं प्रेमचन्दजी। महात्मा भगवानदीनजी और पण्डित सुन्दरलालजी भी तब घर पर थे। सुन्दरलालजी चबूतरे पर से दातुन करते-करते बोले : ''देखना, जैनेन्द्र, यह प्रेमचन्दजी तो नहीं आ रहे हैं।''

मैंने कहा : ''वही तो हैं!''

प्रेमचन्दजी के पास आने पर मैंने अचरज से पूछा : ''यह क्या किस्सा है! न तार, न चिट्ठी, और आप करिश्मे की भाँति आविर्भूत हो पड़े!''

बोले : ''तार की क्या जरूरत थी, बारह आने पैसे कोई फालतू हैं! और देखो, तुम्हारे मकान का पता लग गया कि नहीं!''

बात यह थी कि मैंने एक कार्ड में लिखा था कि क्या आप आ सकेंगे? आएँ तो अच्छा रहे। सो प्रेमचन्दजी ने सुनाया कि—''भई! तुम्हारी चिट्ठी प्रेस पहुँचने पर कोई दो बजे मिली। टाइमटेबल देखा, ट्रेन पाँच बजे जाती थी। इससे पहले और कोई गाड़ी थी नहीं। उसी से चला आ रहा हूँ।''

मैंने कहा : ''यह क्या गजब करते हैं! पहले से कुछ खबर तो दी होती। इस तरह से तो आपको बड़ी दिक्कत हुई होगी। गनीमत मानिए कि दिल्ली, बम्बई नहीं है। और ऐसे क्या आप दिल्ली से बेहद वाकिफ हैं?''

बोले : ''नहीं जी, सोचा, तुम्हारा मकान मिल ही जाएगा, सो बारह आने बचाओ क्यों ना! और मकान मिल गया कि नहीं! और दिल्ली—जिन्दगी में पहली मर्तबा आया हूँ।''

जिन्दगी में पहली बार! मैंने अविश्वास के भाव से कहा—''आप कहते क्या हैं! तिस पर आप हैं सम्राट!''

प्रेमचन्दजी कहकहा लगा उठे। यह बात सच थी। नौकरी के सिलसिले में वह अपने इर्द-गिर्द के जिलों में ही घूमे थे। दूर जाने का न कुछ काम पड़ा, न कुछ पड़ने दिया। सैर की धुन उनमें कभी थी नहीं। अपने सामने के ही कर्तव्य

को वह महत्त्व देते रहे थे और उसी के पालन में अपनी सिद्धि मानते थे। यह बात मेरे लिए अभूतपूर्व और अत्यन्त आश्चर्यकारक थी। इक्यावन-बावन वर्ष की अवस्था में प्रेमचन्दजी-जैसा सर्वविश्रुत व्यक्ति दिल्ली में आकर यह कहे कि वह पहली बार यहाँ आया है—यह अनहोनी बात नहीं तो और क्या है!

तब चार-पाँच रोज प्रेमचन्दजी यहाँ रहे। उन दिनों लिखना-लिखाना तो होना क्या था! पण्डित सुन्दरलालजी थे, महात्मा भगवानदीनजी थे। प्रेमचन्दजी को चाहनेवाले और माँगनेवाले उर्दू-हिन्दी के और लोगों की कमी न थी। चर्चाओं में और पार्टियों में वे दिन ऐसे बीते कि पता भी न लगा। उन्हीं दिनों की और यहाँ की ही तो बात है कि वह पंजाबी सज्जन मिले जिन्होंने प्रेमचन्दजी को पाकर पकड़ ही तो लिया। उनकी कहानी दिलचस्प है और शिक्षाप्रद है।

स्थानीय हिन्दी-सभा की ओर से प्रेमचन्दजी के सम्मान में सभा की जा रही थी। उन्हें अभिनन्दनपत्र भेंट होनेवाला था। उस वक्त एक पंजाबी सज्जन बड़े परेशान मालूम होते थे। वह कभी सभा के मन्त्री के पास जाते थे, कभी इधर-उधर जाते थे। प्रेमचन्दजी के पास जाने की शायद हिम्मत न होती थी। प्रेमचन्दजी को उसी रात दिल्ली से जाना था। सभा का काम जल्दी हो जाना चाहिए और वह जल्दी किया जा रहा था। प्रेमचन्दजी ने अपना वक्तव्य कहने में शायद दो मिनट लगाए। सभा की कार्रवाई समाप्तप्राय थी। तभी वह पंजाबी सज्जन उठे और सभा के सामने हाथ जोड़कर बोले : ''मैं प्रेमचन्दजी को आज रात किसी हालत में नहीं जाने दूँगा। उनके साथ इस सारी सभा को मैं कल अपने यहाँ आमन्त्रित करना चाहता हूँ।''

लोगों को बड़ा विचित्र मालूम हुआ। तैयारी सब हो चुकी थी और प्रेमचन्दजी का इरादा निश्चित था। लेकिन वह सज्जन अपनी प्रार्थना से बाज न आये। वह बार-बार हाथ जोड़ते थे और अपनी बात सुनाना चाहते थे। किन्तु सभा के लोग इस विघ्न पर कुछ अधीर थे और उन सज्जन के साथ शायद ही किसी को सहानुभूति थी। प्रेमचन्दजी इस भावुकता के प्रदर्शन से बहुत प्रभावित नहीं थे।

किन्तु उन सज्जन को कोई चीज न रोक सकी। उन्होंने हाथ जोड़कर कहा, ''मेरी अरदास आप लोग सुन लीजे, फिर जो चाहे आप कीजिएगा। जब से अखबार में प्रेमचन्दजी के यहाँ आने की खबर पढ़ी तभी से उनके ठहरने की जगह पाने की कोशिश करता रहा हूँ। वह जगह नहीं मिली। अब इस सभा में मैं उनको पा सका हूँ। मैं उनकी तलाश करता हुआ दर्शनों की इच्छा से लखनऊ दो बार गया। एक बार बनारस भी गया। तीनों बार वह न मिल सके। कई बरस पहले की बात है। मैं कमाने के खयाल से पूरब की तरफ गया था, पर भाग्य की बात कि मेरे पास जो था सब खत्म हो गया। मैं घूमता-घामता स्टेशन पर आया। मुझे

कुछ सूझता न था, आगे क्या होगा। सब अँधेरा मालूम होता था। जेब में दो रुपये और कुछ पैसे बचे थे। प्रेमचन्दजी के अफसानों को मैं शौक से पढ़ा करता था। यूँ ही टहलता हुआ व्हीलर की दुकान पर एक रिसाले के स्पेशल नम्बर के सफे लोटने-पलटने लगा। उसमें प्रेमचन्दजी का एक अफसाना नजर आया। मैंने रुपया फेंक रिसाला खरीद लिया और प्रेमचन्दजी की उस 'मन्त्र' कहानी को पढ़ गया। पढ़कर मेरे दिल की पस्ती जाती रही। हौसला खुल गया। मैं लौटकर आया और हार न मानने का इरादा कर लिया। तब से मेरी तरक्की ही होती गयी है और आज यहाँ आपकी खिदमत में हूँ। तभी से मैं उस 'मन्त्र' कहानी के मन्त्रदाता प्रेमचन्द की तलाश में हूँ। अब यहाँ पा गया हूँ तो किसी तरह छोड़ नहीं सकता। मेरी बीवी बीमार हैं, वह उठ-बैठ नहीं सकतीं, चल-फिर नहीं सकतीं, वह कब से प्रेमचन्दजी के दर्शन की आस बाँध बैठी हैं। और फिर हाथ जोड़कर उन्होंने कहा : अब फैसला आप सब साहबान के हाथ है।"

प्रेमचन्दजी की वृत्ति रुकने की नहीं थी, लेकिन उनको रुकना पड़ा। यह घटना मेरे लिए तो आँख खोल देनेवाली ही थी। यह और इस तरह की और-और बातों से प्रेमचन्दजी के दिल्ली प्रवास के दिन सहज में बीत गये। प्रेमचन्दजी प्रसन्न मालूम होते थे। लेकिन एक बात जानकर मैं साश्चर्य असमंजस में पड़ गया। बातों-बातों में प्रकट हुआ कि इधर के बीस-तीस वर्ष में यह पहले सात दिन गये हैं जब उन्होंने कुछ काम नहीं किया।

मैंने अत्यन्त विस्मयापन्न भाव से पूछा : "आप हर रोज बिला नागा काम करते हैं?"

बोले : "हाँ, सवेरे के कुछ घण्टों में तो करता ही हूँ।"

तब मैं जान सका कि किस अक्षुण्ण साधना के बल पर यह व्यक्ति दुनिया के राग-रंगों के प्रति अलिप्त और उदासीन रह सका था; और कि किस भाँति उसकी कीर्ति उसकी कठोर तपस्या के मोल उसको मिली थी। उस समय मुझे सन्देह हो आया कि पार्टियों और दावतों का यह समारोह भी कहीं भीतर-भीतर उसकी आत्मग्लानि का कारण तो नहीं हो रहा है। जो औरों के लिए सम्मान था, वह बड़ी आसानी से इस व्यक्ति के लिए बोझ भी हो सकता था। तब उनकी ऊपरी प्रसन्नता देखकर मेरा मन तनिक भी आश्वस्त नहीं हुआ कि पार्टियों और सम्मान-भोजों के आधिक्य से सचमुच ही प्रेमचन्द के मन को पीड़ा नहीं हो रही है!

यहाँ एक पार्टी में हसन निजामी साहब ने प्रेमचन्दजी का अभिनन्दन करते हुए कहा था कि 'शायद ही कोई प्रेमचन्दजी का अफसाना या मजबून होगा जो उर्दू में निकला हो और मैंने न पढ़ा हो। मैं ढूँढ़-ढूँढ़कर उनकी चीज पढ़ता हूँ।

हालात में उतार-चढ़ाव होते रहते हैं। दौर रंग बदलता है। जमाना था कि लोगों की तबीयतें बदली हुई थीं। सब पर फिरकेवाराना रंग सवार था। कौन था जो न बहका हो। पर प्रेमचन्द तब साबित-कदम रहे। उनकी निगाह वैसी ही सही और साफ रही। वह किसी झोंके से नहीं डिगे...।'

हसन निजामी साहब की तरफ से आकर ये शब्द और भी मानी रखते हैं और इन शब्दों से प्रेमचन्दजी की अलक्ष्य और मूक-सेवा का मुझे और भी सही अनुमान हुआ और मेरी श्रद्धा बढ़ गयी।

लेकिन यह बात सच है कि बड़े शब्दों से कहीं अधिक उन्हें छोटी सच्चाई छूती थी। जहाँ जिन्दगी थी वहाँ प्रेमचन्दजी की निगाह थी। जहाँ दिखावा था, उसके लिए प्रेमचन्द के मन में उत्सुकता तक न थी। कुतुबमीनार, नयी सेक्रेटरियट बिल्डिंग्ज, कौंसिल-चेम्बर्स, यह अथवा वह महापुरुष, इसको देखने-जानने की लालसा उनकी वृत्ति में न थी। यों हम-तुम, हमाँ-शमाँ से वह बेरोक मिलने को उद्यत रहते थे।

पहली बात उनमें त्रुटि तक पहुँच गयी थी। जब शान्तिनिकेतन जाने की बात आयी तो उनका मन उसे पूरी तरह ग्रहण न कर सका। मैंने कहा : "चलना चाहिए।"

बोले : "मैं तो वहाँ उस स्वर्ग की सैर करूँ : यहाँ घर के लोग तकलीफ में दिन काटें, क्या यह मेरे लिए ठीक है? और सबको ले चलूँ, इतना पैसा कहाँ है? और जैनेन्द्र, महाकवि रवीन्द्रनाथ तो अपनी रचनाओं द्वारा यहाँ भी हमें प्राप्त हैं। क्या वहाँ मैं उन्हें अधिक पाऊँगा?"

मैंने फिर भी कहा : "शान्तिनिकेतन को अधिकार हो सकता है कि वह आपको चाहे। आपने कर्म ऐसे किये हैं कि आप मशहूर हों। तब आप कर्मफल से बच नहीं सकते। चलिए न!"

बोले : "हाँ, जैनेन्द्र, यह सब ठीक है। लेकिन मैं अपने यहीं पड़ा हूँ, तुम जाओ।"

मैंने कहा : "हाँ, मैं तो जाऊँगा।"

बोले : "जरूर-जरूर जाओ। मैं तो खुद कहनेवाला था कि तुम्हें जाना चाहिए। जैनेन्द्र, जवान और बूढ़े में यही तो फर्क है!"

इधर जीवन के अन्तिम पर्व की ओर उन्हें थोड़ा-बहुत साहित्यिक उद्देश्य के नाते से सभा-समाजों में जाने को उकसाया जा सका था। यहाँ दिल्ली साहित्य-सम्मेलन के जलसे में वह आ गये थे। आ तो गये थे लेकिन अपने को पूरी तरह निरुपयोगी भी अनुभव कर रहे थे। बोले : "जैनेन्द्र, सम्मेलन के जलसे में मैं आ गया। अब बताओ, क्या करूँ?" मैं उनको क्या कहता, चुप रह जाता था।

क्या उनको मैं बताता कि उनका स्थान क्या है और कहाँ है, और लोगों की क्या-क्या आशाएँ उनके साथ बँधी हैं? लेकिन सच यह है कि ऐसे मौकों पर अपनी उपस्थिति वह अयाचित अनुभव करते थे। जब लोग शब्दों को लेकर या पदों को लेकर आपस में बहस-तहस और छीन-झपट करते थे तब उनका कहीं थोड़ी ठण्डी हवा खाने का जी होता था। कहा करते थे कि इनको भी इस समय थोड़ी ठण्डी हवा खा लेना चाहिए।

साहित्य के भविष्य के बारे में बातें हुआ करती थीं। सोचा, कुछ बौद्धिक आदान-प्रदान का, परस्पर के सहयोग-क्षेत्र का विस्तार होना चाहिए। प्रान्तीय मर्यादाएँ ऐक्य-विकास पर बन्धन न होनी चाहिए। राष्ट्र एक है, उस ऐक्य को गहराई में अनुभूत करना होगा। इस ओर जो प्रयत्न हुए (यथा, भारतीय साहित्य-परिषद्) उनके समारम्भ में प्रेमचन्दजी ने उत्साहपूर्वक भाग लिया। पर उसमें भी उन्हें रस कम हो गया। वह अपने सहयोगियों से आशाएँ ऊँची रखते थे। वह मानव-प्रकृति का मूल्य यथार्थ से कुछ अधिक ऊँचा आँकते थे। परिणामतः जब-जब वह समाज में आये, तभी तब विरक्ति की भावना लेकर उन्हें फिर अपने में ही लौट जाना पड़ा।

[नौ]

साधारणतया कोमलता की धारा उनमें अन्तःसलिला सरस्वती के समान अप्रकाश्य ही बहती थी। वह रचनाओं में जिस स्पष्टता से दीखती थी, व्यवहार में उतनी ही अगोचर हो जाती थी। फिर भी हठात् वह फूटकर ऐसे प्रकट हो उठी है कि प्रेमचन्दजी को भी चकित रह जाना पड़ा है।

एक बार की बात है। दिन अधिक नहीं हुए। सन् '34 का साल होगा। बनारस में बेनिया पार्कवाले मकान में रहते थे। सवेरे का वक्त था। जाड़े ढल रहे थे। नीचे के कमरे में धूप की किरणें तिरछी पड़ रही थीं। मैं जल्दी निवृत्त हो चुका था और उनकी एक पाण्डुलिपि देख रहा था। इतने ही में प्रेमचन्दजी ऊपर से आए। पूछा : "तुम नहा चुके?"

मैंने कहा : "नहा चुका।"

"मुझे आज देर हो गयी," कहते-कहते वह नीचे फर्श पर बैठ गये।

शाम को, रात को, चर्चा चलती रही थी कि सत्य का स्वरूप कहाँ तक स्थिर मानना होगा और कहाँ तक निरन्तर परिवर्तनीय। उस थिरता और परिणमन में परस्पर क्या अपेक्षा है? लोकाचार विकासशील है या नहीं अथवा उसकी निश्चित मर्यादा-रेखाएँ और निश्चित आधार-तत्त्व हैं? वही चर्चा किसी न किसी रूप में अब भी उठ आयी। बात-बात में प्रेमचन्दजी बोले : "भाई जैनेन्द्र, यह

किताब powerful (जबर्दस्त) है।''

कुछ दिन हुए, रूसी उपन्यास 'यामा' उनके यहाँ देखा था। उसी की ओर संकेत था। मैंने तब तक वह पढ़ा न था।

बोले : ''कहीं-कहीं तो जैनेन्द्र, मुझसे पढ़ा नहीं गया। दिल इतना बेकाबू हो गया। एक जगह आँसू रुकना मुश्किल हुआ।''

देखता हूँ कि जैसे वह प्रसंग अब भी उनके भीतर छिड़ गया है और उसी प्रकार आँसू रुकना किसी कदर मुश्किल हो रहा है।

बोले : ''उस जगह मुझसे आगे पढ़ा ही न गया, जैनेन्द्र, किताब हाथ से छूट गयी।'' और पुस्तक के उस प्रसंग का वह अनायास ही वर्णन करने लगे।

मैं सुनता रहा।

धूप कमरे में तिरछी आ रही थी। उनके चेहरे पर सीधी तो नहीं पड़ रही थी फिर भी वह चेहरा सामने पड़ता था और उजला दीखता था। मैं कानों से सुनने से अधिक उस कथा को आँखों से देख रहा था। प्रसंग बेहद मार्मिक था। प्रेमचन्दजी, मानो अवशभाव से, आपा खोए-से कहते जा रहे थे।

सहसा देखता हूँ, वाक्य अधूरा रह गया है। वाणी काँपकर मूक हो गयी है। आँख उठाकर देखा, उनका चेहरा एकाएक मानो राख की भाँति सफेद हो आया है। क्षणभर में सन्नाटा हो गया। मुझे जाने क्या चीज छू गयी। पलभर में मानो एक मूर्च्छा व्याप गयी और पल बीते-न-बीते मैंने देखा, प्रेमचन्द का सौम्य मुख एकाएक बिगड़ उठा है। जैसे भीतर से कोई उसे मरोड़ रहा हो। जबड़े जकड़ आये, मानो कोई भूचाल उन्हें हिला गया। सारा चेहरा तुड़-मरुड़कर जाने कैसा हो चला। और फिर देखते-देखते उन आँखों से तार-तार आँसू झर उठे! आँसू आने के साथ चेहरा फिर शान्त हो गया था, पर आँसू झर-झर झर रहे थे।

यह क्या काण्ड हो गया! मानो प्रेमचन्दजी बहुत ही लज्जित थे। लड़खड़ाती वाणी में बोले : ''जैनेन्द्र...!'' आगे उनसे बोला न गया, मानो वह जैनेन्द्र से क्षमा माँगना चाहते थे। उनका अपने ऊपर से काबू बिलकुल टूट चुका था। आँसू रुकना न चाहते थे। ओह, कहीं हिचकी ही न बँध जाए!

किन्तु मिनट-दो मिनट में वह प्रकृतिस्थ हुए। गालों और मूँछों पर से टपकते आँसुओं को उन्होंने पोंछा नहीं। एक क्षण लज्जित मुस्कान में मुस्काए। कठिनाई से बोले : ''मुझसे आगे नहीं पढ़ा गया, जैनेन्द्र!''

यह व्यक्ति, जो जाने किन-किन मुसीबतों से हँसता हुआ निकल आया है, जो अपने ही दु:ख के प्रति इतना निर्मम रहा है, वह पुस्तक के कवि-कल्पित पात्र के दु:ख के प्रति इतना तादात्म्य अनुभव कर सकता है कि ऐसी अवशता से रो उठे! मेरे लिए यह अनुभव अनूठा था। इसके प्रकाश में मैं देख सका कि

प्रेमचन्द की अन्त:स्थ वृत्तियाँ कितनी सूक्ष्मस्पर्शी हैं। जो काल के दुर्धर्ष थपेड़ों में अचल रहेगा, वही किसी की सच्ची वेदना, सच्चे त्याग पर एकाएक गलकर किस भाँति बह भी सकता है, मैंने तब जाना।

पुस्तक के उस प्रसंग की बात यहाँ न हो सकेगी। साधारणतया वह इतना वीभत्स, इतना अश्लील मालूम होता था! पर उस प्रकार की विषम स्थिति में घिरी हुई, ढँकी हुई वहाँ थी एक प्रकार की आध्यात्मिक सौन्दर्य की झलक। अँधेरे में थी इसलिए मानो उसकी चमक और भी उज्ज्वल थी। प्रेमचन्दजी की आँख उसी पर पहुँची और मुग्ध हो गयी।

मानवीय भावनाओं का, परनिमित्त स्नेह का, दैन्य प्रेमचन्दजी में न था। जिसको कलाकार समझा और जाना जाता है, उसमें इसकी सम्भावना ही रहती है। कलाकार इतना आत्मग्रस्त हो जाता है कि औरों के प्रति निरपेक्ष वृत्ति धारण कर ले। प्रेमचन्दजी आत्मग्रस्त न थे, वह बल्कि पर-व्यस्त थे।

प्रेमचन्दजी ने एक बड़ी दिलचस्प आपबीती सुनायी। एक निरंकुश युवक ने किस प्रकार उन्हें ठगा और किस सहज भाव से वह उसकी ठगाई में आते रहे, इसका वृत्तान्त बहुत ही दिलचस्प है। पहले-पहल तो मुझे सुनकर अचरज हुआ कि मानव-प्रकृति के भेदों को इतनी सूक्ष्मता से जानने और जतानेवाला व्यक्ति ऐसा अजब धोखा कैसे खा गया। लेकिन मैंने देखा कि जो उनके भीतर कोमल है, वही कमजोर है। उसको छूकर आसानी से उन्हें ऐंठा जा सकता है।

उसी उनकी रग को पकड़कर उस चालाक युवक ने प्रेमचन्दजी को ऐसा मूँड़ा कि कहने की बात नहीं। सीधे-सादे रहनेवाले प्रेमचन्दजी के पैसे के बल पर ऐन उन्हीं की आँखों के नीचे उस जवान ने ऐसे ऐश किये कि प्रेमचन्दजी आँख खुलने पर स्वयं विश्वास न कर सके थे। प्रेमचन्दजी से उसने अपना विवाह तक करवाया, बहू के लिए जेवर बनवाए और प्रेमचन्दजी सीधे तौर पर सब कुछ करते गये।

कहते थे, ''भई जैनेन्द्र, सर्राफ को अभी पैसे देने बाकी हैं। उससे जो सोने की चूड़ियाँ बहू के लिए दिलायी थीं, उनका पता तो शिवरानी देवी को भी नहीं है। अब पता देकर अपनी शामत ही बुलाना है। पर देखो न जैनेन्द्र, यह सब फरेब था। वह लड़का ठग निकला। अब ऊपर-ही-ऊपर जो दो-एक कहानियों के रुपये पाता हूँ उससे सर्राफ का देना चुकता करता जाता हूँ। देखना, कहीं घर में न कह देना। मुफ्त की आफत मोल लेनी होगी। बेवकूफ बने तो उस बेवकूफी का दण्ड भी हमें ही भरना होगा?''

उस चतुर युवक ने प्रेमचन्दजी की मनुष्यता को ऐसे झाँसे में लिया और उसे ऐसा निचोड़ा कि और कोई होता तो उसका हृदय हमेशा के लिए हीन और

कठिन और छूछा पड़ गया होता। पर प्रेमचन्दजी का हृदय इस धोखे के बाद भी मानो और धोखा खाने की क्षमता रखता था। उस हृदय में मानवता के लिए सहज विश्वास की इतनी अधिक मात्रा थी।

सन्देह नहीं कि कड़वे और तीखे अनुभव-पर-अनुभव पाते रहने के कारण स्वभाव में वह कुछ कठिन और अनुदार और शंकाशील भी हो चले थे। फिर भी मानो उनका सहज औदार्य अनायास उनकी अनुभव-कठिन समझदारी पर विजय पा लेता था।

[दस]

यहाँ उनके साहित्य की विवेचना अभीष्ट नहीं है। उस साहित्य के स्रष्टा साहित्यकार को ही समझने की इच्छा है।

हरेक के लिए एक चीज जरूरी है। वह है, असंलग्नता। काल का जो प्रवाह हमारे सामने होकर चीजों को अदलता-बदलता चला जा रहा है, मनुष्य उस प्रवाह का शिकार ही नहीं है, वह उसके प्रति यत्किंचित् असंलग्नता धारण करके कुछ निर्माण भी करता है; अर्थात् अपनी ओर से उस प्रवाह को कुछ दिशा भी प्रदान करता है। मनुष्य इसी शक्ति के कारण मनुष्य है। अन्यथा वह पूर्णत: प्राणी ही रहता।

तटस्थ होकर घटनाओं को और व्यक्तियों को और तत्त्वों को देखने की यह शक्ति प्रेमचन्द में प्रचुर मात्रा में थी। उनके विश्वास नुकीले न थे। वह दूसरों पर अपना आरोप करके देखने के मोह में न थे। जो जहाँ था, उसको वहीं रहने देते थे, मानो उसको उसी की आँखों से देखना चाहते थे। कलाकार को यही इष्ट है। वह सबको उन्हीं के भीतर से देख सके तो और क्या चाहिए! प्रेमचन्दजी इस इष्ट की साधना में असावधान न थे। इसी दृष्टि का विकास अध्यात्म की समत्व-दृष्टि है। '...ब्राह्मणे गवि हस्तिनि, शुनि चैव श्वपाके च पण्डिता: समदर्शिन:।'

काल में रहकर भी कालातीत स्थिति में अपने को अनुभव करने की यह साधना बहुत हितकारी है। मर्त्यलोक में भी यही साधना अमरता की ओर ले जाती है। प्रेमचन्दजी के साहित्य में पायी जानेवाली विविधता; सब पात्रों के प्रति लगभग समान भाव से होनेवाला न्याय; उसमें व्याप्त सहानुभूति; उस साहित्य की प्रासादिकता और मनोरंजकता—सब इसी साधना के फल हैं। इस साधना के अभाव में स्वप्न निरा स्वप्न हो जाता है और यथार्थता के साथ उसका विरोध तीव्र से तीव्रतर होता चला जाता है। वैसी साधनाहीन कल्पना में से रोमाण्टिक (रंगीन) साहित्य का जन्म होता है, उसके मूल में यथार्थ की कठोरता, अप्रियता से हठात्

कटने की प्रवृत्ति है। वह दुर्बलता की द्योतक है। मैं मानता हूँ कि आधुनिक हिन्दी-साहित्य में प्रेमचन्द पहले प्रणेता हैं, जो यत्नपूर्वक यथार्थता से बचने के लिए रोमांस की गली में भूलकर मौज करने नहीं गये। रोमांस को उन्होंने छोड़ ही दिया, सो भी नहीं। उस अर्थ में रोमांस कभी छूटता भी नहीं। कोई लेखक कल्पना को कैसे छोड़ सकता है? कल्पना बिना लेखक क्या? लेकिन अपने हृदगत रोमांस को उन्होंने व्यवहार पर, वास्तव पर, घटाकर देखा और दिखाया।

उन्होंने यथार्थ को ही आदर्श की ओर उभारने की कोशिश की। उनके साहित्य की खूबी यह नहीं है कि उनका आदर्श अंतिम है अथवा सर्वथा स्वर्गीय है। उसकी विशेषता तो यह है कि उस आदर्श के साथ व्यवहार का लगाव है, निरी निरपेक्षता नहीं है। वह आदर्श स्वयं में कम ऊँचा है तो इसलिए भी कम ऊँचा है कि वह नीचेवालों को ऊपर उठाकर उनके साथ-साथ रहना चाहता है। इस समन्वय की पुष्टता के कारण वह पुष्ट है।

एक बात और याद रखने की है। प्रेमचन्द जब साहित्य में आये तो वह साहित्य, सर्वथा नहीं तो अधिकांश अवश्य, व्यक्ति के लिए एक शगल था, मनोविनोद का एक साधन और व्यापार था। प्रेमचन्दजी आरम्भ में उसके प्रति इसी नाते की धारणा पर साहित्य में प्रविष्ट हुए। शनैः-शनैः ही साहित्य के प्रति उनके मनोभाव उत्तरोत्तर गम्भीर और दायित्वपूर्ण होते गये। अपने साथ वे हिन्दी पाठक को भी उस प्रकार की मनोवृत्ति में उठाते चले गये। हमको यह याद रखना चाहिए कि 'चन्द्रकान्ता-संतति' या 'नरेन्द्रमोहिनी' के पाठक से उन्होंने आरम्भ किया था। उस पाठक के भरोसे वह लेखक बने। पर उसके विकास के लिए ही था कि उन्हें लेखक बने रहना था। पाठक वही था लेकिन उसे 'भूतनाथ' से 'गोदान' तक ले चलना था। प्रेमचन्द के इस ऐतिहासिक दायित्व को भूलने से न चलेगा। महावीरप्रसाद द्विवेदी को विवेचक पाठक से काम पड़ा। वह काम इतना गुरु-गम्भीर न था। उसमें विवाद से और तर्क से और योग्यता से काम चल सकता था। अधिक-से-अधिक वह इस या उस तर्कधारा, विचारधारा को मोड़ने का काम था। पर प्रेमचन्द के जिम्मे तो समूचे व्यक्तित्व को, समूचे हिन्दी-वर्ग को, एक तल से उठाकर दूसरे संस्कारी तल तक ले चलने का काम आया। वह काम समूचे व्यक्तित्व, समूची आत्मा को माँगता था। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने हिन्दी को एक विशेष परम्परा प्रदान की। रूढ़ शिथिलता से उबारकर भारतेन्दु ने हिन्दी को कुछ खुली हवा लगने दी। पर उन परम्पराओं की अपर्याप्तता, अनुपयुक्तता इधर प्रकट हो चली थी। भारतेन्दु के साहित्य में जीवन मानो नाटकीय रंगस्थली है। पर बीसवीं सदी का विज्ञान और वितर्क-संकुल जीवन उससे अधिक जटिल चीज हो चली। हिन्दी को उस भारतेन्दु की साहित्य-परम्परा से आगे बढ़कर इस जीवन-जटिलता

का और उसके वैविध्य-वैषम्य का आकलन करने में समर्थ होना था। यह काम परम्परा को तोड़ने से न होता। परम्परा टूटती नहीं है, टूट सकती ही नहीं है : उसको पचाकर आगे बढ़ा जाता है; उसी को विस्तृत किया जाता है, उभारा जाता है। यह काम आलोचना-विलोचना के बस का नहीं है। यह काम स्रष्टा का है, उसके लिए है। साहित्यिक परम्पराओं का निर्माण और संस्कार इतना अधिक विधायक कर्म है कि ध्वंसेच्छा अथवा सुधाराग्रह उसके लिए असंगत वृत्ति है। उसके लिए तो अपने सम्पूर्ण जीवन का निवेदन ही चाहिए। इस युग में प्रेमचन्दजी के ऊपर यह दायित्व आया और उन्होंने निबाहा, ऐसा मेरा विश्वास है। मनोविनोद से उठते-उठते हम साहित्य के प्रति एक अधिक घनिष्ठ भाव, एक दायित्व भाव तक आ गये हैं और प्रेमचन्दजी ने हिन्दी पाठक-लेखक के इस मानसिक विकास में महत्त्वपूर्ण योग दिया है।

उनकी रचनाओं को निर्माणकाल के अनुक्रम से देखने पर स्पष्टता से पता चलता है कि वह आगे बढ़ते हुए समय का साथ देने में अपने को लाँघने से भी नहीं चूके। कहीं वह राह में ठहर नहीं गये, साथ देते ही गये। जो उनकी पहली कहानियाँ और पहले उपन्यास हैं, वह पिछली कहानियाँ और पिछले उपन्यास नहीं हैं, इसका कारण यही है कि वह प्रगति से पिछड़ने को तैयार न थे। जब कहानियों में मनोविज्ञान की धुन आरम्भ हुई तब वह उस नयी माँग और नये फैशन के प्रति अवज्ञाशील नहीं हुए। जब और जिस तरह की नयी जिज्ञासा, नयी माँग पाठक में जगी, तब प्रेमचन्द भी उसके प्रति जागरूक और उत्तर में तत्पर दीखे। युग के प्रतिनिधि लेखक के यही लक्षण हैं। वह निरन्तर वर्द्धमान, निरन्तर परिणमनशील है। उन्होंने पाठक को बिछुड़ने नहीं दिया, उसको सँभाले ही रखा। इसमें पाठक असन्तुष्ट भी हुआ हो तो, प्रेमचन्दजी उसके हित को अपने मन से भुलानेवाले न थे। यही कारण है कि 'सेवासदन' की सुसम्पूर्णता और सुसम्बद्धता 'गोदान' में नहीं है। 'गोदान' चित्र की भाँति असमाप्त और काल-प्रवाह के समान थोड़ा-बहुत अनिर्दिष्ट है। पिछली रचनाएँ पहली की भाँति नैतिक उद्‌देश्य के ढँकने से ढँकी सुरक्षित और बन्द नहीं है, मानो कहीं अनढँकी और खुली रह गयी हैं, इसका कारण यही है। पाठक आदेश नहीं चाहता, निर्देश नहीं चाहता, विस्तृति और जागृति केवल चाहता है। तो प्रेमचन्दजी भी पिछली रचनाओं में निर्देश नहीं देंगे, उन्मुक्त विस्तार देंगे।

'सब्जेक्टिव' (आत्मलक्षी) दृष्टि से प्रेमचन्दजी अपनी साहित्य-सृष्टि में निरन्तर गतिमान और प्रगतिशील रहे हैं। अपने भीतर जीवन का प्रवाह उन्होंने रुकने नहीं दिया। ऑब्जेक्टिव, (पदार्थापेक्षी) दृष्टि से मैं उनके साहित्य पर विचार भी नहीं करना चाहता हूँ। इस लिहाज से किसी को कोई रचना अच्छी लग सकती

है और दूसरा किसी दूसरी रचना पर अटक सकता है। लेकिन उस माप से प्रेमचन्द के साहित्य का विभाजन उपयोगितापूर्वक किया जाएगा सही, पर उस भाँति उस प्रेमचन्द के तत्त्व को पहुँचना दुष्कर होगा जो उस समूचे साहित्य को एकता की सम्भावना देता है और जो उस सृष्टि का मूल है।

[ग्यारह]

प्रेमचन्दजी भौतिकवादी नहीं, बुद्धिवादी थे। उनका आधार विवेक अर्थात् विभेदविज्ञान था। फिर भी आज के युग की पच्छिमी प्रवृत्ति से उनको आशंका थी। उनके जीवन में, उनके साहित्य में, उस आशंका के लक्षण अति प्रकट हैं और उसके प्रति खुली चेतावनी और खुली चुनौती है। उसमें घोषित है कि त्राण शक्ति में नहीं, सेवा में है। महिमा उद्दण्ड विभूति में नहीं, शान्त समर्पण में है। सिद्धि सुख पर ईर्ष्या करने में नहीं, वेदना के साथ सहानुभूति करने में है। सोशल पॉलिटी का समाधान शहर में नहीं, गाँव में है। बहुत-कुछ चारों ओर बटोरकर संग्रह करने से जीवन का स्वास्थ्य बढ़ेगा नहीं, घटेगा। उपयोगिता भी बढ़ेगी नहीं, घटेगी और आन्तरिक आनन्द तो इस भाँति घिरकर, घुटकर, पीला और निष्प्राण हो ही जाएगा।

[बारह]

मुझे एक अफसोस है। वह अफसोस यह है कि मैं उन्हें पूरे अर्थों में शहीद क्यों नहीं कह पाता हूँ। मरते सभी हैं। यहाँ बचना किसको है! आगे-पीछे सबको जाना है। पर मौत शहीद की ही सार्थक है, क्योंकि वह जीवन की विजय को घोषित करती है। आज यही ग्लानि मन में घुट-घुटकर रह जाती है कि प्रेमचन्द शहादत से क्यों वंचित रह गये? मैं मानता हूँ कि प्रेमचन्द शहीद होने योग्य थे। उन्हें शहीद ही बनना था।

और यदि नहीं बन पाये हैं वह शहीद, तो मेरा मन तो इसका दोष हिन्दी-संसार को भी देता है।

मरने से एक-सवा महीने पहले की बात है। प्रेमचन्द खाट पर पड़े थे। रोग बढ़ गया था, उठ-चल न सकते थे। देह पीली, पेट फूला, पर चेहरे पर शान्ति थी।

मैं तब उनकी खाट के बराबर काफी-काफी देर बैठा रहा हूँ। उनके मन के भीतर कोई खीज, कोई कड़वाहट, कोई मैल उस समय करकराता मैंने नहीं देखा। देखते तो उस समय वह अपने समस्त अतीत जीवन पर पीछे की ओर

भी होंगे, और आगे अज्ञात में कुछ तो कल्पना बढ़ाकर भी देखते ही होंगे। लेकिन दोनों को देखते हुए वह सम्पूर्ण शान्त भाव से खाट पर चुपचाप पड़े थे। शारीरिक व्यथा थी, पर मन निर्विकार था।

ऐसी अवस्था में भी (बल्कि, ही) उन्होंने कहा : "जैनेन्द्र, लोग ऐसे समय याद किया करते हैं ईश्वर। मुझे भी याद दिलायी जाती है, पर अभी तक मुझे ईश्वर को कष्ट देने की जरूरत नहीं मालूम हुई है।"

शब्द हौले-हौले थिरता से कहे गये थे और मैं इस अत्यन्त शान्त नास्तिक सन्त की शक्ति पर विस्मित था।

मौत से पहली रात को मैं उनकी खटिया के बराबर बैठा था। सवेरे सात बजे उन्हें इस दुनिया पर आँख मींच लेनी थी। उसी सवेरे तीन बजे मुझसे बातें होती थीं। चारों ओर सन्नाटा था। कमरा छोटा और अँधेरा था। सब सोये पड़े थे। शब्द उनके मुँह से फुसफुसाहट में निकलकर खो जाते थे। उन्हें कान से अधिक मन से सुनना पड़ा था।

तभी उन्होंने अपना दाहिना हाथ मेरे सामने कर दिया। बोले : "दाब दो।"

हाथ पीला क्या, सफेद था और फूला हुआ था। मैं दाबने लगा।

वह बोले नहीं, आँख मींचे पड़े रहे। रात के बारह बजे 'हंस' की बात होकर चुकी थी। अपनी आशाएँ, अपनी अभिलाषाएँ कुछ शब्दों से और अधिक आँखों से वह उस समय मुझ पर प्रकट कर चुके थे। 'हंस' की और साहित्य की चिन्ता उन्हें तब भी दबाये थी। अपने बच्चों का भविष्य भी उनकी चेतना पर दबाव डाले हुए था। मुझमें उन्हें कुछ ढारस था।

अब तीन बजे उनके फूले हाथ को अपने हाथ में लिये मैं सोच रहा था कि क्या मुझ पर उनका ढारस ठीक है? रात के बारह बजे मैंने उनसे कुछ तर्क करने की धृष्टता भी की थी। वह चुभन मुझे चुभ रही थी। मैं क्या कहूँ? क्या करूँ?

इतने में प्रेमचन्दजी बोले : "जैनेन्द्र!"

बोलकर, चुप, मुझे देखते रहे। मैंने उनके हाथ को अपने दोनों हाथों से दबाया। उनको देखते हुए कहा : "आप कुछ फिकर न कीजिए बाबूजी। आप अब अच्छे हुए। और काम के लिए हम सब लोग हैं ही।"

अब मुझे देखते रहे, देखते रहे। फिर बोले : "आदर्श से काम नहीं चलेगा..."

मैंने कहना चाहा, "आदर्श..."

बोले : "बहस न करो"—कहकर करवट लेकर आँखें मींच लीं।

उस समय मेरे मन पर व्यथा का पत्थर ही मानो रख गया। प्रकार-प्रकार

की चिन्ता-दुश्चिन्ता उस समय प्रेमचन्दजी के प्राणों पर बोझ डालकर बैठी हुई थी। मैं या कोई उसको उस समय किसी तरह नहीं बँटा सकता था। चिन्ता का केन्द्र यही था कि 'हंस' कैसे चलेगा? नहीं चलेगा तो क्या होगा? 'हंस' के लिए तब भी जीने की आस उनके मन में थी और 'हंस' न जिएगा, यह कल्पना उन्हें असह्य थी। पर हिन्दी-संसार का अनुभव उन्हें आश्वस्त न करता था। 'हंस' के लिए जाने उस समय वह कितना न झुक-गिरने को तैयार थे।

मुझे योग्य जान पड़ा था कि कहूं, 'हंस' मरेगा नहीं। लेकिन वह बिना झुके भी क्यों न जिये? वह आपका अखबार है, तब वह बिना झुके ही जिएगा।

लेकिन मैं कुछ भी न कह सका और कोई आश्वासन उस साहित्य-सम्राट् को आश्वस्त न कर सका।

थोड़े देर में बोले : ''गरमी बहुत है, पंखा करो।''

मैं पंखा करने लगा। उन्हें नींद न आती थी, तकलीफ बेहद थी। पर कराहते न थे, चुपचाप आँख खोलकर पड़े थे।

दस-पन्द्रह मिनट बाद बोले : ''जैनेन्द्र, जाओ, सोओ!''

क्या पता था, अब घड़ियाँ गिनती की शेष हैं! मैं जा सोया।

और सवेरा होते-होते ऐसी मूर्च्छा उन्हें आयी कि फिर उससे जगना न हुआ।

हिन्दी-संसार उन्हें तब आश्वस्त कर सकता था, और तब नहीं तो अब भी आश्वस्त कर सकता है। मुझे प्रतीत होता है, प्रेमचन्दजी का इतना ऋण है कि हिन्दी-संसार सोचे, कैसे वह आश्वासन उस स्वर्गीय आत्मा तक पहुँचाया जावे!

दो

प्रेमचन्द को गये अब पन्द्रह वर्ष होते हैं। लेकिन मन को यह समझाना मुश्किल है कि वह अब स्वर्ग के हैं, हमारे समाज और जमाने के नहीं हैं। सच तो यह है कि उन्हें उठाकर काल ने गलती ही की है। न उनकी उम्र इतनी थी, न किसी तरह वह समय से पीछे थे। थे तो एक कदम आगे थे और मौजूदा हालतों में शायद वह आज पहले से भी ज्यादा सही और जरूरी साबित होते।

मेरी पहली मुलाकात उनसे सन् '29 में हुई। जाड़ों के दिन थे। कुम्भ का मेला पूरा हुआ ही था। बनारस से गाड़ी लखनऊ-स्टेशन पर कोई चार बजे आ लगी थी। तड़का फूटते-फूटते मैं उनके लाल मकान पर जा पहुँचा, लेकिन यह पहुँचना आसान न हुआ। सोचता था कि नामवर आदमी हैं। लाल मकान का पता अपने पास है ही। एक बच्चा तक जगह बता देगा। पर बात उतनी सीधी न

निकली। एक-डेढ़ घण्टा मुझे लगा अमीनाबाद के पास के उस लाल मकान को पाने में और मालूम हुआ कि आत्मा की और हृदय की और दिमाग की ऊँचाई और दुनियादारी की बड़ाई एक चीज नहीं है। शायद दोनों अलग और समानान्तर हैं।

मकान के जीने के नीचे से आवाज देने पर जब ऊपर प्रेमचन्द प्रकट हुए तो सहसा मन को धक्का लगा। वह रूप देवोपम नहीं मालूम हुआ, और मैं कुछ वैसी ही आस बाँधे था। आगे आये बालों से माथा ढका हुआ, घनी बड़ी मूँछें, करीब घुटनों तक बँधी धोती, कन्धों पर लाल किनारी की घिसी-पिटी चादर। कुल मिलाकर जो दृश्य आँखों के सामने पड़ा, वह निश्चय ही मनोहारी न था। लेकिन देखते-देखते वह व्यक्ति लपककर जीने से नीचे आया, फौरन मेरे हाथ से सामान की छोटी-छोटी चीज छीनी, और मुझे इस तरह ऊपर ले चला कि मैं समझ ही न सका कि मैं यहाँ अजनबी हूँ, या क्या। ऊपर दालान में एक तरफ मिट्टी का ढेर था, पानी की एक मोटी लकीर कर्ण बनाती हुई इस कोने से उस कोने को मिला रही थी। सहन के बराबरवाले कमरे में, जिसमें हम दाखिल हुए और बैठे, किताबें और कापियाँ मेज-मूढ़ों पर बे-तरतीब खड़ी या पड़ी थीं और स्याही के धब्बे भी वहाँ होने के लिए हर प्रकार स्वतन्त्र थे। किताबों को झट इधर-उधर सरकाकर मेरे लिए मूढ़े पर जगह हुई और हम लोग गप करने बैठ गये—ऐसे कि जैसे कल के दोस्त हैं। मैं कच्ची उम्र का अनाड़ी लड़का, वह एक पहुँचे हुए बुजुर्ग। साहित्य के वह सम्राट्, उसी के तट पर आकर झिझक के साथ झाँकनेवाला उत्सुक मैं। पर प्रेमचन्द की सहृदयता में काल-वय का यह फर्क कोई अन्तर नहीं डाल सका। मैं तक अपनी हीनता भूल गया, और असम्भव नहीं कि चर्चा में उस समय कुछ अनधिकृत बात तक मैं कह गया होऊँ।

कब नौ बज गये, पता न चला। आखिर अन्दर से आवाज आयी कि दिन इतना चढ़ गया, दवा नहीं लाकर दी जाएगी! तब वह दुनिया की तरफ जागे और जल्दी से पैरों में स्लीपर डाल, ताक से शीशी खींच, नुस्खा तलाश दवा लेने दौड़े। कहा, ''तुम इतने में हाथ-मुँह धोओ, मैं अभी आया।''

प्रेमचन्द का रूप यह था और सब जगह, सब समय, शायद यही रहता था। दुनिया में कुछ कृत्रिमता भी चाहिए, ज्यादा खुले और हार्दिक रहने का यहाँ कायदा नहीं है। जान पड़ता है, प्रेमचन्द को दुनिया के इस जरूरी कायदे का खयाल नहीं था और दिमागी तौर पर अगर था भी तो अमल में वह उसे साथ नहीं रख पाते थे।

खा-पीकर बोले, ''चलो जैनेन्द्र, दफ्तर चलें।'' मकान से उतरकर मैंने देखा कि हजरत ने अमीनाबाद से ताँगा नहीं लिया, इक्का किया। मैं एक अच्छे से

ताँगे को देखकर बातचीत करना चाहता था, पर वह बोले—"नहीं, इक्के से चलेंगे। ताँगा हमें खींचता है, इक्के पर हम सवार होते हैं। कोई बात हुई कि मुँह हमारा इधर है और खिंच हम पीठ की तरफ रहे हैं। अपनी चीज तो इक्का है।" कहकर कहकहा लगाया और एक इक्केवाले को इस तरह सम्बोधन किया मानो वह इनका कोई जिगरी दोस्त है। दफ्तर में पहुँचकर और बैठकर भी कोई दफ्तरीपन उन पर मैंने चढ़ा नहीं देखा। काम भी हो सकता था और हँसी-ठट्ठा भी साथ हो सकता था।

उस वक्त तो केवल एक ही दिन मैं ठहर सका और उसी रात वहाँ से चला आया। लेकिन उन चन्द घण्टों ने हमेशा के लिए मुझे प्रेमचन्द का बना दिया। तब 'हंस' निकालने का खयाल चल रहा था, ईश्वरीप्रसाद उसके लिए चित्र तैयार करके लाये थे, और उसी दिन टॉल्स्टॉय के ग्रन्थों का अनुवाद लेकर रुद्रनारायण वहाँ आये थे। दोनों के प्रति उनका व्यवहार देखकर मुझे अचम्भा हुआ। मानो कि प्रेमचन्द दूसरे के प्रति अपने बर्ताव में अपनी खुदी को बाद दे देते थे। याद पड़ता है, इस पहले ही मौके पर मैं उनसे पूछ बैठा कि अखबार की नौकरी में पड़ने की ऐसी क्या मजबूरी उन्हें थी? छोड़िए, छुट्टी लीजिए। आपकी कलम क्या आपके लिए सब-कुछ नहीं हो सकती? इस सवाल पर वह ताज्जुब से मेरी तरफ देखने लगे। समझ गये कि मैं अनुभव से कोरा हूँ। पर नाराज नहीं हुए, जिन्दगी की अपनी लम्बी दास्तान ले बैठे। बताया कि कैसे एक नौकरी से दूसरी नौकरी में गये, इस मुदर्रिसी से वह मास्टरी की। आखिर प्रेस खोला; प्रेस से तंग आकर उसमें ताला डाल घर बैठे। बोले, सुना एक जगह से पाँच सौ रुपये आनेवाले थे, पर दिन इन्तजार दिखाये जाते थे। आखिर एक दिन ढाई सौ रुपए पहुँच ही गये। सब नोट ज्यों-के-त्यों मैंने श्रीमती के हाथ में दिये।

उन्होंने पूछा, "कितने है?"

मैंने कहा, "ढाई सौ।"

झल्लाकर बोलीं, "ढाई सौ!" और जोर से हाथ को झटककर उन्होंने सारे नोट दालान में फेंक दिये, और मुझे उस वक्त वह खरी-खरी सुनायी कि क्या बताऊँ। तंगी में दिन गुजर रहे थे, सो तो था, लेकिन तब आस तो लगी थी पाँच सौ की रकम पर, उसकी जगह जो आये ढाई सौ तो पत्नी का धीरज छूट गया। पब्लिशर को कोई क्या कहता, सब तीखा-तुर्श मुझको सुनना पड़ा। उसके बाद जो इस जगह का ऑफर मिला तो मैंने झट कबूल कर लिया। बताओ, तुम क्या नहीं करते? अब रोज-रोज का तो रोना नहीं है!

दिल्ली लौटने के बाद फिर खतो-किताबत का सिलसिला शुरू हो गया। दूसरी मर्तबा मिलना हुआ तो कुछ बड़ी मजेदार बातें हुईं। उस समय उन्होंने मकान

बदल लिया था। एक दूसरे मित्र भी तब लखनऊ में रहते थे। उनसे बात हुई कि चलो, प्रेमचन्द के यहाँ चलें। नौकर को हुक्म हुआ कि सवारी लाये। उसने इक्का लाकर खड़ा किया। मित्र ने डाँटकर कहा कि बदशऊर, देख के सवारी ला। दुबारा अच्छा समझकर एक ताँगा ले लिया। मित्र की रुचि के लायक वह भी न निकला। आखिर एक फैंसी रईसी बग्घी लायी गयी। मित्र ने रेशमी शेरवानी पहनी, उसकी जोड़ का चुस्त पाजामा, बढ़िया पॉलिश की शू और सफेद झकझकी टोपी बाँकी करके लगायी। अब चले प्रेमचन्द के यहाँ। वहाँ दरवाजे के पास आते हैं तो देखते क्या हैं कि बगल से उसी वक्त दबादब लपके चले आ रहे हैं प्रेमचन्द। बगल में छतरी है, दूसरे हाथ में झोला। झोले में से ताजा साग-सब्जी झाँक रही है। बदन पर खाली एक कुर्ता, धोती उसी नमूने की ऊँची बँधी हुई। साफ था कि कदमों से लम्बी राह नापते आ रहे हैं।

उस दृश्य के ये दो विरोधी नमूने मुझे भूलते नहीं हैं!

उसी कयास में मैंने पूछा, "यह बताइए कि आपको कभी अपघात की भी सूझी है या सूझती है?"

बोले, "कई बार। और एक तो अभी कुछ महीने की बात है," फिर आपने अपने जीवन का एक किस्सा सुनाया। "सवेरे बीवी से कुछ कहा-सुनी हो गयी और तय किया कि आज मर जाना होगा। दिन-भर घूमते रहे कि आज किसी तरह घर वापस लौटना नहीं है, मरके छोड़ना है। मगर यों नहीं, वालण्टियर जो पिकेटिंग करते हैं, वहीं चुपचाप किसी जत्थे में घुसकर पुलिस की लाठी से सिर तुड़वाकर मरना ठीक होगा। दिन-भर इस कोशिश में भटके, पर सिर कहीं टूटा ही नहीं। शाम होने के बाद तीन घण्टे अकेले सन्नाटा मार एक बाग में बैठे रहे। पर मौत बेशर्म आयी ही नहीं। आखिर देखा कि ग्यारह बज रहा है और वह उन्हीं कदम घर वापस आ रहे हैं!"

प्रेमचन्द की हस्ती की सबसे बड़ी खूबी यह थी कि वह हर तरफ से साधारण थे। इस तरह वह जनता और जन के प्रतिनिधि थे। खास तो हर कोई बनना चाहता है, आम लोगों में मिलकर खुद उन-जैसा रह आना कोई नहीं चाहता। प्रेमचन्द की जैसे वही साधना थी। और इसके लिए मेरे-जैसा आदमी उनका जितना कृतज्ञ हो, थोड़ा ही जान पड़ता है।

तीन

प्रेमचन्दजी पहली बार दिल्ली आये शायद सन् 1931 में। उससे पहले इकट्ठे साथ रहने का मौका हमें नहीं आया था। लखनऊ एक-दो बार मिलना हुआ था या बनारस एक-आध रोज साथ रह लिये थे। अब तक मेरी निगाह में वह लेखक

थे। यहाँ जब साथ रहे तो यह ऊपरी रूप कहीं बीच में नहीं रह गया। खाना खाने साथ बैठते और बाद में भी नीम की सींक से दाँत कुरेदते हुए वे मेरे साथ ही बैठकर बात करते रहते। उस वक्त दो बुजुर्ग घर में और थे। प्रेमचन्दजी की जगह उनके साथ थी। वे ऊँचे खयाल के लोग थे और छोटी बातें अकसर उनके पास नहीं फटक पाती थीं। बातें देश की और दुनिया की होतीं, सुधार की और उद्धार की, या किसी नीति के या तत्त्व के मसले की। मैं उन बातों के बीच अकसर अजनबी रहता। अव्वल तो यहाँ रहता ही न था, पास हुआ तो बहस सुनता-भर रह जाता था। प्रेमचन्द का भी मैंने यही हाल देखा। बात गहरी हो रही है और वजनदार, लेकिन प्रेमचन्द को सिर्फ सुनना है। कहने को उनके पास गोया कुछ है ही नहीं। इससे ज्यादातर वह उन बुजुर्गों में शामिल न होते और हम दो अलग-थलग बैठे गपशप किया करते। कोई अनजान उन दिनों घर पहुँचता तो किसी तरह मालूम न कर सकता था कि प्रेमचन्द कौन हैं। उनका लिबास और उठने-बैठने, रहने-सहने का तरीका इस कदर घरेलू था कि कोई उन्हें अलग से पहचान ही न सकता था। एक बुजुर्ग उनमें पुख्ता खयाल के थे। उनके पास सदा कुछ बताने और सुधारने को रहता था। हर बहस में आखिरी बात उनकी रहती। यानी सही वह है जो उनका कहना है। इस तरह तीन-चार रोज मेरे घर वह खासतौर पर उन बुजुर्ग से तरह-तरह की इस्लाह और नसीहत पाते रहे। मुझे नहीं खयाल कि कभी जरा उन्होंने बुरा माना हो। जैसे सीखने का वे अपना हक मानते हों और उन बुजुर्ग का हक सिखाने का।

एक रोज खाते-खाते उन्होंने पूछा : ''जैनेन्द्र, इन साहब की उम्र क्या होगी?''

मैंने अपना अन्दाज बताया।

बोले, ''क्या कहते हो?''

मैंने कहा, ''एक-आध साल से ज्यादा का फर्क नहीं हो सकता, क्योंकि मैंने एक बार खुद तस्दीक किया था।''

''तो वाह!'' प्रेमचन्द कहकहा लगाकर हँसे, यह—''यह खूब, तब तो यार, बड़े हम हैं!''

वह हँसी जल्दी नहीं रुकी। मैं भी उसमें शामिल हुआ।

मैंने कहा, ''इसमें आपको शक था कि बड़े आप हैं?''

बोले, ''अच्छा, अबकी कहूँगा उन्हें कि अजी हजरत, बड़ा मैं हूँ!''

वही हुआ। अगली मर्तबा मण्डली बैठी और बहस शुरू हुई। प्रेमचन्द सुनते रहे। बहस ने उन बुजुर्गवार की तरफ से शक्ल लेक्चर की अख्तियार की और आखिर सबक-आमेज नसीहतें मानिन्द नली से निकली गोलियों के फिंकती आने

लगीं। प्रेमचन्दजी ने मौका देख धीमे से पूछा, ''पण्डितजी! आपकी उम्र क्या होगी?'' बुजुर्ग ने अपनी उम्र बतायी। प्रेमचन्द ने कहा, ''वाह जनाब, तब तो बड़ा आपसे मैं हूँ!''

बात ऐसे कही गयी कि बुजुर्ग को कतई नागवार नहीं हुई, बल्कि वह खुश हुए, हँस आये और उसके बाद बातचीत आपसी और घरेलू सतह पर हुआ की, और उन्हें फिर जायज बनने की जरूरत न हुई!

यह चीज प्रेमचन्द की मुझे खास मालूम हुई। अपनी शख्सियत को वह कहीं भारी नहीं पड़ने देते थे। जैसे अपने को और अपने खयाल को वजन के मानिन्द वह अपने साथ रखते ही न हों। हलके रहते और कहीं घुल-मिलने को तैयार। यह बात न थी कि अदब-कायदे का उन्हें अहसास न था, बल्कि बेअदबी उन्हें सख्त नापसन्द थी, पर अपने को इस कदर सिफर और नफी बनाकर चलते थे कि अदब की गलती दूसरे को खुद ही महसूस होती। इन्हें उसे बताने की जरूरत पेश न आती।

एक बार की बात है कि वे दिल्ली आये हुए थे। सन् '35 के दिन होंगे। हाँ, होली के करीब का वाकया। यहाँ रेडियो से उन्हें दो कहानियाँ पढ़नी थीं। बनारस से वह आये थे और कोई खास खबर रेडियोवालों को देना उन्होंने जरूरी न समझा था। यह इत्तिला उन्हें थी ही कि प्रेमचन्द उस दिन दिल्ली पहुँच जाएँगे। रेडियोवाले दिन-भर परेशान रहे, दौड़-धूप किया किये कि प्रेमचन्द कहाँ हैं। सवारियाँ दौड़ती रहीं कि वक्त पर प्रेमचन्द को ले आएँ। हम दोनों खरामा-खरामा पैदल घूमते हुए वक्त से कोई पाँच-सात मिनट पहले सिविल लाइन्स की उस कोठी पर पहुँचे। लोगों की जान-में-जान आयी और सनसनी फैली। रेडियो नया था और प्रेमचन्द हिन्दुस्तान के खास आदमी थे। खासी कोशिश से रेडियो उन्हें पा सका था। आखिर हम लोग एक बड़े कमरे में ले जाये गये। दरवाजे से हमारा दाखिल होना था कि दूसरी तरफ से एक सीधे लम्बे खूबसूरत जवान तपाक से बढ़ते हुए आये और उन्होंने यक-ब-यक प्रेमचन्द को आगोश में ले लिया। बड़ी बेतकल्लुफी और गहराई से चन्द सेकिण्ड बगलगीर रहे और फिर बड़ी तवाजो के साथ उन्हें अन्दर ले गये।

रेडियो-स्टेशन से वापसी के वक्त प्रेमचन्द मुझसे आहिस्ता से पूछने लगे :

''क्यों भई, यह बुखारी थे?''

''हाँ।''

''बुखारी! पतरस!!''

''नहीं।'

''तो फिर कौन थे?''

मैंने कहा, "आप तो इस कदर तड़प के उनके साथ हमागोश हुए और अब पूछते हैं!"

"मैंने समझा, बुखारी होंगे। लेकिन..." कहते-कहते वह रुके।

मैंने हँसकर कहा, "लेकिन क्या?"

बोले, "कोई अजब हजरत थे! देखो न, ऐसे बढ़े चले आये कि मैं उनका लँगोटिया हूँ!"

मैंने कहा, "आपने उन्हीं से पूछा क्यों नहीं?"

बोले, "क्या कहते भलेमानस से! पर जी में तो आया कि..."

इस तरह मौके को प्रेमचन्द हमेशा निभा लेते थे, लेकिन दिमाग उनका इस किस्म की हर गफलत को बारीकी से रजिस्टर करता रहता था, पर सिफत यह कि उसमें फँसते न थे। मानापमान अपना नहीं मानते थे और इस तरह की घड़ियाँ उनमें कोई रंजिश या तपिश नहीं पैदा कर पाती थीं। सिर्फ उनकी याद के खाने में दर्ज होकर रह जाती थीं।

द्रष्टा और भोक्ता की यह भिन्नता थोड़ी-बहुत तो सबके लिए जरूरी है। नहीं तो हम सदा शिकार बने रहें और खुद अपने तईं जी न पाएँ। हर चीज को मन में बसा लें और उस पर कुढ़ते रहें तो घायल की-सी हमारी हालत रहे और जिन्दगी हमें रस न दे पाये। लेकिन यह भिन्नता अकसर काफी हममें नहीं हो पाती। प्रेमचन्द में वह पर्याप्त मात्रा में थी। दिमाग उनका चौकन्ना रहता था और दिल भीतर सुरक्षित। सुरक्षित से मतलब निष्क्रिय नहीं, बल्कि सहानुभूति उनमें हर समय जगी रहती थी, पर दिमाग बीच में जवाब देकर झट हर चीज को शिकायत के तौर पर नीचे उतार भेजे, यह इजाजत वह दिमाग को न देते थे। इस तरह दुनिया में रहते भी उससे किसी कदर अलग-थलग रहे जाना उन्हें उतना मुश्किल न था। कहावत है : 'जल में कमल के समान'। यह योगी के लिए कहा जाता है। योगी का तो मुझे पता नहीं, पर प्रेमचन्द के साथ बहुत कुछ मैंने घटता हुआ यह देखा है। यहाँ दिल्ली में हिन्दी के साहित्य-सम्मेलन का जलसा हुआ। बड़े-बड़े दिग्गज पधारे। प्रेमचन्द भी आये। यह अनहोनी बात थी, पर सच यह है कि असल सम्मेलन के लिए वह आये न थे। मैंने लिखा था, इससे बात रखने को आ गये थे। खैर, आ गये और जहाँ जिस ढंग से ठहरा दिया गया, ठहर गये। यानी पचासेक खाटों की लम्बी कतार के बीच एक उन्हें भी मयस्सर हुई। खासे रिफ्यूजी अस्पताल का-सा दृश्य था। अब रह रहे हैं तो रह रहे हैं। यहाँ कौन किसको शक्ल से पहचानने को बैठा है। आखिर नहाये-धोये और जहाँ मालूम हुआ कि खाने-पीने का इन्तजाम है, उधर बढ़कर गये तो वालण्टियर ने कहा, "टिकट!"

पर प्रेमचन्द के पास टिकट न था। उन्होंने पूछा, ''कहाँ से मिलता है, भई टिकट?''

''पैसे से लेना हो तो उस खिड़की से मिलता है। वैसे दफ्तर से।''

प्रेमचन्द खिड़की से टिकट ले आये और क्यू में खड़े हो गये।

ठीक ऐसे ही वक्त मेरा उधर पहुँचना हुआ और उन पर निगाह गयी। मैंने कहा, ''हजरत, यह क्या?''

बोले, ''क्यू में खड़े हैं टिकट लेकर।''

मैंने उनको बाँह पकड़कर खींचा कि जरा तो रहम कीजिए।

वह बोले, ''क्यों-क्यों?''

गोया वह इसी लायक हैं कि अपात्र समझे जाएँ और टिकटपूर्वक खाना पाएँ। इसमें कहीं तनिक भी जैसे अयुक्त बात न हो!

इस कथा के तीनों दृश्य जब चाहूँ मैं आँखों के सामने ले लेता हूँ और याद करता हूँ कि प्रेमचन्द क्या खूब आदमी थे!

□

मैथिलीशरण गुप्त

शायद तीसरी क्लास में पढ़ता था। तब मैथिलीशरण गुप्त नाम मैंने सुना था। जाने कितने कानों में होकर वह मुझ तक पहुँचा होगा। प्रसिद्धि ऐसे ही कानों-कान फैलती है। सोचता हूँ कि तब मैं क्या जानने योग्य रहा हूँगा। अक्षर पढ़ना-भर जानता हूँगा। पर जिस शाला में मैं था, उसके छोटे-बड़े, जान-अनजान सब बालकों के सिर उन दिनों मैथिलीशरणजी और उनके पद्य ऐसे चढ़ गये थे कि हरेक यह दिखलाना चाहता था कि उसको अधिक पद्य याद हैं। मेरे कण्ठ भी तब कई पद्य बैठ गये थे। मतलब तो उनका पूरा हम क्या समझते होंगे, फिर भी धरोहर की भाँति सेंतकर उन पद्यों को हम अपनी स्मृति में रखे रहना चाहते थे, और ढिठाई देखिए, अनुकरण में वैसी कुछ पद्य-रचना भी खुद किया करते थे।

दिन बीतने के बाद वह नाम कुछ बड़ा ही होता गया। मन के भीतर वह ज्यादा जगह घेरता गया। जैसे उस नामधारी व्यक्ति को जबरदस्त आकार-प्रकार का भी होना चाहिए, नहीं तो हम नहीं मानेंगे। छठी क्लास में था कि सातवीं में, उनके 'जयद्रथ-वध' के खण्ड पाठ्य के तौर पर पढ़े। तब ऐसा लगता था कि मैथिलीशरण जाने क्या-क्या होंगे! बस, पुराण-पुरुषोत्तम ही होंगे और चिरगाँव कोई अनुपम गाँव होगा।

कौन जानता था कि करिश्मा होने में आएगा। लेकिन सन् '14 के बाद सन् '31 भी आया और करिश्मा सचमुच होने में आ गया। लेकिन, जो हुआ, वह करिश्मा-सा बिलकुल नहीं मालूम हुआ। अरे, मैंने देखा कि यह तो सारी बात एकदम मामूली बात की तरह हो गयी! मैथिलीशरण एकदम मामूली आदमी हैं, चिरगाँव बिलकुल मामूली गाँव है। सब सर्व-साधारण है। और, मैं सोचता हूँ कि वाह!

कहना चाहिए चिरगाँव मैं यों ही जा धमका। मानिए कि 'मान न मान मेहमान' बनने की बात हुई। वह कौन मुझे जानते थे। बस, भाई सियारामशरण का शायद एक पत्र उससे पहले मैंने पाया था या श्री कृष्णानन्द गुप्त से, जो चिरगाँव

में रहते थे, और फिर कुछ चिट्ठी-पत्री हो गयी थी। उतना सहारा थामकर पूछता-पाछता मैं गुप्त-लोगों के बड़े-से अहाते में जा मौजूद हुआ! वहाँ खड़े होकर क्षण-भर सोचता रह गया कि अब क्या कहकर पुकारूँ? पास नीम के पेड़ में पड़े हुए एक झूले में छोटी पटरी रखे एक अधेड़ वय के महाशय, कृशकाय, नीमास्तीन मैली-सी बंडी पहने धीमे-धीमे झूल रहे थे। वह बंडी खद्दर क्या, टाट की थी और सच कहूँ तो बहुत सफेद नहीं थी। और धोती ऐसी कि मानो कृपापूर्वक उसे घुटने से जरा नीचे तक आ जाने की इजाजत मिली हो। धोती वह बस यथावश्यक ही थी और अपने नाम से अधिक काम नहीं करती थी। कपड़े का टुकड़ा ही उसे कहिए।

मैं अपनी बगल में छोटा-सा पुलिन्दा दाबे उस बड़े अहाते के बीच खड़ा हुआ कुछ भूल-सा गया कि अपने साथ क्या करूँ, क्या पूछूँ? झूलेवाले तो मन-मन कुछ गुनगुना रहे हैं और बाहर का उन्हें विशेष ध्यान नहीं है।

पर मिनिट-भर में सब हो गया। किसी ने मुझे सम्बोधन किया। मैंने सियाराम को पूछा, अपना नाम बताया। जिस पर झट सियाराम मौजूद। कृष्णानन्द भी उपस्थित। और देखते-देखते मैं ऐसा आत्मीयता से घिर गया कि क्या कहूँ। झूलेवाले निकले खुद मैथिलीशरण गुप्त। और क्षण-भर में वहाँ मेरे चारों ओर ऐसा घेरा बन गया कि अपने घर से ज्यादे। उस समय जैसे थोड़ी देर के लिए इन लोगों के प्रति अपने को अजनबी समझने के अपराध पर कुण्ठा होने लगी। सचमुच मुझे बहुत शर्म मालूम हुई। न-कुछ में मेरा पुलिन्दा छिन गया। जैसे मेरी गाँठ खो गयी।

और मैंने सोचा कि राम-राम, मैथिलीशरण वह! यह मैथिलीशरण!!

[दो]

फिर क्या एक रोज में छुट्टी मिलनेवाली थी? कई रोज वहाँ रहना हुआ। मैं चाहता हूँ कि मेरी एक बात वह भी सुन लें और सब पाठक भी कान खोलकर सुन लें। वह यह कि चिरगाँव के उस घर की खातिरदारी बस आफत है। अतिथि की वहाँ खैर नहीं। पर आप नीतिज्ञों से पूछ देखिए, कि पेट पर जुल्म नहीं होना चाहिए और स्नेह भी एक मिकदार में ही आदमी झेल सकता है।

इसके बाद कई बार चिरगाँव जाने का मौका हुआ है। हर बार मैंने यह अनुभव किया है कि उस घर में जाकर किसी बाहरवाले में अपना परायापन या अपना अपनापन कायम नहीं रह सकता। वहाँ वैसी सुध-बुध बिसर जाती है। वातावरण में इतना स्नेह है कि जितना नहीं होना चाहिए। बीसवीं सदी के शहरों में रहनेवाला आदमी ऐसे स्नेह पाने का आदी नहीं होता। उसे अविश्वास से काफी

काम पड़ता है और दम्भ से भी काम पड़ता है। इससे खुले स्नेह में वह कुछ खोया-सा हो सकता है। शहराती को मालूम हो सकता है कि यह स्नेह का वर्षण कहाँ है, यह तो सीधा-सच्चा आक्रमण है, पर उस आक्रमण से वहाँ कोई बचाव नहीं है, और बचाव कहाँ से हो, आदमी निरस्त्र तो पहले हो जाता है।

चिरगाँव का वह गुप्त-लोगों का घर बहुत-सी बातों में आधुनिक नहीं है। पुरातन है, या कही सनातन है। वह घर, यानी मैथिलीशरण एक ही बात है। घर और वह एक हैं। दोनों में प्रकृति की एकता है।

चिरगाँव गाँव बीसवीं सदी से अछूता है, सो नहीं बल्कि इसी अहाते के एक ओर एक खासा बड़ा छापाखाना है। वहाँ इंजन चलता रहता है और मशीन की खट-पट खूब गूँजती है। तरह-तरह के कल-पुरजे इधर-उधर आपको दिखाई देंगे। नये टट्टीघर में फ्लश-सिस्टम है। इस तरह उस परिवार को चौदहवीं सदी का कोई यादगार या खण्ड नहीं कह सकते। पर निस्सन्देह गुप्त घराने के अन्तरंग से ठेठ भारतीयता से हटकर दूसरी वस्तु अभी नहीं प्रवेश पा सकी है। परम्परा सनातन है और उस परम्परा की वहाँ अक्षुण्ण रक्षा है।

गुप्त परिवार का पारिवारिक संगठन नये नमूने का नहीं है। वह पुरातन-शैली का है, पर इस कारण शिथिल नहीं, बल्कि सक्षम है। इतना सक्षम है कि आधुनिकता को वह झेल ही नहीं रहा है; बल्कि समीचीन भाव में उसे गति भी दे रहा है। (मैथिलीशरण और सियारामशरण की कविता को हम पुरानी कहकर साहित्य से नहीं टाल सकेंगे। असहमति जुदा बात है, पर जाग उनमें भरपूर है, आँखें उसमें मूँदकर नहीं रखी गयी हैं।) परिवार वह सम्मिलित ही नहीं, एक है। उसकी जीवन-शक्ति अविभक्त है, और मैथिलीशरण मानो उसके प्राण-केन्द्र हैं।

स्वर्गीय प्रेमचन्द के साथ की एक बात मुझे याद आती है। मैंने पूछा कि मैथिलीशरणजी से तो आपकी खुली घनिष्ठता है न?

बोले कि सो तो नहीं। हाँ कुछ दिन लखनऊ में साथ रहना हुआ था, लेकिन यही राह-रास्ती की यह दुआ-सलाम है। आगे कुछ नहीं।

मैंने कहा, ''यह तो हिन्दी का सौभाग्य नहीं है। नहीं-नहीं, आप दोनों को निकट आना होगा, निकट लाया जाएगा,'' बोलिए, कभी चिरगाँव चलेंगे?

खैर, उसी बात के सिलसिले में प्रेमचन्दजी ने कहा, ''जैनेन्द्र, मुझे एक बड़ा अचरज है। मैथिलीशरण और सियारामशरण दोनों भाइयों को देखकर मैं हैरत में रह जाता हूँ। लक्ष्मण भी क्या रामचन्द्र के प्रति ऐसे होंगे? जैनेन्द्र, दो भाई ऐसे अभिन्न कैसे हो सकते हैं? मेरी तो समझ में नहीं आता। कहीं मैंने उसमें भेद नहीं देखा। या तो फिर दोनों में से किसी एक में कुछ कमी है, दम नहीं

है, जान नहीं है। या नहीं तो फिर क्या कहूँ।''

मैंने कहा, ''दो सगे भाई झगड़ें, क्या यह आप स्वाभाविक मानेंगे?''

बोले, ''और नहीं तो क्या। दस्तूर तो यही है। भाई सगे तो छुटपन के होते हैं। बड़े होकर वे आपस में भाई-भाई तक भी क्यों रहें? लड़ने से उन्हें कौन रोकता है? मैं तो देखता हूँ कि सगे भाई अधिकतर दुश्मन बनकर ही रहते हैं, स्पर्द्धा से वे बच नहीं सकते।''

मैंने कहा, ''दुनिया को तो मैं क्या जानूँ; लेकिन सियाराम और मैथिलीशरण में क्या, बल्कि सभी भाइयों में सचमुच जरा भी भेद नहीं है। मैं तो चिरगाँव कई बार हो आया हूँ।''

प्रेमचन्दजी बोले, ''यही तो!'' प्रेमचन्दजी इस अपने विस्मय को कभी नहीं जीत सके। वह मानो उनके भीतर हल ही नहीं होता था। पर उधर जब यह बात मैंने गुप्त-भाइयों को सुनाई तो उन्हें प्रेमचन्दजी के विस्मय पर बड़ा विस्मय हुआ। दो भाइयों के बीच कुछ अन्यथा सम्बन्ध सम्भव भी हो सकता है, मानो यही उनके लिए अकल्पनीय था।

तो, यह अन्तर है। शहरी के लिए अविश्वास स्वाभाविक है और परिवार का विभक्त होते जाना स्वाभाविक है। यहाँ तक कि पति-पत्नी में भी पृथक् अधिकार की भावना हो आये।

पर यह शहरियत विशेषता से मैथिलीशरणजी के प्रयत्न से उनके परिवार को नहीं छू सकी है। मैथिलीशरणजी में इसकी छूत नहीं है।

इससे वह अपने व्यवहार में हार्दिक हैं। ऊपरी लिहाज में चूक सकते हैं। अदब नियमों में भूल कर सकते हैं, पर अपनी भूल में भी वह हार्दिक हैं, और प्रेम को नहीं भूल सकते, हृदय को पीछे रोककर चलना उन्हें कम आता है।

मैं मानता हूँ कि पारिवारिक अर्थात् पारिपार्श्विक वातावरण की इस सुविधा के कारण उनका काव्य संघर्ष-जनित पीड़ा से इतना अछूत रह सका है। उसमें वेदना का उभार नहीं है, जैसी कि सुरक्षित व्यवस्था है। वह दुर्दमनीय नहीं मर्यादाशील है।

[तीन]

'नाम बड़े दर्शन थोड़े' उनकी पहली छाप मुझ पर यह पड़ी। शुरू में चाहे यह अनुभव मुझे कैसा भी लगा हो, पर पीछे ज्यों-ज्यों मैं जानता गया हूँ, मालूम हुआ कि दर्शन को थोड़ा रखकर ही उन्होंने अपना नाम बड़ा कर पाया है। अपने चारों ओर दर्शनीयता उन्होंने नहीं बटोरी, बल्कि कहो कि वह उससे उलटे चले हैं। रूप उन्होंने आकर्षक नहीं कर पाया, इतने से ही मानो मैथिलीशरण सन्तुष्ट नहीं

हैं। अपनी ओर से भी वह किसी तरह उसे आकर्षक न बनने दें, मानो इसका भी उन्हें ध्यान रहता है। लिबास मोटा, देहाती और कुढ़ंगा। सज्जा यदि हाँ, तो तदनुकूल और आधुनिक फैन्सी के प्रतिकूल। सिर पर बुन्देलखण्डी पगड़ी, घुटने तक गया कुरता और लगभग घुटने तक ही रहनेवाली धोती। बाल इतने छोटे कि उन्हें चाहकर भी सँवारा न जा सके। शरीर कृश और श्यामल। मूँछें बेरोक उगती हुईं, जिसमें कोई छँटाव नहीं। मानो दीखनेवाले समूचेपन से मैथिलीशरण घोषित करना चाहते हों कि मैं किसी सम्भ्रम के योग्य प्राणी नहीं हूँ, उत्सुकता का, या शोभा का, या समादार का पात्र कोई और होगा। मैं साधारण-में-साधारण हूँ। देखो न, मैं ऐसा तो हूँ कि जिसे जरा ऊपरी ढंग भी नहीं आता।

फिर भी सच यह है कि उनके ढंग में भी एक अपनी आन है। एक निजत्व है। और इधर की उनकी बढ़ी मूँछों के साथवाली छोटी दाढ़ी के फोटोग्राफ देखता हूँ तो रौब पड़े बिना मुझ पर नहीं रहता। कबूल करना चाहिए कि आमने-सामने होकर वह रौब मुझे अनुभव नहीं होता। क्योंकि वह मिलते ही ऐसे खुले अपनापे के साथ हैं कि रौब विचार क्यों करे।

खैर, मालूम होता है कि अपने बारे में वह न गलतफहमी खुद चाहते हैं, न औरों में चाहते हैं। जो हैं, सो हैं। न अधिक मानते हैं, न अधिक देखते हैं। और जो हैं, उससे कम कोई मानना चाहे तो उसे भी छुट्टी है, लेकिन सच यह है कि कम माना जाना भी उन्हें पसन्द नहीं है। इज्जत में व्यतिरेक नहीं आ सकता। कुल के और अन्य प्रकार के गौरव की टेक उनमें है। उस मामले में वह दुर्बल भी हैं, हठीले भी हैं।

प्रतीत होता है कि दुनिया में इस यथार्थ की स्वीकृति द्वारा वह अपनी महत्ता बना सके हैं। निषेध अथवा चुनौतीमूलक उनका महत्त्व नहीं है। किन्हीं नये मूल्यों की प्रतिष्ठा उनके जीवन में नहीं है, मान्य की ही मान्यता है।

[चार]

गाम्भीर्य? नहीं भाई, वह मैंने नहीं पाया। और अपनी जानें। मैं तो अपनी कहूँ। गम्भीरता की मैंने कमी पायी। कमी भी सोच-समझकर कर रहा हूँ। किसी से बुरा मानने का डर न हो तो शायद कहूँ कि अभाव पाया। और कुछ मैथिलीशरण आवश्यकता से अधिक हों, गम्भीर, आशा से कम हैं। शायद आवश्यकता से भी कम हैं। मैं अनुमान कुछ करता था, निकला कुछ। विद्वान् को होना चाहिए, पर मैथिलीशरणजी के ऊपर विद्वत्ता ढंग के साथ टिकती मैंने गम्भीर नहीं देखी। बीच में चपलता झाँक ही उठती है। कभी तो डर होता है कि क्या वह सचमुच जिससे बुढ़ापे की आशा हो, उसकी जवानी हमें बचपन न लगेगी, तो क्या लगेगी? धीमे

नहीं चलते, तेज चलते हैं। कहीं पचास से ऊपर उम्रवालों का भाग-कूद के खेलों का भारतीय टूर्नामेण्ट हो जाए, तो मैथिलीशरण का नम्बर शर्तिया पिछड़ा नहीं रह सकता। जहाँ मैं सोचता रह गया हूँ, वे कर गुजरे हैं। सड़क पर हम कई जन जा रहे हैं, एक बच्चा किसी का चपेट में आकर रास्ते की धुल में गिर पड़ा, तो आपमें से पहले वह होंगे जो उसे उठाएँगे। सूझ-बूझ उनमें जगी रहती है। परिस्थिति से वे दबते नहीं हैं। मानो परिस्थिति के प्रति दबंग रहते हैं। आधुनिक सूट-बूटवाले समाज में भी अगर उनका पहुँचना हो जाए, तो अपने देहाती बाने को लेकर वहाँ भी वे मन्द नहीं दीखेंगे। टी-पार्टी होगी तो न चाय पीएँगे, न शायद कुछ खाएँगे। कदाचित् फल भी न छूएँगे। पर उस पार्टी में अपने परहेज के कारण असमंजस में किसी को न पड़ने देंगे। मिलेंगे, बोलेंगे, हँसेंगे और अपनी चाल-ढाल की असाधारणता पर या कि परहेज पर मानो किसी का भी ध्यान तनिक न रुकने देंगे। गलती वह बड़े सहज भाव से कर सकते हैं; पर कुण्ठित, व्यग्रता या असमंजस द्वारा अपनी गलती को डबल बनाने की गलती वह कभी नहीं करते। मानो स्पष्ट व्यवहार से वह स्पष्ट व्यक्त रखते हैं कि (आप के) समाज का अदब कायदा कुछ है तो वह जरूर है। पर मैं जितना जानता हूँ, उतना ही जानता हूँ। अधिक नहीं जानता, इसकी लज्जा से अपनी उपस्थिति में मैं किसी को लज्जित नहीं होने दूँगा। आपकी उदारता के सम्मान में अपनी ही त्रुटि पर मन्दभागी दीखने का अपराध मैं नहीं कर सकता।

पर अदब-कायदे के प्रति अवज्ञा उनमें नहीं है। अवज्ञा किसी के प्रति नहीं है। इस बारे में वह कमजोर तक हैं। पुरानी परिपाटी का अदब-कायदा उनसे नहीं छूट सकता। बस हरेक से शालीनता की आशा रखते हैं। छोटा-छोटा है, बड़ा-बड़ा हैं। सबको अपना पद देखकर चलना चाहिए। अपने प्रति भी अविनय उन्हें दुस्सह है। इसलिए कम कि वह उनके प्रति है, अधिक इसलिए कि वह अविनय है। इसी से अविनय के लिए वह अपने समान किसी को क्षमा नहीं कर सकते। वह निवेदन तक झुक सकते हैं। हो सकता है कि झुकने में वह हद लाँघ जाएँ। पर किसी के मान को चुनौती दें, यह असम्भव है। अपने से बड़ों को बड़ा मानते हैं और यह हो सकता है कि इसमें अपने से छोटों को भी बड़ा मान बैठें, लेकिन जिनको अपने से छोटा मानना होता है, उनमें वह प्रत्याशा रखते हैं कि छोटों की तरह बड़ों का मान रखकर वे चलें। वय की अवज्ञा उन्हें नापसन्द है और, वय की वृद्धता के कारण मूढ़ भी उनके निकट आदरणीय हो सकता है। विद्या-बुद्धि नहीं, गुण भी उतना नहीं, जितना सामाजिकता के लिहाज से मनुष्य मनुष्य के प्रति अपने व्यवहार में वह भेद करते हैं। राजा और रंक उनके लिए समान नहीं हैं। राजा को 'हुजूर' कहेंगे, रंक को 'तू' भी कह देंगे। लेकिन दबेंगे राजा से

नहीं, दबाएँगे रंक को भी नहीं।

सामाजिक मर्यादाओं को बुद्धि-बल से इनकार करके चलने की उनमें स्पर्द्धा नहीं है। वैसी रुचि और संस्कार ही नहीं है। व्यावहारिक समता उनके संस्कारों के प्रतिकूल है। हरिजन के अर्थ जबर्दस्त कविता और जबर्दस्त उत्सर्ग वह कर सकते हैं, पर चौके की और बात है, और छूत-छात—वह भी और बात है।

[पाँच]

कवि में साधारण व्यक्ति से क्या विशिष्टता है? शायद यह कि वह भावुक अधिक होता है। भावुक अधिक, इसमें गर्भित है कि सहनशील कम। दृढ़ की जगह उसे कोमल होना चाहिए।

मानव-स्वभाव का विकास दोहरा होता है, दो दिशाओं में होता है। एक ओर उपमा व्यक्तित्व की दी जाती है कि पर्वत की नाईं अचल, वज्र की भाँति अनिवार्य और कठोर, इत्यादि। ये उपमाएँ—सन्त-महात्माओं पर फबती हैं। दूसरे तरह की उपमाएँ हैं कि कुमुमवत् कोमल, जल सरीखा तरल, आदि। इन उपमाओं के योग्य कवि होते हैं। जैसे बारीक तार का कसा हुआ कोई कोमल वाद्य-यन्त्र। तनिक चोट लगी कि उसमें से झंकार फूट आयी।

मैथिलीशरण किस कोमल वाद्य-यन्त्र के समान हैं, यह तो मैं नहीं जानता। संवेदन की मूर्च्छता की सूक्ष्मता मैं क्या समझूँ। लेकिन वह अपने आवेशों को वश में रखनेवाले महात्मा नहीं हैं। आवेशों के साथ बहुत-कुछ सम-स्वर होकर बज उठनेवाला कवि का स्वभाव उनका है। बहुत-कुछ-सम-स्वर कहा, एकदम एक-स्वर नहीं कहा। जो पूरी तरह अपनी ही तरंगों के साथ एकात्म है, उनमें तो मानो अपना कुछ है ही नहीं। जो है, त्रिगुणात्मक लीला है। वे स्वयं उद्वेलित नहीं होते। ऐसा पुरुष कवि होता है और अनायास महात्मा भी वह है। मैथिलीशरण उनमें नहीं हैं। पर अपने आवेशों के साथ हार्दिक वह अवश्य हैं। इसी से उनके काव्य में प्रेरणा है और सच्चाई है। झोंका आया कि उनके क्रोध में नथुने फूल आये, आँखें लाल हो गयीं और शिराएँ मानो फड़क उठीं। यह हो सकता है। पर झोंका बीता कि किस बात पर उनकी आँखें नहीं डबडबा आएँगी, यह आप नहीं कह सकते।

कभी कविता-पाठ करते आपने उन्हें देखा है? मैंने देखा है। उसमें संगीत की बहार नहीं रहती, अभिनय-कौशल नहीं रहता, पर जैसे उनकी वाणी कविता के भाव के साथ एकरूप हो जाती है। जो शब्द हैं, मानो वही स्वर है। स्वर का आरोह भाव की लय पर मानो आप ही उठता है और भाव के उतरने के साथ मानो अवरोह स्वयं शनैः-शनैः आ जाता है। ध्वनि लय के अनुसार चलती है।

कविता के भाव से अलग होकर मैथिलीशरणजी के काव्य-पाठ में श्रोता के लिए मानो रस की कोई बात नहीं रहती। जो कविता है, वही कविता का पाठ है।

मैथिलीशरण स्व-केन्द्रित नहीं है। इससे उनकी कविता भक्ति की प्रेरणा में से आकर भी रहस्यमयी नहीं है, उपासनामयी है। उसमें चहुँ-ओर के दबाव की पीड़ा है। समस्या के भार से भरी हुई वह नहीं हैं। उसमें आवेदन और निवेदन का स्वर मध्यम है। उसमें कुछ-कुछ आदेश की बलिष्ठता है, और प्रतिपादन की स्पष्टता है। उनका काव्य कथानुसारी है। वह घटना के साथ चलता है। वह आत्मलक्षी नहीं, स्व-परोपकारोपलक्षी है।

मैथिलीशरण कोमल हैं तो दूसरे को लेकर, भाव-प्रवण हैं तो दूसरे के निमित्त। मानो स्वयं में उनके पास कुछ खरचने को नहीं है। पुण्यश्लोक पुरुषों की गाथाएँ हैं और उनका ही गान उन्हें बस है। उसके आगे अपना निज का आवेदन-निवेदन क्या?

[छह]

मुझे प्रेमचन्द की याद आती है। प्रेमचन्द निरीह थे, एकाकी। मैथिलीशरण अमित्र नहीं हैं, उस अर्थ में अकेले नहीं हैं। प्रेमचन्द दुनिया को लेकर परेशान रहे। उसका सुधार करते रहे और अपना बिगाड़ करते रहे। कर्म में लोक-संग्रह से विमुख रहे, चिन्ताओं में लोक-समस्याओं से घिरे रहे। मैथिलीशरण लोक-संग्रह से उतने विमुख नहीं हैं और उनकी बुद्धि लोकोत्तर की ओर है। उनका इहलोक अस्त-व्यस्त नहीं है। उनकी चिन्ता इससे सुविधा प्राप्त है। प्रेमचन्द मानसिक चिन्ता, यानी साहित्य से इस लोक के थे। ऐहिक कार्य के दृष्टिकोण से मानो वह यहाँ रहते नहीं थे। पर मैथिलीशरण का साहित्य द्वारा लोकोत्तर से नाता है। ऐहिक विचार में वह ऐहिक हैं।

मशीन में मैथिलीशरण कविता से शायद कम दिलचस्पी नहीं लेते। कलपुरजों में उन्हें अच्छी गति है, और रस है। आपके यहाँ कोई पुराना इंजन है तो मैथिलीशरणजी को याद कीजिए। वह जरूर कुछ ऑफर देंगे। अरे, इंजन ठीक होकर आज नहीं कल तो काम आएगा। व्यवहार में व्यर्थता छूट जाये तो छूट जाए, पर काम की बात उनसे नहीं छूट सकती। वह जब बनिये हैं, तो अधूरे नहीं हैं। यह पक्ष उनमें पूरा उतरता है। चाहे इस पक्ष में ब्राह्मणत्व उनका कुछ दब भी क्यों न जाता हो। वह टोटे में रहना नहीं जानते, और टोटा है तो व्यवसाय का टोटा है, जो कि लगा ही रहता है। यह नहीं कि वह पैसा कमाने के सम्बन्ध में बहुत तल्लीन हो सकते हैं। मुझे जान पड़ता है कि द्रव्य-विचार में उन्हें लीनता प्राप्त हो नहीं सकती, पर व्यवसाय की बात में अचतुर उन्हें आप मत जानिएगा।

अपने सम्बन्धों के बारे में वह सावधान हैं। हर कोई उनका दोस्त बन सकता। पर दोस्त बनकर कुछ और नहीं बन सकता। उनका विश्वास महँगा है : दिल वह अपना बहुत अधिक नहीं बाँटते। वह भीड़ के आदमी नहीं। भीड़ में वह अकेले हैं। न वह भीड़ को दिशा दे सकते हैं, न उनका साथ दे सकते हैं। वाणी उनकी मुक्त नहीं और वह प्रवास-भीरु तो क्या, पब्लिक-भीरु हैं।

बहुत-कुछ उनको अनायास सिद्ध है। कविता में शब्द और तुक। सफर में तीसरा दर्जा। भूषा में सादगी। वेश में चिरगाँवता। प्रेम में अपत्य-प्रेम। वाणी में मित-भाषण और साहित्य में सुरुचि। इन सभी के लिए प्रयासी को प्रयास लगता है। राष्ट्रीय व्यक्ति के लिए रेल का तीसरा दर्जा अभी तक सहज नहीं है, वह गौरव का विषय है। किन्हीं को जरूरत रहती है कि कोई उन्हें देखे, किन्हीं को जरूरत रहती है कि कोई उन्हें न देखे। यही हाल हमारे साथ सादगी का है। पर मैथिलीशरणजी को मालूम होता है कि दूसरी कोई बात मालूम नहीं।

वह अँग्रेजी नहीं जानते, पर अँग्रेजी में चलनेवाली राजनीति को वह जानते हैं। सवेरे डाक आयी कि चिट्ठियाँ देखीं। फिर अखबार ले लिये। जल्दी उनसे नहीं छूटते। वह बातों के जानकर नहीं, जिन्हें जानते हैं उनके विषय में कुछ महसूस करके दम लेते हैं। वह अपने जानने को मानो हृदय के साथ भी जोड़े रखना चाहते हैं। इससे आधुनिक विचारधाराओं से वह अवगत ही नहीं रहते, उनके प्रति सहानुभूति रख सकते हैं। उनकी आस्था बौद्धिक नहीं है। बौद्धिक तल पर अतः वह बन्धनहीन और उदार हैं और धीरता से प्रश्नों की गहराई छू सकते हैं। बारीक बातें उनसे नहीं बचतीं और मानस-सम्बन्धों की परख में वह सूक्ष्मदर्शी हैं। चिरगाँव से न टलना उनके हक में भीरुता ही नहीं है, साधना भी है। प्रकृति से अधिक वे साधना से कवि हैं।

□

जयशंकर प्रसाद

प्रसादजी से मिलने की बात आपकी उत्कण्ठा में से निकली थी अथवा यूँ ही संयोग मिलने का हो गया था। मिलने पर कैसे लगे आपको प्रसादजी?

—उत्कण्ठा में से ऐसे संयोग का आना कम सम्भव होता है। मुझमें इतना साहस ही न था, न कर्मण्यता। सच यह कि साहित्य में मैं विचार से नहीं आया, न पात्रता से। एकाध कहानी मेरी लिखी छप चुकी होगी, तब की बात है। आचार्य चतुरसेनजी पूछ बैठे, ''और प्रसाद की कहानी तुम्हें कैसी लगती है?'' मैंने निर्दोष भाव से पूछा, ''कौन प्रसाद?'' शास्त्रीजी चकित रह गये। बोले, ''एँ, प्रसाद को नहीं जानते?'' मैंने उसी मासूम भाव से कहा, ''नहीं तो?'' बोले, ''तब तुम कुछ नहीं जानते? प्रसाद को जरूर जानना चाहिए।'' लौटकर वहाँ से सीधे मैं लायब्रेरी गया। प्रसाद की 'कामना' उस समय वहाँ मिली। दूसरी पुस्तकें गयी हुई थीं। 'कामना' मैं घर ले आया और तभी पढ़ गया। पढ़ना था कि प्रसाद के जादू में डूब रहना था। इसके कुछ ही महीने अनन्तर की बात है। इलाहाबाद कुम्भ का मेला था। वहाँ गया और वहाँ से बनारस। श्री नन्ददुलारे वाजपेयी की एक चिट्ठी दिल्ली में मुझे मिल गयी थी। उसका सहारा था। सीधे उनसे मिलने काशी विश्वविद्यालय पहुँच गया। इधर-उधर की बातचीत में उन्होंने कहा, ''चलो, प्रसादजी के यहाँ चलें?'' ऐसे उनसे भेंट का संयोग आ पहुँचा। अन्यथा मुझमें अपनी शक्ति कुछ न थी।

मिलने पर कैसे लगे? निश्चय अच्छे। पर कुछ दूर से लगे। दूरी शायद जरूरी भी थी, क्योंकि मैं अनजान बालक था। वे हिन्दी के कविगुरु? एक और भी बात हो गयी। राह में वाजपेयीजी से एक चर्चा चलती आ रही थी, नीति और नैतिकता के बारे में। ऐसा लग रहा था कि हम एकमत नहीं हैं। मैं नन्ददुलारेजी को अनीति का भी समर्थन करता मालूम होता था। वह अनीति को कैसे सह सकते थे। नीति का सीधा खण्डन या अनीति का सीधा समर्थन होता तो भी बात थी, पर शायद उन्हें मैं ऐसा लगता था कि नीति-अनीति को घपले में डालकर प्रश्न

से और उसके दायित्व से बचता हूँ। यहाँ उन्हें मेरे तर्क में कचाई लगती थी, और वह उस पर प्रसन्न नहीं थे। मैं सचमुच निश्चित नहीं था और अब भी नहीं हूँ। उसी विवाद को उन्होंने प्रसादजी के समक्ष निर्णय के लिए रखा। पहले ही अवसर पर फैसला देने का काम अपने ऊपर पाकर उन्हें यूँ भी शायद दूर ही रहना उचित था। वह पान की गिलौरियाँ बढ़ा-बढ़ाकर हमें देते गये, स्वयं भी लेते रहे और सस्मित, ध्यान से हम विवादियों की बात सुनते गये। मैंने कहा, ''सस्मित?'' और यह व्यर्थ विशेषण नहीं है। आलंकारिक नहीं है यथार्थ है। उनकी यही स्थिति थी। यानी हमारी चर्चा पर वह वैसा ही सस्नेह कृपा से देख रहे थे जैसे अभिभावक उलझते बालकों को देखे। आप समझते हैं उन्होंने फैसला दिया? फैसले में उन्होंने मुसकराहट ही दी। उस मुसकराहट को वाजपेयीजी अपने पक्ष में समझें लेकिन मैं भी अपने विपक्ष में नहीं समझ सका। यह प्रसादजी थे। मुझे सचमुच अच्छे लगे, लेकिन जैसा कहा निकट नहीं लगे, खुले नहीं लगे, जैसे कि प्रेमचन्द पहली मुलाकात में लग सके?

यह बेगानापन जो उनके दूर का प्रतीत होने से झलकता है, क्या इसमें यह सत्य निहित नहीं है कि प्रसादजी ने अपने युग की समस्याओं का समाधान अतीत में से खोजने का प्रयास किया था?

—वह सब मैं नहीं जानता। हर आदमी खुद होता है? यानी दूसरे से भिन्न होता है; जैसे प्रसाद के लिए आवश्यक था कि वह प्रेमचन्द न हों। इस अलगपन को हम कम-बढ़ की भाषा में तौलकर न देखें। व्यक्ति जैसा हो उसके होने में, कुछ तो कारण होते ही हैं। कुछ पैतृक, कुछ पारिपार्श्विक, कुछ स्वाभाविक और प्रवृत्तिजन्य। वह एक स्वतन्त्र अध्ययन का क्षेत्र है। मुझे उसमें जाना नहीं है। न वैसी वृत्ति है और न वह क्षमता।

जाना तो चाहिए क्योंकि स्वयं उनके समकालीन लेखक प्रेमचन्द भी गये थे और उन्होंने एक पत्र लिखकर प्रसाद को जहाँ साधुवाद दिया था वहाँ उनके गड़े मुर्दों का उत्खनन करने की भावना को ललकारा भी था और स्वयं प्रसादजी ने उस पत्र को अपना नेता मानकर अपने साहित्य को प्रेमचन्द के आदर्शों की अनुकूलता देने का प्रयास भी किया था?

—मैं समझा नहीं? दिशा गन्तव्य है! इसलिए सभी उस एक दिशा में चलें तो भीड़ इतनी होगी कि गति न हो पाएगी। आखिर विशेषज्ञों के लिए कुछ छोड़ने दीजिएगा न? हाँ, वह पत्र क्या था जिसका जिक्र आपने किया? मुझे उसका पता नहीं है?

उस पत्र का आशय यही था कि प्रेमचन्दजी ने प्रसादजी से यही चाहा था कि वह अपने युग की समस्याओं को लेकर जनता का नेतृत्व करने की कोशिश करें।

—तो प्रेमचन्दजी के इस चाहने के बारे में मुझसे आप क्या चाहते हैं?

यही कि प्रसादजी ने अपने युग की समस्याओं पर आपकी समझ में कितना कुछ कहा? या आप यह बताने की कृपा करें कि प्रसादजी साहित्यकार के इस दायित्व को कितनी सीमा तक अंगीकार करते थे?

—समस्या सब तात्कालिक होती हैं। जिस क्षण में है, आदमी की अनुभूति उस क्षण से पृथक् नहीं है। युग क्षण में नहीं रहता। दस वर्ष की दशाब्दी, पचास की अर्ध शताब्दी, सौ की शताब्दी कहते हैं। युग दस वर्ष में बदलता है; पचास में या कम अधिक में, ठीक मैं जानता नहीं, इसलिए युग की बात भी नहीं जानता। अनुभूति की अभिव्यक्ति का पात्र या माध्यम हम कहीं से खोज या चुन लें। आस-पास के वर्तमान में से उठा लें। अतीत में से ढूँढ़ लें, या भावी में निर्मित कर लें। इस सबसे कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ता। अनुभूति का दान उसका निस्वविसर्जन, उसका सफल अभिप्रेषण ही मुख्य बात है। वर्तमान में से जीते-जागते समझे जानेवाले चरित्र को उठाकर हम अपनी निर्वीयता से मुर्दा लग सकते हैं, या अपने सर्वस्व के पूर्णार्पण से सहस्राब्दी पहले के माने-जानेवाले पात्र को प्रखर और प्रोज्ज्वल कर दे सकते हैं, या केवल कल्पना की सृष्टि से नये चरित्र दे सकते हैं, जो काल की अपेक्षा इस या उस किसी युग के न हों और केवल कल्पना-लोक के हों। मैं नहीं मानता कि प्रसाद ने यदि ऐतिहासिक पात्र लिये तो यह प्रगति से विमुख ही कार्य किया। चन्द्रगुप्त और समुद्रगुप्त हों, अतीत के और वह भी बीत चुके हों लेकिन पढ़ते हुए वे मुझे अपने भी मालूम हो सके। वर्तमान स्वयं अपने में बन्द नहीं है। असल में अपने में कुछ है ही नहीं। अनादि, अतीत और अनन्त भविष्य की रेखाओं का वह सम्मिलित बिन्दु है जिसकी अपनी कोई इयता नहीं है। इससे वर्तमान पर भी रहने का आग्रह मुझे समझ नहीं आता, जो है वर्तमान ही है, जो सजीव लगता है निश्चय उसमें वर्तमानता के तत्त्व हैं। वर्तमानता वहाँ अविद्यमान है जहाँ यों सब आधुनिक हो और भीतर प्राण का असद्-भाव हो। जीवन का प्रत्येक क्षण वर्तमान है। इसीलिए जीवन को जगानेवाली वह स्मृति हमें वर्तमान है जिसका स्रोत वर्षों पीछे हमसे दूर चला गया; लेकिन पड़ोस में हुई इसी क्षण की मौत हमारे लिए अवर्तमान हो जाती है। प्रसाद की 'कामना' को ही लीजिए, उसके पात्र तो ऐतिहासिक भी नहीं हैं। वे तो विदेह हैं—भावना-शरीरी प्रतीकात्मक, इतने ही से अयथार्थ कहकर अपने से उन्हें दूर करते न बनता। वे भीतर उतरकर हम आपको भिगो देते हैं। मानना होगा कि प्रसाद कथा के कथन

में भी कवि हैं। इसी से अपनी अभिव्यंजना के उपादान और उपकरण कुछ ऐसे जुटाते हैं, जो कल्पना से मनोरम हों और जिनको विद्यमान के सन्दर्भ से मुक्त होकर अतिमानुषिक, यहाँ तक कि अमानुषिक होने की सुविधा हो। कवि का काम हम-तुम जैसे निरे साधारण जनों से न चले, तो क्या हम यही न मान लें कि वह काम असल में है ही असाधारण। इसी से वह असाधारण के नियोजक की आवश्यकता में रहता है?

क्या इसी असाधारणता को कल्पना की पकड़ में लाने के लिए लेखक अतीत की खोज नहीं करता और इस प्रयास में जीवित वर्तमान के ऊपर अतीत के वर्तमान को लादकर समाज की वैज्ञानिक प्रगति के मार्ग का अवरोध नहीं बन जाता? प्रसादजी को आप पुनरुत्थानवादी क्या नहीं मानते?

—वाद और वादी शब्द से मैं घबराता हूँ, क्योंकि इसमें विवाद की ललकार है। आपने कहा पुनरुत्थान? उसके पहले मैं एक पुनः और लगाने को तैयार हूँ। यानी मैं पुनः-पुनः उत्थान चाहता हूँ। अतीत के वर्तमान को सद्यः वर्तमान पर लादने की इच्छा को अनिष्ट आप कह सकते हैं, पर वह जो आज के इस समय के वर्तमान से तुष्ट है, उससे कुछ भी भिन्न और कुछ नहीं चाहता। उसे क्या आप जीवित तक भी मान सकेंगे? स्टेटस-को के समर्थक को कौन महत्त्व दे सकता है। वह तो आज में होकर आज ही चुप रहनेवाला प्राणी है। उसमें सम्भावनाएँ नहीं हैं। यानी तात्कालिक वर्तमान को हम किसी दिशा में परिणत हुआ देखना चाहते हैं और उस अध्यवसाय में लगे हैं। इसी से हम अपने को जीवित मान सकते हैं। वह दिशा दोनों ओर जा सकती है। ऐतिहासिक की ओर और काल्पनिक की ओर। सूक्ष्मवृत्ति काल्पनिक की ओर जाती है। स्थल चित्रीकरण के लिए इतिहासगत अतीत सहज सुविधा प्रदान करता है। अतीत के इस उपयोग में मैं कुछ अन्यथा नहीं देखता।

प्रसाद पुनरुत्थान के चित्र में सोचते कहे जाएँ तो मैं असहमत न हूँगा। उसके वादी को मैं नहीं जानता। प्रसाद भी मेरे जान में उसके वादी नहीं थे।

रही बाधा की बात, समसामयिक किसी व्यस्त राजकर्मी से पूछिए। उसे वर्तमान के उद्धार के सिवा दूसरी चिन्ता नहीं है। खुलकर मन की कहे तो आपको मालूम हो जाएगा कि हर कल्पक, हर कवि कल्पना-विलासी है और हर कल्पक, स्रष्टा नित्य नैमित्तिक कर्म-प्रगति के लिए अविचारणीय है, क्योंकि उसमें साधक से अधिक उपाधक है।

बताइए तो समूचे प्रसाद का कौन-सा पहलू आपको अधिक प्रिय लगा?

—शायद अविश्वास का पहलू। मेरे भाव में वह अकेले बड़े नास्तिक लेखक

हैं। प्रेमचन्द मूल में नास्तिक नहीं थे, उनकी नास्तिकता ईश्वर के आस-पास चुक जाती थी। वैसे वह विश्वासी थे, और बेहद मजबूती के साथ। आखिर की ओर वह कुछ हिले लगते हैं, पर तब तक वह तिरोहित ही लगते हैं, लेकिन प्रसाद ने मस्तक नहीं झुकाया। हर मत-मान्यता को, सामाजिक हो कि नैतिक, धार्मिक हो कि राजकीय, उन्होंने प्रश्नवाचक के साथ लिया। किसी को अन्तिम नहीं माना। 'कंकाल' इसी से कितना भयंकर हो उठा है, मानो काया की कमनीयता पर रीझने को तैयार नहीं हैं। शल्यक्रिया से भीतर के कदर्य और कुत्सित को बाहर लाकर बिखेर देने में उन्हें हिचक नहीं है, उनका यह रूप जो सांसारिक के प्रच्छन्न में उनका अपना और अत्यन्त निजीय था, और उनकी रचनाओं में नाना रंगीन छटाओं से रंजित होकर प्रकट हुआ है, मुझे अधिक प्रिय हुआ है। देखने में वह अत्यन्त भव्य और सुघर नागरिक थे। सुरुचिसूचक परिधान, सम्भ्रान्त व्यवहार, व्यवस्थित मुद्रा यह सब उनके सांसारिक रूप के अनिवार्य तत्त्व थे। कुढ़ंग उन्हें शायद कभी नहीं देखा जा सका। यह सब जैसे उनका धर्म था। मानो उनका जीवन बड़ा ड्राइंग-रूम था। इसी से जितना लिखा, उन्होंने अगोचर में लिखा। सुनते हैं, वह रात में (ही) लिखते थे, जैसे दिन में जग के थे, रात की अकेली घड़ियों में अपने होने पर आते थे।

मुझे वह शिष्ट, सभ्य, कुलीन रूप उतना नहीं भाया। शायद इसी कारण कि वह इतना निर्दोष और सुन्दर था। उस पर शालीनता की छाप थी। इस वस्तु को मैं आत्मा से अधिक पैसे के साथ जोड़ता हूँ। मैं प्रसाद से मिला अनेकों बार, लेकिन एक साथ कभी अधिक बात के लिए नहीं। इससे सामाजिक रूप से उस प्राचीर को चीरकर वास्तव अन्त:प्रवेश पा सका, ऐसा मुझे आश्वासन नहीं है। इसी से मैंने कहा कि मुझे दूर लगे। दूर लगे और दूर लगते रहे। मैंने अनुभव तो किया कि आमन्त्रण है और भीतर भी प्रवेश मेरे लिए निषिद्ध न होगा, पर मैं उसका लाभ न उठा पाया। शायद एक कारण यह कि प्रेमचन्द से मैं अभी अभिन्नप्राय था।

आपने उन्हें पहले बड़े नास्तिक लेखक कहा। क्या इसका मतलब यह कि दमन के बजाय उपभोग और संयम की जगह आनन्द को उन्होंने खुला प्रश्रय और समर्थन दिया? क्या यह आप मानने देंगे कि शब्द से ही नहीं जीवन से भी उन्होंने यह प्रमाणित और पुष्ट किया?

—हाँ, और उनकी अन्तिम रचना 'इरावती' के गिनती के पन्ने पढ़कर, यह बात स्पष्ट हो जाती है। नकार और निषेध को लेकर उठनेवाले दर्शनों का उन्होंने प्राणपण से निराकरण किया, और उस दर्शन को प्रतिष्ठित करना चाहा, जो जीवन के प्रति

निरपवाद स्वीकृति का निमन्त्रण देता है। हिन्दुत्व की उनकी ऐसी ही धारणा थी। बौद्ध और जैन परम्पराओं में उन्होंने वर्जन पर बल देखा और वह उन्हें किसी रूप में मान्य न था। मुझे लगता है जैसे उनके साहित्य का यह मूल भार—मूल कोण है। उनके नाटकों में यह अन्तर्भूत है।

इन्द्रिय-निग्रह, तप, त्याग, तितिक्षा आदि मूल्यों और मानों से असहमति और उनकी अवगणना देखने को उनकी रचनाओं में बहुत गहरे जाने की आवश्यकता नहीं। इन मूल्यों के प्रतीक पात्र स्पष्ट ही लेखक की गहरी सराहना और सहानुभूति नहीं पा सके। लेखक की ओर से वे कहीं व्यंग्य के भी पात्र हुए हैं। उनके जीवन में भी निग्रह को प्रधानता न थी। वह वदान्य था, रसमय था, रसाकांक्षी था। उसमें समीकरण की चेष्टा थी। स्खलन की भाषा में उस वृत्ति को गलत समझना है, किन्तु निश्चय ही दीखनेवाले राग और रंग से भय का भी उन्होंने सहारा नहीं लिया, जो कि अक्सर वैराग्य के मूल में हो सकता है।

उनकी अतिशय सप्रश्नता, प्रखर बौद्धिकता, जैसा कि अनिवार्य है, उन्हें उस जगह तक ले गयी, जहाँ खुद बुद्धि पर टिक रहना व्यक्ति के लिए सम्भव नहीं रहता। अपनी परिपक्व परिणति में बुद्धि यह दिखाये बिना नहीं रह सकती कि वह अपर्याप्त है और श्रद्धा में ही पूरी हो सकती है। 'कामायनी' का अभी कागज पर आरम्भ न हुआ था, मस्तिष्क में वह बन रही थी, उस समय की बात है। मैं बनारस जाता और हम लोग बेनिया-पार्क घूमा करते थे। प्रेमचन्द तो होते ही थे। कभी और भी दो-एक साथ हो जाते थे। उस समय कई बार पार्क के कई चक्करों में उन्होंने 'कामायनी' की घुमड़ती हुई कथा सुनाई है। किताब में शब्द ठण्डे हैं, नाना-भंगिमाओं और इंगितों से उस समय का वह वर्णन खूब ही प्रगल्भ हो आया था। उस ग्रन्थ में 'श्रद्धा' को पूरा योग्य स्थान मिला है। इसका आशय यह न समझा जाये कि पहली मेरी स्थापना सदोष है। बल्कि यही 'श्रद्धा' की स्वीकृति उन्हें बुद्धि द्वारा हो सकी है। जैसे बुद्धि माध्यम है, श्रद्धा बिना उसके अगम है। यह मैं अपनी ओर से जोड़कर नहीं कहता। उन चक्करों की चर्चाओं की संगति में ही कहता हूँ।

क्या 'कामायनी' के रूप में कवि 'प्रसाद' के व्यक्ति का ही प्रतिफलन आप मानते हैं?

—साहित्य-सृष्टि में साहित्यकार अपनी परिपूर्ति ही खोजता है। इस दृष्टि से आपका कहना सही हो सकता है। बौद्धिक जीवन कभी सम्पूर्ण और सहज नहीं हो पाता, वह द्वन्द्व से युक्त रहता है। द्वन्द्व की तीव्रता ही निर्द्वन्द्वावस्था की कामना उत्पन्न करती है। ऐसे, सन्देह स्वयं समाहित होने को श्रद्धा की ओर बढ़ता है।

वह अनिवार्य गति है, और चेष्टित न भी हो बौद्धिकता की परिणति उसी ओर है, यद्यपि वह बस-भर उससे यानी अपने भवितव्य से द्वन्द्व ही छेड़े रहती है। मनु में बिलकुल हो सकता है उन्होंने अपने उसको उतार देखना चाहा हो, जो वह सत्य में थे, पर वास्तव में न हो पाये।

किसी अपनी संस्मरणीय स्मृति का उल्लेख भी तो कीजिए।

—क्या सुनाऊँ? 'शायद सन् '33 की बात है। भाई सच्चिदानन्द वात्स्यायन (अज्ञेय) ने कुछ कविताएँ अपनी छपानी चाहीं। जेल से उन्होंने लिखा कि क्या आप यह सम्भव कर सकते हैं कि प्रसाद प्रस्तावना के दो शब्द लिख दें। बनारस जाना हुआ तो हम—मैं और प्रेमचन्द—विधिवत् प्रसाद के यहाँ पहुँचे। विधिवत् से आशय कि मिले सवेरे चक्कर पर भी थे, पर प्रयोजन की बात के लिए अलग से जाना उचित था। मैंने 'भग्नदूत' की लिपि सामने की, कहा कि मुद्दई जेल में है, खुद अपना मामला सामने नहीं रख सकते, इससे मेरी बात को दुगुना वजन समझें। पहले पूछा, ''कौन हैं?'' मैंने कह दिया कि मैं आया हूँ, कह रहा हूँ, इसी से जान लीजिए। थोड़ी देर चुप रहे। बोले, ''तुम कुछ चाहोगे, यह मैंने नहीं सोचा था, पर तुमने भी न सोचा होगा कि तुम कहोगे और 'प्रसाद' न कर पाएगा, पर विनोद शंकर व्यास को तो जानते हो, कितना निकट है? कभी मैं उसके लिए भी कुछ लिखकर नहीं दे सका हूँ। अब तुम्हीं बताओ?'' मैंने कहा, ''मुझसे न पूछिए, क्योंकि मेरा बताना एकदम आसान है। लीजिए बताता हूँ कि लिखना मान लीजिए और कुछ नहीं तो कारण यही कि अज्ञेय आपके लिए अज्ञात है जेल में है।''

'प्रसाद' ने मुझे देखा। आधे मिनट मुँह नहीं खोला, पर आँखें उनकी विवशता प्रकट रही थीं। आखिर बोले, ''जैनेन्द्र?''

आगे न कह पाये और चुप रह गये। मैंने झेंप की हँसी हँसकर पाण्डुलिपि अपनी ओर खींची और कहा, ''कहिए, कोरा तो आपके यहाँ से कभी कोई गया नहीं, कब कुछ आ रहा है।''

जलपान के आने की आशा हो चुकी ही थी। व्यस्ततापूर्वक उठे कि तश्तरियाँ आ उपस्थित हुई। इधर-उधर की गपशप और हँसी-मजाक होती रही। आखिर कह उठे।

प्रसाद ने उठते हुए कहा, ''कहोगे तो तुम जैनेन्द्र कि एक बात तो तुमने कही और 'प्रसाद' ने वह भी न रखी।''

''क्यों साहब,'' मैंने कहा, ''यह कहना भी अब मुझसे छीन लेंगे आप? एक तो आपने बात रखी नहीं, फिर हम कह भी न पाएँ कि नहीं रखी। कहिए

प्रेमचन्दजी, यह अन्याय सहा जाये और अपनी वाक्-स्वतन्त्रता को छिन जाने दिया जाए।''

प्रेमचन्द ने ठहाका लगाया। उसमें प्रसाद भी शामिल हुए। देखा कि उनके हास्य में कहीं कुछ नहीं है। वह निर्मल और नासमझी के लिए कहीं ठहरने को वहाँ जगह नहीं है।

हम चले आये। प्रेमचन्द ने गली में कहा कि ''तुमने बदला ले ही लिया।'' मैंने कहा, ''बदला पहुँचा कहाँ? वह तो ज्यों-का-त्यों मुझ तक लौट आया। प्रसाद को उसने छुआ कहाँ?'' प्रेमचन्द ने कहा, ''बात ठीक है। खूब आदमी हैं प्रसाद?''

समझा गया कि प्रेमचन्द और प्रसाद में बनती नहीं है। पर प्रेमचन्द के शव-दाह से लौटे तो देखा गया कि हम वहाँ तीन ही हैं—(धुन्नू-बन्नू की बात नहीं कहता! वे थे भी छोटे और अलग) शिवरानीजी हर ढारस के लिए प्रसाद को देखती हैं और मुझे भी वही सान्त्वना है। इस मृत्यु के बाद अपनी मृत्यु पास बुला लेने में उन्होंने एक वर्ष भी नहीं लगाया। कौन जानता है, इस जल्दी में प्रेमचन्द के अभाव का भी योग न था।

□

शुक्लजी की मानसिक भूमिका

लेख के लिए आपका तकाजा फिर मिला। यह अदया है। मेरी निरीहता का क्या आपको पता नहीं है? मैं श्रद्धा चाहता हूँ। यहाँ कौन पूर्ण है? पर गुरुजन की गुरुता देखूँ, कि अपूर्णता देखूँ? अपूर्णता में झाँकने से क्या हाथ आता है?

ऊपर आप हैं कि उकसाते हैं कि स्वर्गीय व्यक्ति को मैं अन्दाज में लूँ और आपके पत्र में खाका दूँ। मैं सामान्यत: उस काम के लिए अनाड़ी हूँ। हिन्दी लिखने के किनारे दस-एक साल पहले जाने मैं कैसे आ गया। अब भी गति निगुरे की है। अचरज हो, पर सच है कि लिखने लगने के काफी दिन बाद तक मैंने शुक्लजी का नाम भी नहीं जाना। मेरी भानजी हिन्दी परीक्षा में बैठी तब कुछ देर के लिए उनका हिन्दी-इतिहास हाथ में आया था। कुछ देर यों कि फिर उसे अध्यापक मिल गये और मुझे छुट्टी हुई। तब किताब को जहाँ-तहाँ से कुछ उलटा-पलटा ही था और उतने से लेखक शुक्लजी का नाम स्मृति पर नहीं उतरा था।

पहले-पहल इन्दौर-सम्मेलन के सिलसिले में वह नाम मन में आया। वहीं प्रथम दर्शन हुआ। साहित्य-परिषद् के वह सभापति थे। परिषद् बड़े यत्न से उन्हें पा सकी थी। उनकी कृपा कि उन्होंने सभापतित्व स्वीकार किया और आने का कष्ट उठाया। पर आने पर वह परिषद् की कृपा पर दीखते थे। भाषण वह नहीं पढ़ सके। दूसरे ने पढ़ा, पर पूरा नहीं। परिषद् में गड़बड़ भी मची। पर शुक्लजी ऐसे बैठे रहे कि तटस्थ। मानो सुधि भूले दर्शक हों—गम्भीर मुद्रा और दूरस्थ अनासक्ति। मैं नहीं जानता कि उस अनासक्ति को कर्म और कौशलवाली अनासक्ति मैं कह सकता हूँ।

मंच पर प्रस्ताव लेकर एक अपरिचित आ धमके। जाने वे कौन थे? प्रस्ताव अयाचित अनाधिकृत था। सभा में उससे खलबली मची। कुछ लोग उसके विरोध पर उतारू दीखे। मंच पर आकर एक-आध विरोध में बोल भी गये, पर शुक्लजी क्या करें? मानो वह चाहते थे कि कोई बतावे कि वह क्या करें?

पहली यह छाप मुझ पर पड़ी। इतने पास से मनुष्य की आँखों से मनुष्य

को देखना हो सकता था, कि साहित्यिक दर्शन के लिए दूर जाना जरूरी था। पास से देखा कि वह झमेले के आदमी नहीं हैं। मानो सामने झमेला आ पड़े तो वह खो रहेंगे। कल्पना और सूझ-बूझ का यौवन उनमें न था, उनकी मन्थरता थी।

[दो]

उनका भाषण घर आकर मैंने पढ़ा। अपनी लाज कब तक ढकी रखूँ। स्वीकार करूँ कि आसानी से वह भाषण मैं नहीं पढ़ सका। पढ़ते ऊँघ आ जाती थी। आखिरकार कई रोज लगातार उस पार तक पहुँचा।

अब उसकी दो बातें याद रही हैं। शुरू में साहित्य-तत्त्व-विचार था; अन्त की ओर हिन्दी-साहित्य की सामाजिक गतिविधि का कुछ लेखा शुरू में पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्रियों के मत के विरोध में अपने यहाँ के रसशास्त्रियों के पक्ष का प्रतिपादन था। अधिकांश इटली के श्री क्रोचे की खबर ली गयी थी।

पहली बात तो यही कि मुझे अप्रसन्नता रही कि पढ़ते मुझे नींद क्यों आती थीं। सौ फीसदी अपनी शिकायत मैं अपने पर ही नहीं समाप्त कर पाता। जी कहता है कि शुक्लजी को भी अपनी बात कुछ सरस बनाकर कहनी चाहिए थी। मैं थक-थक जाऊँ तो ऐसी पढ़ाई के लिए कृतज्ञक कैसे बन सकूँगा, और मैं शुक्लजी के प्रति कृतज्ञ बनना चाहता था।

दूसरी बात यह है कि पढ़कर क्रोचे उलटे मुझे शुक्लजी से सही और सूक्ष्म लगे। उनके उद्धरण मुझे रसीले जान पड़े और अधिक अनुभूतिपूर्ण भी। मुझे तब खयाल हुआ था कि क्रोचे महाशय अगर खुद परिषद् में मौजूद होते तो भी शुक्लजी को उत्तर देने की उन्हें अपने लिए आवश्यकता न जान पड़ती। संक्षेप में क्रोचे की मूल स्थिति की पहचान शुक्लजी को हुई है—भाषण में मुझे ऐसा नहीं लगा। यह मेरी धृष्टता भी हो सकती है, क्योंकि क्रोचे महाशय को मैंने तो बिलकुल नहीं पढ़ा है।

सामयिक गतिविधि का जो निरूपण भाषण के अन्त की ओर था उसमें नामों की विशद् सूची थी। कोई भगवान ही नाम बचा होगा। वे नाम परस्पर किस सादृश या असादृश्य के द्योतक हैं, इसका विवेचन नहीं था, और मुझे माँग थी तो वैसे विवेचन की।

[तीन]

फिर दिन निकल गये। हिन्दी के साहित्य में यों मैं साँस ले रहा था, पर वहाँ क्या-क्या हैं, इसका पता नहीं लेता था। शुक्लजी का नाम सम्मेलन के सभापति पद के लिए जब-तब सामने आया, यह मैंने जाना। उन्होंने इनकार किया, यह

भी मैंने जाना। इसी काल के लगभग जाना कि वह विश्वविद्यालय में हिन्दी के आचार्य हैं। उनकी प्रतिष्ठा और गौरव और उनके प्रति लोगों की श्रद्धा से मैं प्रभावित हुआ। पर उनका लिखा बाँचने का अवसर तब भी नहीं आया।

अनन्तर किसी संयोग से उनका इतिहास हाथ पड़ा और जहाँ-तहाँ से देख गया। शरम की बात कह दूँ कि इतिहास मैंने यह टटोलने की इच्छा से खोला था। वहाँ मैं हूँ तो कहाँ और कैसे हूँ। ग्रन्थ देखकर ग्रन्थकार की गवेषणा और अध्यवसाय की शक्ति से मैं बहुत प्रभावित हुआ। लगभग आतंकित ही हो रहा। यह सब छानबीन और खोज-खबर कैसे की गयी होगी; फिर उस सबको एक क्रम में कैसे बाँधा गया होगा; इस सबका धैर्य कैसे उस पुरुष में रहा होगा?

कि त्यौरस साल 'चिन्तामणि' देखने का सुयोग मिला। उसको मैं पूरा ध्यानपूर्वक पढ़ गया। पढ़ते-पढ़ते मैं थका तो जरूर, पर रस भी आया। और मुझे यह पाकर बहुत खुशी हुई कि शुक्लजी की शक्ति, स्वतन्त्र होकर, (क्योंकि अधिकांश रचनाएँ उनकी सामयिक प्रयोजनों को लेकर लिखी गयी हैं) वहाँ लगती है जहाँ कि लगनी चाहिए। अर्थात् मन के गूढ़ व्यापारों की तह खोलकर उनका मूलोद्‌गम पाने के वह प्रयासी हैं। उस मूलस्रोत की शोध में वह किस हद तक गहरे पैठ सके; मूल तक पहुँचे अथवा कि नहीं, यह जुदा प्रश्न है। पर अपने तर्क को निर्भय भाव से उन्होंने उस दिशा में बढ़ाया, यह सच है और यह बहुत है।

उसके बाद, काशी सम्मेलन आया और वहाँ उनके चरणों में भी मैं पहुँच सका। तब 'साहित्य-सन्देश' में 'आलोचना के मान' के पुनर्विचार का प्रश्न मैंने उठाया था। वही उनके सम्मुख रखा। चाहा कि वह इस पर अपने विचार का प्रकाश दें कि साहित्य का अन्तिम समर्थन किन मूल्यों द्वारा परखा जाए? सौन्दर्य के मान से, नीति के लक्ष से; अथवा कि सत्य की तुला से?

उनको दमा था और तरह-तरह की व्यस्तताएँ थीं। तो भी उनमें से मैं आशा लेकर आया कि वह इस बारे में लिखेंगे और अन्धकार को काटेंगे।

काशी के बाद यहाँ आकर उनके 'इतिहास' के नये संस्करण की बात सुनी। उसमें वर्तमान युग पर एक नया अध्याय जोड़ा गया। नगेन्द्रजी से वह पुस्तक देखने को मिली तो उस जोड़ को देखकर, सच कहूँ तो, तृप्ति नहीं हुई। उनका वर्गीकरण ऊपरी लगा। जगह-जगह ऐसा मालूम हुआ कि उन्होंने चलताऊ काम निबाह दिया है।

उनके विषय में मेरी जानकारी की गति रुक-रुककर बढ़ रही थी कि हाय, यह क्या? अकस्मात् सुना कि वह इस दुनिया के अब नहीं रहे, प्रस्थान कर गये।

[चार]

अपना सिर मैंने पीट लिया। कैसी ग्लानि की बात है कि अपने काल के साहित्यिक इतिहास के मान्य पुरुषों की कृतियों से उसी क्षेत्र में काम करनेवाले हम लोग अनजान रहे चले जाएँ। मुझे क्या हक था कि मैं हिन्दी में जीऊँ और कुछ भी न जानूँ?

सो, मैं अपने अनुताप को लेकर भाई नगेन्द्र की शरण गया। उनकी कृपा से 'तुलसी', 'जायसी' यथासाध्य देख गया; 'काव्य में रहस्यवाद' नामक निबन्ध पढ़ गया। इतिहास को फिर देखा और छुट-पुट कुछ और भी बाँच लिया।

यह सच है कि शुक्लजी में हमने हिन्दी के इस युग के एक प्रबल पुरुष को खोया है। उनकी नींव मजबूत थी और वह अडिग थे। ब्यौरों में वह नहीं भूलते थे और सतह को भेदकर नीचे वस्तु की असलियत टटोलने की ओर उनकी वृत्ति थी। अध्यवसाय उनका उदाहरणीय था और पश्चिम के विचार से वह आक्रान्त नहीं थे, यद्यपि उससे उपकृत थे।

[पाँच]

हिन्दी साहित्य का इतिहास है और उसकी कड़ी हरिश्चन्द्र से नहीं, दसियों शताब्दी दूर से मिलती चली आती है, इस बात को शुक्लजी से पहले किसी ने जाना भी था तो उसको विधिवत् जतलाया नहीं था। शुक्लजी ने वह दृष्टि प्रस्तुत की। इतिहास और भी लिखे गये हैं, पर यदि वे संकलन से कुछ भी अधिक हैं तो शुक्लजी की दी हुई दृष्टि पर ही आधारित हैं। ब्यौरों में फर्क हो, सामग्री के पेश करने के ढंग में कुछ अन्तर हो, लीक वही है। फिर भी कहना होगा कि इतिहास उन्होंने जुटाया है, जगाया नहीं है। अर्थात् सब मिलाकर उनका इतिहास कोई सन्देश नहीं देता। "सात-आठ सौ वर्षों की संचित ग्रन्थ-राशि सामने लगी हुई थी, पर ऐसी निर्दिष्ट सरणियों की उद्‌भावना नहीं हुई थी जिनके अनुसार सुगमता से इस प्रभूत सामग्री का वर्गीकरण होता।" और "इधर जब से विश्वविद्यालयों में हिन्दी की उच्च-शिक्षा का विधान हुआ, तब से उसकी विचार-श्रृंखला इतिहास की आवश्यकता का अनुभव छात्र और अध्यापक दोनों कर रहे थे।" इन्हीं दोनों आवश्यकताओं के फल-रूप शुक्ल जी का 'इतिहास' बना जो कि उन्हीं कारणों से प्रेरणात्मक इतिहास होने में असमर्थ था।

स्पष्ट है कि अतीत के सम्बन्ध में बहुत-कुछ जानकारी वर्गीकृत रूप में शुक्लजी ने प्रस्तुत की है। उसमें काल-विभाजन है और काफी विगत को एक विशेष संगति में पिरोने की भी कोशिश है। पर वह अतीत के साथ आज के वर्तमान

को किसी घनिष्ठ सम्बन्ध में जोड़ सके, या उस अतीत को किसी सुस्पष्ट क्रमागत रूप में दिखा सके हैं, यह सन्तोषपूर्वक कहना कठिन है। इस दिशा में हिन्दी में प्रयत्न होने की आवश्यकता है : इतिहास शुक्लजी के आगे चित्रवत् नहीं आ सका, वह उनके निकट एक फाइल के रूप में था। इस प्रकार का इतिहास भविष्य के लिए मार्गदर्शक नहीं होता, न विधायक स्फूर्ति दे पाता है। साहित्य का इतिहास संस्कृति का व्यक्त इतिहास है। क्या शुक्लजी को इसकी पहचान थी?

'तुलसी' और 'जायसी' हिन्दी-आलोचना के क्षेत्र में शुक्लजी की विशिष्ट देन हैं। ये विवेचन बहुमूल्य हैं। अपने विषय को चारों-खूँटों से पकड़-बाँधकर फिर उसमें डुबकी लगाते और रत्न चुन लाते हैं। उनके प्रतिपादन में एक प्रकार की व्यूह-रचना है, जैसे कोई प्रतिपक्ष हो और उसे घेरकर व्यर्थ करना हो। इसी कारण उनके प्रतिपादन में शास्त्रार्थी के जैसी प्रबलता और उग्रता आ जाती है। मानो तथ्य के उद्घाटन में ही शुक्लजी तुष्ट नहीं, उसे विरोधी से मनवा लेना भी चाहते हैं। प्रतिपक्षी के प्रति अनुदार होना उनके लिए कठिन नहीं है। अधिकांश उनके व्यंग्य कँटीले हैं। उनकी शैली में लोच नहीं है और दूसरे दृष्टिकोणों के लिए समाई नहीं है।

वस्तु को अपनी परिपार्श्विक परिस्थिति से तोड़कर, उसको अपने-आप में एक बन्द वृत्त मानकर आलोचना-व्यापार चलाने की पद्धति से मैं सहमत नहीं हूँ। शायद यह पद्धति आज-दिन पुरानी भी समझी जा सकती है। अब तक विज्ञान की यही पद्धति मानी जाती थी। अन्य के सामंजस्य में नहीं, पर शेष के विरोध में एक वस्तु की यथार्थता और विशिष्टता को तीव्र करके देखा जाता था, पर ऐसे रस खण्ड-खण्ड होकर लुप्त हो जाता है; और सत्य, जो अपनी प्रकृति से ही संयोजक और संयुक्त है, पकड़ से छूट रहता है। इसी से अब बुद्धि-विश्लेषण के दाँतों से पकड़ने के बजाय रस-वस्तु को हृदय की संश्लिष्ट सहानुभूति में उतारने की सलाह दी जाती है। विभक्त करके नेति-नेति मार्ग से वस्तु को पाने में कुछ मदद मिलती हो तो ले लो, पर प्राप्य वस्तु तो स्वयं में अविभक्त ही है। इसलिए साहित्य के क्षेत्र में विभक्तीकरण द्वारा पाया जानेवाला रसबोध नितान्त विश्वसनीय नहीं माना जा सकता।

कवि की कविता से लोग अपने नाना प्रयोजन साधते हैं। कोई रस लेते हैं, तो दूसरे ज्ञान और नीति लेते हैं। वस्त्र के एक थान में से अपने-अपने मन के मुताबिक लोग कपड़े बनवा सकते हैं। उन छँटे-सिले कपड़ों के तर्ज के लिए श्रेय वस्त्र के बुनकर को देना असंगत है। उसी प्रकार ज्ञान, या नीति, या सुधार का प्रयोजन किसी काव्य से हम साध लेते हों, तो उसका श्रेय हमें ही है। अपने प्रयोजन की माप में नापकर हम कवि को नहीं समझेंगे।

शुक्लजी ने कुछ इसी तरह की भूलें की हैं। तुलसी को, जो भीतर तक भीगे निपट भक्त थे, शुक्लजी ने नाना बनाव में देख-दिखा डाला है। उनको विद्वान माना, नीतिदाता माना; समाज-सुधारक, लोक-संग्रहक, लोक-नेता माना। मैं कहना चाहता हूँ कि यह कृपा आलोचक की अकृपा है। समझदार आदमी कवि को अपनी समझदारी की नाप-काट में देखने को लाचार हो, पर कवि-कर्म ठीक-ठाक समझदारी का काम नहीं है, वह तो प्रीति के आवेग द्वारा सम्भव होता है। इस तरह मेरी प्रतीति है कि शुक्लजी ने जिस रूप में तुलसीदास को ग्रहण किया, वह तुलसीदास का आन्तरिक स्वरूप नहीं, आरोपित स्वरूप ही है। अर्थात् कवि की आन्तरिकता को शुक्लजी अपने अन्तर में लेने से पहले बाहरी लाभ लेकर ही बस मान रहे। उनका रुख वस्तुवादी रहा, आत्मलक्षी नहीं। इससे तुलसी के 'मानस' के बहिर्रूप को प्रकाण्ड-पाण्डित्य से वह बाँध सके, पर उनके अन्तरंग की झाँकी भी क्या उस घनिष्ठता से और दे सके? ले सके होते तो व्यक्तिगत साधनावाले कहकर दूसरे सन्तों या भक्ति-भीगे कवियों (जैसे कबीरदास, सूरदास) से तुलसी का उन्हें विरोध नहीं, बल्कि सादृश्य ही दीखा होता। सच पूछिए तो परिचित अर्थ में लोक-धर्म प्रतिष्ठाता पुरुषों के तुलसीदास की कोटि एकदम अलग है और वह सूरदास, यहाँ तक कि कबीरदास आदि की कोटि से लगभग अभिन्न हैं।

पर शुक्लजी ने 'मानस' को, उसके मूलोद्गम में न जाकर उपयोगिता के धरातल पर अधिक परखा है और उसी दृष्टि में से उन्होंने तुलसीदास की अपनी धारणा खड़ी की है। धारणा वह विद्वज्जनोचित हो सकती है, पर भीतरी असलियत से खाली है।

मुझे ऐसा मालूम होता है कि समाज-कर्मियों ने तुलसी के मानव में से अपने काम की बहुत-सी सूक्तियाँ पायीं। इससे जाना कि 'मानस' उन्हीं को देने के लिए तुलसीदासजी ने रचा था। पर यों तो कहा जा सकेगा कि हमारे चौको की जल देने के लिए गंगाजी जनमी हैं। बहुतों के बहुत कारज सिद्ध हुए, पर उन कार्यों की सिद्धि रचयिता की प्रवृत्ति-प्रेरणा न थी। 'मानस' तो तुलसी के व्यक्तित्व का निश्शेष आत्म-निवेदन है तब समाज-नीति उसमें अपना निखरा रूप देखे तो अचरज नहीं? पर कवि का दान नीतिदान नहीं, आत्मदान है। शुक्लजी के तुलसीदास जाने क्या-क्या हैं, पर 'मानस' के तुलसी राम-चरण की शरण-गहे किंकर से अन्य कुछ नहीं हैं। कवि की इस आत्यन्तिक निरीहता को न पाकर उसकी सृष्टि के रूप-वैभव में हम अटक रहते हैं, तो वैसा ही है कि हम ईश्वर की इस रूपमयी माया को ही सबकुछ मान बैठें और उसके भीतर के ऐक्य-भाव की खोज से विरत हो जाएँ।

शुक्लजी निष्ठा से उतरकर तर्क को सहारा मानकर चले हैं। इसी से काव्य में अवगाहन करते हुए काव्य में ही रह गये हैं, कवि तक नहीं पहुँच सके हैं। तुलसी को उन्होंने बहुत-कुछ अपनी तस्वीर में देखा है, उनके 'मानस' के बिम्ब में नहीं। इसी कारण व्यक्ति-साधना और लोक-धर्म में भक्त्युपासना और लोक-व्यवहार में विरोध देखने को उन्हें लाचार होना पड़ा है।

भारतीय-समाज ने तुलसी से जो पाया है, वह तो भारतीय-समाज जितना पा सका उतना ही है। अर्थात् तुलसी ने वह नहीं दिया है, क्योंकि तुलसी ने कुछ भी देने का दम्भ नहीं किया है। उन्होंने तो अपने को ही सब-का-सब राम-चरणों में विनत और गीत-भाव से बहा दिया है। अब उसमें से जो पाये सो ले, और तुलसी को धन्यवाद भी न दे। कारण, जिसने अशेष भावेन आत्मदान किया है, उसे प्रयोजन-दान का श्रेय देना अकृतज्ञता ही होगी।

भावार्थ : कवि-कर्म, जैसे शुक्लजी ने समझा, वैसा नीति-दान की, सुधार-प्रेरणा या लोक-संग्रह की आकांक्षा के सहारे होनेवाला कर्म नहीं है। वह कोई बुद्धि-व्यापार नहीं है। वह सो प्रीत्यावेग की लाचारी में हुआ आत्म-निवेदन है। शुक्लजी ने अपनी उदारता और प्रगाढ़ विद्या में से इतना कुछ श्रेय तुलसी को दिया है, तुलसी होते तो लाज में गड़ जाते। कहते कि मुझे छोड़कर हे मेरे आलोचक भाई, राम-नाम का स्मरण करो, क्योंकि राम की प्रीति का एक कण तुम्हारी नीति के कई मन से भारी है।

[छह]

मेरी लाचारी मैं ही जानता हूँ। अपने से बाहर मुझे अवलम्ब नहीं। इससे मेरे पास शंका हैं, पर निर्णय नहीं। इसलिए मैंने अपने विद्वान मित्र से पूछा, ''आप कहते हैं शुक्लजी की कविता प्रथम श्रेणी की नहीं। तो इसका कारण?''

बोले, ''कारण क्या? यही कि कविता में उन्हें उतनी गति न थी।''

''यानी, उनमें वह तत्त्व न था जिससे कविता प्रथम श्रेणी की होती।''

बोले, ''क्या यह जरूरी है कि कवि गणितज्ञ भी हो? ऐसे ही आलोचक अकवि हो सकता है।''

मैंने कहा, ''सो तो सही। जो किंचित् अकवि है, उसमें तत्किंचित् उस तत्त्व की कमी मानी जा सकती है न कि जिसका प्रकाश कविता है?''

मित्र ने इस जगह मुझे मदद नहीं दी। मैंने कहा, ''अगर मैं कहूँ कि प्राणों से प्रीति की स्फूर्ति जब शब्द में फूटती है तब वह कविता कहाती है, तो क्या आप सहमत होंगे?''

बोले, ''हाँ।''

मैंने कहा, ''तो वैसी प्रीति की स्फूर्ति की अपेक्षा ही काव्य की श्रेष्ठता न्यूनाधिक कही जा सकती है कि नहीं?''

बोले, ''हाँ।''

मैं, ''यदि शुक्लजी की कविता प्रथम श्रेणी की नहीं आप मानते, तो क्या कहने दीजिएगा कि स्फूर्ति भी कदाचित् प्रथम श्रेणी की न हो।''

मित्र इस जगह बताने लगे कि अनमेल चीजों को मिलना नहीं चाहिए। चाहिए कि आलोचना अलग, काव्य अलग, इत्यादि।

कहना हुआ कि आलोचना और काव्य के अन्तर को मिटाने का प्रश्न नहीं। पर व्यक्ति तो अपने में एक है। या वहाँ भी खाने हैं? कवितावाले और आलोचनावाले शुक्लजी बहस के लिए दो हों, पर क्या सत्य के लिए भी दो थे?

मित्र ने अप्रसन्नता से कहा कि मैं साफ कहूँ कि मेरा मतलब क्या है! शुक्लजी जैसा मर्मज्ञ न हिन्दी में हुआ, न शायद हो। पश्चिम के बड़े-से-बड़े समालोचक के साथ खड़े होकर वह ऊँचे दीख सकते हैं।

मैंने क्षमा माँगी। मैं अनजान। मैंने क्या सीखा है? बोला, ''शुक्लजी को पढ़ते मुझे थकान हो आयी। मैं मान लूँ कि मैं अपात्र था। पर स्फूर्ति का लक्षण है कि वह उँघाए नहीं, जगाये। मैं जगता था, जगाने का इच्छुक था, फिर भी ऊँघ पड़ता था। मैं कहूँ कि वहाँ स्फूर्ति इतनी न रही होगी कि मुझ स्वार्थी को क्या इस दोषारोपण के लिए आप दोष देंगे?''

बोले, ''ऊँची किताबें क्या सब पढ़ सकते हैं?''

मैंने कहा, ''ऊँचाई पर सबसे नहीं जिया जाएगा। हवा वहाँ सूक्ष्म होती है। पर कहीं तो बड़े-से-बड़े और छोटे-से-छोटे आदमी में भी समता है। वह समता मूल प्राणों की है, क्या यह आप मुझे मानने देंगे?''

बोले, ''हाँ।''

मैंने कहा, ''प्रतीत होता है कि उन्होंने बुद्धि की ऊँचाई पर से लिखा है, उतना प्राणों की स्फूर्ति में से नहीं लिखा। उनके लेखन में अनिवार्यता नहीं, प्रयास है। इसी से कोशिश भी उसमें नहीं है। क्या मैं यह नहीं चाह सकता कि रचना हो जो मुझे बरबस अपने साथ खींच ले जाए...''

मित्र ने मुझे बीच में टोका तो, पर सुनना भी चाहा। मैंने कहा, ''वह कोशिश नहीं है तो मुझ पाठक को अवसर है कि उसके लाभ से वंचित बना रहूँ। मैं दीन हूँ, इससे कंजूस हूँ। अपना लाभ खोना नहीं चाहता। इससे मेरी शिकायत सुनी जानी चाहिए। हिन्दी का परीक्षार्थी ही हिन्दी का पाठक नहीं है। जीवन की विषमताओं से जूझनेवाला भी हिन्दी का पाठक है। वह क्या शुक्लजी को न पढ़े? अपने-आप में तो वह खींचते नहीं। मुझे बताइए कि जिसमें प्रसाद नहीं,

प्राण-स्पन्दन नहीं, प्रीति की खींच नहीं; उसकी ओर कोई किस स्वार्थ से खिंचे? परीक्षार्थी परीक्षा में पास होने के लिए पढ़ता है। वह जीवन पोषक तत्त्व पाने के लिए थोड़े ही पढ़ता है। मुझे बताइए कि कोई जीवनाकांक्षा से या वैसी आवश्यकता से प्रेरित होकर उन किताबों को उठाये तो उनके फल तक पहुँच सकेगा? मैं तो कर्तव्य-बुद्धि के सहारे ही उनके साथ बढ़ता जा सका। नहीं तो उन्हें छोड़ चलने को जी होता था।''

मित्र ने कहा, ''कोई अभ्यास क्या मीठा होता है? तबीयत लगने की बात है, तो बाहर खेल-तमाशे हैं। तबीयत लगाना है तो मेरे साथ शुक्लजी की चर्चा लेकर ही क्यों बैठते हो?''

मैंने कहा, ''अब तो सहज-शिक्षा के, प्रसन्न-शिक्षा के, प्रयत्न चल रहे हैं। साहित्य आनन्द द्वारा शिक्षा के देने का साधन ही तो है। बड़ी-से-बड़ी वैज्ञानिक बातें खेल-खेल में सिखाई जा रही हैं। ऊँची बातें अपने-आप में ही दुर्लभ होती हैं, तब शैली के श्रम से उन्हें और दुर्लभ बनाना अनुदारता ही न होगी? सच पूछो तो बड़ी बातों के मामले में तो प्रसादमयी शैली और भी अनिवार्य है।''

मित्र ने निर्णय दिया, ''शुक्लजी गम्भीर हैं। हलकी मनोवृत्ति से उनको नहीं पढ़ा जा सकता।''

मैंने कहा, ''क्या साहित्य को स्कूली और दिमागी कसरत का काम माना जाए? क्या यह सच नहीं कि बड़ी बात मस्तिष्क की राह हृदय में घुल-मिल जाए, इसका अंग बन जाए, तो वह सरस-भाव से सरस शब्दों में कही जा सकती हैं। जितना अधिक प्रयास उसके कहने में लगता है उतना ही शंका का कारण होता है कि वह अनुभूति में घुली हुई नहीं है।''

जो हो, मित्र इस राय को न छोड़ सके कि गम्भीर साहित्य का पात्र हर कोई नहीं हो सकता। मैं अपनी अपात्रता मानता हूँ। यह भी मान लेता हूँ कि हिन्दी के अधिकांश पाठकों की पात्रता अधिक होगी। फिर भी क्या ऊँचे साहित्य को हम-जैसों के लिए दुर्गम बनना होगा?

[सात]

एक-दूसरे मित्र से ठण्डी चर्चा के अनन्तर मैं इन परिणामों पर पहुँचा :

एक : शुक्लजी ने सत्य को आत्मसमर्पण द्वारा नहीं, बल्कि बौद्धिक प्रयत्नवाद के द्वारा ग्रहण किया। परिणामस्वरूप त्याग की ज्योति और समन्वय की शक्ति उतनी उनमें नहीं जागी जितनी कि प्रतिपादन की प्रबलता और स्थिति-धर्म के समर्थन की वाग्मिता प्रकट हुई।

दो : वह स्थिति के प्रतिनिधि थे। गति के विपक्ष और स्थिति पक्ष के योद्धा

के रूप में वह खड़े हुए और जूझे। वह स्थिरासन थे।

तीन : व्यक्ति और समाज को उन्होंने अन्योन्याश्रय में नहीं, बल्कि व्यक्ति को समाज के निमित्त समझा। परिणामतः उन्होंने समाज-नीति की कीमत काफी से अधिक और व्यक्तिगत साधन की कीमत काफी से कम आँकी।

चार : सत्य के उस रूप को उन्होंने स्वीकार भाव से नहीं; बल्कि निषेध भाव से देखा जो स्थिति में परिवर्तन लाकर अपने को सम्पन्न करता है अर्थात् जीवन में प्रगति पक्ष की सत्यता को वह अंगीकार नहीं कर सके। यानी स्व-धर्म-निष्ठ से आगे वह निज-मत-वादी थे।

पाँच : पारिवारिक धर्म से आगे अब एक नागरिक धर्म की आवश्यकता है, जिसमें व्यक्ति समूचे समाज के प्रति अपने को दायी अनुभव करे, और यह परिवार-धर्म की ही प्रशस्ति है। इसका स्वीकार उनके लेखों में नहीं मिलता। अर्थात् आधुनिक समाजवादी विचारों में जो सत्य है, उसे वह न अपना सके।

छह : उन्होंने इस अंश में वर्तमान का हित किया कि अपनी परम्परा से उसे बिछुड़ने न देने में अपनी शक्ति लगायी। अर्थात् साहित्य में अनुत्तरदायी और उच्छृंखल तत्त्वों को उन्होंने उभरने से रोका।

सात : वर्तमान को भविष्य की ओर बढ़ने में उनसे प्रेरणा नहीं मिली सही, पर साहित्य में प्रतिगामी और हलकी प्रवृत्तियों को उनसे अवरोध मिला।

आठ : प्रतिपादन और खण्डन-मण्डन की दृढ़ता उनमें पूर्वस्वीकृति अपने मतवाद से आती थी। अतीत का विवेचन और व्याख्यान भी उन्होंने तदनुकूल किया।

नौ : अपने और साहित्य-तत्त्व के बीच उन्होंने एक प्रकार के बौद्धिक हेतुवाद का अन्तर रखा। अर्थात् अपने को साहित्यिक होते-होते बचाया और हठात् अपने को साहित्यालोचक बनाया। आलोचना में भी वह आलोचक थे, जबकि सर्जक हो सकते थे।

□

शरच्चन्द्र चट्टोपाध्याय

शरच्चन्द्र चट्टोपाध्याय के देहान्त की खबर जब यहाँ के अँग्रेजी अखबार के एक कोने में पढ़ने को मिली, तब अनुभव हुआ कि कितने गम्भीर भाव से उस नाम ने मेरे भीतर जगह कर ली थी। मेरे अपने लिए वह सामान्य घटना न थी। इतनी असामान्य थी कि मैं सोचता रह गया कि किस भाँति यह सम्भव हुआ कि भारत का यह समाचार-पत्र, चाहे फिर वह अँग्रेजी में ही छपता हो, ऐसे बेमन भाव से इस सूचना को ग्रहण करे। हमने शरद को क्यों नहीं समझा? क्यों यह बंगाल के ही जिम्मे रहा कि वह शरद को पाये, पाकर कृतार्थ हो और खोकर विकल हो जाए? सोचता हूँ, अगर ब्रिटिश नीति और ब्रिटिश भाषा की जगह भारत के पास अपनी राष्ट्र-नीति और अपनी राष्ट्रभाषा होती तो?

शरद का आविर्भाव एक विशिष्ट घटना थी। इससे उनके अभाव की घटना ऐतिहासिक ही हो जाती है। वह हमें बिना छुए नहीं रह सकती, जो हमारे जीवन में अधिक वास्तविक, अधिक सत्य है, वह अधिक अभ्यन्तर भी है। उसी कारण वह परोक्ष है। शरद हमारे बीच उसी मार्मिक किन्तु परोक्ष तत्त्व के प्रतीक थे। प्रदर्शन से विमुख, लुब्धाकांक्षाओं से दूर, सहज-सामान्य की वह प्रतिमूर्ति थे। असाधारण इसीलिए कि वह अन्त तक साधारण बने रहे। स्पर्द्धापूर्वक दूसरों को लाँघकर स्वयं आगे और ऊँचे दीखने की प्रवृत्ति उनमें मानो नीचे मुँह गाड़कर खो गयी थी।

[दो]

शरच्चन्द्र का नाम मैंने जीवन में जल्दी नहीं जाना। किताबें पढ़ी थीं, और पढ़कर मन हिल-हिल गया था। उनकी कोई कहानी शायद ही बिना रुलाये रही हो, पर किताब के द्वारा स्वयं लेखक को पढ़ने की बात बहुत पीछे जाकर सूझी। कहानियों और उपन्यासों में घटनावली ही तो मुख्य है, सो उस घटनावली तक ही पाठक की हैसियत से मेरा सम्बन्ध रहता था। तब उस पुस्तक के लेखक का

नाम तक मानो अनावश्यक था।

'मँझली दीदी', 'बड़ी दीदी', 'परिणीता', 'पण्डितजी', 'चन्द्रनाथ', 'विजया' आदि मन की इसी स्थिति में मैंने पढ़ीं। पढ़कर शरद की मँझली और बड़ी दीदियाँ ठीक-ठीक मानो वैसी ही दीदियाँ मेरी भी बन आयी थीं। शरद के पण्डितजी, चन्द्रनाथ, विजया एवं अन्य पात्र मेरे मन के निकट बहुत घनिष्ठ और प्रत्यक्ष बन-बन जाते थे। उनके दुःख के साथ मेरे मन में रोना उठता था। जी में अकुलाहट होती थी कि हाय, इन (पात्रों) पर पड़नेवाली विपदा कैसे हो कि सब-की-सब स्वयं मैं झेल लूँ। सहानुभूति ऐसी उमड़कर उठती थी।

इतना था, पर शरद बाबू से मैं अनजान था। सृष्टि को देखता था, उसमें मुग्ध भी था; पर स्रष्टा को मानो अनावश्यक ही बनाये हुए था। मेरी कैसी भारी मूर्खता!

इस मूर्खता का पार बहुत दिन बाद पाया। यह तमाम सृष्टि जिस स्रष्टा को व्यक्त करती है, उसको चिन्तना-कल्पना में न लाऊँ तो सृष्टि को ही कैसे उपलब्ध कर सकता हूँ। इस सबका स्रोत जहाँ है, समन्वय जहाँ है, वहाँ क्या पीड़ा, क्या बिछोह है, क्या यह समझने का प्रयास मुझे नहीं करना चाहिए?

अपने अभ्यन्तरादभ्यन्तर में से क्या कुछ डालकर शरद ने अपने पात्र-पात्रियों को ऐसा सजीव और प्रत्यक्ष और प्रेरणामय बनाकर हमारे सामने प्रस्तुत किया कि हम मानो अत्यन्त कृतार्थ भाव से अपना जी उन (पात्र-पात्रियों) की मुट्‌ठी में दे बैठें? हमारे मन की बद्धमूल पुरुषता में, अहंकार जड़ित हमारे नाना नकार निषेधों में शरद के किस अतर्क्य बल को ठेस लगी कि वे गलकर बहने को हो गये और मन कातर हो आया? किस भाँति यह हो सका, जानना कठिन है, पर इसके अतिरिक्त जानना ही और क्या है?

सपने सभी लेते हैं। वे मनोरथ से मनोरम हैं, क्योंकि वे स्वप्न हैं। उसमें सत्यता नहीं, यथार्थता नहीं। वे इतने सूक्ष्म हैं कि स्थूल के स्पर्श पर छू हो जाते हैं। इससे 'वे हैं', यह भी झूठ हो जाता है। हमारा स्वप्न हमारे पास ही झूठ है। हम जगे नहीं कि वह उड़ जाता है। अपने ही सपने को पकड़ना कितना कठिन है। याद तक में नहीं बँधता।

और स्वप्न क्या हैं? क्या वे हमारी ही अतृप्तियों के रूपक नहीं हैं? आकांक्षाओं के छोर नहीं हैं?

अपने भीतर निरन्तर वर्तमान उन स्वप्निल भावनाओं को अपने ही समक्ष प्रत्यक्ष पाना कितना दुस्साध्य है। सम्भव तो है, पर कितनी असम्भवता के साथ सम्भव। उसके बाद उन्हीं स्वप्नोपम भावनांशों को अपने से अन्य किसी के मन के भीतर उपलब्ध करा देना कितना दुस्साध्य होगा? क्या यह काम कभी चतुराई

के बस का हो सकता है? केवल-मात्र कौशल से हो सकता है? लोग जो कहें, पर शरद ने यह काम किया, और इस खूबी से किया कि अचम्भा होता है। कह लो शरद को आर्टिस्ट; लेकिन तब आर्ट चतुरता नहीं है, वह आत्मदान है। शरद ने अपने भीतर के दुर्लभ को उपलब्ध करने की राह में उसे हमारे लिए भी यत्किंचित् सुलभ कर दिया। उन्होंने अपनी. रचनाओं द्वारा जो चाहे पाया हो, पर हमने तो उनमें बहुत-कुछ अपना मर्म पाया। शरद ने अपने को देकर पाया है। जान पड़ता है उन्होंने अपने भीतर कुछ नहीं छोड़ा, बूँद-बूँद दे डाला है।

यह आत्मदान की लाचारी क्यों? दुनिया में सब अपने-अपने को बटोरते दीखते हैं। तब यह व्यक्ति क्यों अपने जीवन में मानो दोनों ओर बत्ती लगाकर जलता रहा? क्या इसलिए कि हमें प्रकाश देना चाहता था? छीः, यह कहना आग की जलन को मिठास कहना है। मेरे पास एक ही उत्तर है। वह यह कि वह व्यक्ति महाप्राण था। महाप्राण पुरुष अपने स्वभाव में यह दुर्भाग्य लाते हैं। दुनिया कहे उसे प्रतिभा, लेकिन वह भीतर तक करुण पीड़ा की बनी होती है।

तभी तो उनके पात्र चित्र नहीं हैं। चित्र में गति-परिवर्तन नहीं होता यानी रूप होता है, स्पन्दन नहीं होता, आत्मा नहीं होती। शरद की मूर्तियाँ इतनी आत्ममयी है कि उन पर हम-आप विवाद ही कर सकते हैं, अधिकार नहीं कर सकते हैं। उनमें अपना जीवन, अपना स्वभाव है, इस कारण वे सब इतनी अबूझ हैं कि दो व्यक्ति उन पर एक राय नहीं रख सकते। शरद ने जो कुछ उनके द्वारा करा दिया है, उससे आगे और उसके अतिरिक्त मानो कोई उन मूर्तियों से कुछ नहीं करा सकता। पुस्तकगत स्थिति से भिन्न परिस्थिति में वे पात्र-पात्रियाँ क्या करतीं, लाख विवेचन कर भी मानो कोई निश्चित निश्चय नहीं हो सकता है।

वे पात्र सजीव हैं, इससे नियम-निर्मित नहीं हैं। उसकी सृष्टि का सार शरद की अपनी आत्मा में ही है। आत्मा देशकालातीत होती है। वह भाषा की परिभाषा में नहीं आती, नहीं आएगी। जीवन बेहिसाब है, क्योंकि उसका उस स्रोत से उद्‌गम है, जहाँ से अनुमति लेकर स्वयं काल चलता है। शरद के चरित्र उसी से अनुप्राणित हैं। मानो उनका भेद उन्हीं के भीतर से ही वह मिले-तो-मिले, बाहर से वह समझ की पकड़ में न आएगा। शरद अपने में से कुछ इतने गहरे की वस्तु उनमें डाली है कि उसे जाना नहीं जा सकता, अनुभूत ही किया जा सकता। मेरे विचार में स्वयं शरद ने अपने पात्रों को जानने की स्पर्द्धा नहीं की। शरद का नाता उनसे प्रेम का नाता था। प्रेम, यानी उत्तरोत्तर अभिन्नता। विज्ञान का नाता नहीं, जिसकी शर्त है द्वित्व और पार्थक्य।

इस सिलसिले में क्या मैं कहूँ कि रवि ठाकुर और अधिकांश अन्य पाश्चात्य लेखकों का अपने पात्रों के साथ सम्बन्ध इतने विशुद्ध प्रेम अर्थात् ऐक्य का नहीं

होता। बीच में कहीं मानो विज्ञान को आ घुसने के लिए दुराव भी होता है। आधुनिक भाषा में कहें तो वे अपने पात्रों के प्रति, और जगत के प्रति प्रेमी से अधिक धीमान् (intellectual) हैं।

[तीन]

ठीक सन् मुझे याद नहीं। शायद '31 की बात है। श्री चन्द्रगुप्त विद्यालंकार संसार की सर्वश्रेष्ठ कहानियों की एक पुस्तक हिन्दी में छपा रहे थे। भारतीय कलाकारों की बात करते हुए बोले, "भारत की ओर से इस संग्रह में मैं दो कहानियाँ देना चाहता हूँ। क्या राय है?"

मैंने पूछा, "आप क्या सोचते हैं?"

बोले, "शरद को मैं भारत का सर्वश्रेष्ठ कहानी-लेखक मानता हूँ। रवीन्द्रनाथ की कहानी तो जाएगी ही। उनकी कहानी क्या एक-एक नगीना हैं। पर शरद की कहानी कोई छोटी नहीं मिल रही है।"

मैंने कहा, "हिन्दी की पुस्तक में प्रेमचन्द की अनुपस्थिति निभेगी?"

बोले, "लेकिन भाई, प्रेमचन्द शरद-रवीन्द्र के बाद आते हैं। क्यों, नहीं?"

आखिर पुस्तक में प्रेमचन्द की कहानी दी गयी और शरच्चन्द्र की नहीं दी जा सकी। इस पर चन्द्रगुप्तजी का मन खिन्न था। पर शरद की छोटी कहानी भी दुर्लभ हो रही थी।

बोले, "शरद को मैं निश्चित रूप में भारत का सर्वश्रेष्ठ कहानीकार मानता हूँ। जानता हूँ, मैं वह बात दोहरा रहा हूँ, पर बार-बार उसको कहकर मानो फिर कहने की इच्छा रहती है। रवीन्द्र की और बात है। साहित्यकार शरद से कहीं बड़े वह हों और हैं; पर कहानी की जहाँ चर्चा हो, वहाँ शरद शरद हैं। क्यों, क्या नहीं?"

मैंने तब कहा था (कहा था, अब नहीं कहता) कि मुझमें वैसी श्रद्धा नहीं है। शरद, हाँ अच्छा लिखते हैं। पर जान पड़ता है, कहीं से कोई लटका उन्हें हाथ लग गया है। एक गुर पा गये हैं, बस उसी को हर जगह इस्तेमाल कर जाते हैं। देखिए, न, हर कहानी में घूम-फिरकर वही बात, वही बात।

श्री चन्द्रगुप्त सुनकर मेरी ओर देखते-के-देखते रह गये थे। मानो मेरी धृष्टता सह्य हो सकी तो इसी से कि बेहद अप्रत्याशित थी। उस समय तो जैसे क्रोध भी उनसे न करते बना।

मैंने कहा, "सुनिए, शरद एक काम लाजवाब खूबी से करते हैं। वह खूबी है, और बेशक लाजवाब है। लेकिन लाजवाब हो चाहे कुछ हो, बस वह अकेली खूबी ही उनके पास है। स्त्री और पुरुष के प्रणय और मान के सम्बन्धों का जो

चित्र वह खींचकर रख देते हैं, क्या वह चित्रण कहीं और भी मिलेगा? लेकिन दुनिया स्त्री-पुरुष प्रेम नहीं है। वह और भी बहुत-कुछ है। सो समूचे जीवन पर उनकी पकड़ साधिकार नहीं हैं। असल में जीवन-दर्शन उनका एकांगी है। कहता तो हूँ कि कहीं से गुरु-मन्त्र पा गये हैं। उसी के बल पर चमत्कार-सा दिखा देते हैं।''

चन्द्रगुप्तजी ने मुझे तरह-तरह से समझाया—तर्क से भी, आग्रह से भी, झिड़की से भी! कहा कि कहानी-कला के बारे में ऐसी अहंकृत और उथली और भ्रान्त धारणा बनाकर चलना अपने हक में मेरे लिए अशुभ होगा। लेकिन मैं न मान सका। कहता रहा कि शरद की खूबी आकस्मिक है, गहरी नहीं है; शरद में रमी हुई नहीं है। एक प्रकार का रचना-कौशल है, अधिक नहीं है।

मैं नहीं जानता अगर ऐसा माननेवाले और लोग हों। लेकिन मैं यह जानता हूँ कि आज मैं ऐसा नहीं मानता हूँ। आज अचरज करता हूँ कि वह सब मैं किस भाँति कह गया हूँगा।

इस परिवर्तन का कारण है। कारण यह कि दो (अथवा अधिक) व्यक्तियों के परस्पर सम्बन्धों के विकास अथवा विचार में जो मूल-सिद्धान्त काम करता है, वही तो है सत्य। उससे अतिरिक्त ज्ञेय और क्या है। क्या जो यह अनेकता की ओर दुई की माया चारों ओर फैली है, वह अपने-आप में जानने योग्य है? वैचित्र्य का क्या अपने-आप में अर्थकारी है? अपने-अपने खानों में बँटा हुआ वर्गीकृत ज्ञान क्या सचमुच सत्य है। वह सत्य हो कैसे सकता है। फिर तो सत्य विभक्त और खण्डित ठहरेगा। इससे उस प्रकार के लौकिक ज्ञान का समग्र रूप में मूलाधार जहाँ है, सत्य भी वहीं है। और लौकिक ज्ञान हितकर है तो तभी जब वह उस परम तत्त्व को प्रकाशित और विशद् करे, जहाँ अनेक का ऐक्य और समस्त का समन्वय है।

व्यक्ति सच है कि पदार्थ?

व्यक्ति सच है कि समाज?

एक व्यक्ति सच है कि दूसरा व्यक्ति?

ये मूल प्रश्न जब सामने खड़े होते हैं तो जान पड़ता है कि सत्य किसी दूसरे को छोड़कर किसी एक में नहीं है। वह कहीं भी एक जगह नहीं है। पदार्थ में नहीं है, व्यक्ति में नहीं है, समाज में नहीं—वह एक-एक में नहीं है। वह अनेक के ऐक्य में है। वह ऐक्य है।

अर्थात् जो किन्हीं दो को दूर से पास करता है और पास से इतना पास करना चाहता है कि वे दो एक हो जाएँ; जो बिना इतना किये चैन लेता नहीं और न चैन देता है—जगत में यदि कुछ ज्ञातव्य है तो वही तत्त्व ज्ञातव्य है। वह है प्रेम

न लिखने-पढ़ने द्वारा अथवा व्यवसाय-तपस्या द्वारा यदि कुछ भी हमें खोजना है, जानना है, पाना है; तो वह वही प्रेम है।

शरद ने यदि लौट-लौटकर अपनी रचनाओं में मानव-प्रेम (स्त्री-पुरुष) की चर्चा की, उसी की व्याख्या की, तो समाज-हित की दृष्टि से, लेखक की हैसियत से, इससे अधिक करणीय कर्तव्य दूसरा हो क्या सकता है? अन्य बौद्धिक बातें झमेला हैं। वाद और विवाद बहुत से चल सकते हैं, चल रहे ही हैं, लेकिन उनके भीतर व्यर्थता बहुत है, सिद्धि यत्किंचित् भी नहीं है। उनके ऊपर दुकानदारी चल सकती है, लड़ाई बन सकती है, मानव-हित-साधन उनसे असम्भव है। प्रेम का योग नहीं, तो बौद्धिकता जड़ता है और बन्धन है।

इसलिए शरच्चन्द्र ने अनावश्यक को छोड़कर आवश्यक ही पकड़ा, जबकि उन्होंने राजनीति एवं समाजनीति, देशोद्धार अथवा समाजोद्धार की चर्चा की। स्त्री-पुरुष के मध्य खिंचाव की वेदना जितनी सघन और सूक्ष्म रूप से शरद चित्रित कर सके हैं, मैं मानता हूँ, उतने ही अंश में वह अपने को ज्ञानी प्रमाणित कर सके हैं। षड्दर्शनों का पण्डित कैसा दार्शनिक है, मैं नहीं जानता। पर शरद खरे दार्शनिक हैं, यह मैं कृतज्ञ भाव से स्वीकार करना चाहता हूँ। कलाकार का मैं और अर्थ नहीं जानता। कलाकार गतिशीलता में सत्य को बूझता है, पण्डित का सत्य निस्पन्द है।

ऊपर कहा गया कि समाज-हित की दृष्टि से जो सर्वाधिक आवश्यक है, वह शरद ने किया। समाज मानव-सम्बन्धों को लेकर बनता है। शरद ने उन सम्बन्धों के भीतर भावना की उष्णता और आर्द्रता पहुँचाई। समाज के भिन्न पदस्थ लोगों को (पुरुषों को, स्त्रियों को) उसने मानवता के पैमाने से नापा और नापना बताया। समाज में जो ऊँचा है, वह वहाँ ऊँचा हो अथवा नहीं भी हो। कौन कहाँ किस जगह को भर रहा है, यह तो बाह्य परिस्थितियों पर अवलम्बित हो सकता है। मुख्य प्रश्न यह है कि वह वहाँ अपने स्वधर्म के मध्य कैसे वर्तन करता है। शरद ने इसी भीतरी दृष्टि (कोण) से मानव-समाज को देखा और दिखाया। इस व्यापार में जितने सहानुभूतिपूर्ण और सहज-साम्य के साथ शरद ने कर्तव्य-पालन किया, उतना कम देखने में आता है। रवि ठाकुर तक में पक्ष समर्थन है। प्रेमचन्द में तो वह खूब उभार में है। इधर रूसी विचार से प्रभावित साहित्य में वह बेहद उग्रता से है। शरद की सहानुभूति व्यापक है, यह कथन इस कारण यथेष्ट नहीं है, क्योंकि वह सब कहीं एक-सी गहरी भी है धीमान् (intellectual) की सहानुभूति और भी व्यापक हो सकती है, पर उसमें क्या अनुभूति की गहराई भी होती है? शरद में विस्तार कम है, तो घनता उस कमी को पूरा कर देती है। तात्त्विक गहनता उतनी नहीं है, तब प्रसाद सविशिष्ट है। उनकी रचनाओं में कहना

कठिन हो जाता है कि कौन शरद को विशेष प्रिय है, कौन नायक है, कौन प्रतिनायक, कौन खल। जान पड़ता है, जैसे सब बस स्वयं हैं।

पर व्यक्ति की विशेषता ही उसकी मर्यादा भी होती है। शरद समाजहित की दृष्टि से बेहद प्रभावक और उपादेय हैं (उनकी लोकप्रियता देखिए?) तब आत्महित की दृष्टि उस साहित्य में विशेष नहीं हैं। शरद में व्यक्ति और समाज सदा परस्पर सम्मुख रहे हैं। व्यक्ति और विराट्, व्यक्ति और समष्टि का सामुख्य वहाँ नहीं के तुल्य है। उनकी नायिका बंगाली नारी-समाज की जैसी सदस्य है, क्या वैसे ही मानव-नारी-समाज की भी है? शायद नहीं। उनसे आगे बढ़कर क्या कोई ऐसी भी है, जो नर-नारी के भेद से (मानसिक स्तर पर) ऊँची हो जाती है? नहीं, ऐसा तो बिलकुल नहीं। कोई पुरुषपात्र नहीं है, जिसके लिए मुख्य बिन्दु कोई सदेह नारी न हो, कुछ और हो। और कोई नारी है, जिसने देहधारी पुरुष को लाँघकर इसी भाँति किसी एक संकल्प को समर्पण अथवा वरण किया हो।

जहाँ प्रश्न उस तल तक उठता है, वहाँ भारत में हमारी आँख बरबस रवीन्द्र की ओर उठ जाती है। रवीन्द्र के पात्र समाज के हेतु से नहीं, बल्कि मानो अपने भीतर से ही, मानो समूची प्रकृति के ही साथ द्वन्द्वग्रस्त हैं और जैसे अपनी ही गाँठ को खोलना चाह रहे हैं।

इसी से शरद जबकि हमारे जी को मथ डालते हैं, तब क्या वह हमें विराट् की ओर भी उद्बुद्ध करते हैं? स्तूपाकार महदादर्श पात्र शरद नहीं खड़े करते। वह symbolic नहीं हैं।

लेकिन क्या हम इसे शरद की त्रुटि कहकर छुट्टी पाएँ? मानव और मानव के प्रेम की, उनके सम्बन्धों की समस्या को शरद ने इतना अपना लिया कि व्यक्ति और विराट् का प्रश्न पीछे रह गया, तो क्यों इसके लिए हम सामाजिक व्यक्ति की हैसियत से उनके और अधिक कृतज्ञ नहीं हो सकते?

[चार]

एक मित्र के साथ की बातचीत भूलती नहीं है। भूल जाती, अगर मैं मित्र को मामूली मान सकता। विचार और परख के आदमी थे और तबीयत के साफ। कलकत्ते रहते थे। मैं साधारणतया शरच्चन्द्र के बारे में जिज्ञासा से भरा रहता था। जानकारी जो मिले उसी को संग्रह कर लेना चाहता था।

मैंने कहा, ''सुना है, शरद बाबू यहीं कलकत्ते में किसी जगह हैं। आप जानते हैं?''

बोले, ''शरद नावलिस्ट न? हाँ, रहते हैं। जगह बिलकुल ठीक तो नहीं

जानता। कुछ काम है?''

मैंने कहा, ''काम तो क्या, यों ही पूछा। कभी मिलने को जी हो आता है।''

बोले, ''जिसे मिलना चाहते हो, उसे जानते भी हो? मैं तो मिलने की सलाह न दूँगा।''

पूछा, ''क्यों?''

बोले, ''आदमी कुछ—यों ही है। तरीके का आदमी नहीं है। संस्कारिता उसमें नहीं दीखती।''

पूछा, ''आप उनसे मिले हैं?''

बोले, ''मिला नहीं, देखा है। यों इतिहास काफी कुछ जानता हूँ। असल में उस व्यक्ति को सभ्य सोसायटी मिली भी तो नहीं। और जब मिली, तब संस्कार पक चुके होंगे।''

सुनकर मैं असमंजस में पड़ गया। जानना चाहा कि ऐसी अभद्रता के सूचक लक्षण उन्होंने क्या-क्या पाये हैं। और फिर दीखनेवाली भद्रता क्या सन्दिग्ध वस्तु भी नहीं हो सकती। कपड़े ढंग के न हों तो क्या मन साफ नहीं रह सकता?

मित्र ने बात सुनी-अनसुनी कर दी और बताने लगे, ''अजी, वह शख्स शराब इतनी पीता है कि तौबह!''

मैंने पूछा, ''तो? इनों-गिनों को छोड़कर यूरोप-अमेरिका में सब शराब पीते हैं, क्या यह कहना होगा कि सब अशिष्ट हैं। शराब इतनी बुरी चीज है?''

बोले, ''और भी ऐब हैं। सभी ऐब हैं।''

मैंने कहा, ''सब तो कहाँ से होंगे। क्योंकि सब ऐब शरद में ही हो जावेंगे, तो बाकी हम-आपके लिए क्या बचेगा? पर सुनते हैं, उन्होंने शादी नहीं की।''

मित्र सुनकर हँस दिये। वह हँसी जी की नहीं, व्यंग्य की। बोले, ''शादी बन्धन जो है।''

मुझे यह बात रुचा नहीं। चाहा कि बात व्यंग्य से नहीं, सफाई से हो।

बोले, ''साफ मुझसे न कहलाओ। फिर एक किस्सा नहीं है। कहूँ भी तो क्या-क्या? और तुम न सुनो तो अच्छा।''

कुछ रुककर मैंने पूछा, ''आपने उनकी रचनाएँ पढ़ी हैं।''

बोले, ''कुछ पढ़ी हैं। लिखता अच्छा है। लेकिन उससे क्या?''

मैंने कहा, ''मुझे नहीं मालूम होता कि लिखकर दूसरे के मन को प्रभावित करना इतना आसान काम है और वह काम बुरे मन और मैली तबीयत से हो सकता है?''

बोले, ''अभी दुनिया और देखो। लिखना लिखना है, इन्सानियत और चीज

है।''

मैं उन मित्र की शरद के प्रति ऐसी अप्रिय भावनाओं का भेद अब भी नहीं जानता हूँ। शरद से उनका वैर नहीं। फिर उन भावनाओं में ऐसी हीनता ऐसी परुषता क्यों थी? प्रतीत होता है कि ऐसे मामलों में स्व-रहित ही पर-वैर जितना काम दे जाती है। वह मित्र अपने सम्बन्ध में इतने आश्वस्त थे कि जैसे आत्म-निरीक्षण और आत्म-ग्लानि की उन्हें आवश्यकता ही न हो। इससे जिस आसानी से अपने को सही मानते थे, उसी आसानी से दूसरे को गलत मान सकते थे।

उन्होंने जानना चाहा कि आखिर शरद को जानने की मैं क्यों इतनी उत्कण्ठा रखता हूँ। कुछ दिलचस्प कहानियाँ लिख दी हैं, इसीलिए?

मैंने कहा, ''हाँ।''

बोले, ''कहानी तो मनगढ़न्त कल्पना होती है। जो अच्छी कहानी लिखता है, वह अच्छा झूठ बोलता है, यही तो मतलब हुआ!''

मैंने कहा, ''यह भी सही। लेकिन क्या इतनी तसल्ली कम है कि बुरा झूठ नहीं बोलता? और जो अच्छा है, वह सच ही होता है, झूठ भी कभी अच्छा हुआ है?''

बोले, ''चलो तर्क छोड़ो। लेकिन उस शख्स से आखिर चाहते क्या हो?''

कहा, ''प्रणाम निवेदन करना चाहता हूँ। मैं उनका कृतज्ञ हूँ।''

वह मेरी इस भावना को नहीं समझ सके। मैं भी क्या समझा सकता था। निश्चय जाना, यह अन्त में भावनाओं का ही प्रश्न है। 'जाकी रही भावना जैसी।' क्योंकि इसके बाद उन्होंने शरद बाबू के सम्बन्ध में जाने क्या-क्या बातें न सुनाईं। वे यहाँ लिखीं नहीं जा सकतीं। उन्हें ज्यों-का-त्यों माना जाये तो शरद इतने काले बनेंगे, जितना कोयला। मैं सब सुनता रहा।

बोले, ''अब भी उसके लिए तुम्हारा आदर कायम है?''

मैंने कहा, ''सच कहूँ तो विस्मय कुछ बढ़ गया है। आदर भी बढ़ गया है। जो शरद इतना मैला है और फिर भी अपनी रचनाओं से इतनी सुनहरी और विविध रंग की आभा बिखेर सकता है, तो इससे मेरे मन को यही मालूम होता है कि वह और भी जानने योग्य है, और भी गहन है।''

बोले, ''तुम मेरा विश्वास नहीं करते?''

मैंने कहा, ''इसीलिए नहीं करता कि मैं शरद को देवता नहीं समझना चाहता। उनकी रचनाओं में जो है, उस रचनाकार को सच मानूँ, और आपकी बातों में जो शरद दीखता है, उसे भी विश्वसनीय मान लूँ, तो शरद मानवोत्तर, लोकोत्तर हो जाते हैं, एकदम विस्मय पुरुष।''

नहीं जानता कि भिन्न, लोगों को भिन्न, यहाँ तक कि प्रतिकूल, धारणाओं

का मेल कैसे बैठाया जावे। सच है कि सत्य अनन्त हैं। और झूठ बस अहंकार ही है, जिसका शरद में इतना अत्यन्ताभाव है कि मन होता कि कहूँ कि शरद धार्मिक पुरुष थे। उनकी रचनाएँ लगभग धर्मग्रन्थ ही हैं।

अचरज है कि जिस रचना की सहायता से मेरे मन में प्रीति का आवेग भर उठता है, उसी रचना के कारण दूसरे व्यक्ति को शरद दानव किस भाँति प्रतीत हो आते हैं। देखता हूँ कि मेरी कृतज्ञता और श्रद्धा उनके प्रति जितनी अडिग है, उस ओर की अश्रद्धा भी उतनी ही कट्टर है। पर वह जो हों और व्यक्तियों की मतियाँ जितनी भिन्न हों, यह पक्का निश्चय है कि जो शक्ति बिना किसी अयुद्ध के कागज पर छपे शब्दों द्वारा किसी एक के भी जी को हिलाकर उनमें से उच्छ्वास और आँसू निकलवा सकती है, वह शक्ति दानवी नहीं है। नहीं, दानवी वह कभी नहीं है।

[पाँच]

दर्शनशास्त्र के एक बंगाली प्रोफेसर थे, जो अब चौथेपन में हैं और अवकाश-प्राप्त हैं, मिलने पर अक्सर कला और धर्म की चर्चा चल निकला करती है। कहने लगे, ''कला और पैसा, ये दो हैं। एक-दूसरे पर नहीं टिक सकते। कला को व्यवसाय बनाना गलत है, लेकिन जीना तो कलाकार को भी पड़ता है न। जीने में पैसा लगता है, और आज दुनिया की यह हालत है कि पैसा पाने के लिए छीन-झपट की वृत्ति चाहिए। राजनीति का बोलबाला है और पैसा मुद्रानीति के ताबे है। इससे कला का व्यभिचार होता है। व्यभिचार व्यभिचार हो, पर उससे टके सीधे होते हैं। इससे टके की दुनिया में व्यभिचार आर्ट क्यों न हो जाए! इससे आज दिन 'आर्टिस्ट' के आर्ट की जरूरत नहीं है, 'आर्टिजन' वाला आर्ट चाहिए। इससे आर्ट का सत्यानाश हो जाएगा, माना, पर रोटी तो मिलेगी।...''

बाबा (उनको हम यही कहते हैं) बोलते कम हैं, बोल पड़ते हैं तो रुकना सहज नहीं रहता, और इस आर्ट और व्यवसाय के विरोध के बारे में जैसे उनके भीतर कहीं घाव है। ठेस लगी नहीं कि फिर व्यथा ही वहाँ से निकल पड़ती है।

मैंने कहा, ''सुनिए। आप शरद को जानते हैं?''

बोले, ''बंगाली हूँ, शरद को न जानूँगा? हाँ, तुम क्या समझते हो। शरद पैसे को मिट्टी भी नहीं, मैल समझता था। कुरता-धोती से आगे उसने कपड़ा नहीं जाना। धन आया, पर मन पर क्या उसकी छाया भी आ सकी!''

इसके बाद स्वदेश और विदेश और आदिकाल और आधुनिककाल के कलाविदों की चर्चा उन्होंने छेड़ी...

मैंने कहा, "आप निकट से उनको जानते हैं न?"

बोले, "हमारा एक क्लासफैलो शरद का बहुत घनिष्ठ मित्र रहा है।"

मैंने कहा, "मित्र? तो शरद मित्रहीन नहीं थे, जैसे कि वह पत्नीहीन थे।"

बोले, "ओः, मित्र से वह बात नहीं। He was a solitary soul that way. (उस दृष्टि से वे एकाकी थे)।"

मैंने पूछा, "निकट के रिश्तेदार हैं?"

बोले, "रिश्तेदार होंगे। शायद हैं। पर मेरा विश्वास है शरद के अपने चक्कर में कोई नहीं है। या कहो किसी के चक्कर में वह स्वयं नहीं हैं।"

मैंने पूछा, "शादी—?"

"मालूम नहीं। वदन्तियाँ अनेक हैं।"

"यानी—?"

"बस वह एक था अलग, एकाकी।"

वह व्यक्ति जिसने भोग्य-रूप में नारी को कभी नहीं पाया—प्रतिभा पायी, 62 वर्ष की वय पायी, स्नेह से लबालब भरी आत्मा पायी, फिर भी नारी को जिसने भोग में नहीं पाया—ठीक उसी व्यक्ति ने ही हृदय को जितना स्पन्दनशील और सम्पूर्ण भाव से चित्रित किया, वैसा क्या कोई गृहस्थ कर सका? नहीं कर सका। इसी से मैं इस विरागी, फिर भी संसारी प्राणी के प्रति उत्कण्ठित जिज्ञासा से भर-भर आता।

देवदास पार्वती की अलख जगाये रहा, लेकिन जब विवाहित पार्वती रात्रि के एकान्त के सम्पूर्ण भाव से उसके प्रति अपना आत्मार्पण निवेदन कर उठी, तब निविड़ अधमाचार से घिरे देवदास ने क्या किया? क्या पार्वती को लिया? नहीं, लिया नहीं। मूर्ति की भाँति उसे अपने से दूर ही रखा। मूर्ति की भाँति उसने अपने लिए चाही; मूर्ति पाने की स्पर्द्धा नहीं की।

क्यों?

मालूम होता है, शरद स्वयं उसके जवाब हैं। और नहीं तो नारी-हृदय के प्रभु शरच्चन्द्र के चिर-अन्य ही रहने का भेद हो क्या सकता है? वह है तो प्रेम की प्रगाढ़ता ही है।

□

महादेवी वर्मा

सुना है, महादेवीजी नब्बे प्रतिशत हँसती हैं, बातें कम करती हैं?

—बात तो कम नहीं करतीं, पर प्रतिशत हँसी के पक्ष में अधिक हो सकता है। यह भी कहा जा सकता है कि वह हँसी सर्वथा बात में से निकली हुई नहीं होती, कुछ असम्बद्ध भी होती है।

क्या उनकी हँसी असम्बद्ध से अस्वाभाविक भी हो जाती है?

—अस्वाभाविक महादेवीजी की ओर से नहीं कहा जा सकता। चर्चा के प्रसंग की ओर से भले ही अस्वाभाविक कह लिया जाए।

महादेवीजी की हँसी में मनोवैज्ञानिक तथ्य क्या है?

—मुझे लगता है, महादेवीजी अपने और दूसरे के बीच अन्तर बनाये रखना चाहती हैं। उनको सहज, फिर भी अनिवार्य बनाये रखने के लिए, बीच में यह हँसी डाल देने का उपाय है। इस तरह वह स्वयं किंचित् दुर्ज्ञेय बनती हैं।

हँसी का तरीका उन्होंने क्यों अख्तियार किया? उन्हें दुर्ज्ञेय बनने की प्रेरणा कैसे और क्यों होती है?

—आपके प्रश्नों का पूरा उत्तर मुझसे कैसे मिल सकता है। दुर्ज्ञेय बनने की आवश्यकता स्वयं दुर्ज्ञेय नहीं होनी चाहिए। अपने को न खोलने की इच्छा हम सभी में है। एक स्त्री में सहज भाव से वह अधिक हो सकती है, कवयित्री में और भी अधिक; किन्तु; किन्तु महादेवीजी के व्यवहार में शिष्ट सहानुभूति से दूर नहीं कही जा सकतीं। दूसरा उनकी जगह होता तो अपने को गुमसुम या गरिमामय बनाकर सुरक्षित कर लेता। महादेवीजी का शिष्टाचार उन्हें ऐसा नहीं करने दे सकता, वह उन्हें हार्दिक दिखलाना चाहता है। वह हार्दिकता उतनी सहज उनके लिए नहीं है। कारण वे पारदर्शी सन्त प्रकृति की नहीं हैं। ऐसी हालत में

खिलखिलाहट में भरी हँसी ही आवरण का एकमात्र उपाय रह जाता है। लगता है, इस हँसी में वह खुल रही हैं, पर वही उनको ढक रही होती है।

महादेवीजी से आप सर्वप्रथम कब मिले थे?

—ठीक तिथि याद नहीं है, लेकिन पहली बार जब मिलना हुआ उसको अब से बीस वर्ष होते होंगे।

परस्पर में क्या-क्या बातें हुई? यदि कुछ याद हों तो बताने की कृपा करें।

—बातें पूरी तो याद नहीं हैं। वे इलाहाबाद शहर में तब किसी कन्याशाला में थीं, उनकी कविता ने नया-नया लोगों का ध्यान खींचा था। मुझे याद है कि पाठशाला के बन्द दरवाजे पर मुझे कुछ देर रुकना पड़ा था। फिर कुछ देर अन्दर प्रतीक्षा में बैठना पड़ा। मालूम हुआ कि खबर दी गयी है, नहा रही हैं, अभी आ रही हैं। वह 'अभी' मुझे कुछ समय अभी नहीं मालूम हुआ। काफी देर में वह आयीं। जान पड़ता है वह देर मुझे रुचिकर न हुई थी, और आते ही इसी की झल्लाहट मैंने उन पर उतारी। कहने की आवश्यकता नहीं कि वह भी झल्लाहट के रूप में नहीं उतरी। मैंने कहा था कि देखिए, पहले आपने यह गलती की कि कविता लिखी, फिर यह कि छपने दी, तिस पर सबसे बड़ी गलती यह कि वह कविता अच्छी लिखी। किसी ने आपसे यह नहीं कहा था कि आप एक-पर-एक गलतियाँ करती चली जाएँ। यह आपका अपना काम था। कोई भी आपके साथ इसके दोष को बँटा नहीं सकता। अब अपने कर्मफल से आप बच नहीं सकतीं। यानी अपनी कविता से आपने ध्यान खींचा है तो आप अपने को उस ध्यान से बचाने की अपात्र हो गयीं। बात इसी ढंग से शुरू होकर न जाने कहाँ-कहाँ घूमती-फिरती रही। जान पड़ता है उनका असमंजस और मेरा क्षोभ अधिक देर हमारे बीच ठहरा नहीं। यही साहित्य-वाहित्य की कुछ गपशप होती रही होगी।

जी, आप पूछना चाहती हैं कि वे हँसी थीं और कितनी बार हँसी थीं। नहीं, उस समय एक बार भी उनके हँसने का स्मरण नहीं है। तब वे गुरुजी थीं भी तो नहीं। शायद विद्यार्थिनी थीं और एम.ए. आरम्भ नहीं, तो बी.ए. अन्तिम की परीक्षा दे रही थीं।

आप अभी हाल में भी महादेवीजी से मिले होंगे, तब के और अब के उनके व्यक्तित्व में क्या अन्तर पड़ा है?

—हाँ, मिला हूँ, और मिलता ही रहता हूँ। अन्तर वही ठीक बीस वर्ष जितना पड़ा है। तब सलज्जा थीं, अब बातचीत में दूसरे को लज्जित करती हैं। जीवन

में तब प्रवेश कर रहीं, और कहाँ उनका स्थान है और होगा, इसके बारे में हर धारणा से रीति और हर आशा से भरी थीं। अब सब घटित घटना है। न धारणा के लिए और न आशा ही के लिए स्थान है। इसलिए व्यवहार में अबोधता नहीं रह गयी है। सिद्ध दक्षता आ गयी है। इत्यादि-इत्यादि कितना मुझसे कहलाइएगा, खिलती वय से आरम्भ होकर उसके अनन्तर बीस वर्ष का अन्तर अपने-आप में समझ लेने की बात है।

महादेवीजी की कविता का धरातल क्या है?

—देखिए, मैं अकवि हूँ, उनकी कविता का धरातल शायद बौद्धिक है या कहें बौद्धिक सहानुभूति है। शायद वह अनुभूति से किंचित् भिन्न वस्तु है।

महादेवीजी को कविता की प्रेरणा कहाँ से प्राप्त हुई?

—यह प्रश्न महादेवी से करने योग्य है।

मेरे पूछने का तात्पर्य यह है कि महादेवीजी को कविता की प्रेरणा उनके जीवन की बाह्य-परिस्थितियों के कारण है अथवा उनकी प्रेरणा भीतरी साधना में निहित है?

—बाहर की परिस्थिति और भीतर की साधना मेरे लिए वे दो अलग निरपेक्ष तत्त्व नहीं है। भीतर-बाहर में क्रिया-प्रतिक्रिया चलती ही रहती है। इस तरह मैं उनकी या किसी की कृतित्व-प्रेरणा को किसी खास खाने में बिठाकर नहीं देख सकता।

महादेवीजी गृहिणी या माता होतीं तो क्या उनकी कविता का रूप यही होता?

—नहीं, यह नहीं होता, तब वह कविता न इतनी सूक्ष्म होती, न जटिल, न गूढ़। तब वह अधिक प्रकृत होती।

महादेवीजी में भ्रान्ति, जड़ता, मूक प्रणयानुभूति अधिक है। वेदना है, किन्तु उसमें वे घुलती नहीं हैं, वरन् वे सुख का अनुभव करती हैं, ऐसा क्यों है?

—आपके प्रश्न में शब्द बड़े आ गये। उनमें से मुझे राह बूझ नहीं मिलती। वेदनावाली बात समझ में आती है। वेदना में घुलना मेरे विचार में यह आदमी के अपने निर्णय की बात नहीं है। यदि कोई नहीं घुलता, तो कहना यह होगा कि वेदना की मात्रा पर्याप्त से कम है। महादेवीजी वेदना में घुल गयी हैं ऐसा मैं भी नहीं मान पाता। इसी से मुझे मानना होता है कि वेदना वह समग्र नहीं, किंचित् बौद्धिक है। आपके पहले प्रश्न के उत्तर में जो मैंने कहा था, कि मेरी

दृष्टि में उनके काव्य का धरातल बौद्धिक है या बौद्धिक सहानुभूति है, उसका यही मतलब था। बुद्धि जानती है, इस कारण घुलने नहीं देती। यानी वह भक्ति से भिन्न है। भक्ति में विह्वलता है, महादेवी के काव्य में इतनी अधिक कविता है कि उसी के कारण हम जान लेते हैं कि विह्वलता नहीं है। विह्वलता में भाषा के किनारे टूटे-फूटे बिना नहीं रह सकते, जबकि महादेवीजी की कविता भाषा की सम्पदा की अनूठी प्रदर्शिनी है। इसमें मैं वेदना की कुछ कमी ही का कारण देखता हूँ। वेदना वह जो बुद्धि को भिगो दे। बुद्धि अलग से जिसे थामे रह सकती है, वह पीड़ा शायद बुद्धिगत है, प्राणगत नहीं है, जबकि वेदना का मूल प्राण में है।

'She is pathetic, not tragic.' क्या आप महादेवीजी के सम्बन्ध में इस धारणा से सहमत हैं?

—इन दो शब्दों में Contrast तीव्र है। Tragic गुण तो महादेवी के काव्य में मुझे कम ही मिलता है, पर Pathetic उसे कह देकर भी मुझे छुट्टी नहीं मिलती। Pathetic विशेषण के नीचे मानो भाव की बहुत ही कच्ची धरती माननी होगी। उस काव्य में भाव की उतनी कच्ची भूमिका नहीं है, उससे अधिक तल्लीनता है। पर जैसा कि मैंने माना है, कविता में उनकी निजता डूबती नहीं है, बुद्धि की डोर से वह जैसे अलग थमी रहती है। इसी से ट्रेजिक भाव उत्पन्न होने से वहाँ कुछ बच ही जाता है।

महादेवीजी और मीरा की पीड़ा में क्या अन्तर है?

—उत्तर मुझे अनुमान से ही देना होगा। अनुमान खतरनाक भी होता है। महादेवीजी मेरे लिए समकालीन हैं, मीरा ऐतिहासिक। पर जहाँ तक सम्भव है, मैं व्यक्तित्वों पर से अनुमान नहीं लगाता। अनुमान काव्य से लगता है। महादेवीजी की पीड़ा चाहकर अपनाई हुई है, मीरा की अनिवार्य। मीरा अपने में विवश और अपनी पीड़ा से छुटकारा पाने के लिए विकल हैं। वे प्यासी हैं, इसलिए उनमें पानी की पुकार है। महादेवी प्यास को ही चाहती मालूम होती है, इससे अनुमान होता है कि प्यास को उन्होंने जाना नहीं है। घायल घाव नहीं चाहता, जो अभी घाव ही चाहता है, मालूम होता है उसकी गति घायल की है नहीं। महादेवीजी विरह और वियोग में रस अधिक ढूँढ़ती हैं। इसका अर्थ है, विकलता उतनी अनुभव नहीं करतीं। मीरा तो अपने गिरिधर गोपाल के पीछे सारी लाज लुटा बैठी हैं। महादेवी के लिए सामाजिक सम्भ्रान्तता उतनी नगण्य वस्तु नहीं है। कोई गिरिधारी उनके लिए इतना मूर्त्त और वास्तव नहीं बन सकता जो उन्हें उधर से असावधान

कर दे। यानी अपने इष्ट को वह विचार रूप में ही ग्रहण कर सकती हैं, प्रत्यक्ष रूप में नहीं चाह सकतीं, प्रत्यक्ष होकर उसे शरीर तक मिलने की दु:सम्भावना हो आती है। महिला-जनोचित उनके स्वभाव के लिए वह सर्वथा असह्य हैं। इस तरह मीरा और महादेवी की पीड़ा में मैं किसी प्रकार की समकक्षता नहीं देख पाता हूँ।

महादेवी के काव्य में प्रणयानुभूति के अतिरिक्त सत्य, सुन्दर कहाँ तक साध्य और साधन है?

—मैं प्रश्न को ठीक तरह हृदयंगम नहीं कर पाया। मेरे लिए तो प्रत्येक सम्बन्ध सघन होकर प्रणय बन जाता है। मूर्त्त के लिए ही नहीं अमूर्त्त के प्रति भी प्रणय होता है। प्रणय अपनी शक्ति से मूर्त्त को अमूर्त्त और अमूर्त्त को मूर्त्त बना चलता है। अर्थात् प्रणयानुभूति से अतिरिक्त काव्य में कुछ और होने का अवकाश ही कहाँ है? पर हाँ, महादेवी के काव्य में वैसा अवकाश रहा है, क्योंकि बुद्धि वहाँ डूबी नहीं है, भीगी नहीं है; किंचित् स्वस्थ और सुरक्षित रह गयी है। मीरा से पूछने चलो तो गिरिधारी से अलग कोई सत्य और सुन्दर उसके लिए बचता ही नहीं कि जिसके प्रति प्रणयानुभूति एवं प्रणय-निवेदन हो। उसके अतिरिक्त सत्य और सुन्दर को होने के लिए अधिष्ठान ही कहाँ है? यदि है तो मानूँगा कि काव्य की त्रुटि है। इसी अर्थ में मैंने कहा कि आपके प्रश्न को मैं पूरी तरह हृदयंगम नहीं कर पाया।

महादेवीजी काव्य को किन अर्थों में लेती हैं, 'कला के लिए कला का सिद्धान्त' उनके काव्य पर कहाँ तक लागू होता है?

—प्रश्न के पहले भाग का उत्तर महादेवीजी से लीजिए।

'कला कला के लिए'—यह सूत्र महादेवीजी के काव्य में कितनी तृप्ति पाता है, यह भी उस सूत्र के सूत्रधार से मालूम करने की बात है। मैं समझता हूँ कि माने जानेवाले लौकिक उद्देश्यों में से किसी के साथ उस कविता को कठिनाई से ही जड़ित देखा जा सकेगा। निरुद्देश्य तो उसे या किसी को कैसे कहा जा सकता है, पर क्योंकि हम किसी स्थूल और स्पष्ट लौकिक हेतु से उसे नहीं जोड़ सकते, इसलिए उस काव्य-कला को 'कला के लिए' ही स्रष्ट माना जाये तो कुछ अन्यथा न होगा।

पद्य में वे अपने-आप में सिमटती हैं, किन्तु गद्य उनकी सहानुभूति को कहाँ तक बिखेरता है?

—आपकी बात में कुछ ऐसा आशय तो है, जिससे मैं सहमत हो सकता हूँ। पद्य

में जैसे उन्होंने अपने को टटोला है, और अन्त में अपने को निवेदित किया है उसके प्रति जो उनके अपने आत्म से भिन्न नहीं है। इस तरह घूम-फिरकर उनका पद्य अधिकांश उन तक ही लौट आता है। उसमें जगत नहीं है, मेरे ख्याल से जगदाधार भी नहीं है। इसलिए वह काव्य इतना वायव्य और सूक्ष्म है कि अनुभूति तक में मुश्किल से आता है। यह सुविधा गद्य में तो है नहीं। गद्य इतना पर-निरपेक्ष हो सकता ही नहीं है। इसलिए उनके गद्य में सहज-भाव से हम-तुम की चर्चा हुई है। उनमें मानव-पात्र हैं और वास्तव परिस्थितियाँ हैं, केवल आत्म-ही-आत्म वहाँ नहीं है।

सहानुभूति की गति आवश्यक रूप से अपने से इतर के प्रति है। महादेवीजी के पद्य में वह इतर लगभग सुत्त है। इससे यह कहना कुछ हद तक ठीक ही है कि गद्य में इनकी सहानुभूति अपेक्षाकृत अधिक खिली है।

महादेवी के रेखा-चित्रों के सम्बन्ध में आपकी क्या धारणा है?

—रेखा-चित्र से मतलब शायद आपका उन शब्द-चित्रों से है जो उनकी पुस्तक 'अतीत के चल-चित्र' और 'स्मृति की रेखा' में मिलते हैं। मेरे ख्याल में वे शब्द-चित्र सुन्दर बन पड़े हैं और हम में सहानुभूतिपरक स्पन्दन जगाते हैं। यह कि वे महिम्न माने जानेवाले नायक-नायिकाओं के कल्पना-चित्र नहीं है, एक अच्छी ही बात है। साहित्य ने असाधारण को पर्याप्त से अधिक महत्त्व दिया है। असाधारण किंचित् अपसाधारण भी होता है। समय है कि हम साधारण के महत्त्व को पहचानें। एक समय किसी साहित्य चर्चा में अमुख साहित्य-पण्डित से 'साधारणीकरण' शब्द सुना था। उसका शास्त्रीय अर्थ मैं नहीं जानता, लेकिन इस अर्थ में 'साधारणीकरण' मुझे प्रिय और मान्य होता कि प्रत्येक निजता को हम इस रूप लें और दें कि वह सार्वजनिक से विषम न रह जाए। महादेवीजी को इसके लिए यानी रेखा-चित्रों के लिए मैं बधाई दे सकता हूँ। इसका मतलब यह कि मैं उनके प्रति उस सृष्टि के लिए कृतज्ञ हूँ।

महादेवीजी की चित्रकला में विरहिणी नारियों के ही धुँधले चित्र मिलते हैं, ऐसा उनसे जान में हुआ है या अनजान में?

—जान-अनजान दोनों में?

महादेवीजी की चित्रकला के सम्बन्ध में आपके क्या विचार हैं?

—महादेवी की रचनाओं में मैंने उनके बनाये चित्र देखे थे। पर उन्होंने जो अपने कमरे की भीतों पर चित्र झाँके हुए थे, उनका मुझ पर अधिक प्रभाव पड़ा। पहली

बार वहाँ जाने पर मैं उन भीत-चित्रों को मुग्ध-सा देखता रह गया। काव्य-पुस्तकों में अंकित, या स्वतन्त्र चित्र-भावों को मूर्त्त करने के प्रयत्न में बने हैं। जीवन-प्रसंग से वे इतने जुड़े नहीं हैं। इससे वे पूरी तरह अनुभूति की पकड़ में नहीं बैठते। यों तो अज्ञेयता भी एक प्रकार का रस है, पर उसकी बात यहाँ नहीं करूँगा। हम गर्व में रहते हैं, इससे जब हमारी बुद्धि कहीं अकृत-कार्य होती है, तो किंचित् अच्छा भी लगता है। वैसी दुर्बोधता उन चित्रों में है, पर मुझ जैसे को कुछ देते वे नहीं जान पड़े। कमरे की भीतों पर जो चित्र थे वे उस प्रकार भाव-कैवल्य में से नहीं बने थे। उन्हें घटनात्मक भी कहा जा सकता है। जीवन-प्रसंग से उनका सीधा सम्बन्ध था। शायद इसीलिए रेखांकन आदि की अपनी सम्भव त्रुटि के बावजूद वे मुझे विभोर कर सके। मानना होगा कि महादेवीजी की चित्रकला जीवन से अधिक चिन्तन की ओर उन्मुख है। जीवन तो मांसलता माँगता है। उसके बिना वह चलता नहीं, पर चिन्तन के लिए शरीर ही बाधा है, इसलिए अशरीरी चित्रण चिन्तनाभिमुखता के लिए अधिक अनुकूल पड़ सकता है। इसको फिर चाहे उसकी विशेषता कहा जाये चाहे मर्यादा।

क्या आपके मन्तव्य से इस वस्तु-स्थिति पर भी प्रकाश पड़ता है कि उनके चित्रों में विरहिणी नारी का चित्रण विशेष है?

—हाँ, अपने निज के भाव पर आश्रित रहने के कारण और बाहर के घटना जगत से विमुख होने के कारण उनके चित्रों में एकाकिनी नारी का स्थान पा जाना सहज-सम्भव ही है। उस एकाकिनी को निश्चय ही अनेक भावों और रूपों में आना होगा। परस्परता के बीच उसकी एकान्तता एवं अभावात्मकता उस प्रकार की सामाजिक परस्परता का अभाव स्वाभाविक मानना चाहिए।

महादेवी के काव्य पर बुद्ध, रवीन्द्र, अरविन्द का प्रभाव कहाँ तक है?

—उस 'तक' के अनुपात का मुझे कुछ पता नहीं है। प्रश्न में आये तीनों व्यक्ति रहस्यवादी या आध्यात्मिक माने जाते हैं। आध्यात्मिक पर-प्रभाव को उस रूप में ले सकता ही नहीं है। उसे नितान्त मौलिक होना होता है। मौलिक से मतलब हर प्रभाव उसकी आत्मता में घुलकर ही उसे अंगीकृत हो पाता है। इस तरह कह सकते हैं कि परत्व को स्वत्व भाव से ही वह ले पाता है। महादेवीजी के सम्बन्ध में अनुपात का यद्यपि मुझे पता नहीं है तो भी यह इनकार करते नहीं बनता कि रवीन्द्र, बुद्ध आदि का उन पर प्रभाव है। प्रभाव है यह कहते बनता है, इसी में आशय है कि वह प्रभाव कुछ अलग से भी झलक आता है। स्वत्व में वह एकदम खो नहीं गया है। क्या मैं कहूँ कि अपने को जो पूरी तरह स्वीकार

करने का आभास उनकी रचनाओं में नहीं है, वह बहुत-कुछ 'पर' को अपनाये रहने के कारण भी है।

महादेवी और जैनेन्द्र के साहित्य में किसकी कृतियाँ अधिक स्थायी रहेंगी?

—जैनेन्द्र की तो चिर-चिरान्त स्थायी रहनेवाली है। उसका अभिमान इससे कम मानने को क्यों तैयार हो। महादेवीजी की रचनाओं की जन्मपत्री को भृगुसंहिता से मिलाकर देख लेना चाहिए, तब ठीक-ठीक उसकी आयु के वर्ष, पल, छिन का पता लग सकेगा।

आपके उत्तर में तो उपहास है। क्या प्रश्न को आप उपहास के ही योग्य समझते हैं?

—और नहीं तो क्या? आप ही कहिए, प्रश्न में से विनोद के सिवा और क्या आशय लिया जा सकता है?

तो क्या आप कविता को इतना अस्थायी मानते हैं कि वह कुछ क्षणों या पलों में ही सीमित है?

—नहीं, लेकिन उसकी आयु का निर्धारण कैसे हो? हमसे जुड़ा हुआ सब कुछ 'अहम्' से भी जुड़ा है। अहं तो नाशवान् है। इससे आगे-पीछे हमारी रचनाओं का भी नाश को प्राप्त होना है। काल तो अनन्त है, जिसको हम चिरस्थायित्व कहें उसकी क्या उस अनन्तता में बूँद जितनी भी गिनती है! महादेवी की कविता मर्म को छूती है। मर्म सब का एक है। उसी को आत्मा कहें। अपने शुद्ध रूप में वही परमात्मा है। उस अवस्था में वह कालावाधित सत्य है। उसके नाश का प्रश्न ही नहीं। अतः यत्र-तत्र मार्मिक भी हो जाने के कारण केवल सामयिक भाव से जीकर समाप्त हो जानेवाली कविता वह नहीं है।

□

महात्मा भगवानदीन

लेखन व्यक्ति के अन्तरंग की अभिव्यक्ति है। महात्मा भगवानदीनजी के सम्बन्ध में तो यह और भी बात है। क्योंकि शुद्ध आत्मा-प्रयोजन को छोड़कर किसी और नाते उन्होंने लिखा है, ऐसा मुझे नहीं मालूम। उनके लेख-क्रम को समझने के लिए हमें उनकी जीवन धारा का कुछ परिचय पाना चाहिए।

उनकी मूलवृत्ति साधक की वृत्ति है। धर्म-पुस्तकों को उन्होंने विद्या के तौर पर नहीं मानो साधना के निमित्त पढ़ा। उस समय उनमें तीव्र धर्म-जिज्ञासा थी। धर्माध्ययन से जीवन धर्मार्थ होम देने की ही तत्परता उनमें जागती गयी। वह उनके आत्ममन्थन का समय था। उसका परिणाम यह हुआ कि नौकरी और परिवार को भविष्य पर छोड़ वह घर से निकल पड़े। धर्म की प्यास उनमें उत्कट थी। संयम साधना के वह व्रती थे। तीर्थों की यात्रा की, जंगल-पहाड़ घूमे, अनेक संस्थाएँ देखीं और अन्त में ऋषभ ब्रह्मचर्य-आश्रम लेकर हस्तिनापुर में जम बैठे।

यह काल साहित्य-रचना की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। धर्मोत्कण्ठा जागने से पूर्व देवकीनन्दन खत्री की चन्द्रकान्ता सन्तति के मुकाबले एक तिलस्मी उपन्यास उन्होंने लिखा था। जीवन में यह साधना का काल उपस्थित होने पर उन्होंने उस ग्रन्थ को जला दिया। इस समय उन्होंने दैनन्दिनी (डायरी) लिखी, जिसमें आत्ममन्थन के अनुभव दर्ज किये और कुछ भक्ति के पद, भजन लिखे। ब्रह्मचर्य-आश्रम के बालक अकसर उनकी बनायी प्रार्थना गाया करते थे, इसके साथ धार्मिक पुस्तकों का अध्ययन करते समय, उसकी कुंजी और भाष्य भी आत्मलाभ की दृष्टि से वह लिखा करते थे। स्पष्ट है कि यह सब साहित्य-रचना मुद्रण में नहीं आयी, क्योंकि उसका ध्यान ही नहीं था, पर जीवन में उसका लाभ भरपूर हुआ।

ब्रह्मचर्य-आश्रम का काल महात्माजी के जीवन का अत्यन्त स्मरणीय परिच्छेद है। पुस्तकों से जो स्फूर्ति प्राप्त की थी, वह यदि भावुक थी तो आश्रम-जीवन उनके लिए कसौटी बन गया। यहाँ उनकी साधना में जो रूढ़िगत और सामाजिक था, वह कम होता गया और जो शुद्ध नैतिक और आध्यात्मिक था, वह

प्रबलतर होता गया। इसी समय ब्रह्मचर्य-आश्रम के इतिहास में संघर्ष उपस्थित हुआ, जिसको मैं तो आज रूढ़ि और प्रगति के संघर्ष के रूप में ही देखता हूँ।

अस्तु, इस काल में श्री नाथूराम प्रेमी ने उनसे 'जैन-हितैषी' में कुछ लेख प्राप्त किये, जिनमें धार्मिक श्रद्धा के साथ धार्मिक तेजस्विता भी देखी जा सकती है। आज भी वे लेख पुराने नहीं मालूम पड़ेंगे, उनमें फड़क है और सच्ची शान्ति का स्वर, क्योंकि मूल में धर्मनिष्ठा है और स्थिति से तीव्र असन्तोष।

इस काल उन्होंने रजिस्टरों में जो अपने अध्ययन और अनुभव के परिणाम अंकित किये या सहयोगियों के साथ जो पत्र-व्यवहार किया, वह भी यदि पाया और प्रकाशित किया जा सके तो वह साहित्य की अनमोल निधि सिद्ध होगा, ऐसा मेरा अनुमान है।

किन्तु जीवन तो वर्धनशील है और हस्तिनापुर के ब्रह्मचर्य-आश्रम से अलग होकर जल्दी ही उन्होंने अपने को राष्ट्रीय क्षेत्र में पाया। आन्दोलन के आत्यन्तिक प्रारम्भ, यानी सन् '18 में ही वह जेल पहुँचे। इस काल की उनकी अभिव्यक्ति राष्ट्रीय गौरव से भरी हुई है। उन्होंने भाषण दिये, कविताएँ लिखीं और विविध प्रकार से अपने विचार व्यक्त किये। पहली बार जेल में दो मोटे रजिस्टर तो दोनों तरफ से भरकर लिखे ही। यह राष्ट्रीय प्रवृत्ति ठेठ सन् '34 तक उनमें प्रधान रही। इसमें जीवन कर्म से इतना भरा था कि अलग से लिखने को अवसर न था। जेल ही लिखने के लिए जगह हो सकती थी। वह समय उनका साहित्य-रचना की दृष्टि से कभी खाली नहीं गया। कभी मुझे उन जेल के रजिस्टरों में झाँकने का सौभाग्य मिला है, मैंने पाया है कि उनकी अधिकांश अभिव्यक्ति अध्यात्मुखी है और अतिशय मूल्यवान् है। मुझे भय है कि बहुत करके वह आज अप्राप्त है।

सन् '21 में अरविन्द घोष का तत्कालीन साहित्य महात्माजी इसी दृष्टिकोण से पढ़ते, स्वीकार करते थे कि वह जैन-आत्मवाद और कर्मवाद तथा मुक्तिवाद का शुद्ध समर्थन है।

इस राष्ट्रीय और राजनीतिक अध्याय के बाद उनके जीवन का समन्वय युग आरम्भ होता है। इस काल में उन्होंने अत्यन्त रुचिकर बाल-साहित्य का निर्माण किया है, वह इतस्ततः पत्रों में छपता भी रहा है। यद्यपि रचनाकार का उन पर नाम नहीं रहा है। यह पद्यात्मक है और किन्हीं उद्योगी को इन्हें पुस्तकाकार निकालने का यत्न करना चाहिए।

इनके साथ कुछ निबन्ध भी उन्होंने लिखे हैं। यथा प्रयोजन ही अधिकांश बाध्य होकर वह लिखते हैं और उनके लेखों का श्रेय उनसे अधिक 'विश्ववाणी' के सम्पादक को है, जहाँ कि वह छपते रहे हैं। जैन-संस्कृति वाला लेख तो जैनियों

को विशेष रुचिकर हुआ है और जहाँ-तहाँ उद्धृत होता रहा है। उन निबन्धों की खूबी यह है कि भाषा एकदम सहज और बोलचाल की है; भाव वह हैं जो आध्यात्मिकों के लिए गूढ़ पड़ते हैं। अत्यन्त कठिन विषय को बेहद सरलता से वे उपस्थित करते हैं और किसी पक्ष का खण्डन न करके, सत्य पक्ष को ऐसे चित्रित करते हैं, मानो वह उनका सबका समुच्चय ही हो। यही अपने जैन धर्म की अनेकान्त पद्धति है।

उनके इस समूचे जीवनकाल में और उसमें सृष्ट साहित्य में यहाँ से वहाँ तक एक विशेष निष्ठा की रीढ़ देखी जा सकती है। उस निष्ठा को नाम देना चाहूँगा—आत्म-धर्म परायणता। यह गुण उनके रचे प्रत्येक शब्द को स्पन्दन और स्थायित्व देता है। इसी से वह निस्तेज नहीं पड़ सकता।

'तत्त्वार्थ सूत्र' उन्होंने अपने जीवन के पहले उत्थान में पढ़ा, तब से मानो वह उनके समूचे आत्म-दर्शन का मूलाधार ही बन गया है। उन्होंने उसे अपने ही रूप में मनन किया और मन में बैठाया है। अपने आचरण को भी उस पर ही गढ़ने की चेष्टा की है। हम उसे मोक्ष-शास्त्र कहते हैं। महात्माजी उसे अपने शब्दों में 'स्वातन्त्र्य-दर्शन-सार' कहते हैं। उक्त ग्रन्थ का भाष्य उन्होंने शायद ऋषभ ब्रह्मचर्य-आश्रम में रहते ही आरम्भ किया था। लेकिन वह बात अब भी उनके मन में उपस्थित है और भला दिन होगा जब उस महान ग्रन्थ का भाष्य महात्माजी सबके लाभ के लिए लिखकर प्रकाशित होने दे सकेंगे।

ऊपर की पंक्तियाँ एक जैन मासिक पत्र के लेखक से विशेषांक के लिए कोई बारह वर्ष पूर्व लिखाई गयी थीं। लेकिन भगवानदीनजी के साथ उनसे न्याय नहीं होता। जैन-परम्परा में से वह हमें प्राप्त हुए यह सही है, लेकिन जैन के नाते उन्हें समझना न पर्याप्त होगा, न समीचीन होगा। यह तो कहा ही जा चुका है कि लेखन भी उन्हें बन्धन नहीं है। अपने अनुभव में प्राप्त सत्य के अतिरिक्त वह कुछ नहीं लिखते और लिख नहीं सकते। कल्पना का उपयोग यदि कहीं उनमें है भी तो वह भी इसी सत्य के हेतु से है।

उनका जीवन स्फूर्ति से और कर्म से भरा रहा है। आडम्बर और आकांक्षा जैसी वस्तु उनमें नहीं है। परिणाम यह कि ऊँची-नीची नाना परिस्थितियों में रहकर भी वह अपनेपन से दूर नहीं गये हैं। सदा अतिशय सहज और सरल बने रहे हैं। दुनियादारी एक क्षण भी उन पर ठहर नहीं सकी है, उनसे एकदम अलग उतरी दिखाई देती है। मानो उन्हें ऊँच की अपेक्षा नहीं है, इससे नीच की भी उपेक्षा नहीं है। सब उन्हें समान हैं और उनका व्यवहार इतना खुला है कि देखकर अचरज होता है। जब प्रान्तीय काँग्रेस के अध्यक्ष थे तब भी स्टेशन से आश्रम तक शहर में होकर तीन मील कन्धों पर गन्नों की पूली उठाये लिये चले आना

उनके लिए ऐसी बात न थी कि एक क्षण को भी उन्हें उसका ख्याल होता। उनकी वृत्ति में और सम्पर्क में भेदभाव नहीं है। जैसे जगत की माया उन्हें छूती नहीं है। एक विशेष प्रकार की निरीहता उनका जन्मजात गुण है, उसकी साधना उन्हें नहीं करनी पड़ती है। किन्हीं भी परिस्थितियों में अथवा वातावरण में यह वस्तु उनसे दूर नहीं हो सकी है। इसी का प्रतिबिम्ब उनके साहित्य में दीख पड़ता है। इधर चार-पाँच बरसों में उन्होंने इतना लिखा है और इतने प्रकार का लिखा है कि विस्मय होता है। लिखने के प्रकार में परिवर्तन लाते उन्हें तनिक भी प्रयास नहीं करना पड़ता। अभी बालकों के लिए चुटकले और गीत लिखा रहे हैं कि अगले क्षण ही उनसे गूढ़ तत्त्वज्ञान की सामग्री प्राप्त की जा सकती है। इन दिनों में उन्होंने 125, 150, के आसपास कहानियाँ लिखा दी होंगी। बाल-सामग्री का तो परिमाण नहीं। 'नया हिन्द' के हर अंक में उनके नोट आप पाएँगे। 'रेडियो विज्ञान' के ऊपर एक पूरी पुस्तक तैयार है, और उस कठिन वैज्ञानिक चीज का परिचय ऐसा सुलभ और सुबोध बनाकर दिया गया है कि बालक भी समझ लें। 'जवानो' के लिए जो वह लिखा गये हैं, लिख रहे हैं, और लिख सकते हैं, भारत में उसका जोड़ नहीं मिलेगा। एक पुस्तक 'जवानो' छपी ही है जिसके एकाधिक संस्करण निकले हैं और बड़ी माँग हुई है। जिसने पढ़ा है, मुग्ध हो गया है। उसी जोड़ के निबन्ध अभी इतने हैं कि दो नये संकलन निकल सकते हैं। ''जवानो! राह यह है!'' नाम का लेख किसी जवान को बेकार और आलसी नहीं रहने देगा। 'सफलता' पर एक लेखमाला है, जिससे जवान समझे बिना नहीं रह सकता कि सफलता कहीं उससे दूर नहीं है, उसके अन्दर है और बस उसे हाथों में लेने की देर है।

किन्तु भगवानदीनजी महात्मा ठहरे। एक गाँधीजी की महात्माई थी जिसमें हिसाब न छूटता था, न पैसा छूटता था। जाने कहाँ-कहाँ से करोड़-ही-करोड़ रुपया बहकर गाँधीजी में पहुँचा और वहाँ से देश की प्राणवाहिनी नसों से पहुँचा दिया गया। ऐसे धन ने, जो मैल है, खाद बनकर गाँधी के द्वारा जीवन में वह फल और फूल खिलाए कि देश कुछ काल के लिए मनोहर उद्यान बन गया। गाँधीजी ने पाई-पाई बटोरी और उसका हिसाब रखा। भगवानदीनजी बिखराते चले जाते हैं, जैसे किसान खेत में धान बिखराता है। उनकी लिखी सामग्री जहाँ-तहाँ छितरी पड़ी है। कितनी उसमें लुप्त हो गयी है, पार नहीं। जेल में उनका कम जीवन नहीं गया, और हर जेल-प्रवास में अथक होकर उन्होंने लिखा। कापियों-पर-कापियों और रजिस्टर-पर-रजिस्टर भरते चले गये। सामग्री की दृष्टि से आसमान से लेकर धरती तक उसमें क्या कुछ न था। गद्य, पद्य, कहानी, विचार, भजन, गीत, तत्त्वज्ञान, अनुसन्धान, नीतिज्ञान, दोहे, श्लोक, चौपाई और जाने क्या-

क्या। पर लिखने से आगे जैसे महात्माजी को उससे सम्बन्ध न रहा, जहाँ जो चीज रही, रह गयी। फिर क्या उनका बना मानो इससे उन्हें वास्ता नहीं। अब लोग उनसे कुछ लेकर जहाँ-तहाँ छपने भेज देते हैं। छप जाता है और चार-पाँच किताबें भी निकल गयी हैं, पर यह लोगों का काम रहा है। महात्माजी का तो काम जैसे लिख जाने पर खत्म हो गया।

कहते हैं युग अर्थ का है और हिसाब का है। होगा, महात्माजी तो अपने युग में रहते हैं और वह मानो सतयुग है। लेखों पर पारिश्रमिक मिल निकला है और कभी कहते हैं अच्छी रकम भी मिल जाती है। लोग, सुनते हैं, कमा भी रहे हैं। विलायतों में तो वह बड़े ऊँचे पाये का धन्धा है। यश, मान, धन सभी का अर्जन है, पर वह होगा। महात्माजी को उसका पता नहीं है। जैसे उस बात के पता रखने का वह अपनी तरफ से किसी को मौका ही नहीं देना चाहते। गाँधीजी की तरफ से 'नवजीवन कार्यालय' आपको उनकी रचनाओं के सम्बन्ध में स्वतन्त्रता नहीं लेने देगा। खुद गाँधीजी ने यह व्यवस्था हो जाने दी है। विनोबा के लिए भी एक 'ग्राम-सेवा मण्डल' है। फल यह है कि वह साहित्य सुरक्षित और विधिवत् प्रकाशित है। काश! कि ऐसा कुछ महात्मा भगवानदीनजी के सम्बन्ध में भी हो सके। तब हमें लाभ होगा और शायद हमें चकित रह जाना हो कि कितनी प्रचुर और विविध उनकी रचनाएँ हैं और कितनी सरल और सशक्त!

□

माताजी

अपनी माताजी के बारे में कुछ कहते मुझे झिझक होती है। पिता को तो मैंने जाना ही नहीं। दो वर्ष का था, तभी सुनते हैं उनका देहान्त हो गया। पिता की ओर के किन्हीं सम्बन्धी होने का मुझे पता नहीं। हालत थी नकद या जायदाद की तरफ से एकदम सिफर। इससे छुटपन से ही हमारे परिवार का बोझ माताजी के मायकेवालों पर आया। लेकिन मेरे जन्म के बाद नाना और नानी अधिक काल नहीं रहे। मामा (महात्मा भगवानदीनजी) उम्र छोटी थी और उसी अवस्था में उन्हें नौकरी पर जाना पड़ा। हम उन्हीं के आश्रय में पले।

पर महात्माजी के मन में धर्म-श्रद्धा का बीज था। स्वाध्याय से वह अंकुरित हो रहा था। तभी लाला गैन्दनलालजी का साथ उन्हें मिला। लालाजी फतहपुर में थे और धर्म में उन्हें गाढ़ी अभिरुचि थी। आचरण को अपने विश्वास के बराबर लाने की लगन में दोनों ने घर छोड़ व्रती और ब्रह्मचारी होने की ठानी। नौकरी उस यज्ञ में स्वाहा हुई और हम भाई-बहिनों को लेकर माताजी अपने मायके के घर अतरौली आ गयीं।

महात्माजी और ला. गैन्दनलालजी भारत भर की तीर्थयात्रा पर निकले। माताजी साथ थी, अर्जुनलालजी सेठी और बा. अजितप्रसादजी आदि भी साथ रहे। महात्माजी ने तो कुछ विजन-वन-यात्रा भी की। इस तरह घर छोड़ने के कोई एक-डेढ़ वर्ष के अनन्तर हस्तिनापुर में ब्रह्मचर्याश्रम कायम हुआ और हम बालक उसके पहले ब्रह्मचारी हुए। बालकों की समस्या ऐसे हल हुई। बालिकाओं का भार माताजी पर आया। दो मेरी बहिनें थीं, दो कन्याएँ लाला गैन्दनलालजी की थीं। घर के बड़े जब व्रती हुए तो हम बालक तो गुरुकुल में आ गये; पर दोनों परिवारों में के शेष व्यक्तियों को सम्भालने के लिए माताजी के सिवाय और कोई न था। मामी (महात्माजी की पत्नी भी) उस दल में थीं। तय हुआ कि माताजी सबको लेकर बम्बई मगनबाईजी के श्राविकाश्रम चली जावें। चल-सम्पत्ति में जितना जो था राई-रत्ती महात्माजी ने हस्तिनापुर आश्रम की नींव में होम दिया।

आगे कैसे हुआ और क्या हुआ, यह माताजी ही जानती हैं। महात्माजी जानते होंगे तो शायद पूरा पता नहीं। ब्रह्मचारी गैन्दनलालजी के पास तो कुछ बैंक एकाउंट बचा रह गया था, लेकिन महात्माजी ने अपने और अपनों के प्रति दया को कमजोरी समझा। अचल-सम्पत्ति अतरौली में नाना की कुछ बची रह गयी थी। महात्माजी उधर से उदासीन हुए तो वह भार भी माताजी पर आया। अतरौली मामूली कस्बा है और सम्पत्ति में दो-तीन मकान ही कहिए, जिनकी आय विशेष क्या हो सकती थी। आधार के लिए सिर्फ वह, पालने को खासा कुनबा और इस बारे में सोचने और करने-धरने को अकेली मेरी एक माँ!

उस समय की बातों का ठीक ब्यौरा मुझे ज्ञात नहीं, अनुमान-भर कर सकता हूँ। शायद अतरौली में परिवार के अर्थ अरहर की दाल का उन्होंने व्यवसाय किया था। बहुत छुटपन की मुझे धीमी-धीमी सुध है कि घर में दाल की खूब चक्कियाँ चला करती थीं। माताजी पीसती थीं, मामी और दूसरे जन भी पीसंते थे। शायद उस काम में खास नफा नहीं रहा; बल्कि कुछ टोटा ही पड़ा, क्योंकि बाहर का काम जिनके सुपुर्द था, वे मर्द थे और अपने न थे, वेतन के थे। उसके बाद, याद पड़ता है, अतरौली और अलीगढ़ के बीच इक्के चलाने का उन्होंने व्यवसाय किया था। खुले हुए इक्कों और दाना खाते और रह-रहकर हिनहिनाते हुए घोड़ों से भरे बाहर के चौक की तस्वीर मेरे मन में अब भी कभी-कभी धुँधली-सी झलक आती है। यह काम भी फला-फूला, ऐसा नहीं जान पड़ता। फिर तो माताजी शायद मामाजी और चारों बहिनों को लेकर बम्बई ही जा पहुँची। इससे पहले साधारण अक्षर-ज्ञान ही उन्हें रहा होगा। बम्बई में एक वर्ष के भीतर धर्म का इच्छा परिचय और अपनी व्यावहारिक कुशलता के कारण लोकसंग्रह और सार्वजनिक कार्य में अच्छी दक्षता उन्होंने प्राप्त कर ली। धर्मनिष्ठा उसमें मूल से थी। मृत्यु-समय तक वह उसमें अडिग और तत्पर रही। बहुत जल्दी धार्मिक जनों में उनकी माँग होने लगी और वह इन्दौर, दिल्ली आदि स्थानों पर धार्मिक अवसरों के उपलक्ष बुलाई जाने लगीं।

स्थापना के समय से ही हस्तिनापुर आश्रम को त्यागी भाई मोतीलाल का सहयोग मिला। उनका एक मकान दिल्ली के सतघरे में था। भाईजी का आग्रह हुआ और माताजी ने उस मकान में शायद एक श्राविकाश्रम आरम्भ किया।

इससे पहले सेठ हुकमचन्दजी और कंचनबाईजी के अनुरोध पर कदाचित् एक वर्ष के लिए उनके श्राविकाश्रम का संचालन माताजी पर था, और इन्दौर में कंचनबाई जी, पंडिता भूरीबाईजी आदि से उनका अत्यन्त स्नेह का सम्बन्ध बन आया।

इस अरसे में दिल्ली के धर्मवत्सल बन्धु-भगनियों के प्रेम के कारण उनका

दिल्ली आना-जाना होता ही रहता था। अन्त में यहाँ के भाई-बहिनों के उत्साह और अनुरोध पर सन् '18 में पहाड़ी पर जैन महिलाश्रम की स्थापना हुई और माताजी उनकी संचालिका हुईं।

इतना कुछ करते-धरते हुए भी अतरौली के मकानों की देखभाल भी उनसे न छूटी थी। मामले-मुकदमे भी लगे ही रहा करते थे, इन्दौर श्राविकाश्रम संचालन का काम और समय ही ऐसा था। जिसमें उन पर अपने व्यय का भार नहीं पड़ा। शायद रहने-सहने के खर्च के अतिरिक्त साठ रुपया उन्हें वहाँ मिलता था। शेष में तो अतरौली की सम्पत्ति की व्यवस्था के आधार पर ही उन्हें चलना था। इस तरह अपने पिता (हमारे नाना) के निजी रहने के मकान को छोड़कर शेष जायदाद धीरे-धीरे करके उन्हें बेच देनी पड़ी।

इधर सन् '18 में हस्तिनापुर से मैं निकल आया था। साम्प्रदायिकता, दलगत और व्यक्तिगत स्पर्द्धा-वैमनस्य जो न कराये थोड़ा। परिणाम यह हुआ कि सन् '17 में महात्माजी वहाँ से अलग हो चुके थे और सन् '18 तक बड़ी श्रेणियों के बालक ज्यादातर वहाँ से जा चुके थे। मैं आश्रम से निकलकर आया तब माताजी दिल्ली महिलाश्रम की संचालिका थीं।

सन् '18 से सन् '36 तक के उनके जीवन का मैं थोड़ा-बहुत साक्षी रहा हूँ। वह इतिहास एक दृष्टि से मेरे लिए विस्मयकर है तो दूसरी तरफ से वह मेरे लिए दुःख और चिन्ता का कारण है। एक गहरी भीति, संकोच और उदासीनता उससे मेरे भीतर समा गयी है। सन् '11 में छह वर्ष की अवस्था में उनसे छूटकर तेरह वर्ष का होकर सन् '18 में उनके पास आया था और इकतीस वर्ष की आयु तक उनके सम्पर्क में रहा। आखिर सन् '36 में महायात्रा के प्रयाण पर उन्हें इकला छोड़कर उनसे अलग मैं यहाँ रह गया। तेरह से तीस वर्ष तक की आयु के साल बनने और बिगड़ने के होते हैं। जो मैं बना-बिगड़ा हूँ, उसमें इन्हीं वर्षों का हाथ रहा होगा।

विस्मय होता है मुझे माताजी के अदम्य उत्साह पर। उनका साहस कभी न टूटा। कर्मठता एक क्षण को उनके जीवन में कोई मूर्च्छित नहीं कर पाया। मैंने कभी उन्हें अपने लिए रहते नहीं पाया। दो धोतियाँ उनके पास रहती थीं और संकल्पपूर्वक चार धोतियों से अधिक वस्त्र उन्होंने नहीं रखे, इसके अतिरिक्त चादर और फतूही। अपने में वह व्यस्त और ग्रस्त न थीं, जैसा बुद्धिमानों का हाल होता है। मुझे जीना पड़ रहा है। माताजी पर सोचता हूँ तो वे अकसर अपने सम्पर्क में आनेवालों में वह हिलमिल जातीं और उनके सुख-दुःख में एक हो जाती थीं। परिवार का कोई व्यक्ति और किसी का विचार उनके स्नेह और चिन्ता से बचता न था।

आचार में वह कठोर थीं। मैं सदा का शिथिलाचारी, रात्रि-भोजन के सम्बन्ध में असावधान, लेकिन उनका इकलौता बेटा था तो क्या, मुझे याद है, शुरू में देर से लौटने पर कई दिन-रात का मुझे खाना नहीं दिया गया था। कुल-मर्यादा और सामाजिक व्यवहार के शील-सम्भ्रम का उन्हें पूरा चेत था। महिलाश्रम का सम्पूर्ण भार उन पर था। अर्थ-संग्रह और आन्तरिक व्यवस्था, उसके अतिरिक्त, जन-संग्रह भी। इस अति दुर्वह कर्म-चक्र में हतबुद्धि हो जाते मैंने उन्हें देखा है, ऐसा याद नहीं पड़ता। पैसा नहीं है, व्यवस्था-समिति ने धन रोक लिया है, मकान का कई महीनों का किराया चढ़ गया है, आश्रम में चालीस-पैंतालीस आश्रितजन हैं, माताजी कल ही अमुक उत्सव या कार्य से लौटी हैं, मकान-मालिक का उन्हें नोटिस बताया गया, सबकी ओर निराशा उन तक आयी, व्यवस्था-समिति का विद्रोही विक्षुब्ध रुख उन पर प्रकट हुआ। अभी ठीक तरह वृद्ध शरीर की थकान भी नहीं उतार पायी हैं कि सब सुनकर उन्होंने कहा, ''शिवकमारी, ट्रंक में दो धोती तो रख देना बेटा! कुछ मठरी-वठरी बना देनी होगी, रिपोर्ट और रसीदें रख देना और क्यों, तू चलेगी? जाने दे, मैं अकेली ही चली जाऊँगी। सवेरे जाना होगा। ठीक कर दे, बेटा!'' देखा है कि इस तरह सदा ही वह निकल पड़ी हैं, इस फैले विश्व के विश्वास के बल पर और अपना भरोसा उन्होंने नहीं खोया है।

उनके प्रति विस्मय और श्रद्धा बढ़ती ही गयी है, तो दूसरी ओर गहरा अवसाद भी मेरे मन में बैठ गया है। जगत के प्रति घोर उपेक्षा का-सा जो भाव भीतर समा गया है, मुझे हमेशा डसता रहता है। माताजी जैन-समाज की सदस्या थीं, और सत्य की साक्षी से जानता हूँ कि जीवन के अन्त के पच्चीस वर्ष उनके उस समाज की सेवा और चिन्ता में बीते। इस लगन में उन्होंने अपने को दया या क्षमा नहीं दी। लेकिन उनको जो पुरस्कार मिला, मेरी आँखों के सामने है। मन्दिर में, घर में, खुली सड़क पर उनका अपमान हुआ। वह मरीं तो समाज की अपदृष्टि उन पर थी। श्मशान-यात्रा पर जैन-जन नहीं के बराबर थे। इस पर कभी तो घोर नास्तिकता मेरे मन में छा जाती है। फिर सोचता हूँ कि शायद सेवा-धर्म की यही परीक्षा है। जो हो, एक गहरा शोक सदा ही मन को डसे रहता है, जो जैन-समाज से मुझे कुछ भयभीत और उसकी सेवा से कुछ दूर बनाये रखता है। जीवन में इस गम्भीर अकृतार्थता को लेकर मुझे जीना पड़ रहा है। माताजी पर सोचता हूँ तो जान पड़ता है कि वह एक नारी थीं जिनको प्रश्रय नहीं मिला, बल्कि जिनसे प्रश्रय माँगा गया। लता बनकर दूसरे के सहारे उठने और हरे-भरे होने की सुविधा नहीं आयी। वृक्ष की भाँति अपनी निजता के बल पर उन्हें इस तरह उठना और फेंकना पड़ा कि अनेकों को उनके तले छाँह और रक्षा मिली और बाहर के आतप, वर्षा और शीत को अपने ऊपर ही उन्होंने सह लिया। वह जीवन से जूझती

रहीं, और इकली बनकर नहीं, स्वयं में एक संस्था बनाकर। अपने डैनों के नीचे अनेकों को समेटे इस अपार शून्यता में मानो हठपूर्वक वह ऊँचाई की ओर ही उड़ती गयीं। समय आया तो शरीर गिर गया, लेकिन प्राण तब भी उसमें से ऊपर ही की ओर उठे।

मृत्यु-शय्या पर थीं। गिनती के दिन ही अब उन्हें जीना था। मैंने कहा, ''पीने को अँग्रेजी दवा ले लो।'' लेकिन जो नहीं हो सकता था, नहीं हुआ। रात में कै होती थी, प्यास लगती थी। मैं कहता था। ''क्या है, पानी पी लो न?'' कहने से कै के बाद कुल्ला तो उन्होंने किया; लेकिन कुछ भी हो गले के नीचे एक घूँट पानी उतारने के लिए मैं राजी न कर सका। अपने नेम को रखकर जिन्दगी को चुनौती दिये जाने और उससे जूझते रहने की बात सुनता था, समझता भी था; लेकिन माताजी में उसे देखकर मैं सहमा रह गया हूँ। उस आग्रह में गर्व भी तो न था, एक निष्कपट सहजता थी। वह आग्रह विनम्र था, कट्टर तनिक भी न था और मेरे जैसा तब का बुद्धिवादी भी उसे मूढ़ता कहकर टाल नहीं पाता था; बल्कि उसकी सत्यता के आगे बरबस उसे झुक जाना होता था।

एक कसक वह मन में लेकर ही गयीं। वह कसक थी उनमें इस मुझको लेकर कि इस दुनिया में मैं कैसे जीऊँगा? जी भी पाऊँगा या नहीं, इस बारे में वह चारों ओर से आश्वासन खोजती थीं, पर किसी ओर से इतना भी आश्वासन मरते दम तक उनको नहीं मिल सका। कोई अभिभावक न था। महात्माजी और उनकी गोद में लुढ़ककर तो उन्होंने प्राण दिये, पर उनके जैसे विरागी जन से सांसारिक अपेक्षा रखने का दोष माँ से हो ही कैसे सकता था? उनकी सगी और इकली बहिन थीं, पर भाई को भाई से भी अधिक इतना मानती थीं कि उनकी आत्मलीन सांसारिक उदासीनता पर भूले भी कोई विकार नहीं ला सकती थीं, तब उनके इस अक्षम और निरीह इकलौते बेटे को अपनी छाँह बढ़ाकर उसके तले से लेनेवाला इस जगत में कौन था? फिर जगत के पास सहानुभूति का इतना अतिरेक भी कहाँ है कि उसकी आशा और अपेक्षा की जा सके? बल्कि उसे स्वयं सहानुभूति की भूख है, ऐसे में हे भगवान्! उनके इस इकलौते जैनेन्द्र का क्या होगा? मानो वह पूछती थीं और कहीं से इसका कुछ उत्तर न पाकर, मरने के लिए वह अनुद्यत हो जाती थीं।

मुझसे उन्हें कुछ सान्त्वना न थी। अपने पेट लायक रोटी भी मैं कैसे जुटाऊँगा! और उस वक्त तक तो बच्चों का पिता भी मैं हो चुका था। सच है कि साहित्य में थोड़ा-बहुत अखबारी नाम मेरा हो जाने के कारण कुछ तो उन्हें धीरज बँधा था; पर आर्थिक तल पर वह तनिक भी उनकी सान्त्वना का निमित्त हो सका था, ऐसा मानने की भूल का बहाना मेरे पास नहीं है।

लेकिन, महात्माजी का मानना है—और हम दोनों ही उनकी मृत्यु-मुहूर्त्त के साक्षी थे कि मरने से काफी पहले उनके धार्मिक संस्कारों ने उन्हें संसार के रागादिक बन्धनों से उत्तीर्णता दे दी थी और चिन्ता बाँधकर नहीं, अन्दर के विश्वास का सम्बल लेकर अपनी अनन्त यात्रा पर उन्होंने इस धराधाम से कूच किया।

और मैं क्या कहूँ? मैं अयोग्य, उनकी याद से सदा अपनी रक्षा खोजता हूँ। मुझसे उन्हें दु:ख ही मिला। आज भी अपनी तरफ देखता हूँ तो नहीं लगता कि उनकी आत्मा को मुझसे सुख पहुँचा होगा। उनकी याद को मैंने मिट जाने दिया है और उसको जगाने और कायम रखने का कोई काम मुझसे न होगा। उनका महिलाश्रम था। क्या महिलाश्रम जैसी कोई चीज उनकी याद में नहीं बननी चाहिए, नहीं बन सकती? जरूर बननी चाहिए और जरूर बन सकती हैं, लेकिन मुझमें कभी इस बारे में मुँह खोलने तक का साहस नहीं होता। अपनी अपात्रता को देखकर यह तक याद दिलाने में मैं चूकता हूँ कि वह माता मेरी थी। समाज जाने, शेष जन जाने, जैन लोग जानें। उनके नाते मेरे पास तो प्रायश्चित्त ही शेष बचता है कि जीते जी उन्हें दु:ख तो देता रहा, मरने के बाद ऐसा तो बनूँ कि तनिक उन्हें सुख हो। पर हाय प्राणी, कितना अवश है और अपने ही कर्मों के बन्ध से कितना जड़ित है कि मन के भीतर की जो चाहना है वह कभी नहीं हो पाती। इस विवशता पर जानता हूँ, माँ मुझे क्षमा कर देंगी, जैसे कि सदा ही करती रही हैं, पर मेरा जलना मुझसे कैसे छूटे?

माँ की याद मुझे भूलती नहीं है। क्योंकि मेरे लिए पिता भी वही रहीं। पिता को मैंने जाना ही नहीं। सुनता हूँ दो वर्ष का था तभी उनका देहान्त हो गया। न किसी और सम्बन्धी के होने का पता है। मेरा पालन-पोषण एक उन्होंने ही किया। पिता के देहान्त के बाद हम मामा के यहाँ आ गये। मामा का स्वभाव अलग था। संसार में उन्हें रुचि न थी। मामा की गृहस्थी का भार भी माँ पर आ रहा समझो। हम तीन भाई-बहन थे और मामा की गृहस्थी में भी तीन जन कहो। इस तरह सात-आठ जनों की गृहस्थी माताजी के कन्धों पर आ रही। शुरू में मामा की पन्द्रह रुपये की नौकरी लगी। मैं तब चार से भी कम वर्ष का रहा हूँगा, लेकिन पन्द्रह रुपये की आमदनी में हम सात-आठ जन कितनी खुशी से रहते थे। आज भी याद करते हैं तो अचरज होता है। मामा नि:संग थे। माताजी पर व्यवस्था थी और सब काम इतने आनन्द और ढंग से चलता था कि अनुमान नहीं किया जा सकता। चार-पाँच वर्ष रेल की नौकरी को न हुए होंगे कि मामा को घर दूभर हुआ। उनका मन ऊँचा था और धर्म पुस्तकों के स्वाध्याय ने जो प्रेरणा दीं थी उसका अनुशीलन सम्भव न हुआ। गृहस्थी उन्हें बाँधकर न रख

सकी। आत्म-प्राप्ति की खोज में उन्होंने सन् '10 में तार से इस्तीफा देकर नौकरी छोड़ दी और हम छह जनों का सब भार माँ पर आया।

मामा पहले हिमालय के पहाड़ घूमे, फिर इधर-उधर गये और अन्त में उन्होंने एक आश्रम स्थापित किया। माँ, हम सबको लेकर घर रहीं और नाना जतन से सबको कायम रखा। हम इतने प्राणियों का बोझ कम न था, लेकिन भाई के मार्ग में वह बाधा नहीं बनीं। ऊँचे लक्ष्य को लेकर जब भाई जा रहे हैं, तो घर-गृहस्थी की, संसार की बातों का ध्यान तक दिलाना माँ ने सही न समझा। मामा की नयी उमर की पत्नी थीं? नन्हा-सा गोद का बच्चा था; मानो सब पर छाँह का हाथ रखकर माँ ने प्रसन्नता से कहा, "भाई तुम्हें ऊपर से पुकार आयी है, तुम बड़े बड़भागी हो। जाओ, इन सब बाल-बच्चों की चिन्ता लेकर तुम्हारे कुछ काम आ सकूँ तो यही मेरे लिए बहुत है।" इस अभय को लेकर मामा गये और महात्मा बन गये और मृत्युपर्यन्त महात्मा ही हैं। माँ निस्सहाय-निराश्रित दो परिवारों के बोझ को लेकर हारी नहीं, उन्होंने विलाप नहीं किया, न भाग्य की प्रतीक्षा की, बल्कि प्रयत्न-पुरुषार्थ, को हाथ में लिया। अतरौली के कस्बे में बैठकर दाल का काम शुरू किया। अरहर की दाल घर के सब लोग दलते और वह दालें दिसावर भेजी जातीं। इसके बाद शायद कुछ इक्के रखे गये और चलवाये गये। यह कसाले का समय उद्यम से भरा रहा और परिस्थिति की प्रतिकूलता खल न पायी।

उसके बाद महात्माजी का आश्रम बना और हम दोनों बालक—मैं और वीरेन्द्र आश्रम चले आये। मैं सातवें वर्ष में था और वीरेन्द्र मुझसे भी तीन वर्ष छोटा था। उस समय की माँ की ममता मुझे याद है। हमें छोड़ते उनका दिल टूटता था। आश्रम में बालक नियमों की सख्ती में रखे जानेवाले थे। जूता पैर में हो न सकता और न किसी तरह का आराम। पर माँ में ममता से बड़ी भी चीज थी। मन कच्चा करतीं तो औरों का क्या होता जो उनकी ओर देखकर चलते थे। लेकिन हम दो बालकों के जाने से माँ का बोझ कम न हुआ। दो कन्याएँ और उनके रक्षण में आ पहुँचीं। आश्रम में एक लाला गैन्दनलालजी सहयोगी बने और अपना जीवन आश्रम को देते समय उन्होंने दोनों कन्याएँ माताजी को सौंपी। अब पाँच जन माँ की शरण में थे। मामा की पत्नी, दो बहनें और वे नयी बहनें। माँ को अब तक अक्षर-ज्ञान न था; किन्तु उनमें साहस था और व्यवहार-बुद्धि। बम्बई में महिलाओं की एक संस्था होने का उन्हें पता लगा और वह वहाँ पहुँचीं। एक-दो वर्ष के अन्दर माँ ने वहाँ इतनी योग्यता प्राप्त कर ली कि एक संस्था का भार सँभाल सकें। उनकी तत्परता और कर्मपरायणता से उनकी लोकप्रियता बढ़ती गयी। जहाँ जातीं वहाँ एक क्षण के लिए भी परायापन न रहने देतीं। उनके सुख-दुःख में मिल जातीं और सबको अनुभव होता कि जैसे यह उनकी अपनी आत्मीय ही

हैं। इस गुण ने उन्हें हर परिस्थितियों में सँभाले रखा और कभी अवसर न आया कि वह अपने एकाकी भाग्य को लेकर उस पर चिन्ता कर सकें। मानो सब कहीं उनसे सहारा माँगा गया और अनेकों के लिए अन्त तक वह आश्रय बनी रहीं।

मैं आश्रम में कोई छह साल रहा। आश्रम रेल से 25 मील और पक्की सड़क से आठ मील दूर जंगल में था। माताजी वहाँ छठे-छमाहे पहुँच पातीं। उस समय की मुझे अब तक याद है। वह मेरी माँ थीं लेकिन आश्रम के साठ-सत्तर हम सभी बालक उन्हें माँ मानते थे, और जब वह कुछ लातीं तो सबके लिए लाती थीं। वीरेन्द्र को बहुत दिन बाद जाकर पता चला कि उसकी माँ दूसरी है। मेरे साथ वह माँ को माँ और मामी को मामी कहता था। वीरेन्द्र एक बार बीमार पड़ा। बीमारी चिन्ता का कारण बन आयी। माँ उन दिनों इन्दौर के श्राविकाश्रम की अधिष्ठात्री थीं। पता लगते ही आयीं और फौरन वीरेन्द्र को आश्रम से ले गयीं और जब तक उसे पूरी तरह आराम नहीं हो गया, शायद पूरे दो हफ्ते तक मेरठ में अकेली तीमारदारी में बनी रहीं। जीवन के दूसरे कार्य में वह कभी इतनी नहीं भूलीं कि सेवा और स्नेह के अवसर पर वह चूक जाएँ। सन् '18 में मैं आश्रम छोड़कर चला आया। उस समय माँ दिल्ली के महिला-आश्रम की संचालिका थीं। आश्रम का सब भार उन पर था—शिक्षण का, व्यवस्था का और अर्थ-संचय का भी। मुझे आते ही उन्होंने पढ़ने के लिए अपने से दूर भेज दिया। मैं उनका एकलौता बेटा था। मुझ पर उनका लाड़ कम न था, लेकिन सदा वह उसे काबू में रखना जानती थीं। मैं पढ़ने के लिए बिजनौर चला गया। मैट्रिक का इम्तिहान देने के लिए दिल्ली लौटा। उस समय की बात याद है, माताजी चुस्त जैन थीं। मैं इधर असावधान हो चला था। मन्दिर जाना छूट गया था और रात में भी भोजन कर लेता था। माँ ने कभी कुछ न कहा, लेकिन कभी घर पर रात हो जाने पर खाना भी मुझे नहीं दिया। बड़ी प्रतीक्षा में रहती, लेकिन दिन ढल जाता और पहुँचते मुझे अँधेरा हो जाता तो भोजन वह उठाकर रख देती, कहती—ले अब फल और दूध ही तुझे मिल सकता है। मुझे यह खाने में रात-दिन का भेद महत्त्व का न लगता। लेकिन माँ रात हो जाने पर पानी तक का घूँट न लेती और जब मुझे मालूम होता कि मेरी प्रतीक्षा में उन्होंने स्वयं भी नहीं खाया है और अब रात भर बिना पानी उन्हें रहना होगा और अगले दिन दस बजने से पहले शायद ही उनके मुँह में कुछ पहुँच सके तो मैं अन्दर दुःखी हो आता। माँ के कहने का ढंग यही था। वह ऊपर से शिक्षा के तौर पर कुछ न कहती थी। अपने दुःख के जरिये मानो कह पाती थी। शायद यही उनकी शक्ति का कारण था।

एक बार की बात है। मेरे मन के एक निश्चय का उन्हें पता चला। उन्होंने कहा कुछ नहीं, दो-तीन रोज निकल गये। एक दिन रात को अकेले में ग्यारह

बजे धीमे-से पूछा, ''बेटा, यह तेरा निश्चय है।'' बहुत धीमे पूछा था। मैंने कहा, ''हाँ माँ, और क्या हरज है इसमें?'' माँ ने कुछ उत्तर नहीं दिया। वह मुझे देखती रहीं। देखते-देखते उन आँखों में आँसू आये और हाथों में मुँह लेकर वह मेरी गोद में गिर पड़ीं और फफक-फफककर रोने लगीं। दूसरी कोई भी बात नहीं हुई। आखिर मैंने गोद से उन्हें उठाया। कहा, ''तुम्हें इतना दुःख है तो वह नहीं होगा माँ। पहले तुमने क्यों नहीं कहा।'' माँ ने तब मुझे झुकाकर अपनी गोद में ले लिया और वह प्रकरण शान्त हुआ।

यह था, किन्तु उनकी दृढ़ता और साहस का ठिकाना न था। उनके महिला-आश्रम की व्यवस्था में विरोध पड़ गया। पुरुषों की समिति एक ओर, माताजी के नेतृत्व में स्त्रियाँ दूसरी ओर। पुरुषों ने संस्था का सब रुपया रोक लिया, और असहयोग ही नहीं किया, निन्दा और विरोध तक किया। चालीस से ऊपर संस्था में रहनेवालों की संख्या, पैसा एक भी नहीं। आमदनी के रास्ते बन्द। बाहर विरोध और लाँछना का तूफान; लेकिन ऐसे समय माताजी अडिग रहीं। मन में क्षण को हार न लायीं, न अपना भरोसा छोड़ा और अन्तकाल तक सिर्फ अपने बलबूते पर उस संस्था को जीवित रखे रहीं।

सन् '30 में मैं जेल गया। उन्हें मालूम हो गया कि आज कैदी यहाँ से बाहर भेजे जा रहे हैं, और अमुक स्टेशन से उन्हें सवार किया जाएगा। देखा, माताजी वहाँ मौजूद हैं। मौजूद ही नहीं, पूरी व्यवस्था के साथ हैं। उन्होंने बढ़कर पुलिस सब-इंस्पेक्टर से बात की और जानेवाले हम सब कैदियों का सत्कार किया। सबको खूब मिठाई, फल दिये। रेल आयी और चलने लगी तो उन्होंने राष्ट्रगान आरम्भ किया। उस समय की उनकी मुद्रा भूलती नहीं है। कण्ठ उनका रुकता था, वाणी अवरुद्ध होती थी। आँखों में पानी था। लेकिन होंठों पर उनके राष्ट्रगान था और बधाई थी। रेल के साथ वह धीरे-धीरे बढ़ रही थीं और आँख मुझ पर टँकी थी। वह आँखों से रोती और मुँह से हँसती मुद्रा कैसे मैं भूल सकता हूँ।

गुजरात जेल में वह मुझसे मिलने आयीं। बहन साथ थीं और पत्नी, जिसकी गोद में एक महीने का बच्चा था। डाक-गाड़ी वहाँ बस नाम के लिए ठहरती थी। हुआ यह कि बच्चे को कुली के हाथ में दे जल्दी में पत्नी ही उतर सकीं और गाड़ी चल दी। माताजी ने जंजीर खींची और गाड़ी इस बीच में ढाई फर्लांग आगे बढ़ चुकी थी। गाड़ी के रुकने पर गार्ड ढूँढ़ता हुआ वहाँ माता जी के पास आ पहुँचा। माता जी के आग्रह पर गाड़ पीछे प्लेटफार्म पर खड़ी बच्चे समेत बहू को गाड़ी में बिठवाया और तभी गाड़ी पुनः आगे चल सकी।

यह सहज और प्रत्युपन्न बुद्धि उन्हें सदा प्रस्तुत रही। वीरेन्द्र के विवाह का प्रश्न आया। बिरादरी विरुद्ध थी। दस तरह के विरोध और प्रतिरोध नजर आये।

मैं उस समय नादान था और पग-पग पर चकरा उठता था। बड़े-बूढ़ों से कैसे पार पाना, यह समझ न आता था; लेकिन माता जी की दक्षता और कुशलता विलक्षण थी। अन्त में देखा कि जो विरोधी थे वही आगे आकर काम को सँभालनेवाले बन गये। बिरादरी के गिनती के घर थे। माताजी स्वयं एक-एक में गयीं और अन्त में देखा सबका मान रह गया है और सबका सहयोग मिल गया है।

सन् '35 में पत्र पाकर मैं लौटा तो देखा माताजी खाट से लगी हैं? उन्होंने बीमारी की कोई सूचना न दी थी। कहती रही थीं कि रहने दो, मुझे क्या हुआ है, बाल-बच्चे सैर करने गये हैं, क्यों लिखते हो? आते ही देखा, रोग जलोदर है, मैं चिन्ता में पड़ा; किन्तु कुछ न किया जा सका। डॉक्टर की दवा नहीं दी जा सकी। विदेशी दवा का उन्हें त्याग था; और भी जो नियम थे, अन्त तक उन्हें पालती गयीं। अन्त समय कष्ट बहुत था। कै-पर-कै होती थी, प्यास बेहद लगती थी, पर सन्ध्या होने के बाद कुल्ला तो वह कर लेतीं, लेकिन रात में पानी एक बूँद गले से नीचे नहीं उतार सकती थीं, क्योंकि उन्हें त्याग था।

गर्मी उन्हें बेहद लगती थी, लेकिन ज्वर भी था। बार-बार रजाई ऊपर से अलग करतीं और मैं फिर उन्हें ढक देता। यह फिर उघाड़ लेतीं। मैंने क्रोध में कहा, "क्या करती हो, ओढ़ लो।" माँ की आँखें मुझ तक उठीं। आँखों में प्रार्थना थी और जाने कितनी ममता थी। वे मृत्यु से सिर्फ दो मिनट पर थीं। कातर होकर बोलीं, "बेटा", मैंने नाराजी में रजाई को उन पर पकड़े रखा। "बेटा छोड़ दे, गर्मी बहुत है।" कहकर उन्होंने रजाई को अपने ऊपर से फेंक देना चाहा, जो नहीं हो सका, क्योंकि मैं उसे कसे हुए था। आँखें प्रार्थना में मेरी ओर रहीं और उसके डेढ़ मिनट बाद उन्होंने साँस तोड़ दिया।

आखिरी याद मुझे सदा चुभती है, पर सारी ही याद चुभती है; क्योंकि जीवन-भर उनसे मैं स्नेह ही पाता रहा, पर उन्हें कष्ट ही देता रहा। किसी तरह का आश्वासन उनके जीवनकाल में मैं उन्हें न पहुँचा सका।

□

जैनेन्द्र कुमार की मौत पर

जैनेन्द्र कुमार की याद में कुछ कहना मेरे लिए खुशी की बात नहीं है। सन् '44 के नये साल का यह शुरू है। सन् '05 में जैनेन्द्र कुमार ने जन्म लिया। अभी दिन न थे कि वह याद के ही लिये रह जाता और उस पर कहने की जरूरत होती। उसे अभी बनना था, अभी उसे जीना, लिखना, कुछ करना था, पर अफसोस कि वह जिन्दगी बन्द हुई जिससे उम्मीदें बाकी थीं। लेकिन जहाँ आदमी का बस न हो वहाँ अफसोस भी किस वास्ते? इससे आइए उसकी आत्मा के लिए अब हम शान्ति चाहें।

और शान्ति की उसे जरूरत हो आयी थी। वह परेशान रहने लगा था। काजी को पहले शहर का अन्देश हुआ करता था, लेकिन अदब आगे बढ़ गया है और शहर छोटी चीज रह गयी है। जैनेन्द्र दुनिया के अन्देश से परेशान था। परेशानी उसकी पेशानी की लकीरों में, बेहाल हाल में, यहाँ तक कि लिबास में भी दीखती थी। इस तरह उसकी खुद की तरफ से शायद कहा जा सके कि उसका मरना बुरा या समय से पहले नहीं हुआ। उमर नयी थी, पर अन्दर से वह पुराना हो चला था। जमाने के साथ न था, उस पर हैरान था। चुनाँचे जमाना उसे भूलने लगा और आगे बढ़ गया था। जैनेन्द्र सोचने लग गया था कि उसकी हस्ती यहाँ किस हक से और किस जरूरत के लिए है। यह सवाल अलामत है कि जिन्दगी उसमें ढल चली और बुझा चाहती थी। आखिर उस सवाल को पूरा जवाब मिला इस शक्ल में कि वह अब नहीं है।

यकीन कीजिए कि सब मिलाकर आदमी वह बहुत अजीब न था। फैली कहानियों पर कान न दीजिए। कहानियों में कुछ-का-कुछ बन जाया करता है। वह खुद भी तो कहानियाँ गढ़ता था। इससे कहानियों के फरेब को समझता था। किसी कदर उन कहानियों के फरेब पर जिन्दा भी रहता था। कहा करता था कि 'मेरी लिखाई से लोग मुझे नेक तक मान लेते हैं। चलो अच्छा है, ऐसे नेकी फैलती और बदी मुझ तक सिमटी रहती है।' लेकिन इस लीपापोती के बावजूद मैं आपसे

मान लेने को कहता हूँ कि आदमी वह एकदम बुरा न था। एक तो वजह यह कि असल में आदमी कोई भी बुरा नहीं होता। दूसरा यह कि जानते-बूझते कोशिश उसकी बदी से बचने की रहती थी जैसे कि हर इनसान की रहती है।

शुरू से जैनेन्द्र में इरादे की ताकत की कमी देखी जा सकती है। वह किस्मत बनानेवालों में से न था, किस्मत ही उसे बनाती गयी। जिन्दगी में उसकी कोई कारगुजारी नजर नहीं आती। एक मद्धम बहाव में वह जिन्दगी बहती चली गयी। एक भटके, निरीह बालक की तरह उसके छुटपन के दिन गुजरे। वह भौंचक-सा सब ओर देखता और कभी अपने लिए फैसला करने की जरूरत न समझता। अँग्रेजी में जिसे half-wit कहते हैं कुछ वही कैफियत समझिए। अचरज में बौखलाया वह अपने साथियों के बीच रहता और साथी सिर्फ उसे गवारा करते थे। अपनेपन का और अपनी जगह का उसे पता न था। क्लास में किसी सब्जेक्ट या साल में पहले नम्बर आ गया तो दूसरे किसी में एकदम पिछड़ रहा। ताज्जुब है कि फेल वह किसी दरजे में नहीं हुआ, पर पास होता गया तो अपने बावजूद। सदा एक खोये और भूले हुए ढब में वह रहता था और दुनिया उसे बाहर और अन्दर चारों तरफ चक्कर में तैरती हुई मालूम होती थी जिसमें कुछ उसकी समझ की पकड़ में न आता था। घूम-फिर कर एक ही सच्चाई उसके लिए रह जाती थी—वह उसकी माँ।

चलिए ऐसे मैट्रिक हो गया और वह कॉलेज में पहुँचा, और कॉलेज भी छूट गया और वह दुनिया में आ पड़ा। पर दुनिया से उसकी किसी तरह की जान-पहचान न थी। समुन्दर की लहरों पर तिनका तैरता है, क्योंकि हलका होता है। उसमें भी कहीं किसी तरफ से वजन न था और बरसों लहरों पर वह इधर-उधर उतराया किया।

कल्पना में लाइए एक तेईस बरस के जवान को—उसमें जिस्म होना चाहिए, हौसला होना चाहिए, इरादा होना चाहिए, आँखों में उसके रोशनी, कदमों में धमक होनी चाहिए, पर जैनेन्द्र का खाका ही और था। हलका-दुबला जिस्म, हौसला गायब और इरादा लापता। आँखों में उसके बेगानगी थी और कदमों में कोई गति न थी।

हकीकत तमाम उसके तईं बस एक मरकज में समाई थी—यानी, उसकी माँ। देखता माँ की आँखों में चिन्ता बढ़ती जाती है। तब सोचता कि कुछ करना होगा, पर सोचने में समय ही निकालता, और होने में कुछ न आता। जहाँ कुछ किया जाता है वह दुनिया उसे तिलिस्म थी, और इकला पड़कर आदमी सोच ही सकता है; कर कुछ नहीं सकता।

रातों जगकर आखिर एक दिन हिम्मत बाँधी। कहा, "माँ, पचास रुपये तो

दो।''

माँ बोली, ''पचास रुपये!''

उसने देखा कि माँ की आँखों में तकलीफ है। देखकर उसने अपने को बेहद धिक्कारा। लेकिन कहा, ''हाँ माँ, कलकत्ता जाऊँगा।''

माँ ने दुहराया, ''कलकत्ता!'' और आगे कुछ नहीं कहा।

बेटा मन थामकर बोला, ''वहाँ से, माँ, जल्दी ही नौकरी लगने की खबर दूँगा।''

रुपये मिले और कलकत्ते में नौकरी की तलाश हुई। पच्चीस रुपये का काम मिल जाये तो बहुत है, पर पैसे टूटते रहे, नौकरी नहीं मिली। पक्का था कि लौटेंगे नहीं। माँ को तकलीफ देने से मर जाना अच्छा। पर बेटे को दूर परदेश में जाकर मरने में माँ को कौन बड़ा सुख हो जाता। इससे पास के पैसे पूरी तरह निबटें कि जैनेन्द्र बैरंग वहीं माँ के पास लौट आये।

यह घटना जैनेन्द्र के व्यक्तित्व का सही माप आपको दे सकती है। मिलने-जुलने और दुनिया में राह बनाने की उसमें लियाकत न थी। वह चीज बिलकुल न थी जिसका असर और रौब पड़ता है। ऐसे आदमी के पास सपने जरूर कुछ जमा हो जाया करते हैं, पर सपनों में दम नहीं होता और असलियत के आगे वे छूमन्तर हो रहते हैं।

यह तो अनहोना ही हुआ कि जैनेन्द्र ने लिखा। लिखने के नाम यूँ तो उन्हें बुखार चढ़ता था। पढ़ा तब तक लिखने से बचते रहे। कॉलेज के पहले साल में एक बार फँसकर जो लिखना पड़ा तो बस न पूछिए। प्रोफेसर ने देखा कि यह लड़का टालता ही जाता है, लेख कभी लिखकर नहीं लाता। जैनेन्द्र ने प्रोफेसर की निगाह ताड़ी। फिर तो बड़ी फिक्र के साथ कहीं से एक तो कहीं से दो पैराग्राफ लेकर कई किताबों से जोड़-जोड़कर लेख तैयार किया। जहाँ-तहाँ से जुमलों को सही-गलत लिखा कि पता न चले। मन में सोचा कि प्रोफेसर कायल हो जाएगा। क्लास में प्रोफेसर ने एक नाम पुकारा और उस लड़के को दिखाकर उसके निबन्ध की बहुत तारीफ की। फिर जैनेन्द्र की पुकार हुई। उसकी छाती फूल आयी।

प्रोफेसर ने कहा, ''बेंच पर खड़े हो जाओ।''

सौ से ऊपर लड़कों की निगाहें उन पर जमीं और वह बेंच पर खड़े हुए।

तब प्रोफेसर ने उन्हें दिखाकर कहा, ''ऐसे बेवकूफ भी कॉलेज में आ जाते हैं कि...''

तसल्ली की बात है उस वक्त जैनेन्द्र का नाम जैनेन्द्र न था। और आगे जाकर एक खास मौके पर उन प्रोफेसर का जैनेन्द्र कुमार से परिचय कराया गया। उससे प्रोफेसर की इज्जत कम नहीं हुई, पर उन्हें गुमान न हुआ कि यह वही

लड़का है, और जैनेन्द्र को खुद भेद खोलने की जरूरत क्या थी। खैर...लेकिन जैनेन्द्र के मन में उस हादसे की शर्म गहरी बैठ गयी थी। सपने में भी नहीं सोचते थे कि लिखेंगे। पर उनके एक मित्र, जिन्दगी की ऊँच-नीच में से गुजरते, एक प्राइमरी स्कूल में मास्टर हुए। स्कूल था कुल चार जमात तक। पर शौक देखिए कि वहाँ से मास्टर साहब ने हाथ का लिखा एक मासिक निकाला। पाँचेक महीने में मित्र को वहाँ से भी किनारा मिला। आते वक्त पत्र की कॉपियाँ वह साथ बाँधते लाये। बच्चों का तमाशा-जैनेन्द्र तक को उसमें लिखने में क्या झिझक होती! पर करिश्मा यह हुआ कि उस चटसाल के बच्चों के खिलौने से पत्र में लिखे दो किस्से हिन्दी के उस वक्त के सबसे मशहूर रिसाले में छपे हुए जैनेन्द्र के देखने में आ गये। जैनेन्द्र इस पर हैरत में थे क्योंकि कुसूर उनका न था। पर इस तरह जीने लायक रास्ता जरूर उन्हें दीख आया।

जैनेन्द्र की जिन्दगी में बड़े उतार-चढ़ाव नहीं आये। वह कुछ बँधी जिन्दगी रही जिसमें लहरें उठीं तो बाहरी हवा की थपेड़ पर, नहीं तो जिसकी सतह जाहिरा सोयी पड़ी रही। न गहरे राज की बात उसमें दिखाई देती है। जिन्दगी वह मामूली आदमी की है और उसमें रोमानी रंग की रौनक नहीं है। जैनेन्द्र ने ज्यादा नहीं लिखा जिसकी वजह एक आदमी जानना चाहेगा। क्या यह कहना ज्यादा होगा कि भागते वक्त को पकड़ने लायक जाग और फुरती उनके दिमाग में न थी? यह कहा जाये कि उनके अन्दर का जखीरा ही थोड़ा था? पर इतना सही है कि जो लिखा औसतन अच्छा लिखा। भाषा का उन्हें खासा ज्ञान न था, इससे शुरू में उनकी भाषा अटपटी समझी गयी। पर आगे जाकर यह अज्ञान शायद भला साबित हुआ। क्योंकि इससे भाषा के जरूरत से ज्यादा दुरुस्त होने का खतरा भी नहीं रहा। आम शिकायत है, और ठीक है, कि जो खुशबयानी, ताजगी और खिलावट शुरू में देखने में आयी वह उनके लिखने में पीछे न रही। रवानी थम चली, ताजगी पक आयी, और खुशनुमा खिलावट की जगह भारी-भरकम संजीदगी लेने लगी। अपनी-अपनी पसन्द है; लेकिन नीति और उपदेश और विचार के बोझ से भारी होने के कारण रचना उनको प्यारी न लगे तो इसमें शिकायत की वजह नहीं है। पिछले जैनेन्द्र को और उनकी रचनाओं को कोशिश के साथ ही प्यार किया जा सकता है। पर इसमें शक है कि जिसमें कोशिश दरकार हो उसे प्यार ही कहना चाहिए।

उनके लिखे चार उपन्यास, कुछेक कहानियों की जिल्दें और दो-एक और किताबें। अनछपी और अधलिखी चीजों की बात की नहीं जा सकती। इस सब साहित्य में आदमी के मन के भेदों को खोजा गया है और उलझनों को खोलने की कोशिश है। व्यक्ति को परिधि मानकर सवाल जमाये और बूझे गये हैं। पर

इस तरह असल सवालों का हल मिलेगा, ऐसा नहीं मालूम होता। सवाल एक के मन का नहीं, सारे समाज के निजाम का है। समस्याएँ रोटी-कपड़े की हैं। दिक्कतें असली हैं और जैनेन्द्र का साहित्य ख्याली है। पढ़ने में वह उलझता और इसी से वे किसी कदर अच्छा लगता है। भावनाओं को कुछ उभार भी वह देता है। पर क्या वह बल और प्रकाश भी देता है? समस्या को उपजा देना और उसका हल सुझाने में बचना बड़ा आर्ट नहीं है। जैनेन्द्र की रचनाओं में यही है और हमारी जरूरत कुछ दूसरी है। इनसान हवाई नहीं है। मगर शक होता है कि जैनेन्द्र हवाईयत की तरफ बढ़ने में लगे रहे। इनसान से दूर जाकर आईडियल भला कहाँ बैठा है? लेकिन उनकी किताबों में इनसानी कैरेक्टर और जिस्म बराबर कम ही होता चला गया। यहाँ तक कि गोया अपनी आर्टिस्टिक ईमानदारी में, वह खुद भी अपने कैरेक्टर और जिस्म में सूखते चले गये। आदमी अपने ख्यालात का अक्स होता है। इस लिहाज से क्या यह कहना होगा कि जैनेन्द्र के ख्याल उनकी जिन्दगी और सेहत की तरह किसी कदर पस्त और बेदम थे?

उनकी फिलासफी जाननी हो तो दो लेखों के नाम सुनना काफी है। एक लेख उनका है—'अबुद्धिवाद'। यानी, जिन्दगी को अक्ल से चलाना बेअक्ली है और शूतुरमुर्ग के रेत में सिर गाड़कर दुश्मन के हाथ आसानी से जाने के तरीकों को गलत कहना गलती है। दूसरा है—'कमाई और भिखाई', जिसमें वह कहते हैं कि कमाने से भीख माँगना पेट भरने का बेहतर ढंग है। इस फिलासफी पर कुछ न कहना ही अच्छा है।

उसूल एक चीज है और मुहब्बत उससे बिलकुल जुदागाना है। हरियाली मुहब्बत में से सिंचकर तैयार होती है। उसूलों की दुनिया में और सब दुरुस्त होता है, सिर्फ वहाँ जिन्दगी नहीं होती। मालूम होता है कि जैनेन्द्र पीछे उसूलों के फेर में घिरते चले गये और जिन्दगी का पल्ला उनसे छूटता चला गया।

ताहम उनकी तारीफ करनी होगी। उन्होंने रुख नहीं बदला। वक्त के आगे सिर नहीं खम किया। टेक जो पकड़ी आखिर तक निबाही। आसपास की स्थिति से समझौता नहीं किया। इसमें भी एक आन है। रस्सी जल जाती है, पर ऐंठन नहीं छोड़ती। इसका मतलब बुरे माइनों में लिया जा सकता है, लेकिन उसमें एक खूबी भी है। जैनेन्द्र अपने से दूर नहीं गये, बाहर तक नहीं आये। अपनी खुदी में चाहे डूब ही जाएँ, खुद्दारी को उन्होंने नहीं छोड़ा। खुदी और खुद्दारी में जो फरक है उसकी पहचान अगर उन्हें नहीं हुई तो कहा जा सकता है कि वह पहचान बहुत मुश्किल है और बहुत बड़े-बड़ों को नहीं हो पाती। पर यह भी तो एक बात है कि दूसरों की सब सुनी जाये और रखी अपने मन की ही जाए।

जैनेन्द्र की किताबों को चुपचाप नहीं लिया गया। उनकी तारीफ हुई और

निन्दा हुई और दोनों साथ हुई। उनसे साहित्य में कुछ सरगर्मी दिखाई दी। लेकिन इसका नतीजा जैनेन्द्र के हक में कुल में मिलाकर अच्छा हुआ, यह नहीं कहा जा सकता। हो सकता है कि इससे उनके बैलेन्स में फरक आया। जैनेन्द्र के एक किताब छपी कि बुजुर्ग बन गया। इसको तुहमत समझा जाये तो भी इसमें कुछ सच्चाई तो है ही।

कुछ दिन की बात है कि जब उनका अन्त पास आ रहा था। एक मित्र ने कहा, ''जैनेन्द्र, हमारी दुनिया के जीते-जागते सवालों को लेकर अपनी कलम चलाओ।'' जैनेन्द्र ने कहा, ''मैं लेखक नहीं हूँ। इस लायक नहीं हूँ कि तुम्हारी कुछ माँग उठा सकूँ।'' कहा गया, ''तुमसे उम्मीदें हैं, भाई? समाज के लिए उपयोगी हो, कुछ ऐसा लिखो।'' उसने कहा, ''समाज! मैं उसको नहीं जानता हूँ।'' और कहकर ऐसे भाव से मित्र को देखा वह पानी हो आये। बोले, ''तो जाने दो, भाई! जो चाहे लिखो, पर लिखो जरूर। बरसों से कोई नयी किताब तुम्हारी सामने नहीं आयी!'' उसने कहा, ''मुझमें लिखने की तबीयत अब बुझ गयी है।'' मित्र इस जवाब पर जैनेन्द्र को देखते हुए चुप रह गये। सोचने लगे कि दिन कहीं बुरे तो नहीं आ रहे हैं।

इस तरह देखते जैनेन्द्र की मौत अचानक ही नहीं हुई। मानो वह होनहार ही थी। धीमे-धीमे जैनेन्द्र खुद उधर जा रहे थे। पर इससे उनके उठने से हमारा सदमा कम नहीं हो जाता। जो हो, अब वह नहीं है। उनको हमने प्रशंसा दी है, आलोचन भी दी है पर जीते जी उन्हें कमी और भूख स्नेह की थी। उनकी स्मृति के प्रति अब भी हम स्नेह ही दें, और सुनते हैं परलोक में स्नेह के सिवा दूसरा कुछ पहुँच भी नहीं पाता है!

नेहरू और उनकी कहानी

जवाहरलालजी का जीवन-चरित्र मैंने मूल अँग्रेजी में पढ़ा है। हिन्दी अनुवाद को जहाँ-तहाँ से एक निगाह देख सका हूँ। मूल में क्या और अनुवाद में क्या, पुस्तक तो जवाहरलालजी की आत्मकथा है। उधर ही हमारा लक्ष्य रहना चाहिए।

जो जवाहरलालजी राजनीति के आँगन में दीखते हैं, वही इस चरित्र में घनिष्ठता से व्यक्त होते हैं। राजनीति में उनके व्यक्तित्व की एक झाँकी दीखती है। वहाँ, वह आज और कल में बँटे हुए हैं। पुस्तक में उनके व्यक्तित्व का वह संचित समग्र रूप व्यक्त हुआ है—जो बँटा हुआ नहीं है—जो उनके आज और कल को एक सूत में पिरोये रखता है। जवाहरलाल का जो व्यक्त रूप है, उसकी विविधता को कौन से जीवन-तत्त्व थामे हुए हैं, उसके भीतर आत्मा क्या है, इसी को जानने और खोलने का यत्न पुस्तक में है। जिन्दगी की घटनाओं का वर्णन नहीं है, उस जिन्दगी का सिद्धान्त पाने की कोशिश है।

अनुवाद में पुस्तक का नाम 'मेरी कहानी' है। हमारा बीता हुआ जीवन हमारे निकट 'कहानी' हो जाता है। बीती घटनाओं के प्रति हम में वासना शेष नहीं रहती, केवल भावना रहती है। उस भावना में रस रहता है, वासना का विष नहीं रहता। इसीलिए, बहुत पहले की जिन्दगी का शत्रु अन्त में हमारा शत्रु नहीं रहता। आगे निकलकर शत्रु-मित्र कुछ रहता ही नहीं, वहाँ से स्वयं अपने ही दर्शक बन जाते हैं। साधारणतया जीवन में हम ही अपने प्रदर्शक होते, अपने को दिखाते चलते हैं, और अहंकार में से रस लेते रहते हैं। पर, अगर हम जरा अपने ऊपर ही आँखें मोड़कर शुरू करें तो दृश्य भी बदल जाता है, हमारा चित्र भी बदल जाता है। तब, जीवन का अर्थ हम स्वयं नहीं रहते। मालूम होता है, हम बस यात्रा हैं और उस यात्रा-पथ को चिह्नित कर जाना ही हमारा उद्देश्य था जो हम करते चले आये हैं।

इस तरह बड़ी-से-बड़ी 'कहानी' हो जाती है, और कोई घटना अपने-आप में महत्त्वपूर्ण अथवा सम्पूर्ण नहीं रह जाती। मालूम होता है छोटी हमारी

पथयात्रा में सहायक अथवा बाधक हुई है, अन्यथा वह नहीं जैसी है।

जवाहरलाल का आत्म-चरित्र आरम्भ से ही काव्य-सा लगता है। अपना बचपन, अपना युवाकाल—लेखक सब एक मधुर तटस्थता से देखते और लिखते गये हैं। मानो, उस अतीत से उनका नाता तो है, पर लगाव नहीं रह गया है। वह अपने ही अभिनय के एक ही साथ दर्शक भी हैं।

जहाँ पुरानी याद छिड़ गयी है, और जहाँ आलोचना है, वहाँ वह स्थल अपना ही मधुर काव्य-सा जान पड़ता है। वहाँ साहित्य की छटा है, और ऐसे स्थल पुस्तक में कम नहीं है। इस प्रकार, पुस्तक शुद्ध साहित्य भी है। साहित्य का लक्षण है, वह वेदना की वाणी जो निरी अपनी न हो, अर्थात् प्रेम की हो। वैसी वेदना पुस्तकों में पर्याप्त है। वह ही उसे साहित्य बनाती है।

उस वेदना को हृदयंगम करके हम फिर तनिक जवाहरलाल की जीवनधारा की ओर मुड़ें और स्रोत पर पहुँचे :

युवा नेहरू ने जीवन में प्रवेश किया है। उत्साह उसके मन में है, प्रेम और प्रशंसा तथा सम्पन्नता उसके चारों ओर है और सामने विस्तृत जीवन के अनेक प्रश्न हैं— अनेक आकांक्षाएँ और भविष्य की यवनिका के शनैः-शनैः खुलने की प्रतीक्षा है। अभी तो वह अज्ञेय है, अँधेरा है।

जवान नेहरू आशा से भरा है। आशा है, इसीलिए असन्तोष है। भविष्य के प्रति उत्कण्ठा है, क्योंकि वर्तमान से तीव्र अतृप्ति है। वह विलायत में रहा है, वहीं पला है। जानता है, आजादी क्या होती है। जानता है, जिन्दगी क्या होती है। साहित्य पढ़ा है और उसके मन में स्वप्न है। लेकिन, अब यही आदमी हिन्दुस्तान में क्या देखता है? देखता है गुलामी! देखता है गन्दगी!! देखता है निपट गरीबी! उनके मन में हुआ कि यह क्या अँधेर है? क्या यह गजब है?—उसका मन छटपटाने लगा। ऐसे और भी युवा थे जो परेशान थे—जहाँ-तहाँ राष्ट्रीय यत्न चल रहे थे। वह इधर गया, उधर मिला, हर कहीं तृप्ति नहीं मिली। ये लोग और ऐसे स्वराज्य लेंगे!—वह अशान्त रहने लगा। जिनका प्रशंसक था, उन्हीं की आलोचना उसके मन में जागने लगी। वह युवक था, आदर्शोन्मुख, अधीर, सम्पन्न और विद्वान्। वह कुछ वह चाहने लगा, जो वास्तव इतना न हो, जितना स्वप्न हो। पर स्वप्न तो अशरीरी होता है और मानव सशरीर। स्वप्न भला कब-कब देह धारण करते हैं? लेकिन जवाहर का मन उसी की माँग करने लगा। उसके छटपटाते मन ने कहा कि ये उदार, नरम, लिबरल लोग बूढ़े हैं। ये क्रान्तिकारी लोग बच्चे हैं। होमरूल में क्या है? समाज-सुधार से न चलेगा। ये छोटे-छोटे यत्न क्या काम आएँगे?—अरे! कुछ और चाहिए, कुछ और!—बैरिस्टर जवाहर की सम्पन्नता और उसकी पढ़ाई ने उसमें भूख लहकाई—कुछ और! कुछ और!!

और जवाहरलाल को वह 'कुछ और' भी मिला। स्वप्न चाहता था, वह स्वप्न भी मिला। जवाहरलाल को गाँधी मिला!

जवाहरलाल ने अपने पूरे बल से गाँधी का साथ पकड़ लिया। साथ पकड़े रहा, पकड़े रहा। पर गाँधी यात्री था। जवाहर ने अपने रास्ते पर गाँधी को पाया हो और, इस तरह, उसे अपने ही मार्ग पर गाँधी का साथ मिल गया हो, ऐसी तो बात नहीं थी। इसीलिए थोड़ी ही दूर चलने पर जवाहर के मन में उठने लगा है, यह क्या! मैं कहाँ चला जा रहा हूँ? क्या यही रास्ता है? यह आदमी मुझे कहाँ लिए जा रहा है? है यह आदमी अनोखा, सच्चा जादूगर! लेकिन मुझे सँभलना चाहिए।

गाँधी का साथ तो पकड़े रहा, लेकिन शंकाएँ उसके मन में गहरा घर करने लगीं। फिर भी जब साथ पकड़ा, तो छोड़नेवाला जवाहरलाल नहीं, हो जो हो। और वह अपनी शंकाओं को अपने मन में ही घोट-घोटकर पीने का यत्न करने लगा।

उसके मन में क्लेश हो आया। शंकाएँ दाबे न दबती थीं। उसने आखिर लाचार हो जादूगर गाँधी से कहा, ''ठहरो, जरा मुझे बताओ कि यह क्या हैं? और वह क्या है? आओ, हम जरा ठहरकर सफर के बारे में समझ-बूझ तो लें।''

गाँधी ने कहा, ''यह तो है; और वह है। मैं जानता हूँ सब ठीक है, पर ठहरना नहीं, चले चलना है।''

जवाहर ने कहा, ''ठहरो, अच्छा सुनो तो! बिना समझे-बुझे मैं नहीं चलूँगा।''

गाँधी ने कहा, ''यह बहुत जरूरी बात है। जरूर समझ-बूझ लो; लेकिन मैं चला।''

गाँधी रुका था कि चल पड़ा। जवाहर ने कहा, ''चलने में मैं पीछे नहीं हूँ। लो, मैं भी साथ हूँ। लेकिन समझूँ-बूझूँगा जरूर।''

गाँधी ने चलते-चलते कहा, ''हाँ, हाँ, जरूर!''

लेकिन, जवाहरलाल की मुश्किल तो यही थी कि गाँधी का धर्म उसका धर्म नहीं था। गाँधी बड़ी दूर से चला आ रहा था। जानता था कि किस राह जा रहा हूँ, क्यों और कहाँ जा रहा हूँ। जवाहरलाल परेशान, जानने के लिए अधीर, चौराहे पर भौंचक स्वप्न-दूत की राह देख रहा था। उसने कोई राह नहीं पाई थी कि आया गाँधी, और जवाहरलाल उसी राह हो लिया, पर उस राह पर उसे तृप्ति मिलती तो कैसे? हरेक को अपना मोक्ष आप बनाना होता है। इससे अपनी राह भी आप बनानी होती हैं। यह तो सदा का नियम है। इसलिए चलते-चलते एकाएक अटककर जवाहरलाल ने गाँधी से कहा, ''नहीं, नहीं, नहीं! मैं पहले समझ लूँगा

और बूझ लूँगा। सुनो, विज्ञान का, इकोनॉमिक्स का यह कहना है और पॉलिटिक्स का वह कहना है। अब बताओ, हम क्यों न समझ-बूझ लें?''

गाँधीजी ने कहा, ''जरूर समझ और बूझ लो। इकोनॉमिक्स की बात भी सुनो। पर रुकना कैसा? मेरी राह लम्बी है।''

जवाहरलाल ने कहा, ''मैं कमजोर नहीं हूँ।''

गाँधी ने कहा, ''तुम वीर हो।''

जवाहरलाल ने कहा, ''मैं हारा नहीं हूँ, चलना नहीं छोड़ूँगा।''

गाँधी ने कहा, ''ठीक, तो चलो।''

वह यात्रा तो हो रही है, लेकिन जवाहरलाल के मन में पीड़ा बढ़ती जाती है। उसके भीतर का क्लेश भीतर समाता नहीं है। गाँधी स्वप्न-पुरुष की भाँति उसे मिला। अब भी वह जादूगर है।...लेकिन अरे! वह क्या बात है? देखो, पॉलिटिक्स यह कहती है, इकोनॉमिक्स वह कहती है, और गाँधी कहता है, धर्म। धर्म? दकियानूसी बात है कि नहीं!...है गाँधी महान, लेकिन आखिर तो आदमी है। पूरी तरह पढ़ने-सीखने का उसे समय भी तो नहीं मिला। इन्टरनेशनल पॉलिटिक्स जरा वह कम समझे, इसमें अचरज की बात क्या है?...और हाँ, कहीं यह रास्ता तो गलत नहीं है?...पॉलिटिक्स...इकोनॉमिक्स...लेकिन गाँधी महान है, सच्चा नेता है।

जवाहरलाल ने कहा, ''गाँधी, सुनो तुम्हें ठहरना जरूर पड़ेगा। हमारे पीछे लाखों की भीड़, यह काँग्रेस, आ रही है। तुम और हम चाहे गड्ढे में जाएँ, लेकिन काँग्रेस को गड्ढे में नहीं डाल सकते। बताओ, यह तुम्हारा स्वराज्य क्या है, जहाँ हम सबको लिए जा रहे हो?''

गाँधी न कहा, ''लेकिन ठहरो नहीं, चलते चलो। हाँ, स्वराज्य? वह राम-राज्य है।''

''राम-राज्य! लेकिन हमको तो स्वराज्य चाहिए—आर्थिक, राजनीतिक, लौकिक।''

''हाँ-हाँ! ठीक तो है। आर्थिक, राजनीतिक...पर धीमे न पड़ो, चले चलो!''

''धीमे? लेकिन, आपका रास्ता ही गलत हो तो?''

''सही होने की श्रद्धा नहीं है तो अवश्य दूसरा रास्ता खोज लो। मैं यह जा रहा हूँ।''

जवाहरलाल समझने-बूझने को ठहर गया। गाँधी अपनी राह कुछ आगे बढ़ गया। जवाहरलाल ने चिल्लाकर कहा—''लेकिन सुनो, अरे जरा सुनो तो! तुम्हारा रास्ता ग़लत है। मुझे थोड़ा-थोड़ा सही रास्ता दीखने लगा है।''

गाँधी ने कहा, ''हाँ होगा—लेकिन जवाहर, मुझे लम्बी राह तय करनी है।

तुम मुझे बहुत याद रहोगे।''

जवाहरलाल को एक गुरु मिला था, एक साथी। वह कितना जवाहरलाल के मन में बस गया था। उसका प्यार जवाहरलाल के मन में ऐसा जिन्दा है कि खुद उनकी जान भी उतनी नहीं है। उसका साथ अब छूट गया है। लेकिन राह तो वह नहीं है, दूसरी है—यह बात भी उनके मन के भीतर बोल रही है। वह ऐसे बोल रही है जैसे बुखार में नब्ज। वह करे तो क्या करे?

इतने में पीछे से कांग्रेस की भीड़ आ गयी।

पूछा, ''जवाहर, क्या बात है? हाँफ क्यों रहे हो? रुक क्यों गये?''

जवाहरलाल ने कहा, ''रास्ता यह नहीं है।''

भीड़ के एक भाग ने कहा, ''लेकिन गाँधी तो वह जा रहा है!''

जवाहरलाल ने कहा, ''हाँ, जा रहा है। गाँधी तो वह जा रहा है!''

जवाहरलाल ने कहा, ''हाँ, जा रहा है। गाँधी महान है। लेकिन रास्ता यह नहीं है। पॉलिटिक्स और कहती है।''

भीड़ में कुछ लोगों ने कहा, ''ठीक तो है। रास्ता यह नहीं है। हम पहले से जानते थे। आओ, जरा सुस्ता लें, फिर लौटेंगे।''

जवाहरलाल ने कहा, ''हाँ, रास्ता तो यह नहीं है और आओ जरा सुस्ता भी लें। पर लौटना कैसा? देखो, बाएँ हाथ रास्ता जाता है। इधर चलना है।''

भीड़ में से कुछ लोगों ने कहा, ''लेकिन गाँधी...?''

जवाहरलाल का कण्ठ आर्द्र हो आया। बड़ी कठिनाई से उसने कहा, ''गाँधी महान है, लेकिन रास्ता...?''

आगे जवाहरलाल से न बोला गया। वाणी रुक गयी, आँखों में आँसू आ गये।

इस पर लोगों ने कहा, ''जवाहरलाल की जय?''

कुछ ने वही पुराना घोष उठाया, ''गाँधी की जय!''

और गाँधी उसी रास्ते पर आगे चला जा रहा था, इन जयकारों की आवाज थोड़ी-थोड़ी ही उस तक पहुँच सकी।

ऊपर के कल्पना-चित्र से जवाहरलाल की व्यथा का अनुभव हमें हो सकता है। उस व्यथा की कीमत प्रतिक्षण उसे देनी पड़ रही है, इसी से जवाहरलाल महान है। उस व्यथा की ध्वनि पुस्तक में व्यापी है, इसी से पुस्तक भी साहित्य है। जिसकी ओर बरबस मन उसका खिंचता है, उसी से बुद्धि की लड़ाई ठन पड़ी है। शायद भीतर जानता है कि यह सब बुद्धि-युद्ध व्यर्थ है, लेकिन व्यर्थता का चक्कर एकाएक कटता भी तो नहीं। बुद्धि का फेर ही जो है। आज उसी के व्यूह में घुसकर योद्धा की भाँति जवाहरलाल युद्ध कर रहा है, पर निकलना

नहीं जानता।

यहाँ मुझे अपने ही वे शब्द याद आते हैं जो कभी जाने कहाँ लिखे थे :

"While Gandhi is a consummation, Jawaharlal is a noble piece of tragedy. Describe Gandhi as not human if you please, but Jawaharlal is human to the core; may be, he is discoincertingly so."

जहाँ से जवाहरलाल दूसरी राह टटोलते हैं और अपना मतभेद स्पष्ट करते दीखते हैं, उसी स्थल से पुस्तक कहानी नहीं रह जाती है। वहाँ जैसे लेखक में अपने प्रति तटस्थता नहीं है। वहाँ लेखक मानो पाठक से प्रत्याशा रखता है कि जिसे मैं सही समझता हूँ उसे तुम भी सही समझो, जिसे गलत कहता हूँ उसे गलत। वहाँ लेखक दर्शक ही नहीं, प्रदर्शक भी है। वहाँ भावना से आगे बढ़कर वासना भी आ जाती है। यों वासना किसमें नहीं होती, वह मानव का हक है। लेकिन, लेखक का अपनी कृति में वासनाहीनता का ही नाता खरा नाता है। वही आर्टिस्टिक है। जवाहरलाल की कृति में वह आ गया है जो इनार्टिस्टिक है, असुन्दर है। आधुनिक राजनीति (या कहो काँग्रेस-राजनीति) में जिस समय से अधिकारपूर्वक वह प्रवेश करते हैं, उसी समय से अपने जीवन के पर्यवेक्षण में लेखक जवाहरलाल उतने निस्संग नहीं दीखते।

आत्म-चरित्र लिखना एक प्रकार से आत्म-दान का ही रूप है। नहीं तो मुझे किसी के जीवन की घटनाओं को जानने और अपने जीवन की घटनाओं को जतलाने से क्या फायदा? परिस्थितियाँ सब की अलग होती हैं। इससे घटनाएँ भी सबके जीवन में एक-सी नहीं घट सकतीं। लेकिन, फिर भी, फायदा है। वह फायदा यह है कि दूसरे के जीवन में हम अपने जीवन की झाँकी लेते हैं। जीवन-तत्त्व सब जगह एक है और हर एक जिन्दगी में वह है जो हमें लाभ दे सके। वस्तुतः जीवन एक लीला है। सबका पार्ट अलग-अलग है, फिर भी, एक का दूसरे से नाता है। लेकिन, यदि एक दूसरे से कुछ पा सकता है तो वह उसका आत्मानुभव ही, अहन्ता नहीं।

इस भाँति आत्म-चरित अपनी अनुभूतियों का समर्पण है। जवाहरलालजी का आत्म-चरित सम्पूर्णतः वही नहीं है। उसमें समर्पण के साथ आरोप भी हैं, आग्रह भी हैं। लेखक की अपनी अनुभूतियाँ ही नहीं दी गयी हैं—अपने अभिमत, विधि-निषेध, अपने मत-विश्वास भी दिये गये हैं; और इस भाँति दिये हैं कि वे स्वयं इतने सामने आ जाते हैं कि लेखक का व्यक्तित्व पीछे रह जाता है।

यहाँ क्या एक बात मैं कहूँ? ऐसा लगता है कि विधाता ने जवाहरलाल में प्राणों की जितनी श्रेष्ठ पूँजी रखी है, उसके अनुकूल परिस्थितियाँ देने की कृपा उसने उनके प्रति नहीं की। परिस्थितियों की जो सुविधा जन-सामान्य को मिलती

है, उससे जवाहरलाल को वंचित रखा गया है। जवाहरलालजी को वाजिब शिकायत हो सकती है कि उन्हें ऊँचे घराने और सब सुख-सुविधाओं के बीच क्यों पैदा किया गया? इस दुर्भाग्य के लिए जवाहरलाल सचमुच रुष्ट हो सकते हैं, और कोई उन्हें दोष नहीं दे सकता। इन खुश और बद-नसीबी का परिणाम आज भी उनके व्यक्तित्व में से धुलकर साफ नहीं हो सका है।

वह हठीले समाजवादी हैं—इतने राजनीतिक हैं कि बिलकुल देहाती नहीं हैं। सो—क्यों? इसीलिए तो नहीं कि अपनी सम्पन्नता और कुलीनता के विरुद्ध उनके मन में चुनौती भरी रहती? वह व्यक्तित्व में उनके हल नहीं हो सकी है, फूटती रहती है और उन्हें बेचैन रखती है।

बीस से चालीस वर्ष तक की अवस्था का युवक सामान्यतया अपने को दुनिया के आमने-सामने पाता है। उसे झगड़ना पड़ता है, तब जीना उसके लिए सम्भव होता है। दुनिया उसको उपेक्षा देती है, और उसकी टक्कर से उस युवा में आत्म-जागृति उत्पन्न होती है। चाहे तो वह युवक इस संघर्ष में डूब सकता है, चाहे चमक सकता है।

इतिहास के महापुरुषों में एक भी उदाहरण ऐसी नहीं है, जहाँ विधाता ने उन्हें ऐसे जीवन-संघर्ष का और विपदाओं का दान देने में अपनी ओर से कंजूसी की हो। पर, मैं क्या आज विधाता से पूछ सकता हूँ कि जवाहरलाल को आत्मा देकर, जवाहरलाल की किस भूल के दण्ड में, उसने लाड़-प्यार और प्रशंसा-स्वीकृति के वातावरण में पनपने को लाचार किया? मैं कहता हूँ, विधाता ने यह छल किया।

परिणाम शायद यह है कि जवाहरलाल पूरी तरह स्वयं नहीं हो सके। वह इतने व्यक्तित्व नहीं हो सके कि व्यक्ति रहें ही नहीं। थ्योरी उनको नहीं पाने चलती, वही उसको खोजते हैं। शास्त्रीय ज्ञान की टेकन उनकी टेकन हैं, हाँ, शास्त्र आधुनिक है। (पुस्तक में कितने और कैसे कमाल के रेफरेन्स और उदाहरण है!) शास्त्र उनके मस्तक में है, दिल में नहीं। दिल में शास्त्र का सार ही पहुँचता है, बाकी छूट जाता है। इसी से अनजान में वह शास्त्र के प्रति अवज्ञाशील हो जाते हैं। एक 'इज्म' का सहारा लेते हैं, दूसरे 'इज़्मों' पर प्रहार करते हैं। सच यह कि वह पूरे जवाहरलाल नहीं हो सके हैं, तभी एक 'इस्ट' (सोशलिस्ट) हैं; और ध्यान रहे वह पैतृक 'इज़्म' नहीं।

चूँकि उस समस्याओं से उन्हें सामना नहीं करना पड़ा जो आये दिन की आदमी की बहुत करीब की समस्याएँ हैं, इसी से उनके मन में जीवन-समस्याओं के अतिरिक्त और अलग तरह की बौद्धिक समस्याएँ घिर आयीं।

आदमी का मन और बुद्धि खाली नहीं रहते। सचमुच की उन्हें उलझन

नहीं है, तो वह कुछ उलझन बना लेते हैं। जीवन-समस्या नहीं तो बुद्धि-समस्या को वे बौद्धिक रूप दे देते हैं। क्या वह इसी से है कि उनकी बौद्धिक चिन्ता रोटी और कपड़े के राजनीतिक प्रोग्राम से ज्यादा उलझी रहती है, क्योंकि रोटी और कपड़े की समस्या के साथ उनका रोमांस का सम्बन्ध है!

स्थूल अभाव का जीवन उनके लिए रोमांस है। क्या इसलिए ऐसा है कि उनका व्यावहारिक जीवन जब कि देहाती नहीं है, तब बुद्धि उसी देहात के स्थूल जीवन की ओर लगी रहती है? और लोग तो चलते धरती पर हैं, कल्पना आसमानी करते हैं! जवाहरलालजी के साथ ही यह नियम नहीं है। क्या हम विधाता से पूछ सकते हैं कि यह विषमता क्यों है?

जवाहरलालजी को देखकर मन प्रशंसा से भर जाता है। पुस्तक पढ़कर भी मन कुछ सहमे बिना न रहा। जब उस चेहरे पर झल्लाहट देखता हूँ, जानता हूँ कि इसके पीछे-ही-पीछे मुसकराहट आ रही है।

पर उनका मुसकराता चेहरा देखकर भय-सा होता है कि अगली ही घड़ी इन्हें कहीं झींकना तो नहीं पड़ेगा!

पुस्तक में इसी रईस और कुलीन, लेकिन मिलनसार, वेदना में भीनी, खुली और साफ तबीयत की झलक मिलती है। मन का खोट कहीं नहीं है, पर मिजाज जगह-जगह है।

निकट भूत और वर्तमान जीवन के प्रति असंलग्नता पुस्तक में प्रमाणित नहीं हुई है; फिर भी एक विशेष प्रकार की हृदय की सच्चाई यहाँ से वहाँ तक व्याप्त है।

पुस्तक में अन्त की ओर खासे लम्बे विवेचन और विवाद हैं। हमारे अधिकतर विवाद शब्दों का झमेला होते हैं। जब तक मतियाँ भिन्न हैं, तब-तक एक शब्द का अर्थ एक हो ही नहीं सकता। सजीव शब्द अनेकार्थवाची हुए बिना जिएगा कैसे? यह न हो तो वह शब्द सजीव कैसा? पर जवाहरलालजी इसी कथन पर उतारू हो सकते हैं। उन्होंने एक लेख में लिख भी दिया था कि एक शब्द दिमाग पर एक तस्वीर छोड़ता है, और उसे एक और स्पष्ट अर्थ का वाची होना चाहिए आदि-आदि। पर, वह बात उनकी अपनी अनुभूत नहीं हो सकती। सुनने में भी वह किताबी है। इसलिए उन विद्वत्तापूर्ण किये गये विवादों को हम छोड़ दें। यह अपनी-अपनी समझ का प्रश्न है। कोई आवश्यकता नहीं कि कहा जाये जवाहरलाल गलत हैं, चाहे वह यही कहें कि वह और वही सही हैं।

जवाहरलालजी आज की भारत की राजनीति में जीवित शक्ति हैं। उनके विश्वास रेखाबद्ध हों, पर वे गहरे हैं। कहने को मुझे यही हो सकता है कि रेखाबद्ध होने से उनकी शक्ति बढ़ती नहीं घटती है, और स्वरूप साफ नहीं सिर्फ सख्त

होता है। उस पर वह कर्म-तत्पर भी हैं। विभेद उनके राजनीतिक कर्म की शिला है। वे जन्म से ब्राह्मण, वर्ग से क्षत्रिय हैं, पर मन उनका अत्यन्त मानवीय है। सूर्योदय की बेला के प्रभात में भी उन्हें प्रीति है। पशु-पक्षियों में, वनस्पतियों में, प्रकृति में, तारों से चमक आनेवाली अँधेरी-उजली रातों में, भविष्य में, इस अजेय और अज्ञेय शक्ति में जो है और नहीं भी है—इन सब में भी जवाहरलालजी का मन प्रीति और रस लेता है। उस मन में मत और रुचि की जिद हो, पर जिज्ञासा भी गहरी भरी है। वही जिज्ञासा से भीना स्नेह का रस जब तनिक-तनिक अविश्वस्त उनकी मुसकराहट में फूटता है, तब आग्रह भी उसमें नहाकर स्निग्ध हो जाता है। वह नेता हैं और चाहे पार्टी राजनीतिक भी हो, पर यह सब तो बाहरी और ऊपरी बातें हैं। जवाहरलालजी का असली मूल्य तो इसमें है कि वह तत्पर और जागृत व्यक्ति हैं। उस निर्मम तत्परता और जिज्ञासु जागृति की छाप पुस्तक में है और इसी से पुस्तक सुन्दर और स्थायी साहित्य की गणना में रह जाएगी।

[दो]

जवाहरलालजी से कौन अनजान है। कुछ भी उन्होंने अपने पास नहीं रोका। समय को भी अपने में नहीं रोका। अपना सब कुछ वह देते ही चले गये हैं। इस प्रकार उनके सम्बन्ध सब ओर फैले हैं। पर उन असंख्य मानव-सम्बन्धों के विस्तार में ही वह सीमित नहीं हैं। सब उन्हें जानते हैं, फिर भी सभी को विस्मय है कि क्या वे उन्हें जानते हैं? कारण, धरती पर वह जितने हैं उससे अधिक हवा में हैं। इस हवाई चीज को पकड़ना आसान नहीं। मालूम होता है कि वह जहाँ और जो हैं, वहीं और उतने ही नहीं हैं, उससे परे और आगे भी है। मानव-सम्बन्धों में उन्हें पूरी तरह समझा या पकड़ा नहीं जा सकता है, उनके पार आदर्शों का जो लोक है, जवाहरलाल वहाँ से भी तोड़कर अपने को एक क्षण अलग नहीं कर पाते हैं। इस तरह बहुतों को वह बहुत जल्दी नाराज और निराश कर देते हैं। लेकिन अगले क्षण ही नाराजी दूर हो जाती है, निराशा उड़ जाती है, क्योंकि जवाहरलाल की मुसकराहट उन्हें बता देती है कि वह व्यक्ति नहीं बालक हैं। बालक में स्वार्थ गाँठ नहीं बन पाता, सब कुछ उसमें हरा और लहराया रहता है। आँख उसकी साफ और तबीयत सदा ताजा रहती है। बालक करता नहीं उससे होता है। अपनी त्रुटियों और खूबियों के लिए भी मानो पूरी तरह उसे जिम्मेदार नहीं ठहराया जा सकता।

व्यक्ति यों तो आत्मा है। लेकिन शरीर इस जगत में होकर धीरे-धीरे बहुत सामान वह अपने पास जुटा लेता है, जो औरों से काटकर उसे अपनी निजता की गाँठ में अलग बाँध दे। तब संघर्ष उसका नियम और अहं-रक्षा उसकी चिन्ता

होती है। शरीर के चलाये तब उसे चलाना और उसी की भाषा में जीना होता है। इस तरह जीवन उसके लिए समस्या बनता है और वह जगत की गुत्थी में मानो अपने ओर से उलझन और बढ़ाता है।

जवाहरलाल में यह किनारा नहीं, ऐसा तो नहीं कह सकते। उनके लहू में सम्भ्रान्ति है, नसों में 'नीला खून' है, वह उनको एक दर्पी और प्रतापी व्यक्तित्व प्रदान करता है। वह उनको अलग छाँट देता है। पर भीतर से जवाहरलाल इस अपनी विशिष्टता पर प्रसन्न नहीं हैं। यह विशेषता है जो राजनीतिक होने पर भी उन्हें स्मरणीय बनाती है। अधिकांश राजनीतिक विस्तार में रहते हैं, इसलिए तत्काल में उनकी सीमा और वहीं समाप्ति है। भवितव्य में उनकी व्याप्ति नहीं होती। अमरता में वे नहीं उठते। मरकर वे ऐसे मिटते हैं कि किसी की कृतज्ञता में याद शेष नहीं छोड़ जाते। इतिहास उन पर धूल ही चढ़ाता जाता है। उसके भीतर से उन्हें जगाने की चिन्ता भविष्य को नहीं होती। पर जवाहरलाल को अपनी निजी विशिष्टता अन्दर से प्रिय नहीं, यह अमरता के प्रति उनका दावा है। अन्त में यही उनकी समस्या भी है।

वह शक्ति के क्षेत्र में नगण्य नहीं हैं। वह क्षेत्र आवश्यक रूप में स्वार्थों का क्षेत्र है। शक्ति का मतलब ही है कि सामने तुलने को दूसरी शक्ति है; उस शब्द ही में प्रतिद्वन्द्व है। विरोध और आग्रह बिना वह निष्फल है, असिद्ध है। विग्रहात्मक विरोध स्वार्थों में ही सम्भव है। ऐसा होकर भी जवाहरलाल किसी स्वार्थ के प्रतिनिधि नहीं हैं। भारत के, भारतीय सत्ता और शासन के प्रतिनिधि हैं, फिर भी उसकी अहन्ता के प्रतिनिधि उन्हें नहीं कहा जा सकता। भारत उनके लिए भूगोल नहीं है मानो एक आत्मा है, एक आदर्श है, एक आवश्यकता है। स्टालिन-ट्रूमेन के मिलने-जुलने में जो दिक्कत होती है, जवाहरलाल के साथ उसकी कल्पना भी मुश्किल है। कारण, जवाहरलाल के पास देश की क्या अपनी निज की अहन्ता के लिए भी स्थान नहीं है। वह इसी से है कि शासक के साथ वह मित्र भी हैं, सेवक भी हैं। यों सच पूछिए तो सही ढंग के शासक ही नहीं हैं।

आदमी शरीर रखकर चलता है, लेकिन कल्पना उस बन्धन से उलटी ही चलती है। शासक कल्पना-बिहारी नहीं हो सकता। इस तरह शासक अनागत के आवाहन में सदा ही बाधा है। वह स्थिति से बँध जाता है और गति यथा-किंचित् उससे रुकती ही है। काल-गति उसे तोड़कर अपने को सम्पन्न करती है। शासक और कवि में इसलिए मौलिक विरोध है। जवाहरलाल में वह विरोध कम नहीं हो गया है, लेकिन कभी वह अकवि नहीं हैं। कहना मुश्किल है कि वह साहित्यिक अधिक हैं या राजनीतिक। कल्पनाशील नहीं तो वह कुछ भी नहीं।

वह कल्पनाशीलता प्रधानमन्त्री नेहरू के लिए भूषण है, दूषण बिलकुल नहीं। यही जवाहरलाल की प्रतिभा का प्रमाण है।

नेता की भिन्न कोटि है। राजा का बेटा राजा होता है और कुरसी आदमी को अफसर बना सकती है। पर नेता शासक से अलग है। नेता उठाता है, शासक दबाता है। जरूरी है कि आत्मा का उभार नायक में अधिक हो, शरीर का खिंचाव कम। वह निस्पृह हो, बहादुर हो, खरा और बेलाग हो। शरीर से स्वार्थ उपजता है, आत्मा से ही उत्सर्ग। आत्मोन्मुख होकर ही व्यक्ति उठता है। आत्मवान् ही असल अर्थ में विराट् बन सकता है। नायक को इस तरह अलक्ष्य की ओर ही बढ़ना होता है, जिसमें सहारा केवल उसकी श्रद्धा है। तब अनुयायी उसका शरीर होता है। आज का पार्टी-लीडर पार्टी से अलग और ऊपर जो कुछ रह नहीं जाता, इसलिए वह जोड़-तोड़ में रहता है। उसकी खूबी हिसाबी चतुराई की बन आती है। निष्कपटता में उसे खतरा है। शौर्य और पराक्रम उसमें झलक नहीं सकते। किन्तु जवाहरलाल की बात और है। देश और पार्टी के नेता होकर भी देश और पार्टी को आश्वासन नहीं पहुँचा पा रहे हैं कि वह उनसे घिरे हैं। तभी उनका नेतृत्व उनके लिए चिन्ता का विषय नहीं है, बोझ की भाँति आ गया हुआ वह एक दायित्व है, जो विनम्र और कुशल तो उन्हें बना सकता है, कायर और कुटिल नहीं।

दुनिया को आज की स्थिति में जवाहरलाल से बहुत आशाएँ हैं। गाँधी ने एक नयी दृष्टि और नयी परम्परा जगत को दी। उन्होंने दिखाया कि संसार का काम ईश्वर की नीति से ही चलेगा और चलाना होगा, सांसारिक नीति कोई अलग नहीं हो सकती। आत्मा के अनुसार ही चलने में शरीर का स्वास्थ्य है। इसलिए संसार के भले के लिए सम्राट और राजनेता नहीं चाहिए, सेवक और शहीद चाहिए। शासक और श्रमिक की खाई झूठी है। शासक बोझ है, इसलिए शासक का नाम बदलने, उनकी संख्या कम-अधिक करने और शासन-तन्त्र को इधर या उधर फेरने से असली कुछ लाभ होनेवाला नहीं है। आर्थिक कहकर जिस कार्यक्रम के सहारे विश्व में सहयोगी, शान्त और सही व्यवस्था हमें लानी है, उसका तथ्य अंक और हिसाब में नहीं है। मूल की ओर से उसे नैतिक और सेवाभावी होना है। उसके लिए सबसे पहले हृदय का परिवर्तन करना है। स्पर्द्धा की जगह प्रार्थना से चलना है। सारी सृष्टि को बदल डालना है। तब शासन और अर्थ, दोनों के ही क्रम और कार्य बदले दिखाई देंगे। उनके विकार को दूर करके उन्हें संस्कार देना है, नहीं तो रुग्ण-साधनों से नीरोग साध्य नहीं प्राप्त होनेवाला है।

गाँधी की यही दृष्टि सारे राजनीतिक संसार के लिए चुनौती है। खासकर अब जबकि नसों में तनाव है, शस्त्रास्त्र भीषण वेग से तैयार हो रहे हैं और एक-

दूसरे को अकारथ करने और दोषी और दुष्ट प्रमाणित करने की कोशिशें चल रही हैं, संक्षेप में जब युद्ध चारों ओर से आ लगा अनुभव होता है, गाँधी का मार्ग बचाव का एकमात्र मार्ग रह जाता है। जवाहरलाल के हाथ उस परम्परा का उत्तराधिकार है, और उस मार्ग के द्वार की कुन्जी है। गाँधी लँगोटी में और झोंपड़ी में रहते थे, जवाहरलाल सूट में और महल में दीखते हैं। गाँधी चरखे पर मन रखते थे, जवाहरलाल की आँख मशीन और ट्रैक्टर पर है। यह अन्तर है और जवाहरलाल को बहुत फासला तय करना है। फिर भी, गाँधी-वादी से भी ज्यादा, उस परम्परा की रक्षा जवाहरलाल के हाथ है, और विलायतों को जवाहरलाल से वह चीज मिलनी और ले लेनी है। नहीं तो नहीं कहा जा सकता कि तीसरा विश्वयुद्ध न होगा, या फिर उसी की कड़ी में चौथा भी प्रलययुद्ध न आकर रहेगा।

एक बात साफ है। वस्तु की बहुतायत, उसका थोक उत्पादन (Mass Production) सबकी पहली आवश्यकताओं की भरपूर पूर्ति—इस तरफ जवाहरलाल का रुख और जोर है, तो खुद वस्तु के मोह के कारण नहीं, बल्कि खरी मानव-सहानुभूति के कारण। इनसान से उसे प्यार है और आदमी को भूखा-नंगा देखना वह सह नहीं सकता। भूखे-नंगे को गाँधी 'दरिद्रनारायण' कहकर जबकि अपने से ऊँचे स्थान पर रखते थे, तब जवाहरलाल उस भावना में उनका साथ नहीं दे पाते। इसे उनके स्नायुओं की विवशता कह लीजिए। लेकिन अगर वह कपड़े से और रहन-सहन से शालीन रहते हैं तो इसलिए कि वह नहीं चाहते कि कोई एक घड़ी भी अपना भूखा-नंगापन बर्दाश्त करे। गाँधी जिसे मन्दिर में बिठाते हैं उसका अपने ड्राइंगरूम में कदम रखना भी जवाहरलाल बर्दाश्त नहीं कर सकते। इस ऊपरी विरोधाभास के नीचे दर्द की थोड़ी-बहुत आन्तरिक एकता भी नहीं देख सकते तो हम खुली आँखों अन्धे ही ठहरेंगे। अगर जवाहरलाल आदर्श और नीति से भटकते भी हैं तो वह दर्द ही उन्हें भटकाता है। उस दर्द से बढ़कर भी क्या कोई आदर्श है? कोई नीति है? जवाहरलाल इसी मूल प्राण-प्रेरणा के कारण गाँधीवादियों से अधिक गाँधी परम्परा के उत्तराधिकारी हैं।

जिस पर इस तरह हमें विस्मय हो सकता है, उसी पर हम तरस भी खा सकते हैं। भयंकर विरोधाभास जवाहरलाल में आ जुड़े हैं। व्यक्तित्व जो जितना समृद्ध और सम्पन्न होगा उतना ही विरोधाभासों का क्रीड़ा-क्षेत्र होगा। समन्वय, समत्व और एकत्व जहाँ परिपूर्ण होते हैं वह तो भगवान। गुण सब वहीं से होकर भी वह स्वयं निर्गुण हैं। साकार सब कुछ उन निराकार में से है। पर जवाहरलाल के प्रति गहरी करुणा होती है जब देखते हैं कि इतने तीव्र विरोधों को भीतर रखकर भी उसे उन भगवान की उपासना प्राप्त नहीं है, जो समस्त विरोधों के निर्विरोध आदि हैं और सब अशान्तियों के लिए चरम शान्ति हैं।

जवाहरलाल अत: समाधान नहीं हैं, जो कदाचित् ईश्वरोन्मुखता है। वह सतत प्रश्न हैं जो शायद इह जीवन है। वह एक गम्भीर और गहन ट्रेजेडी है। यदि केवल वह व्यस्त न रहते, बल्कि आगे बढ़कर अपने में से नोंचकर एकाध पल की फुरसत वह छीन लेते और फुरसत में सचमुच शून्य होने, अर्थात् स्वयं न होने की कृतार्थता पा सकते, तो? तो... ?

पर यह 'तो'? तो ठाली कल्पना है। जवाहरलाल को गाँधी देखने के दावा करने की अदया कैसे की जा सकती है। हम कैसे चाह सकते हैं कि अन्तर्व्यथा किसी में बढ़े। लेकिन अगर उनका मस्तिष्क, जो पश्चिम की शिक्षा से खूब सध गया है, कम सधा होता और आरम्भिक सहानुभूति को बीच में लपककर उसे बौद्धिक योजनाओं का रूप देने में इतना अभ्यस्त न होता, तो क्या सचमुच ही वह सहानुभूति उनके समूचे व्यक्तित्व को जलाकर आज आग न बना देती कि जिस पर न कपड़ा टिकता, न पद, न महत्त्व और न बड़े-बड़े नक्शे, बल्कि अपने समूचेपन में वह आँसू और आग की एक कविता बन जाता!

भारत के वह हैं, और कहीं कुछ करें? जन्मवाला दिन उनका भारत के ही भाग्य में रहनेवाला है। आज तो दुनिया विग्रह पर खड़ी है और एक को जो उजाला है वही उस कारण दूसरे को काला दीखता है। क्या हम कहें कि नेहरू अमेरिका जीतकर आये हैं? कहिए, पर तभी उधर दूसरा कहेगा कि अमेरिका में वह बिक आये हैं। दोनों ही राष्ट्रगत स्वार्थों की भाषा है, किन्तु भारत की भारतीयता कोरी राष्ट्रीयता नहीं है, राष्ट्रवाद में भारत की आत्मा नहीं है। कुछ को शिकायत रही कि भारत के इतिहास में राष्ट्र का उदय नहीं हुआ। इतिहास की जगह वहाँ पुराण हुए, जिनमें साहित्य हो, विज्ञान नहीं है। जो हो, भारत की आत्मीयता खण्ड के गर्व में नहीं उफनी, अखण्ड की पूजा में ही उसने अपनी लगन रखी। विश्व की और मानव-जाति की वह अखण्डता आज बीसवीं सदी में तथ्य की और योजना की बात हो आयी है। भारत ने तो सदा निष्ठा रखी कि वह अखण्ड ही सत्य था और है, लेकिन समझवादियों ने उसे ही स्वप्न कहा। आज यद्यपि विश्व अखण्ड होकर समक्ष है, फिर राष्ट्र अपने उत्कट राष्ट्रवादों से चहके हुए हैं। वे शान्ति चाहते हैं, पर औरों के सिर चढ़कर। क्या अब तक इसी वृत्ति में से युद्ध नहीं निकलते रहे हैं? अपने को महत्त्व देने का यह आग्रह तो सदा का नियम है। किन्तु दूसरों को महत्त्व देकर चलने का नियम सिर्फ एक भारत में पनपा है। वही अहिंसा का नियम है, जिसे गाँधी ने फिर से स्वयं भारत को और उसके द्वारा जगत को दिया। भारत में चक्रवर्ती भी हुए, जिन्होंने आक्रान्ता को झेला और परास्त किया और देश के माथे को ऊँचा रखा। फिर भी भारत के आत्मशौर्य का प्रताप ज्वलन्त होता है राम-कृष्ण में, बुद्ध-महावीर में, शंकर-चैतन्य में। और, हाल में

गाँधी वही है जो उस परम्परा का पूरक है। भारत में बाहुबल को भी कभी इतना बढ़-चढ़ने नहीं दिया गया कि वह दूसरे के लिए संशय और भीति का कारण हो। सदा ही वह आत्मबल का और मानवजाति के ऐक्य का प्रतिष्ठाता रहा है।

जवाहरलाल पश्चिम को उसी विश्व की अखण्डता का दिग्दर्शन करते हुए अमेरिका से आ रहे हैं। अमेरिकी अहन्ता को उनसे उत्तेजन और अभिनन्दन नहीं मिला है। महत्त्वाकांक्षा का नहीं, बल्कि पश्चिम की दायित्व-भावना को उन्होंने उभारा है। भारत के योग्य उत्तराधिकारी के अनुरूप ही उनका यह काम हुआ है। सत्ता के प्रतिनिधि तो वह थे और इस हैसियत से तदुपयुक्त शिष्टाचार और मनाचार का उन्होंने ध्यान रखा है, पर भारत के सच्चे सार्वकालिक सन्देश का प्रतिनिधित्व भी उन्होंने वहाँ किया है।

आगामी विश्व में वस्तु से व्यक्ति का महत्त्व निश्चय ही अधिक होनेवाला है। तब विश्व का केन्द्र पश्चिम नहीं पूर्व होगा, क्योंकि इनसान ज्यादा यहीं बसता है। एशिया सिर्फ खपत की मण्डी है उस समय तक जब तक कि मशीन पर हमारा आधार है। पर आधार जब स्वयं मनुष्य होगा तब एशिया अनायास विश्व को शक्ति, शान्ति और व्यवस्था देनेवाला भूखण्ड हो जाएगा। अण्डर डेवेलप्ड (Under Developed) जो वस्तु की ओर से है वह आत्मा की ओर से भी अविकसित है, यह मानकर चलना यूरोप व अमेरिका के लिए भयंकर खतरे की बात होगी। जवाहरलाल से यह चेतावनी पूरे और सही अर्थों में उन मुल्कों को मिली है। जिनको नहीं मिली, हमें आशा करनी चाहिए कि काल-संकेत से वे भी जगेंगे और अधिक ग़फ़लत में नहीं रहेंगे।

□

महात्मा गाँधी

सन् 1930 में नमक-सत्याग्रह हुआ, और उसमें जेल जाना हुआ। वहाँ सहसा देखा कि मुझे आस्तिक बनना पड़ रहा है। यानी मेरी वैसी कोई इच्छा नहीं थी। पर, एकाएक ऐसा घिर आया कि ईश्वर से बचने की राह ही कहीं न रह गयी। यह अप्रत्याशित था, पर अनिवार्य भी बन आया। किन्तु ईश्वर-विश्वास के आने के साथ ही युगपत प्रतीत हुआ। कि पुनर्जन्म का विश्वास मुझे खो देना होगा। या तो ईश्वर मानो या पुनर्जन्म ही मानो। दोनों साथ नहीं चल सकते। यह देखकर मैं बड़ी उलझन में पड़ा। पुनर्जन्म विचार भारत की जलवायु में घुला-मिला है। यह तो मेरे बस का न हो सका कि ईश्वर के होने से छुट्टी पा सकूँ, पर पुनर्जन्म को हाथ से जाते देखते भी बड़ा असमंजस होता था। जैसे आधार लुटा जाता हो।

जेल में रहते तो और चारा न था। बाहर आने पर मैथिलीशरणजी से परिचय हुआ। वह डॉ. भगवानदास के पास ले गये। फिर कहा कि गाँधीजी को लिखो। यह बात मेरे मन में उठती थी, पर मैं फौरन दाब देता था। कह दिया कि नहीं, गाँधीजी को नहीं लिखूँगा, कभी नहीं लिखूँगा। यह उन पर जुल्म होगा।

और लोगों से भी बात आयी। सभी ने सलाह दी कि गाँधीजी को लिखना चाहिए। वह तो मुझसे हो न सकता था, लेकिन पुनर्जन्म को लेकर इन-उन के पास काफी भटक लिया।

इसी समय की बात है कि गाँधीजी दिल्ली आये हुए थे। मुझे उस नाम से डर लगता था। जितनी ही उत्कण्ठा होती थी उतनी ही आशंका सम्भव न था कि गाँधीजी के पास तक मैं जा सकूँ। किसी सभा में उन्हें दूर से देखता तो भी जी होता कि अपना मुँह छुपाकर दूर हो जाऊँ। उन्हीं दिनों शायद गाँधीजी से मिलने के लिए दया आयी हुई थी। वह कई बरस साबरमती और वर्धा रह चुकी थी और गाँधीजी से घुली हुई थी। उसी समय अभयदेवजी भी आये। याद नहीं कि वह तब देव शर्मा ही थे कि अभयदेव बन चुके थे। कांगड़ी-गुरुकुल के आचार्य अवश्य थे।

वे लोग गाँधी के पास जाने को उद्यत हुए। मन में मेरे भी था, पर मैं मुँह न खोल सकता। दया ने कहा, ''जीजाजी, चलिए न, आप भी चलिए?''

''मैं?''

''हाँ-हाँ, चलिए।''

मैं गहरे असमंजस में पड़ा। साहस जवाब दे रहा था, पर उत्सुकता भी अदम्य थी। अभयदेवजी ने भी कहा, ''हाँ, आओ चलो।'' अभय पाकर मैं साथ हो लिया।

बिरला-हाऊस में पीछे की तरफ बरामदे में गाँधीजी बैठे थे। उन्होंने कहा, ''महादेव, यह दया है। इसे वह खत ला के तो दो, जो भेजनेवाले थे।''

महादेव भाई ने बबूल के एक काँटे से टके तीन-चार कागज लाकर दया के हाथ में दे दिये और दया उनको पढ़ गयी। गाँधीजी ने पूछा, ''पढ़ लिया? सब बातों का जवाब आ गया न?''

''जी हाँ।''

''सबका?''

''जी—''

गाँधीजी ने दृष्टि हटाई। पर, सहसा दया ने कहा, ''एक बात रह गयी, बापू।— पुनर्जन्म?''

चेहरे की खिलावट लुप्त हो गयी। गम्भीरता आ गयी। दृष्टि में जैसे स्नेह नहीं ताड़ना हो। बोले, ''पुनर्जन्म! यह प्रश्न नहीं धृष्टता है।''

दया घबरा गयी। मैं पीछे की तरफ एक ओर नगण्य बना बैठा रहा, लेकिन मुझे काटो तो खून नहीं।

''...तुम कन्या हो। मैं पुरुष हूँ, और हम दोनों में कोई व्याघ्र नहीं है, सो क्यों? इसलिए कि पुनर्जन्म है?''

पर जैसे ये शब्द दया ने पूरी तरह भीतर नहीं लिये। आर्त्त बनी-सी बोली, ''मैं नहीं, बापू...ये जीजाजी।''

गाँधीजी की आँखें मेरी ओर उठीं। मैंने उसी क्षण मर जाना चाहा। सिटपिटाकर बोला, ''मैं...मुझे नहीं मालूम था। मैंने नहीं कहा। इसने, दया ने यों ही लिख दिया। मैं कभी लिखनेवाला नहीं था, लेकिन अब क्या कहूँ?...बैठे ठाले क़ी उत्सुकता यह नहीं है, बापू। लगता है मैं रुक गया हूँ, सब अटक गया है। दिमाग काम नहीं करता। यह उलझन जैसे मेरे साथ मूल की बन गयी है। यह कटे तब आगे कुछ बने, लेकिन दया बड़ी खराब है। इसने आपको नाहक लिख दिया...''

गाँधीजी बोले, ''अच्छा, जो मैंने कहा कैसा लगता है?''

मैंने कहा, ''उससे सन्तोष नहीं होता।''

बोले, ''जो कहूँगा उसका क्या करोगे?''

सँभलकर कहा, ''श्रद्धा से लूँगा, यत्न करूँगा, बुद्धि-विवेक से भी अपना सकूँ।''

''ओह,'' मानो कुछ चैन मानते हुए बोले, ''तब तो खुलासा पत्र में लिखना।''

''इस धृष्टता को आप क्षमा कर सकेंगे!''

''हाँ, सो क्षमा तो मुझे माँग लेनी चाहिए। क्योंकि हो सकता है कि जवाब आने में कुछ देर हो जाए।''

यह गाँधीजी से पहली मुलाकात थी। उसकी छाप धोये धुलती नहीं। वह स्निग्ध लगे, पर कठिन। उनकी जिरह झेलना कितना दुर्वह था। घर आकर दया को आड़े हाथों लिया। कहा कि ''तू बड़ी वैसी है री।''

बोली कि ''लो, अब खत लिख दो।''

मैंने कहा, ''हट! भला, इस बेकार-सी बात के लिए मैं गाँधीजी को खत लिखने बैठूँगा।''

बोली, ''लिखाओ भी। बात इतनी आगे बढ़ गयी है तो क्या अब वापस मुड़ोगे?''

मेरा लिखना हमेशा करीब ऐसी हालातों में हुआ है। खत लिखा गया और डल गया। फिर एक अरसा गुजर गया और जवाब उनका नहीं आया। चलो छुट्टी हुई।

[दो]

उसके बाद तब की बात है जब गाँधीजी ने समग्र-ग्राम-सेवा का विचार दिया। रचनात्मक काम कई तरह का था और उनमें आपस में फासला भी समझ लिया जाता था। संगठन तो उनके अलग थे ही, पर जैसे वे काम भी इतने अलग थे कि कोई एक भावना और एक प्रयोजन उन्हें थामे न रखता हो। तब समग्र-सेवा को उन्होंने बल दिया और संगठनों को विकेन्द्रित करना चाहा।

वह विचार मुझे पसन्द आया। इच्छा हुई कि क्यों न मैं उसमें अपने को झोंक दूँ, पर तब कुछ शंकाएँ थीं—और मैंने गाँधीजी को पत्र लिखा। यह पत्र सीधा-सादा कामकाजी था। पुनर्जन्म की पहली मुलाकात की हवा भी उसे न छू गयी थी। उत्तर आया कि अमुक तारीख को पहुँच रहा हूँ। हरिजन-बस्ती में मिलना।

गाँधीजी आये तो कब उन्हें भीड़ से छुट्टी थी। सब तरह के खास-खास लोग उन्हें घेरे थे और व्यूह तोड़ा न जा सकता था। फिर मेरे जैसा पस्त-हिम्मत

आदमी। मैंने एक-दो गणमान्य की सहायता चाही, पर उद्धार कोई क्या कर सकता था? आत्म से ही आत्मा का उद्धार होना लिखा है। करीब घण्टा भर किनारे भटकते हो गया तो हताश गाँधीजी के पास सीधे पहुँचकर कहा, ''बापू, मैं भी हूँ यहाँ, जैनेन्द्र।''

बहुतों के बीच घिरे बैठे बापू ने निगाह ऊपर की। नीली-सी वे आँखें! हँसकर बोले, ''अरे, तो यों कहो कि दया के जीजाजी, पर आज क्या है, सोम। बात परसों बुध को होगी, दो बजे। होगा न सुभीता?''

मैंने कहा, ''जी।''

''और सब राजी?''

''जी।''

देखा उनकी निगाह फिर नीचे यथावत् हो गयी और वह प्रस्तुत दूसरी व्यस्तताओं में दत्तचित हो गये। मुश्किल से डेढ़ मिनट लगा तो, पर इससे गाँधीजी के काम में विघ्न नहीं आया, व्यवधान नहीं पड़ा, जबकि मेरा प्राप्य मुझे पूरा मिल गया। लौटा तो चित्त में प्रसन्नता थी। इस एक मिनट की स्वीकृति में मैंने पाया कि मैं समूचा स्वीकृत हो चुका हूँ।

कहा है, कर्म सुकौशल योग है। बिना योग के ऐसा कर्म-कौशल सध नहीं सकता। इन्द्रियाँ पूरी जगी चाहिएँ, पर उतनी ही वशीभूत। व्यक्ति को हर क्षण ऐसा होना चाहिए कि वह एक में हो, तो और सब में भी हो। एकाग्र पर सर्वोन्मुख।

गाँधीजी को मन में साथ लिये-लिये घर आया। विलक्षण अनुभव था। पहला साक्षात्कार अत्यन्त साधारण था और अत्यन्त अल्प, फिर उस पर से बरस के बरस बह गये थे, पर देखा गाँधी के साथ कुछ बुझता नहीं है, बुसता नहीं है, प्रस्तुत और ताजा बना रहता है, ऐसे क्षण अमिट बनता है। क्या यही साधना है जिससे पुरुष काल-पुरुष बनता, व्यक्ति विराट् होता और एक अखिल हो जाता है?

जान पड़ा, जैसे वैयक्तिक और निर्वैयक्तिक के बीच सीमा का लोप हो गया है। निश्चय है कि मुझसे निगाह हटते ही मैं उनके लिए न रह गया था, पर निगाह में जब तक था तब तक मानो मैं ही सब कुछ था और उनकी निजता मुझसे अलग न थी।

बुधवार को दो बजे पहुँचा और बातचीत की। बातचीत में अपने मन की शंका रखी। कहा कि सेवा तो ठीक, पर किस बल पर वह सेवा हो? रहता यहाँ हूँ, जीविका मेरी चली आये एक पाँच सौ मील दूर से आनेवाले मनीऑर्डर के रूप में, तो क्या यह सहज है कि जहाँ हूँ, वहाँ लोगों से मेरा हितैक्य और आत्मैक्य बन जाए। गाँव का सेवक उद्धारक हो, तो कैसे चलेगा? उसे क्या जीविका के लिए भी वहीं निर्भर नहीं करना चाहिए?

गाँधीजी सुनते रहे, सुनते रहे, बोले, ''क्या चाहते हो?''

कहा, ''गाँव में बैठूँ तो यह चाहता हूँ कि उनके दुःख-सुख का भागी बनूँ, उस कक्षा का होकर। कोई बाहर से आयी अर्थवृत्ति मेरा पोषण न करे।''

हँसे, बोले, ''यह उत्तम है।''

दूसरी शंका यह थी कि राज-कारण को जीवन से अलग रखने का वचन कैसे दिया जा सकता है? उस समय समग्र ग्राम-सेवकों से गाँधीजी यही चाहते थे। मैंने कहा कि राजनीति ओढ़ी हुई हो तो उतार भी दी जा सकती है, पर विश्वासों और विचारों की अभिव्यक्ति वह हो तो अलग रखना कैसे बनेगा?

गाँधीजी ने मुझे कुतूहल से देखा और कहा, ''ठीक है।''

बात पाँच-सात मिनट में खत्म हो गयी। देखा कि बोलता मैं ही रहा हूँ, उनकी ओर से एक-आध वाक्य ही आया है, मुझे यह न जाने कैसा लगा। सोचता था कि मुझे खींचा जाएगा, जीता जाएगा। स्पष्ट था कि वह ग्राम-सेवकों की एक बड़ी संख्या चाहते थे, उनकी भर्ती भी हो रही थी। मैं एक खासा उम्मीदवार समझा जा सकता था, पर मुझे भर्ती में लेने की तनिक आतुरता उधर से नहीं आयी, प्रतीत हुआ कि मेरा अपना ही समर्थन आया है। इस प्रकार कुछ ही देर में मैंने अपने को वहाँ समाप्त और अनावश्यक अनुभव किया; लेकिन भीतर से अपने को समर्थित और प्रसन्न पाया।

मैं इस भेंट से वापिस आते हुए सोचता रह गया कि यह क्या हुआ, क्या परिणाम आया। काम-काज की भाषा में फल निष्फल था, पर भीतर देखा कि बात ऐसी नहीं थी। मैं प्रभावित था और प्रसन्न जैसे भीतर कुछ फैल रहा हो, मैं प्रशस्त हो आ रहा हूँ।

चलते वक्त गाँधीजी ने दया की बात की थी और दया की बहिन की, और भी इसी तरह की निष्प्रयोजन कुछ बात हो गयी थी। उसने मुझको मानो हलका और भरपूर बना दिया था।

यह भेंट प्राप्ति के अर्थ में शून्य रही। आशा थी कि मैं सेवकों की श्रेणी में आ जाऊँगा, वह कुछ न हुआ। गाँधीजी ने अपनी ओर से उसकी कोई चेष्टा नहीं की। गाँधीजी की यह विशेषता गाँधीजी की अपनी ही थी। वह अनुयायी नहीं चाहते थे, उनकी पाँत बढ़ाना नहीं चाहते थे, न दल चाहते थे। सबको स्वयं रहने देने में मदद देना चाहते थे कि बस भीतर से उसको बढ़ावा पहुँच जाए। शायद व्यक्तित्व के निर्माण की यही कला है और यह उन्हें सिद्ध थी। पर यह आसान नहीं है। इसमें अपने को अपने से छोड़कर रहना होता है। अपने को होम सके वह ही इसे साध सकता है।

उनके प्रभाव का तब जैसे मूल हाथ आया—जैसे वे किसी को शर्त के साथ

नहीं लेते, बे-शर्त ज्यों-का-त्यों लेने को तत्पर हैं। जो हो उसी रूप में तुम्हारा वहाँ सत्कार और स्वागत है। यह नितान्त, निस्पृह, निस्स्व असाम्प्रदायिकता उनकी शक्ति थी।

मैंने पूछा था कि मेरा मन और मत देखते क्या उनकी सलाह है कि मैं बाकायदा सेवकों की श्रेणी में आऊँ।

उनकी सलाह नहीं थीं, पर चाहते थे कि मैं अपने हाथ समय लूँ और स्वयं निर्णय पर पहुँचूँ। इससे तीसरी भेंट भी हुई। सोच-समझकर मैंने कह दिया कि मैं बेकार हूँ।

हँसकर बापू ने कहा, "तुम इसमें अनेकों के साथ हो।"

इसी भेंट में मैंने याद दिलाई कि बापू पुनर्जन्म के सम्बन्ध की शंका वाले मेरे पत्र का उत्तर मुझे नहीं मिला।

"नहीं मिला?"

"नहीं।"

"कितना बड़ा था?"

"आठ-दस पृष्ठ रहे होंगे।"

"ओह, तब तो हो सकता है, हो सकता है रोक लिया हो। मेरे पासवाले लोग हैं..." कहकर वह हँसे।

मैं किंचित् निरुत्साह होने को हूँ कि बोले, "कॉपी है?"

मैंने कहा, "है।"

"तो ऐसा करना कि फिर लिखकर भेज देना। अब उत्तर मिलेगा।"

"वक्त आप पा सकेंगे?"

"वही तो सवाल है। पर पाना होगा भई, कहकर फिर ठठाकर हँसे।"

यही गाँधी अविजय है। काटते हैं, पर भर भी देते हैं। समझ नहीं आता कि ऐसे आदमी के साथ क्या किया जाए। मालूम होता है उसकी राह रुक नहीं सकती। मानो वह हम सबमें से अपनी राह बना ले सकता है। सब उसके मित्र हैं। अवरोध भी जैसे उसके लिए सहायता है।

कहने की आवश्यकता नहीं कि मैंने कॉपी से नकल करके पत्र उन्हें भेजा और अगरचे समय लगा, पर उनका उत्तर आया। तिस पर भी लिखा और तीसरा उत्तर आया। उसके बाद लिखने को शंका शेष न रही, आवश्यकता ही जैसे निःशेष हो गयी।

यह अनुभव भी अजब है। आज भी नहीं कह सकता हूँ कि सन् 1930 की मन की स्थिति भीतर से लुप्त हो गयी है। जन्मान्तर के सम्बन्ध में मन की लगभग वही स्थिति है, सिर्फ इतना हुआ है कि वह अब कुतरती नहीं है। गाँधीजी

के उत्तरों की वही खूबी है। मानो वे शान्ति देते हैं, खण्डन नहीं करते, प्रतिपादन नहीं करते, श्रद्धा में हठात् हो पड़े छिद्र को बस मूँद लेते हैं। संकल्प ही आदमी का बल है। वह बल संशय या शंका की राह से बूँद-बूँद आदमी में से रिसता रहता है। ऐसे वह छूछा रह जाता है और किसी ओर गति नहीं कर पाता। प्रश्न में तो जिज्ञासा है, अभीप्सा है। उससे आदमी बढ़ता और ऊपर को उठता है। किन्तु वही जब संशय बन जाये तब वह खाने लगता है। गाँधीजी के साथ का मुझे यही अनुभव है कि उनकी बात जबकि प्रश्न को मन्द नहीं करती थी तब शंका को अवश्य बन्द कर देती थी। और, इस प्रकार व्यक्ति उनके उत्तर को लेकर अपने में अधिक संयुक्त और संकल्प में दृढ़ ही बनता था। मतवादी के पास वह गुण नहीं हो पाता, न विचारवान के पास। यह विशेषता चिद्पुरुष के पास ही हो सकती है, जो मत—और विचार की ओर से अपरिग्रही है। बस, अनुभूतिशील चैतन्य इससे भरा है। ऐसे लोग भारी नहीं होते, दुरूह और दुर्गम भी नहीं लगते। वे उद्यत, प्रस्तुत, प्रसन्न और सदा ताजा दीखते हैं।

[तीन]

मैंने कहा, "बापू, एक अनुमति चाहता हूँ।"

बापू ने ऊपर आँख उठाई और मुझे देखा।

"यह चाहता हूँ कि आपके इस कमरे में दो रोज को मेरे लिए रोक-टोक न हो। कुछ मुझे बात करना नहीं है। सिर्फ रहना और देखना चाहता हूँ। आपका कुछ हरज होता देखूँगा—कोई प्राइवेट बातचीत।"

"प्राइवेट—मेरे पास नहीं है। सब खुला है।"—कहकर वह हँसे। "यह प्राइवेट मानो कि बाथरूम जाता हूँ तो...लोग कुछ अपने साथ बातचीत को प्राइवेट मानना चाहते हों तो बात दूसरी और वह तुम समझ ही लोगे।"

इस तरह दो रोज बेखटके मैं उनके कमरे में रहा किया, और आया-जाया किया। देखा कि उनका हर क्षण एक अनुभव था, जैसे सदा जागृत। सोते भी सोते न हों, भीतर जगे ही रहते हों। ऐसा नहीं लगता था जैसे कुछ कर्तव्यनिष्ठों के साथ होता है कि वे अतिरिक्त कसे, चुस्त और चौकसी पर हों। तपस्वी का रूप मुझे उनमें नहीं दीखा, या होगा तो भोगी मिला होगा, अर्थात् हर क्षण मैंने उन्हें हार्दिक पाया। काम और आराम—ऐसे दो खाने नहीं देखे। कर्तव्य-कर्म मानो उन्हें सहज-कर्म भी हो। यह स्थिति अत्यन्त विरल है, पर गाँधीजी का शरीर-यन्त्र जैसे इतना सधा था कि क्या कहा जाए। चारों ओर की परिस्थिति चाहने के साथ मानो उन्हें शून्य हो जाती थी। चाहने पर कोई उपस्थिति यहाँ तक की भीड़ भी उन्हें उनकी एकाग्रता से च्युत नहीं कर सकती थी, जैसे वे लिखते हों और अयाचित

कितने भी आदमी पास आ बैठे, तो वे लोग अनुभव के बिना न रहेंगे कि वहाँ वे नहीं हैं।

आयी एक महिला। भारत के लिए नयी मालूम होती थीं। मालूम हुआ—प्रतीक्षा करती रही है। आयी तो जैसे प्रीति, प्रसन्नता और भय से काँप रहीं थीं। गाँधीजी ने कहा, "आओ, आओ, तुम पर तो रंग है! सब ठीक? खत मिला था?"

महिला से सहज उत्तर न बन रहा था। वह इतनी विह्वल और आवेग में थीं, जैसे-तैसे जताया कि पत्र तो नहीं मिला।

जैसे दुर्घट घटा हो। गाँधीजी बोले, "लेकिन वह तो प्रेमपत्र था। यह न समझना, मैं बुड्ढ़ा हूँ।"

महिला का बदन आरक्त हो रहा। उन्होंने कुछ शब्द कहे। शब्द वे क्या थे! शुद्ध आह्लाद का संकोच था।

"सचमुच वह प्रेम-पत्री थी। लम्बी कई सफे की चिट्ठी थी...अब हिन्दुस्तान में हो। तो यहाँ सेवा करोगी—"

"मैं यहाँ की भाषा तो नहीं जानती।"

"यह तो और अच्छा है। मुँह आप ही बन्द रहेगा, जैसे झाड़ू लगा रही हो, किसी ने तुमसे बात की, तुमने ऐसे दो उँगली मुँह के आगे रख लीं और हाथ हिला दिया। वह समझेगा गूँगी है और तुम्हें इससे लाभ होगा। तुम झाड़ू दिये जाओगी।"

कहने के साथ गाँधीजी ने मुँह पर अँगुलियाँ रख ली थीं और हाथ हिला दिये थे और बात का अन्त आने तक खिलखिलाकर हँस पड़े थे।

देख सका कि महिला को यह स्वागत बड़ा ही अनोखा लगा, पर उतना ही प्रीतिकर भी। वह इतनी गद्‌गद थीं कि जैसे वह भाव सारे गात पर छलका आता हो।

सहसा गम्भीर होकर बोले, "हम अन्तिम होंगे...वहाँ पहले पिछले हो जाएँगे और पिछले पहले...तुम्हारी बाइबिल ही हैं न। यह न समझ लेना, मैं उसका पण्डित हूँ। बस यह 'सरमन ऑफ दि माउण्ट' जानता हूँ...तो अब भारत में रहोगी? और वह तुम्हारा देश होगा। यहाँ दरिद्र हैं, पर दरिद्र में नारायण बसते हैं।"

बीच-बीच में महिला ने कुछ-कुछ कहा। शब्द वाक्य में सही संयुक्त न हो पाते थे। वह इतनी विभोर थीं।

"तो मेरा प्रेम व्यर्थ नहीं जाएगा। हम दोनों क्राइस्ट की राह पर चलेंगे।"

महिला अपनी नीली-भूरी आँखों से गाँधीजी को देखा की।

"तो हुआ...अब वह कोना है। बैठो तो एकदम चुप बैठी रहना। बाकी

कल।''

गाँधीजी ने कहने के साथ अँगुली उठाकर कोना बता दिया और एकसाथ अपने कागजों में डूबे रहे।

क्षण में महिला स्तब्ध हो रही। जैसे अनहुई हो आयी। उठीं और बताये कोने में चुप-चुपानी जा बैठीं। बैठी रहकर देखती रहीं इस गाँधी को, जो प्रेमी बनता है और उसी से शासन करता है।

इन दो दिनों के अनेक सम्पर्कों में देख सका कि स्नेह कहीं छलकता नहीं, बहता नहीं। वह स्निग्ध हैं निस्सन्देह, पर कठोर भी कम नहीं। वह अतिशय दारुण, अतिशय निर्मम भी हैं।

आयी साग-भाजी की डलिया। उसी सवेरे की ताजा साग-तरकारी। अमुक फार्म से आयी थी। मीरा बहन ने पास लाकर रखी और गाँधीजी के माथे पर तेवर आये। मीरा सकपकायीं।

''यह क्या है?''

''देखकर बता दीजिए, और क्या बनेगा?''

''सब मुझसे पूछा जाएगा?'' गाँधीजी ने ऐसे कहा जैसे सब अन्तिम हो। ''सीखा न जाएगा? वक्त फालतू है, मेरे पास?''

कहकर टोकरी को पास खींचा। पालक का पत्ता बीच से मोड़ा, जो हलकी-सी चटख देकर टूट आया। दूसरा, दूसरे किनारे से ले लिया और उसी तरह मोड़कर देखा। कहा, ''ऐसे जो टूट जाएँ, ठीक हैं। मुड़ जाएँ, वे रहने देना। इतना तुम्हें जानना चाहिए। सब्जी के साथ यही पहचान है और यों ही मेरे पास न आ धमका करो?''

मीरा बहन को जरा मौका न मिला। वह पसीने-पसीने हो गयी। सफ़ाई दी नहीं जा सकती थी क्योंकि ली नहीं जा सकती थी।

यह निर्मम व्यवहार हाकिमाना न था, पर उससे भी ऊँची हुकूमत उसमें थी। यह उन दो व्यक्तियों के बीच न था जिनमें अन्तर सामाजिक अथवा इतर श्रेणियों के कारण हैं। कोई निर्वैयक्तिक विवशता उसमें न थी और मानो दोनों ओर से पूरी व्यक्तिगत स्वेच्छा से था। वह व्यवहार सम्पूर्णतः प्रेम का था। इसी से सर्वथा अनुल्लंघनीय था और हर प्रकार के बन्धन से मुक्त।

[चार]

कहा गया कि डॉक्टर तैयार है। जब आपको सुविधा हो गाँधीजी तकिये से सीधे हुए। बोले, ''सुविधा—अभी है।''

डॉक्टर के यहाँ आते ही गाँधीजी कुर्सी पर बैठ गये और डॉक्टर तैयारी

में लगा। तभी मुझसे एक बन्धु ने आकर कान में कहा, ''ऐसा न हो, जैनेन्द्र, दाँत डॉक्टर के पास ही रह जाए।''

मुझे दिलचस्पी हुई। कहा, ''डॉक्टर उसे रखना तो चाह सकते हैं।''

मित्र फुसफुसाकर बोले, ''यही तो, लेकिन दाँत उनके पास जाना नहीं चाहिए।''

बात में मेरा रस बढ़ा। मैंने उन्हें निश्चिन्त किया और स्वयं सावधान रहा।

बुढ़ापे के दाँत। क्या विशेष समय लगना या कष्ट होना था। दाँत खिंचकर आया कि मैं बढ़ा। कहा, ''लाइए, धो दूँ।''

सहज भाव से गाँधीजी का वह दाँत मेरे हाथ आ गया। मैंने उसे धोया-पोंछा, रुई में रखा और फिर छोटे लिफाफे में एतिहात से डाल जेब में रख लिया।

चौबीस घण्टे तक तो धड़कते दिल के ऊपरवाली कुर्ते की जेब में वह पड़ा रहा। अनन्तर प्रायःकाल आये एक माननीय बन्धु, पूछने लगे, ''वह दाँत क्या आपके पास है ?''

कहा, ''जी सर्वथा सुरक्षित है। भय की बात नहीं है।'' उनके आशय को मैंने समझकर भी नहीं समझा। उन्हें भी ज्यादा उघाड़कर कहने का शायद उपाय न सूझा।

वह दाँत फिर तो मालूम हुआ अच्छों-अच्छों की महत्त्वाकांक्षा का विषय बन गया। यह भी ज्ञात हुआ कि नेपथ्य में प्रस्ताव हुआ है कि जैनेन्द्र अनधिकारी है और दाँत ऐतिहासिक है। उस वस्तु की ऐतिहासिकता और अपनी अनधिकारिता से मैं अवगत था। इससे अन्दर निर्बल था और अविश्वस्त था फिर भी मैं सोया बना रहा। मानो बहरा हूँ, कहीं कुछ सुन नहीं पाता।

फिर बन्धु मिले और अदल-बदलकर मिले और एक बार मैंने आश्वासन दिया कि वस्तु अतीव सुरक्षित है। बन्धु निरुपाय लौट जाते और मैं अबोध बना रहता।

पर बात छोटी भी गहन हो सकती है। वही हो रहा था। ऊँचे-से-ऊँचे क्षेत्र विचलित हो गये थे। इन्द्रासन तक डोल गया।

एक रोज बातों-बातों में अकस्मात् गाँधीजी पूछ बैठे, ''जैनेन्द्र, वह दाँत तुम्हारे पास है ?''

बचाव-सा करते हुए मैंने कहा, ''जी है तो।''

''अभी है ?''

''जी—आप क्या कीजिएगा ?''

''क्या करूँगा ? वापस मुँह में तो लगा नहीं पाऊँगा।''

साहस बाँधकर कहा, ''तो फिर रहने ही न दीजिए, जैसा कहीं और

वैसा मेरे पास।''

बोले, ''आखिर भई, है तो वह मेरा न? हो तो लाओ!''

देखा, सामने का व्यक्ति कोरा महात्मा नहीं है, गहरा वकील है। तिस पर और भी जाने क्या नहीं है? एकदम अनुल्लंघनीय ही है। चुपचाप पुड़िया को जेब से बाहर किया और गाँधीजी के आगे कर दिया।

गाँधी ऐतिहासिक थे। दाँत ऐतिहासिक होता। साँची-स्तूप में बुद्ध का दाँत ही है न। जिसकी हजारों वर्षों बाद ऐसे महामहिम समारोह से प्रतिष्ठा हुई कि जग उसमें शामिल हुआ। पर गाँधी को शायद इतिहास से लेना-देना न था, या इतिहास को वह मुक्त चाहते थे, कोई टेकन उसे न देना चाहते थे कि उसका सहारा लेकर वह लँगड़ा बना रहे।

उन्होंने अपने एक अत्यन्त विश्वस्त व्यक्ति को दाँत दिया। कहा, ''देखो किसी गहरे कुएँ में इसे डाल आओ।''

उस व्यक्ति ने कर्तव्य पूरा किया होगा और वह निश्चिन्त हुआ होगा, लेकिन मानो गाँधीजी कई दिन तक निश्चिन्त न थे। तीन-चार रोज के बाद उस व्यक्ति से पूछ बैठे, ''दाँत वह कुएँ में फेंक दिया था, न?''

''हाँ।''

''गहरे कुएँ में?''

''हाँ।''

''ठीक याद है? फेंक दिया था?''

व्यक्ति ने 'हाँ' कहा और गाँधीजी ने गहरी साँस ली। मानो उन्हें जगत की ओर से ढारस न हो। मानो वह अपनी ओर से सब हलकी सम्भावनाओं को समाप्त कर देना चाहते हो। दुनिया के मोह और आसक्ति की पकड़ के लिए वह कुछ छूटने न देना चाहते हों, पर जगत की नाना आसक्तियों की विवशता भी देखते हों, और हठात् अनुकम्पा से भीग आते हों।

उनकी दृष्टि जितनी सूक्ष्म थी उतनी ही निर्मम। मैल का कहीं छींटा भी वह नहीं सह सकते थे। मैल था उन्हें सिर्फ, असत, अन्यथा घोर-से-घोर दुष्कर्म के प्रति वह सदय और सहृदय थे। इस सहृदयता और निर्ममता का योग कैसे सध सकता है? यह जानना मानो गाँधीजी को जानने से सम्भव हो सकता है।

इन्हीं दिनों की बात है। मैं फिर हरिजन-बस्ती नहीं गया। दिन बीतते गये और अखबारों से मालूम हुआ कि अगले दिन गाँधीजी जानेवाले हैं। उसी दोपहर एक पत्र मिला, जिसको पाकर मैं चकित रह गया। गाँधीजी का मुझे यह पहला पत्र था और किसी उत्तर में न था। पढ़कर मैं सन्न रह गया। कोई पुस्तक मैंने उन्हें न दी थी। उतनी सूझ-बूझ ही मुझमें न थी और न साहस था। जोर डालकर

याद किया कि किसी कार्यकर्ता ने 'बा हिन्दी सीखना चाहती और उसके लिए किताब चाहती हैं' कहकर तभी छपी कथा-संग्रह 'दो चिड़िया' की एक प्रति ली थी। बा के हाथ में देखकर शायद बापू ने उसे लेकर कुछ उलट-पलट लिया होगा कि झट यह खत लिख डाला। मैं आज भी सोचता हूँ तो दंग रह जाता हूँ। यह इतना लम्बा-चौड़ा देश भारतवर्ष कैसे उस व्यक्ति पर रीझा रहा? उसके इशारे में यातनाओं पर यातनाएँ उठाता गया फिर भी उत्सर्ग की हौंस से भरा रहा—मानो इसका भेद उसमें छिपा था। यह दुनिया, जिसे घृणा करने से शायद ही कोई बच पाता है, मानो उनके लिए 'प्रिया' थी। और वह ऐसे प्रेमी थे जो उस तिरस्कृता और तिरस्करणीया का प्रेम जीतने के लिए जी-जान की बाजी लगाये बैठे थे। मानो उसका वरण उनका लक्ष्य है, वह उनकी परीक्षा है। उनकी अनासक्ति मानो उन्हें दुनिया को रिझाने की नयी-नयी कलाओं की सूझ देती रहती है। दिन को आठों-पहर जगे रहनेवाले वह प्रेमी थे। एक क्षण भी आँख नहीं झपकते। क्या इसी का प्रतिफल न था कि उन योगी जैसा दूसरा लोक-संग्राहक आदमी इतिहास में नहीं मिल सकता। डोरे डालना कहते हैं न—मानो सारे संसार पर वह अपने डोरे डालते रहते थे, और कौन भलामानस बचा, जो उस डोर में विवश खिंचा न चला आया। पुस्तक तो साधारण थी पर स्नेह और आशीर्वाद तो उनमें किनारों से भी ऊपर तक भरा था कि सब ओर फैले बिना न रह सकता था। उनके उत्साह और आशीष के दान से ही न उभरकर भारत ने असम्भव को सम्भव न कर दिखाया? यह उनकी अमित प्रीति और अमित श्रद्धा का ही फल न था?

फिर गाँधीजी चले गये और अरसा हो गया। मुझे अपने पर शर्म थी। कारण, उन्हें आशा दिलाई थी कि मैं गाँव में बैठूँगा और सेवा अपनाऊँगा और वैसा कुछ हो न सका था और जानता था कि गाँधीजी का सामना अब कभी मुझसे न होगा।

[पाँच]

लेकिन प्रेमचन्द का देहान्त हुआ, और श्रद्धा विभोर कुछ बन्धुओं की अर्घ्यांज्जलि रूप कुछ धनराशि चली आयीं और आवश्यक हुआ कि प्रेमचन्द स्मारक की बात सोची जाए। उस सम्बन्ध से काशी में फिर उन्हें अपना मुँह दिखाना हुआ। उसके बाद फैजपुर-काँग्रेस में उनकी घोर व्यस्तताओं के बीच योजना-संकट उनके समक्ष रखा। तय हुआ कि अमुक तिथि को वर्धा में सविस्तार बातें हों। वर्धा पहुँचने पर मिले जमनालालजी, बोले, ''बम्बई का तुम्हारा पता ही न मालूम था। गाँधीजी बड़े चिन्तित थे। कल ही उन्हें पूना जाना पड़ा है। कह गये हैं कि तुम जरूरी समझो तो पूना आ जाओ। देखते ही हो मजबूरी में उन्हें जाना पड़ा है।''

मैं पूना चल पड़ा। स्टेशन आ रहा था और मैं सोच रहा था कि कहाँ कैसे

जाना होगा। स्टेशन आ ही गया और मैं प्लेटफार्म पर उतरा। सिकेण्ड-भर न हुआ होगा कि एक भाई ने आकर नमस्कार किया। कहा, ''आप जैनेन्द्रजी हैं न? आइए!''

मैंने असमंजस में कहा, ''आप?...मुझे जानते हैं?''

''मैं कनु हूँ। बापू ने सब बता दिया था।''

मुझे कुतूहल हुआ। पूछकर मालूम किया कि गाँधीजी ने पहनावा और हुलिया का पूरा बखान देकर कनु भाई को भेजा था। अब भी सोचता हूँ क्या उन्हें इतनी फुरसत थी? क्यों वह इतने हृदयहीन थे कि इन जैसी बातों के लिए भी फुरसत निकाल लेते थे? उनकी सहृदयता मुझ-जैसे तुच्छ जनों पर कितनी भारी होकर पड़ती होगी, क्या इसका उन्हें अनुमान हो सकता था? पर अनुमान हो सकता था, होता था। तभी वह उस अपनी निर्मम अहिंसा जो अपनाये हुए थे, जिससे भारी कोई हिंसा भी नहीं हो सकती। फिर उससे सख्त-से-सख्त आदमी गले बिना नहीं रह पाता।

उस समय फिर मेरे मन में अँग्रेजी साप्ताहिक निकालने की वासना जगी थी। वासना ही कहता हूँ, क्योंकि भावना होती तो सहज न बुझती, न उससे विरत हो सका जाता। एक बार इससे पहले भी ऐसा सोच चुका था और गाँधीजी के सामने उस विचार को रखने की भूल कर चुका था। उन्होंने निरुत्साहित किया था। इस बार गाँधीजी ने कहा, ''अँग्रेजी क्यों, हिन्दी क्यों नहीं?''

मैंने कहा, ''अँग्रेजी में बात उन तक पहुँचती हैं जहाँ उसे पहुँचना चाहिए।''

''इसीलिए तो कहता हूँ, अँग्रेजी में नहीं, जरूरी समझो तो हिन्दी में निकालो। जिन तक पहुँचनी चाहिए वह तो हिन्दी में ही पहुँचेगी। अँग्रेजीवालों को जरूरत होगी तो देखेंगे।''

''तो आपकी अनुमति नहीं?''

''मेरी तो राय है, अनुमति अपने अन्दर से लो। मैंने तो अपनी कह दी, निर्णय के लिए तुम स्वयं हो।''

यह उनका अत्यन्त व्यस्त समय था। एक-एक मिनट का मूल्य था। पर उन्होंने अपनी ओर से पूछा, ''दया क्या वहीं है—पिता के पास? सब ठीक है न?''

जो जानता था, मैंने बताया। उन्होंने गहरी साँस ली। फिर पूछा, ''अभी आज ही चले जाओगे?''

''जी, और क्या?''

हँसकर बोले, ''ठीक है। कहीं ठहरना क्या?''

दूसरी बात जो उस समय हुई, प्रेमचन्द-स्मारक के सम्बन्ध में थी। असल

में उसी उद्देश्य से यह यात्रा हुई थी। पर वह अलग कहानी है और दुःखकर। गाँधीजी खिन्न थे, पर क्या कर सकते थे। हिन्दी और उर्दू प्रेमचन्द को लेकर अगर बीच की खाई न पाट सकें और अपनी अनबन न भर सकें तो क्या किया जा सकता था। मेरी कोशिश यही थी, पर होनहार का अपना तर्क होता है। कोशिश में दिशा ही सही हो सकती है, इससे आगे आदमी का क्या बस!

ऐसे धीरे-धीरे शरम धुल गयी और अवसर की मजबूरी से फिर मैं बापू के सामने हो पड़ा। या हो सकता है, यह इससे पहले की बात हो। वर्धा से सेवाग्राम का रास्ता तब पगडण्डी का था और वह भी साफ नहीं। चले तब ऐसा अँधेरा तो न हुआ था, और विज्ञ-जन साथ थे; फिर भी हम राह भटक गये और आवश्यक से दुगुनी दूरी पार कर रात-अँधेरे बापू की कुटिया पर जाकर लगे। तब सेवाग्राम बसा न था, कुटिया एक ही थी। मुझे प्यास लग आयी थी; बा ने पानी दिया और मैं डरता-डरता कुटिया पार कर आगे बढ़ा।

देखा, बापू बाहर खुले मैदान में बैठे थे। पास आते-आते सोच रहा था, हाथ जोड़कर प्रणाम करूँ, कि मण्डली से घिरे बापू आँख उठाकर बोले, ''तभी तो! मैंने कहा कि कोई आया है। लालटेन दीखी थी न—तो तुम हो? बैठो। लेकिन बात अभी नहीं।...और अब जाओगे वापस क्या, रात यहीं रहना है न?''

देखा कि क्षण में सब हो गया है। स्वास्थ्य का लाभ हो गया है और अनिश्चय कटकर निश्चय प्राप्त हो गया है।

इसी अवसर पर याद है, मैंने पूछा था, ''बापू, आपसे इतना डर क्यों लगता है?''

पलटकर बोले, ''लगता है डर?''

मैंने कहा, ''हाँ, बहुत लगता है।''

बोले, ''तभी तो मैं बचा भी हुआ हूँ!''

धक-से मुझ सारे को बिजली छू गयी। कभी ऐसे उत्तर की अपेक्षा न थी। आज भी लगता है कि दुनिया में कोई नहीं है, एक गाँधी के सिवा, जो ऐसा उत्तर दे सकता है। इतनी क्रूरता क्रूर में सम्भव नहीं हो सकती। सत्य के अहिंसक साधक में ही इतनी अनासक्त यथार्थवादिता हो सकती है। ऐसी पैनी की छुरी की धार क्या होगी!

[छह]

एक जमाना था कि भाषा झगड़ा गर्म था। झगड़ा यों अब भी हो, पर जैसे तब वह तपकर लाल सुर्ख हो आया था। झगड़े का मूल मन में होता है, उतरता ही जिस-तिस नाम पर हैं; और नहीं तो भाषा ही सही। है यह अचरज की बात,

क्योंकि भाषा मेल की जरूरत में से बनी है। आदमी हिलमिलकर ही जी सकता है। वह इस तरह स्वतन्त्र नहीं कि जैसे जानवर। इसलिए उसका तन्त्र 'स्व' से नहीं 'परस्पर' में से बनता है। अलग से हम पास आ रहे हैं और भाषाएँ अपनी सीमाएँ खोती हुई एक-दूसरे में मानो समाई जा रही हैं? यह प्रक्रिया रोकी नहीं जा सकती; कारण, विकास नहीं रोका जा सकता। भाषा पर अपना स्वत्व लादकर बैठेंगे तो गति के साथ हम ही नहीं चल पाएँगे, ओछे रहकर इधर ही छूट रहेंगे। फिर भी वर्तमान से कभी हम इतने चिपटे हैं कि भविष्य को अपने हाथों ही रोक देते हैं, जो अधुनातन नूतन से डर आता है वह उसी क्षण पुरातन होकर सनातनता पर जड़ शव की भाँति बोझ बन उठता है। सनातन को तो सतत् सद्य रहना है, इसलिए पुरातन को शव बनने से पूर्व ही नूतन में रूपान्तरित होते जाना है। वर्तमान पर आसन लगाकर बैठनेवाले लोग यदि इसको नहीं समझते तो वे भवितव्यता के हाथों अन्त में समाधिस्थ होते हैं।

जो हो, हिन्दी-उर्दू का झगड़ा था और हिन्दुस्तानी शब्द दोनों को चुभता था। मैं यों लेखक हिन्दी का समझा जाता था, पर वह हिन्दी जानता भला मैं क्या था? बोलता था करीब वैसे ही लिख जाता था। भाषा का कोई ज्ञान पाया नहीं था। इस अज्ञान में से देखा कि मुझे 'हिन्दुस्तानी' अपनाने में कोई बाधा नहीं है; बल्कि कुछ सुभीता ही है। उस शब्द का उपयोग गाँधीजी द्वारा होने में मुद्दत की देर थी कि तभी, शायद सन् '33-'34 में, प्रेमचन्द आदि हम लोगों ने एक-आध हिन्दुस्तानी सभा बना डाली थी।

इसी कारण शायद होगा कि वर्धा में हिन्दुस्तानी प्रचार सभा बनी तो काका साहब (काका कालेलकर) की तरफ से पत्र आया और फार्म आया कि मेम्बर बन जाओ।

मैंने लिख दिया कि 'हिन्दुस्तानी' में मेरी श्रद्धा है, मेम्बरी में नहीं है। भाषा के विषय में मुझे अपने लिए कुछ करने को है भी नहीं, इसलिए माफ करें।

काका ने लौटकर लिखा कि गाँधीजी की इच्छा है, फार्म भर भेजो।

फार्म भर दिया और फीस भेज दी, लेकिन खबर आने पर उसकी बैठक में जाकर शामिल होने का बहुत उत्साह नहीं हुआ। तिस पर बैठक सेवाग्राम में होनी थी। सोचा—बाबा रे! गाँधी का सामना कैसे होगा? याद नहीं कि वैसा लिखा कि नहीं, पर मन में स्पष्ट अनुमान किया कि अगर किसी बैठक में जाऊँगा ही तो तब जब गाँधीजी से वे स्वतन्त्र हो और सेवाग्राम से अन्यत्र। पर यह हठ टिका नहीं। दूसरी या तीसरी बैठक की सूचना पर सेवाग्राम बापू की कुटिया में उपस्थित हो गया।

तब पास महादेव देसाई ही थे। बापू ने आँख उठाकर मुसकराहट से पूछा,

"कहो कैसे आये हो?"

"वह हिन्दुस्तानी की बैठक है ना!"

"उसके ही लिये आ गये हो?"

"हाँ, क्यों?"

"—तब तो हिन्दुस्तानी में भी जरूर कुछ है। योगी जो आ गया है।"

सुनकर मैं सन्न रह गया, जैसे शब्द भीतर तक मुझे काट गया। उसमें व्यंग तो था ही, पर गाँधीजी की ओर से जैसे सत्यता भी उसमें पड़ गयी हो। यही तो उनकी मोहनी थी। इसी मन्त्र से सामान्य मनुष्य में से वह अमित सम्भावनाओं को प्रत्यक्ष कर निकालते थे। उनकी अगम-निष्ठा में से असम्भव सम्भव हो उठता था। मैं विगलित होता चला गया। झेंप की हद न थी। गाँधीजी की आँखें हँस रही थीं, मानो मेरा अन्दर गल रहा हो। सम्भावनाएँ जो तल में दबी थीं मानो उझक उठना चाहती हों। तब समझ में आया कि पारस क्या होता होगा। क्या होता वह होगा कि जिसके स्पर्श-भर से लोहा सोना हो जाए। सामान्य मनुजों के इस भारत देश ने जो चमत्कार कर दिखाया वह गाँधी के किस जादू से सम्भव हुआ होगा—यह समझ में आ गया।

सन् '42 के वे दिन थे। जुलाई का अन्त आ रहा था। कल इसी कुटी में काँग्रेस की कार्य समिति बैठी। सप्ताह बाद बम्बई में 'क्विट इण्डिया' (भारत छोड़ो) की चुनौती बज जानेवाली थी। 'करो या मरो' का आवाहन देश में गूँज जानेवाला था। गाँधी उस समय भीतर से क्या न रहे होंगे, पर बाहर शान्त मुसकराहट थी। बोले, "ठहर रहे हो न? या—"

"शाम ही चले जाने की सोचता था।"

"कल रह सकते हो तो कल मिलो। मिलोगे—तीसरे पहर!"

"जो आज्ञा।"

पहले कहीं डोरे डालना लिखा है, वही शुरू हुआ। ऐसे बारीक डोरे कि क्या मकड़ी बना सकती है। कह सकता हूँ कि वे तार निरे अनासक्त प्यार के बने थे। वे बन्धन नहीं बनते, केवल सुरक्षा पहुँचाते हैं। मानो वे आश्वासन और वात्सल्य के थे। आज इसे मैं अपने जीवन का बड़ा दुर्भाग्य मानता हूँ, तब अपनी विजय माना था, कि मैं उन डोरों से खिंचकर गाँधीजी के मन के और निकट न पहुँच सका। उस समय अपने में अभिमान जगाकर जैसे मैं सावचेत हो आया था। उनकी कल्पना में था कि दिल्ली में यह और वह हो सकता है, और उस सबको मैं अपने कन्धों सँभाल लूँगा।

उन्होंने पूछा कि मेरा अपना क्या विचार है?

मैं तब और तरह की खाम ख्यालियों में था, बताया कि मैं अपने बारे में ऐसा सोच रहा हूँ।

सुनकर क्षण के सूक्ष्म भाग तक भी उन्होंने देर नहीं लगायी। डोरे अपने सब समेट लिये। मेरी स्वतन्त्रता मुझमें मानो और परिपूर्ण हो आयी। तनिक भी आरोप उनका मुझ पर दबाव न देता रहे, इस आतुरता में उन्होंने कहा, ''हाँ, यह तो और भी अच्छा है। तब तो, देखो...अमुक से मिलो। वह ठीक कर देंगे।''

मैंने इस प्रोत्साहन पर गाँधीजी को देखा। उनकी आँखों में निर्मल स्नेह छलकता दीखा। देख सका आत्मत्याग में उन्हें कष्ट नहीं होता, बल्कि उसी में मानो आत्मलाभ की-सी प्रसन्नता होती है। गाँधीजी बेहद व्यवहारी थे, पर मानो उनके व्यवहार कौशल का भेद ही यह था कि वह सबको स्वयं रहने देते थे, बाहर से अपना तनिक स्वत्वारोपण उस पर न जाने देते थे। और इस प्रकार व्यक्ति उनकी उपस्थिति में उनका योग पाकर मानो अपने को स्वयं अपने से बढ़ा हुआ और उत्कृष्ट अनुभव कर आता था। इसे अहिंसा की कीमिया नहीं तो और क्या कहें ?

शाम का समय आ गया। कुटिया से गाँधीजी बाहर हुए, बाँसों की बाड़ तक बढ़कर आये और खड़े हो गये। हाथ में लाठी। बदन का उपरना हलकी हवा से लहराता हुआ। चेहरा उनका कुटिया की तरफ मुड़ा—सौम्य और शान्त और गम्भीर चारों तरफ सुनसान। न जाने मुझे क्या हुआ। मैंने उस निपट आदमी को देखा। जी जैसे उमड़ा आता हो। मानो आँसू भरे आ रहे हों ऐसा लगा कि कितना यह आदमी एकाकी है। कोई, कहीं कुछ उसका नहीं है। यहाँ का ही वह नहीं है। लगा कि इतना अकेला, इतना अकेला! जी विह्वल हो आया। लाठी के सहारे सामने खड़े, उघड़े से बदन, उस पर चिरप्रवासी एकाकी व्यक्ति के लिए मन में बेहद करुणा उमड़ी। वह महापुरुष है जबकि मैं बालक हूँ, इसकी कहीं सुध न रही मानो वह शिशु हो और हम संसारियों में उसके लिए करुणा ही हो सकती हो। जी हुआ कि चलकर उसे पुचकारें, थपकें और तरस में उसके साथ थोड़ा-सा रो लें। वह इतना निरीह, अकिंचन, असहाय और प्रवासी जान पड़ता था। मानो उसका सहारा बस एक भगवान हो, जो अव्यक्त है और जिसे चाहें तो हमीं अपने भीतर से व्यक्त कर सकते हैं।

वह क्षण मुझे भूलता नहीं है। उस भाव के लिए किसी ओर से मैं संगति नहीं पाता हूँ। वह अतर्क्य है, लेकिन फिर भी वह सच था, सच है और सच रहनेवाला है।

[सात]

दिल्ली की बात है।

मैंने कहा, ''बापू, सत्य का आग्रह तो जीवन के साथ है। किसी

क्षण वह रुकता नहीं, अनावश्यक नहीं होता। सत्य के उसी अनुगमन में आपके लिए असहयोग आ गया, संघर्ष आ गया। सत्य की वह चुनौती तो मौजूद ही है, विदेशी हुकूमत सिर पर बैठी है। फिर यह क्या बात है कि एक साल के लिए आपने संघर्ष को और राज-कारण को अपने लिए निषिद्ध बना लिया है। होगा तो वह भी सत्याग्रह का रूप, लेकिन...''

आँख उठी। बोले, ''मानते हो कि वह भी सत्याग्रह का रूप होगा?''

''मानना तो होगा ही, क्योंकि उसके बिना आपके लिए श्वास कहाँ। लेकिन यह आप कैसे 'डिटरमिन' करते हैं कि वह आग्रह अब तो प्रवृत्त संघर्ष के रूप में होगा और तब उसका स्वरूप निवृत्त और निष्क्रिय होगा।''

यह तब की बात है, जब गाँधीजी के उपवास के कारण उन्हें हुकूमत ने जेल से रिहा कर दिया था और गाँधीजी ने स्वेच्छा से सजा की अवधि के लिए हरिजन-सेवा के काम के सिवा दूसरे सब राजनीतिक समझे जानेवाले कामों से उपरत रहने का निश्चय किया था।

प्रश्न पर तत्क्षण गाँधीजी बोले, ''पर 'डिटरमिन' करता कहाँ हूँ, 'डिटरमिण्ड' पाता हूँ।''

उत्तर सुनकर सन्न रह जाना पड़ा। यह उत्तर एक गाँधी का ही हो सकता था। देख लिया कि उसकी थाह नहीं है, क्योंकि वह स्वयं में नहीं है। नाम-भर के लिए स्वयं है, बस इतना कि व्यवहार टिक सके। बिन्दु वही तो है जो जगह तक न ले। मानो गाँधी ज्यामिति का आदर्श बिन्दु हो, तनिक भी अवकाश उसे अपने लिए घेरता नहीं है। सब उसका है जो सब में है। उसका आपा भी उस बड़े उसका है यानी वह सब में है, सबका है। तभी तो कह दिया, 'डिटरमिन' करता नहीं, 'डिटरमिण्ड' पाता हूँ, और कहकर जैसे सदा के लिए 'मैं' को अपने से और शेष में निश्शेष कर दिया।

उस उत्तर को छूकर मैं सन्न-सहमा रह गया। कुछ देर कुछ भी न सूझ पड़ा। जैसे व्यक्ति में विराट् समक्ष हो उसके आकस्मिक दर्शन ने सब सुध-बुध हर ली हो। फिर बोला नहीं गया, अवसन्न बैठा रहा, और कुछ अनन्तर बस चुपचाप उठकर चला आया। वह अवसन्नता की अनुभूति—याद कर सकता हूँ—जल्दी मुझसे उतरी नहीं, बहुत देर तक साथ बनी रही।

[आठ]

उसी दिल्ली प्रवास के समय। भोजन के अनन्तर विश्राम की बेला थी! मीरा बहन थीं शायद, हलके-हलके पाँवों की मालिश कर रही थीं।

मैं कह रहा था, ''बापू आपके पास यथावश्यक से अधिक नहीं टिकता

और वह आवश्यक कम-से-कम होता है, जैसे कि कपड़ा, जरूरत से उसे कम ही कहना होगा। जैसे आपका तन, जैसे आपके सिर के बाल, मूँछ, चोटी। जो है अनिवार्य कारण से हैं, और मानो बस होने भर के लिए है; ऐसा क्यों है?''

गाँधीजी बोले, ''क्यों क्या? है, इसलिए है।''

''बस इतना ही?''

''और क्या...''

''क्या हो सकता था कि आपके दाढ़ी होती?''

गाँधीजी जैसे कुछ सोचते रहे। बोले, ''साउथ अफ्रीका में जेल में दाढ़ी हो गयी थी—पर आशय अपना साफ कहो।''

''बात यह कि—जैसे रवीन्द्रनाथ हैं। बाल उनके बड़े हैं, अपने से उन्हें छोटा करने की उनको सूझी नहीं। दाढ़ी, तो खुली छाती तक आती हुई। कपड़े तो इतने फैले कि उसमें उन जितने दो तन समा जाएँ! यह सब क्या यों ही मान लिया जाए, कि है इसलिए है?''

गाँधीजी की आँखों में मुसकराहट थी। बोले, ''मतलब कहो।''

''आप अपरिग्रह चाहते हैं। जरूरत से ज्यादे लेना या रखना चोरी है। आप सत्य कहते हैं, स्वत्व नहीं चाहते। सब में स्वत्व को खो देना चाहिए, यह आपकी निष्ठा है। कहीं ऐसा तो नहीं कि अनिवार्य है कि वही विचार आपके रहन-सहन में झलके। जैसे कि रवीन्द्रनाथ में निषेध नहीं है, सबका स्वीकार है—प्रकृति का और प्रकृत का। सबका और सबके प्रति उसमें आवाहन है। इससे यथावश्यक की जगह वहाँ अतिशय हो तो यह सहज और स्वाभाविक ही हो सकता।''

गाँधीजी लेटे हुए थे। पलकें झपकने के निकट थीं। हौले से पलक उठाकर और सिर हिलाकर बोले, ''हाँ, सो तो है। सो तो होगा।''

मैंने उन्हें देखकर कहा, ''आपका विश्राम का समय है। नींद में मैं बाधक न बनूँगा—मैं चलूँ।''

बोले, ''नहीं, बाधक न बनोगे। अपनी कहते जा सकते हो। नींद अपने समय से आ जाएगी। आने पर तुम समझ ही जाओगे। तब चाहो तो उठ जाना।''

और मेरे देखते-देखते चन्द सिकेण्डों में नींद चुपचाप चली आयी। शिशवुत् वह सो गये, और मैं अचम्भे में रह गया। नींद भी इस तरह किसी की चेरी हो सकती है, यह मैं सम्भव न मानता था। लगभग तभी मीरा बहन के हाथ रुक गये। समझ गया नींद समय से आयी है। समय होने पर उसे उसी तरह चले जाना भी होगा। गाँधीजी की ओर से उस बेचारी का भी समय नियुक्त है। यह अधिकार, यह करुणा, गाँधीजी कहाँ से कैसे पा सके थे!

[नौ]

जीवन के अन्तिम दिनों में गाँधीजी को लम्बी अवधि यहाँ रहना पड़ा। हर शाम प्रार्थना-सभा में उनके महत्त्वपूर्ण वक्तव्य होते। स्थिति संकट की थी। स्वराज्य नया था और झिल नहीं रहा था। जाने कितनी नयी समस्याएँ निपटारे के लिए उन तक आती थीं। वह मानो ध्रुव थे, और भारत का जहाज उनसे छुटकर डगमगा रहा था। हिन्दुस्तान फटकर पाकिस्तान बना था। बँटवारा यह ऐसे न हुआ था जैसे दो भाइयों में होता है; मानो आरी से चीरकर दिल को दो में काटा गया था। उसमें से कितनी न आग निकल रही होगी और कितनी आह! गाँधी उस झुलस और तपन के बीच थे; एक प्रार्थना में सान्त्वना थी, यों जल रहे थे।

पत्रों में प्रार्थनावाले भाषण उनके पढ़ता, पर स्वयं प्रार्थना-सभा में जाने का साहस न जुटा पाता। हजारों लोग जाते थे, फिर वहाँ जाने में साहस की क्या बात थी। फिर भी मेरे लिए वह साहस की बात थी।

आखिर एक दिन साथी मिले बचाव न मिला तो प्रार्थना-सभा में मैं पहुँच सका। प्रार्थना हुई। गीता के श्लोक हुए, बौद्ध-स्तवन हुआ, कुरान की आयते हुईं, भजन हुआ और गाँधीजी का प्रवचन भी हुआ। सभा उठी। गाँधीजी उठे। पीछे की ओर लोग बचकर दो पाँतों में हो रहे कि गाँधीजी सुविधा से जा सके। निगाह नीची किये गाँधीजी उस गली में से अपने डेरे की ओर चले। तभी पास खड़ी महिला की गोद में से बच्ची ने पुकारा, ''बापू!''

बापू एक-आध डग आगे बढ़ गये थे, मानो गहनता में ऐसे लीन थे। सहसा डग उनका थमा। वह पीछे की ओर मुड़े। चेहरा खिल आया। दोनों हाथों को अपने चेहरे के दोनों ओर लाकर, मानो बन्दर हों, उस बच्ची की ओर मुँह बढ़ाकर बोले, ''हऊ!''

बच्ची सहमी, फिर खुशी से खिल उठी, लेकिन बच्ची के बापू उसके साथ क्षणभर के लिए बन्दर बनकर आगे जा चुके थे। उसी तरह गहन, लीन और अगाध!

[दस]

30 जनवरी, सन् 1948। किसी ने शाम को कहा, ''अरे सुना कुछ? गाँधीजी गये!'' लेकिन मैंने यह नहीं सुना। उसने जिद से कहा, ''न मानो तो रेडियो पर सुन लो।''

जिद से ज्यादा उस कहने में रंज था। टालना उसका सम्भव न हो सकता था तभी, उस कहने से निरपेक्ष, अन्दर लग आया कि हाँ, गाँधीजी गये। पर क्या सच? मन सच जानता था, फिर भी हठ से शंका करना चाहता था। रेडियो खोला,

वह रो रहा था।

सुना और वहाँ से हट गया। दूर, जहाँ कुछ न सुनाई दे। पर कोने में अकेले मुँह डालकर बैठ जाने से भी न हुआ। क्या करूँ? अपना क्या करूँ? और यह जो चारों तरफ है, समय और शून्य, उसका क्या करूँ? उठकर निकल आया नगर में बाहर निर्जन में, पर मालूम हुआ कि यहाँ भी सब घुट गया है, कहीं खुला बाकी नहीं है। उस रात नींद तो आयी, पर वह नींद जैसी नहीं थी, वह जगी-सी थी और दुःखती थी—मानो सपनों की लड़ी हो। सवेरे घड़ी में जब देखा चार बजे हैं, तो उठा। पर सोचा जल्दी है, अभी चलना ठीक न होगा। चार को किसी तरह साढ़े चार तक टाल सका, फिर पाँच-पाँव चल दिया, मानो सब राहें उधर ही जाती हों। मानो, दुनिया का जीवन एक अतल रिक्त को पाकर उस पर केन्द्रित आवर्त बन आया हो। मानो समस्त चेतना एक शून्य पर आ टिकी हो और साँस घुट गया हो।

भीड़ का ठिकाना न था, पर उस भीड़ में से भीड़पन गायब था। गोया सब अपने-अपने में हों और कोई दूसरे में चुकता न हो। सब संयत और शान्त और मानो समाप्त होने को तैयार हों। वे बेबस भाव से चले जा रहे थे; मानो कोई मृत्यु क्यों उन्हें जीती छोड़ गयी, यही पूछने जाते हों।

एक भूले भाई ने प्रार्थना के समय गोली मारकर उन्हें शान्त कर दिया था। नाम उसका गोडसे था, और उसे फाँसी लग गयी, पर ये बेकार की बातें हैं। वैसे जीवन का और भिन्न अन्त न होनेवाला था। मृत्यु जीवन के अनुकूल ही हो सकती है। वह गाँधीजी की अर्जित मृत्यु थी, भगवान की वरद मृत्यु थी। अकाल मृत्यु? मुझसे उसे अकाल मृत्यु कहते नहीं बनता। भला फिर सकाल और सार्थक मृत्यु क्या होती होगी? जीवन सतत् यज्ञ है, जिसका जीवन निरन्तर आहुति बनकर उजलता रहा हो, मृत्यु अन्त में पूर्णाहुति के रूप में ही तो आ सकती है।

कमरे में शव रखा था और लोग चारों ओर बैठे थे। रात-भर वह उसी भाँति रखा रहा था और लोग बैठे रहे थे। किन्तु अन्त में शव को उठना था और सबको भी आना था। क्योंकि जो शव में था, वह अनन्त में जा मिला था और इस तरह अन्त में सबके अपने पास आ गया था। व्यक्ति तत्त्व हो गया था, और वह सबके आत्म में पहुँच गया था। अब यही भवितव्य और कर्तव्य बचा था कि शव को फूकें और अपने-अपने आत्म में उस तत्त्व को सँभालें और सँवारें, जो कभी व्यक्त होकर व्यक्ति में मूर्त्त था, और अव्यक्त होकर सबके निभृत में पहुँच गया है। व्यक्ति होकर कुछ का ही हो सकता था, किन्हीं के लिए अपना किन्हीं दूसरों के लिए गैर। अब शरीर-सीमा की बाधा जो हट गयी है, सो सब विश्व के अपनाने के लिए वह मुक्त हो सका है।

यह सब था और जानता था कि मर्त्य ही मरा है, और ऐसा होने से ही सुविधा हुई है कि जो अमर था वह सदा जीता रह सके। फिर भी मालूम हो रहा था कि सब खो गया है। अस्तित्व सत् जहाँ हुआ हो, हमारे लिए मानो लुप्त बन गया।

रह-रहकर कमरे में जाता और झाँकता। क्षण-भर ही उधर देख पाता। देख पाता कि भर आता और फिर मकान की लम्बी गैलरी में डग भरने लगता। सभी तो आदमी थे, बड़े-से-बड़े और छोटे भी। ये मकान में थे और बाहर भी असंख्य थे। सबका कुछ लुट गया था।

शरीर को क्या रख लिया जाए? वह तो अभी पास है। विज्ञान से उसे जितना स्थायी किया जा सकता हो उतना क्यों न कर लें? अभी तो दुनिया दर्शन को तरसेगी। उसके प्रति सदय होकर क्यों कुछ न रोज के लिए इस काया को सुरक्षित रख लें? एक प्रेम यह चाहता था और वह विचारवान् था।

पर, विजय दूसरे प्रेम की हुई, जिसे जीते गाँधी की याद थी और उसने कहा कि नहीं, जो जीता था वह मरे की पूजा न चाहता!

तब अर्थी उठी और सड़कों पर, मैदानों में, जितने समा सके, आदमी साथ हुए उनको भस्मीभूत कर आये जो आत्मीभूत हो गया था!

□

जैनेन्द्र : मृत्यु पर

मुझे कहा है कि कल्पना करूँ, मौत सामने है और...जी नहीं, कल्पना की मुझे जरूरत नहीं है। 72 वर्ष पार कर चुका हूँ और यह मेरी अतिरिक्त आयु है। ज्योतिषशास्त्र की अनुमति सत्तर वर्ष से आगे के लिए नहीं थी। उस शास्त्र की मैं अप्रतिष्ठा नहीं चाहता हूँ और अपनी इन अनधिकृत वय पर सचमुच प्रसन्न नहीं हूँ! जल्दी छुट्टी मिले और शास्त्र की वाणी पूरी हो।

उस रोज चलते-चलते झोंका आया और सँभला ही नहीं गया। गिरने को था कि राह चलते प्रदीप ने बचा लिया। गिरने से तो बचा लिया, पर क्या मरने से भी बच पाता? घर पर मालूम हुआ तो हुक्म हुआ कि आगे मैं अकेला कहीं न जा सकूँगा। पत्नियाँ भोली होती हैं। भला सोचिए कि चलने का वक्त आएगा तो कौन साथ जा सकेगा?

बचपन में पढ़ा था, 'गृहीत इव केशेषु मृत्युना धर्ममाचरेत्।' मौत, लगता है, मेरे केशों को ही नहीं छू गयी है, त्वचा तक को भी अपनी थपकी दे गयी है। यानी, द्वार पर ही है, शायद अन्दर आने की बस अनुमति के लिए ठहरी है। मुझे नहीं लगता यमदेव अशिष्ट हैं। शिष्टता के नाते केवल जरा ठिठक गये हैं कि अच्छा, तनिक अवसर ले लो। लेकिन सोचने का अवसर पाकर भी सोच नहीं पाता कि जाते-जाते मैं पीछे छोड़ क्या जाना चाहूँगा? माना जाता है कि जानेवाला ही जाता है, शरीर यहीं छूटा रह जाता है। वह भी छूट जाता है जो उसने बटोरा होता है, पर छूटे शरीर को बन्धु-बान्धव बचने नहीं देते, सर्वथा भस्म कर डालते हैं। भस्मि भी जल में बहा देते हैं। फिर इधर उभरता हुआ समाजवाद सोच रहा है कि बचे-कुचे पारिवारिकों को उसको समाज सँभाल ले और गये हुए का 'मालमता' बाद अपने कब्जे कर ले।

जहाँ तक मालमता जमा होने की बात है, मुझे अपने में कभी आशा नहीं रही। विवाह मेरा न सरकारी हुआ, न समाजी। सारी प्रथा-परम्परा से अलग मेरे मामा के अपने ढंग से वह शादी हुई। बैरिस्टर चम्पतरायजी ने चेताया कि विवाह

यह वैध या कानूनी न माना जाएगा। मैंने कह दिया कि कानून लगेगा तब जब कुछ सम्पत्ति के नाम पर परिग्रह जुटेगा। मेरे मामले में वह अघट घटनेवाला ही नहीं है।

कहते हैं, शरीर यहीं छोड़कर जानेवाला जो जाता है सो उसके साथ धर्म जाता है। अब मेरी मुसीबत यह है कि आगे फिर-फिर पुनर्जन्म के लिए कोई जीव है भी जो जाता हो, यही मैं नहीं जानता।

सन् '30 में मुझे जेल जाना पड़ा। जेल स्पेशल थी और काम कुछ नहीं था। खाली दिमाग खाली उधेड़बुन न करे तो क्या करे? और वहाँ गीता की एक क्लास शुरू हुई। नतीजा यह कि मैंने पाया कि अपने बावजूद मैं आस्तिक बना जा रहा हूँ, और मेरी घबराहट का ठिकाना न रहा जब पाया कि सामने मेरे एक विकल्प है। या तो मैं ईश्वर को मानूँ या पुनर्जन्म को ही मानूँ। दोनों एक साथ नहीं चल सकते। जन्म से जैन होने के नाते ईश्वर को मानना मेरे लिए एकदम आवश्यक नहीं था। पुनर्जन्म अवश्य जैन संस्कारवश मानता ही आया था। अब दिखा कि मामला बिलकुल उलटा है। ईश्वर मानना होगा और पुनर्जन्म की मान्यता को छूट जाने देना होगा।

जेल से आने पर इस उलझन को लेकर मैं इनसे मिला, उनसे मिला। कइयों ने कहा गाँधी से मिलूँ। सलाह एकदम वाहियात थी। भला उन महात्मा पर यह फालतू बात कैसे डाली जा सकती थी। लेकिन दुर्योग कि वही होने में आ गया। श्रीमती की छोटी बहन (दया) अनेकों वर्षों से गाँधीजी के आश्रमों में रहती आयी थीं। देखता क्या हूँ कि उस साली के कारण मैं गाँधीजी के दरबार में पेश हूँ। गाँधी एक पहुँचे हुए थे। बात पकड़ की कहते ही क्यों? नतीजा हुआ कि बेचैनी तो मेरी कटी, प्रश्न नहीं कटा।

प्रश्न था कि 'मैं हूँ?' या 'मैं है?' हूँ तो मैं अवश्य, पर जिसमें हूँ उस शरीर में तो असंख्यासंख्य अन्य सूक्ष्म जीवाणु भी हैं। मेरा होना उनसे अलग है क्या? इसलिए 'मैं' एक कृत्रिम धारणा है, जो जन्म से मिलती है और मृत्यु पर समाप्त हो जानी चाहिए। यह तो शरीर की बात हुई। चैतन्य को लें तो चेतना का एकक कहाँ है? चित् तो सब कहीं व्याप्त है। उसका घटक मान लेते हैं व्यवहार के लिए, असल में तो वह कहीं पृथक् है नहीं। आदि-आदि तर्कों को लेकर माने बैठा हूँ कि सब यहीं का यहीं पंचभूत में बिखर रहता होगा। चित्-केन्द्र शून्य में व्याप्त होता जाता होगा। यानी, धर्म-अधर्म जो व्यक्ति से हुआ हो वह उसी तक कैसे सिमटा रह सकता है? उसका प्रभाव तभी का तब आसपास फैल के रम नहीं जाता है क्या? कर्तृत्व क्या वह अपने पास रख सकता है? इस अलाय-बलाय को लेकर छुटपन में सीखे शास्त्र के सूत्र पर धर्माचरण मुझसे हो नहीं पाता।

मृत्यु दूर हो तो अधर्माचरण भी कर सकता हूँ क्या?

फल यह है कि 72 वर्ष पार करने पर भी नये सिरे से धर्माचरण की सूझ मुझे नहीं हो पाती। प्रतीत होता है कि मौत के डर पर मैं अपने को किसी तरह बदल न पाऊँगा। सदोष जैनेन्द्र को मृत्यु-दर्शन निर्दोष बना ही नहीं सकेगा। पूछा जा सकता है कि क्या मृत्यु का डर तुम्हें नहीं होता? होता है, बहुत होता है, पर आदतवश होता है। 72 वर्षों से जीने की आदत जो पड़ गयी है तो एकदम उसकी समाप्ति सह्य कैसे हो? और मृत्यु अर्थात् समाप्ति। लगी आदत छूटते भी कहाँ छूटती है। भय इसलिए केवल भय है। उसमें सारांश एकदम नहीं है। अर्थात्, उस भय के निमित्त करते-धरते मुझसे कुछ नहीं बन पाता है। कुछ बटोरकर रख जाऊँ, ये सब बेकार की बातें मालूम होती हैं। जान चुका कि कुछ नहीं टिकता। काल है ही इसलिए कि सब कुछ मिटता जाए। यह भी देखता हूँ कि ठोस अचल सम्पदा के अतिरिक्त जो है यहाँ सब अखबारी है। नाम आज जो चढ़ा है कल धूल में पड़ा दिख सकता है। छापे की कारस्तानी के ये खेल हैं।

फिर यह भी है कि जन्म के पहले कुछ था, और मरण के बाद भी वह रहेगा। अर्थात्, जो है वह रह जाएगा और जो होता है सो बीतता जाएगा। इसलिए यहाँ अपने को होने को किसी तरह महत्त्व है तो उसका 'जो' शाश्वत रूप से है। बस मेरे द्वारा यदि हो रहा है तो प्रगट भर हो रहा है।

कहते हैं, कुछ नाम अमर हो गये हैं। उन्हें मरे सदियाँ हुई, सहस्त्र-सहस्त्र वर्ष हुए, पर नाम उनका चल रहा है। सोचने की बात है कि क्यों चल रहा है? इसीलिए कि नाम वह प्रतीक बन गया है, व्यक्तिगत नहीं रह गया है। प्रतीक किसका? उसका जो वैयक्तिक नहीं था, सर्वथा निर्वैयक्तिक था। आदमी में से जिस मात्रा में वह व्यक्त होगा, जो उसका अपना नहीं, ईश्वर का होगा, उतना और वही ऐश्वर्य सदा के लिए बचा रह जाएगा। पर अपने अभ्यन्तर में उस ऐश्वर्य से विहीन कब कौन सिरजा गया है। अमुक शक्ति का नाम टिका रह जाता है तो केवल इसलिए कि वह उस विभूतिमत्व के दर्शन का इंगित दे आता है।

तो क्या है वह ईश्वर का ऐश्वर्य? क्या है जो अनेकता को एक रखता है? क्या है जो अनन्त विरोध और अनन्त वैविध्य को थामता है? असंख्य पिण्ड इस ब्रह्माण्ड में अपनी-अपनी कक्षा में अवस्थित हैं तो क्यों? इन अनेकान्तिक पारस्पर्य को धारे और साधे हुए जो महातत्त्व है वह क्या है?

मैं उस परमतत्त्व को प्रेम कहता हूँ।

मैंने किताबें लिखी हैं? कुछ उनमें कथा, उपन्यास मानी जाती हैं, जिनमें कल्पना को मैंने खुला खेलने दिया है। कतिपय अन्य तत्त्वदर्शन के कोष्ठक में बिठायी जाती है, जहाँ कल्पना को परे रखा गया है और माध्यम बुद्धि का रहा

है। कहीं कला के कौशल को देखा गया है। अन्यत्र बुद्धि की विदग्धता को सराहा गया हो सकता है।

पर मैं जानता हूँ, न कलाकार जिएगा, न तात्त्विक रह पाएगा। सब काल के गाल में समा जाएँगे। इसलिए उपन्यासकार जैनेन्द्र अथवा चिन्तक जैनेन्द्र यशस्वी हो, यह कामना प्रवंचना है। जो व्यक्ति का है, उसका यश टिक नहीं पाएगा। न यहाँ कुशलता चलेगी, न विदग्धता पलेगी। पल-पल नवीनता आएगी जो पुरातन को गाड़ती और लीलती जाएगी, पर प्रेम तो नूतन-पुरातन कुछ है नहीं। वह तो बस है, अनिवार्य है और सनातन है। मेरी अपने से यही प्रार्थना है कि कुशलता विद्वत्ता की छाया भी मेरे पास न रह जाए। सिर्फ एक प्रेम रह जाए। लिखने में, रहने में, जीने में, करने में, प्रेम के सिवा दूसरा मुझे कुछ अभीष्ट रहे नहीं। यह मैं चाहता हूँ। सारी क्षमता, योग्यता और विचक्षणता उस प्रेम में विसर्जित होती रहे। कारण, और सब छूछा और थोथा है। वह एकदम बनावटी है। प्रेम अपने को स्वाह करना ही चाह सकता है।

मृत्यु ईश्वर की भेजी व्यक्ति को प्राप्त होती है। उसमें से व्यक्ति सीख सकता है कि स्वेच्छित मृत्यु ही बस उसका एक कृतार्थ है। प्रेम हर पल उस स्वेच्छित मृत्यु की कामना के अतिरिक्त अन्य कुछ है नहीं।

मेरी पत्नी है, मेरे बच्चे हैं, मेरी किताबें हैं। उनके लिए मैं क्या चाह सकता हूँ? देखता हूँ कि सत्ता अस्थिर है, सम्पदा भी अस्थिर है। और, देखते-देखते जिन्हें मैंने अपना माना है वे सब अपने में स्वयं और मुझसे स्वतन्त्र बनते जा रहे हैं। कुछ उनके लिए चाहना और करना उनकी स्वतन्त्रता पर आरोपण डालना हो सकता है। लगता है कि उनके और सबके लिए यदि कुछ किया जा सकता है तो यही कि मैं अपने को चुपचाप यहाँ से ऋण कर जाऊँ। अपनेपन की छाप ही यहाँ से पूरी तरह धो-पोंछ जाऊँ।

यह नहीं कि मुझमें प्रतिष्ठा की या यश की कामना नहीं होती, पर कामना उठती नहीं कि सूझ जाता है कि तेरा चाहा कभी कुछ हुआ भी है कि तू चाहता ही जाता है। बहुत गहरी अनुभूति में से उगता है कि तू क्यों अलग बना बैठा है। जिसका चाहना ही अनन्त काल से इस अनन्तता में सम्पन्न हो रहा है उसमें खो रहने, सो रहने की घड़ी तेरे पास आ गयी है, तो भी अपनी चाह को लिये बैठा है, और मालूम होता है कि मौत में बिना चाह मैं जा मिलूँ, तो बस यही मेरी सम्पूर्णता होगी। भवबन्ध, भवबाधा की जड़ में यह चाहत ही तो निमित्त है। अत: मोक्ष आत्म-निर्वाण से अलग दूसरा कुछ है नहीं।

मैं चाहूँगा कि जाते-जाते मृत्यु के सत्य के प्रति मेरे मन में प्रणाम हो और अपने लिए बस एक क्षमा की माँग हो।

□

कश्मीर की वह यात्रा !

कश्मीर की वह यात्रा!

[एक]

सन् 1927 की बात है, तब राजनीतिक वातावरण में कर्मण्यता और प्रचण्डता वैसी नहीं थी। गाँधी की बात को उस समय यह भारत देश गले से उतारकर अलस-निमग्न भाव से चुपचाप पचाने की प्रक्रिया में था।

राजनीति-ग्रस्त व्यक्तियों को अपने जीवन के अन्यान्य पहलुओं को सँवारने और सँभालने का उस समय अच्छा सुयोग प्राप्त हो गया। कुछ ने उस सुयोग से अपनी चतुराई के बल पर प्रचुर लाभ उठा लिया। वे अपने को कुछ बनाकर बैठ रहे—चाहे लौटकर फिर राजनीति में ही बैठे हों या इधर-उधर हटकर समाज-नीति में, 'बार' में, व्यवसाय में या सरकार की किसी कुर्सी में बैठे हों! और जो चूके सो चूके।

महात्मा भगवानदीनजी, मेरे मामा, मेरे अभिभावक को तब एक प्रयोग की सूझी। सूझी तो पहले भी होगी, पर रह-रह गयी होगी। सन् '10 में उनके जीवन के विकास-क्रम को एक विशिष्ट दिशा मिली। सन् '18 तक अव्याबाध गति से वह उसी दिशा पर उन्नत होता रहा। धार्मिक चेतना में से वह विकास उद्‌भुत हुआ था। त्यागमय उसका रूप था, आध्यात्मिकता उसकी प्रकृति थी। उस दिशा पर चल पड़ने पर वैसे प्रयोग की बात जीवन में आनी अनिवार्य ही थी। सन् '18-'19 के गरमागरम काल में वह विकास राजनीति की पटरी पर आ रहा। परिस्थितियाँ कुछ ऐसी ही अनुकूल मिलती चली गयीं। यहाँ पर यह कहना नितान्त निर्भ्रान्त न होगा, कि जो हम खिलौनों को चलाता-भगाता है, उस मदारी लाइन्स-मैन की कुछ चूक ही हुई कि गाड़ी यों गलत 'शण्ट' होकर अनुपयुक्त पटरी पर चल पड़ी। बात यह है कि हमें अपने स्वार्थ की ओर से सबकुछ चूक लग सकता है, होता सब कुछ सही है। यही कहने को जी चाहता है कि वास्तव में इस प्रकार राजनीति पर चल पड़ने से उस मौलिक विकास की स्वाभाविकता और सरलता में व्यतिरेक और व्याघात नहीं पड़ा, वरन् वह तो अधिकाधिक स्पष्ट

और सम्पन्न होता ही चला गया।

यह जेल, वह जेल—सन् '18 के आरम्भ से लगाकर कई वर्षों तक बस यही हाल रहा। इस तरह जो बात मन में पहले भी उठ-उठ चुकी होगी, उसे अनुभव में उतार देखने का अवकाश अब कहीं सन् '27 में आया। इससे पहिले कुछ और सोचने-करने की गुंजाइश नहीं निकल सकी।

[दो]

मुझे तार मिला कि अमुक दिन दिल्ली पहुँच रहा हूँ। रावलपिण्डी जाना है। दो और साथ हैं। स्टेशन पर मिलो।

रावलपिण्डी से कश्मीर रास्ता जाता है, यह मुझे तुरन्त याद आ गया। कश्मीर की भूख जी में थी ही। मन ने कुछ यह भी कहा कि हो-न-हो, महात्माजी कश्मीर ही जा रहे होंगे। जब तक महात्माजी यहाँ पहुँचे, तब तक रावलपिण्डी जाने का कारण और काम मेरे साथ भी निकल आया। स्टेशन पर मैं उन्हें मिला और सामान के साथ मिला और उनके साथ ही रावलपिण्डी के लिए सवार हो लिया।

उनके साथ मेरे मित्र अम्बुलकर थे, और एक ताजा ग्रेजुएट विक्रम सिंह थे। या यह कहना ठीक होगा कि उनकी ताजगी निष्पन्न होने में ही आ रही थी। कॉलेज की डाल से टूटकर दुनिया के मोल-तोल के बाजार में जा पहुँचने में उन्हें कुछ कसर थी—रिजल्ट अभी नहीं आया था। अभी तक धरती से बहुत ऊँचे रहकर डाल में लगे-लगे ही उन्होंने सूरज की धूप और हवा की लोरियाँ खाई थीं, लेकिन शिक्षा के रस से भरकर पक उठेंगे, तब डाल उन्हें उस तरह अपने ऊपर धारण नहीं रख सकेंगी। तब उन्हें गिरकर धरती पर ही आ रहना होगा। वह वहीं थे जहाँ कि स्वप्न से टूटना होता है, और सोचना होता है, 'धरती पर अब आये, कब आये!' परीक्षा के बाद की छुट्टियाँ बिताने वह भी महात्माजी के साथ हो लिये थे।

दूसरे मित्र अद्‌भुत थे। हद के फक्कड़। संकट के समय आगे, यों गायब। बहुत अच्छा गाते थे। आवाज ऐसी थी कि बड़ी प्यारी, धोखा कभी न देती थी। असहयोग के दिनों में बी.ए. के अन्तिम वर्ष से पढ़ना छोड़ दिया था। अँग्रेजी बेहिचक बोलते थे, और हरदम नंगे पैरों पर जाँघियाँ पहने रहते थे। ऊपर कमीज हुई, न हुई, न हुई। असहयोग में पड़कर असहयोग के हो रहे। घर-बार जैसी भी कोई वस्तु होती है, इसका ध्यान ही न उठता, जो मिला उसी को पाकर खुश, न मिला तो और भी खुश। गुस्से की बात पर कभी गुस्सा न होते थे, होते थे तो बेबात यों ही हो लेते थे। और फिर गुस्सा था कि राम-राम तब हिन्दी-मराठी

बनाकर बोलते थे, या मराठी को हिन्दी बनाकर, कहना कठिन है; पर चीज वह अजीब होती थी। पर कह बैठिए कि हिन्दी मुहावरेदार नहीं हुई, तो समझिए पूरी शामत बुला ली। 'तुम्हीं बताओ नहीं तो हिन्दी क्या होती है?' उनकी हिन्दी की धाक माने बिना गुजारा नहीं था। यों सदा कहते रहते कि मुझे हिन्दी सिखा दो। महात्माजी के पक्के साथी बनकर वह आये थे। जीवन भर हिमालय के हिम और वन में ही रह जाने की बात आये तो उसके लिए भी उद्यत। 'महत्त्वाकांक्षा' नामक वस्तु से उनका परिचय पुराना हो गया था और उस बड़भागिन से ऐसी पक्की छुट्टी ले बैठे थे कि उसे उठने की हिम्मत न होती थी। भीतर कहीं थी भी तो मुरझाई बेजान पड़ी थी। इनके भीतर रहकर वह भूखी मरती थी।

महात्माजी और इनके बीच ही कुछ तय पाया था और इस यात्रा का सूत्रपात हुआ था।

रेल में मुझे पता चला कि जा कश्मीर ही रहे हैं, पर बात जरा टेढ़ी है। रावलपिण्डी से रेल छूट जाएगी, दूसरी किसी सवारी के आसरे की कल्पना को भी परे रखना होगा, और फिर पैदल कन्धे पर सामान रखकर चलना होगा!

मेरे साथ ट्रंक-वेडिंग था। मैंने बताना आरम्भ किया कि किस तरह पीठ पर सामान लादकर चलना बहुत सुन्दर दृश्य उपस्थित न करेगा! इस तरह लौटकर पीठ को साबित ही पाने का भरोसा भी पूरा नहीं है, और यह कि सबकुछ नितान्त अकल्पनीय धारणा है।

पर अकल्पनीय हो, कुछ हो, साथ चलना हो तो मैं वैसे साथ चलने को तैयार हो जाऊँ, नहीं तो अपना रास्ता देखूँ और मौज करूँ।

और इस प्रकार मुझे सम्पूर्ण स्वातन्त्र्य देकर वे तीनों मुझ पर हँसने लगे।

मैंने मन में समझ लिया कि इनकी यह हँसी मुझसे झेली नहीं जाएगी और मैंने कहा, "अच्छी बात है। रावलपिण्डी तो पहुँचें। वहाँ जाकर फिर आगे की देखी जाएगी।"

यहाँ पर मुझे महात्माजी के आगे के मनसूबे भी मालूम हो गये थे। इतना ही नहीं था कि वह कश्मीर पैदल जाएँगे, जाते-जाते हाथ से पैसा भी छोड़ देंगे। फिर बे-पैसे चलना होगा। भीख में रोटी मिल गयी तो, नहीं मिल गयी तो। दो-एक महीने कश्मीर में रहकर, राह ठीक मिल जानी चाहिए, फिर पहाड़-ही-पहाड़! भारत के उस कोने सिक्किम-दार्जिलिंग तक जाएँगे, और यों ही विचरेंगे। जन-समाज का सम्पर्क, जो जीवनयापन का आवश्यक लक्ष्य बन गया है, देखेंगे कि वह क्यों न अनावश्यक सिद्ध हो जाये। अर्थात् लोगों से दूर, हिमालय की गोद में, हरियाली से घिरकर, मधुकरी पालकर, सर्वथा निस्संग और एकाकी रहकर, क्यों न जीवन की सम्पूर्णता उपलब्ध की जा सके?

इन मनसूबों से मैं डरने के सिवाय कुछ नहीं कर सकता था। मैं कैसे इस सब में महात्माजी का साथ दे सकूँगा!

वह ग्रेजुएट सज्जन इस समय मेरी युक्ति का साधन बने। जब ऊपर की बात हुई, तब उन्होंने कहा, "आप जहाँ चाहें, जाइए। श्रीनगर तक तो हम साथ हैं, वहाँ से लौट आएँगे। हम तो कश्मीर देखने चल रहे हैं।"

मैंने कुछ कहा तो नहीं, लेकिन सोच मैंने भी लिया कि इसी तरह की राह मेरे लिए भी निकल सकती है।

महात्माजी की ओर से छुट्टी थी ही कि जहाँ से जो चाहे लौट आये, और लौटने की बात की आशंका हमीं दोनों तक थी। अम्बुलकर की निगाह में लौटना कुछ चीज ही नहीं, जो कुछ है, आगे चलना है। पीछे हटना भी एक तरह का आगे चलना ही है। 'अब होता नहीं, चलो लौटो।'—अम्बुलकर का लौटना ऐसा नहीं होता; इसलिए लौटकर भी वह आगे ही बढ़ता है।

आखिर रावलपिण्डी आ गया, और उन लोगों को अचरज हुआ, तब अपना परिग्रह जिस किसी को सौंपकर जरूरी कपड़ा अपनी कमर से कसकर मैं भी उन लोगों के साथ बढ़ चलने को तैयार हो गया।

हम चल पड़े!

[तीन]

कुछ घटनाएँ ऐसी घट जाती हैं कि उन्हें संयोग कह देने से जी को तृप्ति नहीं होती। संयोग के अतिरिक्त उन्हें और कुछ कहने का सहारा भी कैसे हो। बुद्धि वहाँ आकर रुक जाती है, मानो उनसे टकराकर सुन्न होकर बैठे रहती है। आगे उसके लिए धरती नहीं, राह नहीं, गति नहीं। कुछ भी चिह्न पाने का आगे सुभीता नहीं—बस ऊपर, नीचे, भीतर, चारों ओर से हमें घेरकर जो महाशून्य अटल रूप में अवस्थित है, खोखला, निर्भेद्य, फिर-फिर कर दीवार बना हुआ-सा वही-वही हमारे सामने आ रहता है, और उसके नीले तल पर, हमारी आँखों की सीध में आ ठहरती हैं वे घटनाएँ, जो व्यंग और भेद की हँसी में चमक-चमककर मानो पूछती हैं, 'बताओ तो भला, हम क्या हैं, क्यों हैं?' उस समय उस अज्ञात के तट पर खड़े होकर जी होता है, हम उसके अनन्त गर्भ की नीलिमा में आँखें फाड़-फाड़कर कुछ देखने की स्पर्द्धा में अन्धे क्यों बनें, क्यों नहीं हम आँख मूँदकर घुटनों आ बैठें, विवशता के दो बूँद आँसू ढर जाने दें, और गद्गद कण्ठ से गुहार दें, 'हे अज्ञात, तू ही है। हम सब और हमारा समस्त ज्ञात तेरे गर्भ में हैं और तू उससे परे है, अज्ञात है। तू ज्ञात नहीं है, इससे तू ही है, तू ही सत्य है। मैं

तुझमें, तेरी शरण में हूँ!'

आगे ऐसी ही दो घटनाओं का उल्लेख करेंगे, जो कश्मीर-प्रवास में हमारे साथ अतर्क्य रूप में घट आयीं!

[चार]

गुलमर्ग श्रीनगर से कोई पच्चीस मील है। बड़ी लुभावनी जगह है। सम्पन्न और जानकार पर्यटनार्थी कश्मीर आकर वहीं रहते हैं। जब श्रीनगर तपता है, तब आप वहाँ बर्फ पा सकते हैं। 9,000 फीट ऊँचाई है। यह कदाचित् भारत का सबसे ऊँचा स्वास्थ्य-स्थल है।

हम लोग वहाँ पहुँचे।

उन्नत शैल-शृंगों से घिरा हुआ पहाड़ी गोद में गुलमर्ग ऐसा बसा है मानो हरे दोने में सफेद फूल बिखरे हों। भूरे-भूरे, छितरे हुए कुछ मकान हैं, बीच-बीच में हरे फैले लॉन। पहाड़ के शीर्ष पर मानो एक अंजलि बनी है, उस अंजलि के तल में मनुष्य नामक कुछ प्राणी बसेरा डालकर खेल रहे हैं, और यह महाकाय हिमाचल, अपनी अंजलि को इसी प्रकार अपरिसीम आकाश के सम्मुख अर्घ्य से भरी लिए रहकर, मानो उसकी स्वीकृति की प्रतीक्षा में अनन्तकाल से यों अवसन्न खड़ा है।

हम चार अकिंचन वहाँ पहुँचे। साधु थे, पर साधु नहीं थे। साधुत्व के विज्ञान और व्यवसाय से निपट अपरिचित थे। कुछ दक्ष साधु भी हमारे देखने में आये, जो चन्दन की पादुका और केवल पक्ष्म और किंशुक के वसन ही धारण कर सकते थे। मुख-मण्डल उनका तेज और तेल से दीप्त रहता था और वह सदा भक्त-मण्डली से घिरे रहते थे। पर हम इस हुनर से कोरे थे। वस्त्र काषाय कर लेने की चिन्ता भी हमने नहीं की थी। न हमारा परिधान अत्यन्त उज्ज्वल था।

फिर भी न जाने घोड़ेवालों ने क्या समझ लिया कि जब हम कहीं से कुछ पाकर एक देवालय के बरामदे में अपनी क्षुधा शान्त करने में लगे थे कि उनके झुण्ड-के-झुण्ड हमारे सामने आकर धरना देकर खड़े हो गये। अनेक स्वर एक साथ कहने लगे, ''बाबा खेलनमर्ग चलेगा? हम ले जाएगा, हमारा घोड़ा...'' और सब-के-सब अपने-अपने घोड़े की सविशिष्ट पात्रता का बखान करने लगे।

गुलमर्ग से तीन मील और ऊपर जाने पर हिमाच्छादित गिरि-शृंग आता था। उसी का नाम खेलनमर्ग था। जो गुलमर्ग आता, खेलनमर्ग देखता ही था। ऐसे हर नये यात्री की बाट देखते, ये लोग बैठे रहते थे, और उसको अपने घोड़े पर गुलमर्ग पहुँचाकर जो पाते थे, उस पर पेट पालते थे।

उन लोगों का अपने-अपने घोड़े के बारे में उत्साह और विश्वास और प्रशंसा का प्रदर्शन उस समय हमें कुछ बहुत दिलचस्पी का विषय नहीं जान पड़ा। हल्की-सी उन्हें टाल देने की चेष्टा करके हम अपनी क्षुधा-तृप्ति में संलग्न रहे। हमारी उस चेष्टा से उन लोगों के धरने में कोई शिथिलता नहीं आयी, वरन् कुछ कड़ाई हो आयी। क्योंकि उन्हें हमारी चेष्टा में से इतना ही भावार्थ प्राप्त हुआ कि हमें उनकी माँग के सम्बन्ध में कुछ वक्तव्य है। वे विश्वसनीयता और पात्रता के प्रमाणस्वरूप अपनी-अपनी छाती ठोकते और तरह-तरह के लोभनीय वाक्य कहते हुए सामने ही डटे रहे।

तब क्या हमें यह भूल चला कि हम कौड़ी-विहीन होकर वहाँ भिक्षान्त प्राप्त कर रहे हैं और जीन-चढ़े कसे हुए तैयार घोड़े-सवारी का जो सानुरोध और साग्रह अनेकानेक स्वर में आमन्त्रण हमें दिया जा रहा है, वह हमारे किसी प्रकार के भी सरोकार की वस्तु नहीं होनी चाहिए। तब क्या हमें यह कठिन जान पड़ा कि इन दीन घोड़ेवालों के सामने जाकर हम यह घोषणा करे कि हम तुमसे भी दीन हैं और ताँबे के एक पैसे का सुभीता हमारे पास इस समय नहीं है, इसलिए तुम लोग जाओ! उस समय और क्या बात हुई—कहना कठिन है।

उस समुदाय को सामने पाकर हम नीची आँख करके भोजनोपलब्धि की संलग्नता को अटूट बना रहने देने में दत्तचित्त हो रहे।

मैं इससे पहिले कभी घोड़े पर नहीं बैठा था। मेरे मन में हो रहा था कि अगर घोड़े पर बैठने की नौबत ही आ गयी तो अपनी तो बड़ी भद्द होगी। मन में यह खतरा था कि सच, वह मौका सामने ही कहीं न आ जाये। कुछ यह भी था कि घोड़े पर अभी तक बैठे नहीं हैं, जाने घोड़े की सवारी कैसी होती है? मैंने कहा, "महात्माजी, घोड़े कर लें, तो बड़ा अच्छा हो...कर भी लीजिए।"

अम्बुलकर बचपन में खूब घोड़े की सवारी कर चुका है, और उसे उन दिनों का आनन्द खूब याद है। उसने कहा, "हाँ महात्माजी, कर लीजिए।"

तीसरे मित्र के समर्थन करने की चेष्टा व्यर्थ गयी। कारण महात्माजी ने पहले ही आँख उठाकर घोड़ेवालों से पूछा, "एक घोड़े का क्या लोगे?"

"एक रुपया..." बहुत से स्वरों ने यह कहा और सबने यह जतलाना आरम्भ कर दिया कि यही बँधा रेट है। इसमें पूछताछ, कम-बढ़ हो ही नहीं सकती।

महात्माजी ने कह दिया, "तीन रुपये में चार घोड़े लाना हो, तो ले आओ।"

और वे तीन रुपये में चार घोड़े लाने की बात की असम्भवता और अनुपयुक्तता पर कुछ उद्गार प्रकट करने के बाद अन्त में लड़ते-झगड़ते विदा हुए और कुछ ही मिनटों में चार आदमी चार कसे घोड़े लाकर सामने उपस्थित हो गये।

अब तो घोड़े आ ही गये! निकली बात को निगला तो नहीं जा सकता।

महात्माजी ने गम्भीर भाव से कहा, ''यहाँ ले आओ, इधर।'' और जब बरामदे के चबूतरे के साथ ही वे घोड़े आ लगे, तब हमसे कहा, ''चलो बैठो।'' हमारी शंकित चित्तता को उन्होंने देख लिया और कुछ मुसकराकर कहा, ''चलो, बैठो भी।'' हम चारों जने बारी-बारी से एक-एक घोड़े पर बैठ गये।

बैठ तो गये; पर मजा कहाँ! स्फूर्ति का पता नहीं। जैसे कैदी बनकर जा रहे हैं। मन में उत्साह की जगह आशंका थी। घोड़ों पर जैसे हम बैठे नहीं थे, हमारा बोझ लदा था। हमारे बोझ के नीचे वे घोड़े भी सिर झुकाये खुट्ट-खुट्ट चल रहे थे। जा तो रहे हैं, पर फिर? यही चिन्ता हमारी चेतना पर जमती जा रही थी। जैसे कोई विषाक्त गैस हमारे भीतर फैलकर छा बैठी हो। हमारा आनन्द सुन्न हो गया।

अब बोलो, हम पर क्या आफत थी! सबका जिम्मा लेकर जब महात्माजी ने सब कुछ किया और उसका बोझ भी वह उठाएँगे और उठाने को तैयार हैं, तब हमसे क्या इतना भी नहीं हो सकता कि व्यर्थ बहुत चिन्ता के नीचे हम न पिसें। लेकिन जब देखते हैं तो पाते हैं, महात्माजी के चेहरे पर कोई वैसा त्रास का भाव नहीं है, वह साधारणत: निश्चिन्त प्रफुल्ल से ही दीख पड़ते हैं। मुझे लगा जैसे महात्माजी यह अच्छा नहीं कर रहे हैं। आफत बुलाई, और अब उसकी तरफ पीठ करके उसे देखना नहीं चाह रहे हैं, और हँस रहे हैं। उस फजीहत की सम्भावना को मन-ही-मन पहचानने से हम कैसे इनकार कर सकते हैं!

अपनी दृष्टि से निस्शब्द यह बात हमने महात्माजी तक बहुत स्पष्टता से पहुँचाई कि ''महात्माजी, क्या होगा?''

महात्माजी ने कुछ मुसकराकर ही मानो जतलाया, ''अरे, जो हो गया, सो हो गया और जो होगा सो हो जाएगा...''

और जब उन्होंने देखा कि उनकी इस गहन तात्त्विक तथ्य, तत्त्वनिष्ठ-वृत्ति से हमारे चित्त को समाधान जैसी कोई वस्तु नहीं प्राप्त होती, तब जोड़ा, ''अच्छा, अब तो चले चलो। पीछे देखेंगे। देखने का काम अब तो बाद ही हो सकता है। न हुआ, किसी से माँग-मूँगकर दे देंगे। तीन रुपये की ही तो बात है।''

हम चले तो चले, पर शंका हमारी कहीं जाती न थीं। हमारे यह अच्छी तरह समझ लेने पर भी स्थिति में कुछ विशेष सुधार न हुआ कि शंका को भीतर मजबूती से बिठा लेने से हाथ कुछ नहीं आता, केवल घोड़े की पीठ से लुढ़क पड़ने की सम्भावना में ही आधिक्य होता है।

ऊबड़-खाबड़, कहीं गड्ढ़ा, कहीं तीन-तीन फीट उभरे हुए पत्थर, यहाँ कीचड़, वहाँ रपटन, इधर चीड़ के दरख्त की उठकर टेढ़ी-मेढ़ी जाती हुई फैली जड़ें, उधर और कुछ लड़खड़ाते और सँभलते हुए हमारे घोड़े इन सबको पार करके

आगे बढ़ते रहे और उन पर लदे हुए हम-अदद भी आगे आते रहे। सामने हमारे हिमाच्छादित उत्तुँग शैल, इधर पाताल में पहुँचती हुई घाटी, उधर सीधा जाता हुआ पहाड़, सँकरी-से-सँकरी राह, और इन सबके बाद हमारे मनों पर छायी हुई विषम आशंका—इन सबकी उपस्थिति में हम गठरी बने हुए पदार्थ खेलनमर्ग और प्रभु की कृपा के निकट पहुँच रहे थे।

चढ़ाई समाप्त कर हम मैदान में आये। छोटी-छोटी घास है। हरे धान के रंग की, जो यहाँ-से-वहाँ तक फैली है। उनके बीच में खूब अतिशयता से उग-उठकर खिल-झूम रहे हैं, रंग-रंग के फूल—धानी साड़ी पर रंग-बिरंग टँकी मानो ये बुन्दियाँ हैं, और इसके पार एक ही फर्लांग पर उठकर आकाश में चढ़ा जा रहा है वह बर्फ का स्तूप, जो धूप के स्पर्श से उज्ज्वल होकर झकझका रहा है, और जिस पर दूर से आँख ठहरना मुश्किल हैं। बादल अभी आते हैं, और दो फुहार हँसकर अभी भाग जाते हैं। अभी चुपके से कहीं से आकर सूरज की आँख मूँद लेते हैं, और अभी छन में छोड़ देते हैं, और सूरज फिर खिलखिला उठता है। बेहद बारीक धुनी हुई रुई के गोले से बादल उड़-उड़कर हमारे चारों ओर फैले हैं। वह उधर गाय चर रही है, चुगकर मुँह ऊपर उठाती है, चारों ओर देखती है और सन्तोष की साँस लेती हैं—वह साँस नथनों से निकलकर भाप बना कैसा दीख आता और छन में बिला जाता है।

यहाँ आकर हठात् हम प्रकृति के इस विराट् और मौन समारोह में तद्गत हो गये। चित्त की शंका हम पर से जाने कब खिसककर तिरहुत हो गयी। मन खिलकर जाने किससे भर गया कि और कुछ रहा ही नहीं, सब अपना-ही-अपना हो गया। ये घोड़ेवाले हमारे सम्बन्ध में किसी प्रकार के लेनदार हैं—चित्त में इस चेतना के लिए जैसे स्थान न रहा। वे उसके निकट अपने ही बन उठे। कहीं कुछ गैर रहा ही नहीं। कारण, स्व ही जो न रह गया।

अम्बुलकर ने कहा, "देखो, वह बादल के पिल्लू! कैसे चिपटे जा रहे हैं!"

हम हँस पड़े। मैंने कहा, "पिल्लू नहीं, पिल्ले कहो। कैसे शावक की तरह, गुलगुल-गुलगुल, मानो कि-कि कुँ-कुँ करते हुए एक दूसरे में खोये जा रहे हैं!"

अम्बुलकर ने कहा, "नहीं जी, पिल्ले नहीं हैं, हमारे पिल्लू हैं। पिल्ले कैसे हो सकते हैं!"

हमको मानना पड़ा कि बादल के बच्चों को पिल्लू ही कहते हैं। ये छोटे-छोटे होते तो सच बड़े मेमने से हैं। अभी-अभी अच्छी तरह दीख रहे हैं कि छन में जाने कहाँ गायब!

हम शीघ्रता करके अपने-अपने घोड़ों पर से कूदकर किलकारी मारते हुए भाग चले। घोड़े झट उस हरित-कोमल दूबी से अपने भूखे मुख का अभिन्न

सम्बन्ध स्थापित कर संतृप्त हुए।

हमने जी-तोड़ दौड़ लगाई। देखना था कि बरफ तक पहले कौन पहुँचता है।

लेकिन अम्बुलकर अम्बुलकर है। सबसे आगे पहुँचकर बरफ पर उछल-कूदकर पड़ना था कि गला फाड़कर किलकी मार उठा, ''महात्माजी!...''

पीछे-ही-पीछे हम थे। हम चीखे, ''क्या है!''

इतने में ही उसने दूसरी बार पुकारने का मौका निकाल लिया, महात्माजी पीछे मजे-मजे में चले आ रहे थे। बोले, ''ऐसा भी क्या है?...''

अम्बुलकर ने उछलकर और चिल्लाकर कहा, ''महात्माजी! जल्दी आइए, भाग के!...''

तब तक हम दोनों भी पहुँच गये थे। हमने उससे भी अधिक उछलकर इस माँग का समर्थन किया, कहा, ''महात्माजी, भागकर आइए।''

महात्माजी आये और हमने उन्हें दिखाया—

तीन नये कोरे रुपये अचक-के-अचक बरफ के किनारे पर अलग-अलग चित्त ऐसे रखे थे, जैसे हमारी बाट ही जोहते हों। महात्माजी ने कहा, ''अच्छा!''

और हम उस बरफ के पहाड़ के साथ तरह-तरह की शरारत कर निकले!

[पाँच]

दूसरी घटना यों हुई।

श्रावण में श्रीनगर से एक छड़ी की यात्रा उठती है। वह अमरनाथ जाती है। अमरनाथ एक तीर्थ-धाम है। उसका बड़ा महात्म्य है।

एक खासा मेला-का-मेला चलता है। राज्य की ओर से और समितियों की ओर से प्रबन्ध रहता है।

मेले में आधी संख्या साधुओं की रहती है और आधे में शेष जन रहते होंगे।

इस समय तक हम तीन ही रह गये थे। ग्रेजुएट मित्र तार से रुपया मँगाकर बहुत पहले ही घर जा चुके थे। हम तीन एक महन्त की साधु-मण्डली में मिलकर छड़ी के साथ उठ लिए।

छड़ी क्या वस्तु है, और साधु क्या पदार्थ है, इसके वर्णन और विवेचन का यहाँ अवकाश नहीं है।

कश्मीर केशर के लिए मशहूर है। संघ के निर्धारित यात्रा-मार्ग से तनिक हटकर केशर की क्यारियों के लिए पामपुर होते हुए भी यदि हम शीघ्रता करें तो छड़ी को अनन्तनाग में पकड़ सकते हैं, यह हमें सहसा विदित हुआ। केशर

की कृषि देखने की उत्कण्ठा थी ही। फिर पता चला, उधर ही एक गन्धक का चश्मा भी है, और पास ही है एक ज्वालादेवी का मन्दिर दोनों ही चीजें दर्शनीय हैं। गन्धक के चश्मे में साफ स्वच्छ जल है। पर गन्धक की बास से बसा हुआ, पास खड़ा होना कठिन है, और ज्वालादेवी वह मन्दिर है, जहाँ पहाड़ की चोटी पर एक गहरा कुण्ड है। जभी-कभी वहाँ से ज्वाला की लपटें निकलती दीख पड़ी थीं। अब भी देवी ज्वाला के रूप में उसमें से प्रकट होकर दर्शन देती है, ऐसा प्रचलित विश्वास है। उसी गह्वर और उसी विश्वास पर मन्दिर का निर्माण हुआ है।

बड़े तड़के उठकर चश्मे में स्नान करते हुए हम नौ-दस बजे के लगभग ज्वालादेवी पहुँच गये। स्थान अत्यन्त सुरम्य है। पास ही घनी पर्वतमाला है, और मन्दिर के चरणों में है खीऊ नामक बस्ती। वनस्पति के वैभव के दर्शन के लिए इस स्थान को आदर्श समझिए। पास ही से गहन वन आरम्भ हो जाता है। वहाँ जगह-जगह शिकारगाह बने हैं। वन में अच्छा शिकार मिलता है।

हम मन्दिर के बाहर आकर चारों ओर फैली प्रकृति की सुललित श्री की बहार लेते रहे। अम्बुलकर ने तान छेड़ी। ऐसे वातावरण में उसके स्वाभाविक मधुर कण्ठ में न जाने क्या कुछ हुआ और वस्तु आ मिलती थी। तब उसका स्वर लहराता हुआ ओस की नाईंजी पर छाकर मानो आर्द्रता की हल्की-हल्की फुहार छोड़ने लगा। हम विभोर हो रहे।

किन्तु देर होते-होते हमें यह भी मालूम होने लगा कि इसी तरह तो दिन नहीं बीत जाएगा। पेट में भी कुछ डालना ही चाहिए। इसके लिए इस स्वर्ग से हमें उतरना होगा और नीचे धरती पर बसे गाँव में पहुँचकर कुछ चेष्टा भी करनी ही होगी।

नीचे आकर गाँव की कीच-भरी गली को पार करते-करते हम सोचने लगे कि कब किस भलेमानस की कृपा आप ही हमें ढूँढ़कर हम पर आ बरसती है। पर यह होता न दीखा। अन्त में आज का ठीक-ठिकाना बनाने के लिए हमने अम्बुलकर को नियुक्त किया।

आगे गली में दो सम्भ्रान्त सज्जन आते दिखलाई पड़े। हिचक से अम्बुलकर को सरोकार नहीं। आगे बढ़कर उसने कहा, ''महाराज, हम तीन मूर्ति हैं...''

आदमी इन साधुओं की पारिभाषिक शब्दावली के चक्कर में पड़कर मूर्ति बन जाते हैं, और इसी प्रकार के और क्या हेर-फेर हो जाते हैं—यह हमने काम चलाने लायक रूप में जान लिया था।

वे सज्जन इस प्रकार के पुण्य की खोज में ही थे। उनके यहाँ आज ही किसी वर्षगाँठ का उत्सव था। वे अब इसीलिए बाहर निकले थे कि कुछ सत्पात्र

अतिथियों को पाएँ और इस शुभ योग पर धन्यता प्राप्त करें। उन्होंने धन्य भाग माना। हमने भी कम अहोभाग्य नहीं माना। साथ-साथ चल दिये।

वह प्रसन्न हुए जब उन्होंने पाया कि ये बेढ़ंगे साधु बीच-बीच में अँग्रेजी के शब्द भी बोल जाते थे। वह सुशिक्षित परिवार था। घर पर हमारे पहुँचने के कुछ ही समय बाद कुटुम्ब के सब सदस्य हमारे आसपास घिर गये। बच्चे, स्त्री-पुरुष, कन्याएँ—सब हमें अपने बीच में पाकर बेहद प्रसन्नता अनुभव करते मालूम हुए। प्रसन्नता कदाचित् उतनी न भी हो, जितना कुतूहल और विस्मय हो—ये कौन उठाईगीरे से हैं, जिन्हें यहाँ बिठाकर उनके बड़े उनसे तरह-तरह की बातें कर रहे हैं और वे भी उसी तरह की बातें कर सकते हैं! और कैसा उनसे आदर का बर्ताव किया जा रहा है—इसलिए जरूर कोई बढ़िया बात है और इसलिए उन्हें जरूर खुश ही होना चाहिए।

खाना खा-पीकर हमने देखा कि हमें अब चलना चाहिए। किन्तु यह बात तो, उस घरवालों ने स्पष्ट जतला दिया, बिलकुल असम्भव ही है और महिलाओं ने भी कहा कि ऐसा किसी प्रकार भी न हो सकेगा और हम लोग भी इस अपरिचित स्नेह और अनुग्रह से कोमल और कठिन आग्रह को तोड़ने की हठ अपने भीतर नहीं जगा सके। रात वहीं बितानी हुई।

रात वहाँ बिताने का मतलब अगले दिन पूरी पच्चीस मील की मंजिल था। छड़ी को कहीं अनन्तनाग हम लोग पकड़ सकेंगे, और सामान से लदे हुए एक साँस पच्चीस मील पाँव-पैदल चले चलना उतना कुछ बहुत सुखद कार्य न था। रात यही सोचते-सोचते नींद ली और बहुत सबेरे उठ बैठे।

रास्ता हमारा अब सीधा न था। सड़क कहीं छूट गयी थी। कोई दस मील चलने के बाद सड़क मिलेगी।

घर के कई लोग हमारे साथ-साथ कुछ दूर हमें विदा देने आये और बताया कि एंक मील तक सामने फैले हुए धान के खेतों को यों-और-यों पार करके वह जो बाग-सा दीखता है, उसके आगे अमुक गाँव आ जाएगा, और वहाँ से फिर फलाँ गाँव की बटिया सीधी है ही, फेर नहीं है; और फिर पहाड़ी आएगी, उसके दाईं ओर की राह पर हम हो लें; फिर सामने वह गाँव है ही; फिर यह...और फिर वह, और आगे बस सड़क ही है। फिर तो बस सड़क तो सीधी ही है, और इस प्रकार ब्यौरेबार सूचनाएँ देकर हमारे चित्त का पूर्ण समाधान करके बड़े विनीत और कृतज्ञ भाव से उन्होंने विदा दी और कहा, "अच्छा, नमस्कार।"

अँगुलि-संकेत, मौखिक वर्णन और हार्दिक सद्भावना की सहायता से हमारे मार्ग का नक्शा जो उन्होंने विशद स्पष्ट-रूप से खींचकर हमें दे दिया था। वह, चलते-चलते हमने पाया, हमारे निकट वैसा सुगम नहीं रह गया है। उस दिन

सड़क तक के दस मील के रास्ते को कम-से-कम बारह तो हमने बनाकर ही छोड़ा।

चल रहे हैं, और चल रहे हैं, और चल रहे हैं। सड़क भी है कि आज आकर नहीं देगी। हम पास जाते हैं तो वह दूर जाती है। आठ बज गये, नौ बज गये, दस बज गये। सूरज सिर पर तपने लगा, देह थक गयी, भूख लग आयी, जी भी हार-सा चला और सड़क का अता-न-पता।

राम का नाम लो कि आखिर सड़क आयी ही। वहाँ आते ही हम एक चिनार के पेड़ की छाँह में तनिक दम लेने ठहर गये और तीन मिनट बीती नहीं कि फिर चल पड़े।

ऊपर से गर्द, भीतर से पसीना, आँख के सामने कहीं न अन्त होने वाली राह, और माथे पर चिलचिलाती धूप,—बस, हमारा बुरा हाल था।

चलते-चलते एक नन्ही-सी बस्ती मिली। वहाँ एक सद्गृहस्थ के घर से मट्ठा पाया और पीया। दूसरी जगह से जरा एक गोले का टुकड़ा और गुड़ की एक-एक डली प्राप्त की। उसके ऊपर कुछ पानी पेट में पहुँचाया और आगे बढ़े।

जो पेट में पहुँचा वह कहाँ भस्म हो रहा। कुछ पता न चला, और पेट में से मानो लपटें निकल-निकलकर कुछ और भी अर्घ्य माँगने लगीं, जो पड़े और स्वाहा हो, अग्नि प्रज्वलित है, यज्ञ का समय जाने कब का निकल चुका है, पर हवन की सामग्री कहाँ है? मानो कुण्ड की वह्नि की जिह्वाएँ निराश क्षोभ में लपक-लपककर ताण्डव करके पूछ रही हैं—सामग्री कहाँ है, कहाँ है?

और हम चलते जा रहे हैं। क्या सोचते हैं हम? कहाँ तक चलना है? क्या इसका अन्त है? क्या इसका अन्त नहीं है? क्या यह क्षुधा अनन्त है, जैसे कि सामने सीधी जाती हुई राह अनन्त है?

मैंने कहा, "अवन्तिपुर में महन्तजी का बजरा हमें अवश्य मिल जाएगा। कहा था—शनि को हम वहीं होंगे। तब हमें भोजन भी तैयार मिलेगा।"

अम्बुलकर ने कहा, "हाँ, कहा तो था। हमारा इन्तजाम भी जरूर करेंगे।"

इन्तजाम से अम्बुलकर का तात्पर्य इन्तजार था।

महात्माजी हँसते हुए बोला, "क्यों नहीं। वह इन्तजार कर रहे हैं, तभी तो हम चल रहे हैं। उस इन्तजार की आशा को लेकर ही तो हम चल पा रहे हैं—क्यों?"

किन्तु हम क्या जानते थे और महात्माजी क्या जानते थे कि महन्त नहीं, उससे कहीं बड़ी और अपूर्व वस्तु वहाँ अवन्तिपुर में हमारा इन्तजार कर रही थी। हम पहुँचे कि हमको ही लेकर वह वहाँ सम्पन्न होगी। आँख खोल देनेवाले दिव्य प्रकाश की भाँति वह वहाँ हमको लेकर सम्भावित हो उठेगी।

महात्माजी की बात सुनकर हम अपनी धधकती भूख को भीतर-ही-भीतर लिये रहकर वीर की भाँति आगे बढ़ते रहे।

अनन्तनाग से लगभग छह मील इधर अवन्तिपुर है। सूरज पच्छिम की ओर ढला आ रहा था। तीन बजते होंगे। कमर से दो लोइयाँ और कुछ और सामान लपेटे, पसीने से तर-बतर और साँस से उफनते हुए, हम अवन्तिपुर में प्रविष्ट हुए। बस्ती का पहला मकान आया, हमने चैन की साँस ली। कोई मिला, पूछा, ''मन्दिर कहाँ है?''

''आगे—''

आगे बढ़े फिर पूछा, ''मन्दिर कहाँ है?''

''वह आगे—''

हम आगे बढ़ते रहे, और मन्दिर भी हमारे आगे-आगे बढ़ता रहा। पौन मील तो कम-से-कम और चले। सारी बस्ती पार की, और तब आया मन्दिर।

मन्दिर आया। शोभनीय स्थान है। प्राचीन पद्धति का शाही द्वार है। भीतर बगीचा भी है। मन्दिर के जीने के चरणों को पखारती हुई वितस्ता बहती है। गुल्म है, चिनार के सघन वृक्ष छाये हैं—कुछ हो, यहाँ हम विश्राम पाएँगे और महन्त यहाँ मिलेंगे, तो फिर वाह! और महन्त न मिले तो...?

हम पहले से बहुत कुछ हल्का मन लेकर भीतर प्रविष्ट हुए। जो साधु पहले मिला उससे पूछा, ''श्रीचन्द चिनार के महन्त हैं या गये?''—और अनायास आसन्न आश्वस्ति में अपने झोलवाले उतारकर हम बैठने की तैयारी करने लगे—

उस साधु ने कहा, ''वह तो कभी के चले गये यहाँ से। अनन्तनाग पहुँच भी चुके होंगे।''

फिर भी हमने हठात् पूछा, ''गये?''

''हाँ, गये!''

क्या आप हमारे उस क्षण को समझेंगे। सुनते हैं, वज्र भी गिरा करता है। किन्तु क्या इस सूचना से वह वज्र भारी होता होगा। सुनकर हम सुन्न होने को हुए।

किन्तु उसी समय पास ही से सुन पड़ा, ''महाराज, पधारिए!''

हमने सहसा जो जागकर देखा, कि अधेड़ वयस के एक ब्राह्मण पुरुष खड़े हैं और करबद्ध भाव से कह रहे हैं, ''महाराज, पधारिए!!''

हमने पूछा, ''कहाँ?''

''महाराज, भोजन पाने पधारिए।''

उस समय हम एकदम उत्तीर्ण होकर आनन्द-मग्न हो गये। धीरे-धीरे सामान उतारा, सहलाये, हँसे, टहले, बैठे, लेटे और नीचे आयी उस चिनार की डाल

की छाया में बहती वितस्ता के धारा में स्नान कर डालने की ठहराने लगे। सोचा, पसीने से भीगे कपड़ों को चलो लगे हाथ धो भी डालें।

हँस-खेल-कूदकर और तैरकर मजे-मजे में हम नहाये। मजे-मजे में कपड़े धोये...और वह सज्जन उस सारे काल उसी प्रकार विनम्र हमें अवकाश मिलने की प्रतीक्षा करते हुए खड़े रहे।

निवृत्त निश्चित होकर हम उनके साथ हो लिये। वह चुप-चुप हमारे साथ चले। मानो धन्य और कृतज्ञ भाव में पानी-पानी होकर बह न जाएँ, इस तरह अपने-आप में शून्य और सूक्ष्म होते हुए वह चल रहे थे।

मकान साधारण था और घर में एक माँ थीं और पत्नी थीं। माँ बरसों से नेत्रहीना हो गयी थीं और पत्नी के कोई बाल-बच्चा न था। माँ को एक शिशु की आवश्यकता थी, जिसके कोमल गात को छू-छूकर, जिसके साथ मचलकर और हँसकर वह अपने जराच्छादित एकाकीपन की याद से कुछ क्षण छुट्टी पा लें। जिसको पाकर वह अपनी आँख पा लें, अपने जीवन का आधार, अपने भीतर का प्राण पा लें। पत्नी को भी एक बालक की बेहद चाह थी, जो किशन-कन्हाई बनकर इस घर के छोटे-से आँगन साफ, शान्त, सुव्यवस्थित, सुन्न और सदा एक जैसा ऐसा पड़ा रहता है, जाने बेजान हो, मुर्दा हो, भूत हो...चुपचाप साँस रोककर, जैसे कोई भयंकर प्राणी पड़ा हो, जो अब काटेगा, अब काटेगा।

हमको एक चटाई पर बिठाकर झट-पट करके तीन थालियाँ हमारे सामने रख दी गयीं।

सज्जन ने धीरे से कहा, ''पंखा कर, पंखा कर।''

हमें लगा जैसे हमारे आँख आगे सब कुछ तैर आया है। ठोस कहीं कुछ नहीं रह गया है, सब द्रवित हो आया है!

पत्नी को भोजन की व्यवस्था की सँभाल में से छुट्टी मिलने में कुछ क्षण लग ही जाने थे। इन्हीं क्षणों में माँ ने बिना देखे ही कहीं-न-कहीं से पंखा खींच लिया और झलने लगीं। हमने कहा, ''नहीं, नहीं...''

किन्तु कश्मीर में गर्मी नहीं होती, इसका यह अर्थ नहीं है कि माँ पंखा करना छोड़ दें। यह तो गर्मी के निमित्त से नहीं, हृदय के निमित्त का व्यंजन था। हवा की जगह उससे स्नेह लहराया जा रहा था।

माँ इस स्नेह की डोर में बँधी हमारे पास ही सरकती आयी। महात्माजी उस ओर के किनारे पर बैठे थे। माँ ने उनके सिर पर अपना कृश हाथ रखा। वह हाथ फिर सिर पर टहलता और टटोलता हुआ गर्दन पर आया और फिर महात्माजी की निर्वस्त्र कमर को सहलाने लगा। महात्माजी की नंगी पीठ पर अपना हाथ फेरते-फेरते उन माँ की अन्धी आँखों से आँसू आ-आकर टपकने लगे। वह पंखा

झलती रहीं, रोती रही और इसी प्रकार अपना दाहिना सूखा हाथ महात्माजी के सिर के बड़े-बड़े बालों पर, दाढ़ी पर, मुँह पर, कमर पर फेरती रहीं।

उस समय हमारी आत्मा भीज उठी, और हमारी आँखें भी डबडबा आयीं जब देखा कि सारा परिवार धन्यता के आँसू रो रहा है।

हमारा अन्तर नेह से खूब भीग गया, और भोजन के अनन्तर तनिक इधर-उधर की बातचीत के बाद हम चले आये।

—और हमें पता चला कि पिछले वर्ष, इस परिवार के प्रत्येक आत्मा की विविध मनौतियों, संचित आकांक्षाओं और विपुल व्यय के उत्तर में, किसी व्यक्ति ने दक्षिणा-दान यज्ञादि के पर्याप्त आडम्बर के बाद इन्हें बताया था कि अमुक शुभ लग्न के अवसर पर वे दूर से चले आते हुए तीन साधुओं को आहारदान देंगे तो उन्हें वर प्राप्त होगा और उनकी पुत्र-कामना की सिद्धि अवश्यम्भावी है!

साल भर से उसी दिन की आस बाँधे वह सज्जन बैठे थे। वह दिन आया। प्रभात से वह मन्दिर पर आ रहे—कि अब तीन साधु आते हैं, अब आते हैं! सवेरे से निराहार अपने भाग्य के अन्तिम परीक्षा-फल की प्रतीक्षा में सूरज निकला, सूरज चढ़ा। साधु आये, साधु गये। वह खड़े हैं, अब तीन साधु आते हैं, अब आते हैं! सैकड़ों नहीं, सहस्रों की साधु आये। पर तीन अलग से संग-साथ पहचाने जा सकें इस रूप में नहीं आये। घण्टे-पर-घण्टे गिनती की तरह बजते चले गये। मन्दिर भर गया, और मन्दिर खाली हो गया। बगीचा कलरव से गूँजा, और अब सन्नाटा है—वे तीन साधु आते हैं, अब आते हैं! पर मेला उजड़ गया है। अब कहाँ धरे हैं वे तीन साधु!

—और तीन बजे हम तीन 'साधु' पहुँचे!

सन् '27 की यात्रा के प्रसंग में ही कुछ और झाँकियाँ व अनुभव। ये बाद के वर्षों में लिखा गया, बिना छुए, वैसे का वैसा जो छपा, यहाँ है।

बहुत पहले की बात है, यही सन् '27 की होगी।

पत्र आया कि रावलपिण्डी जा रहा हूँ, वहाँ से कश्मीर। स्टेशन पर मिलो।

स्टेशन पर मिला, पर सामान के साथ। परिणाम, मैं भी साथ ट्रेन में था।

महात्मा (भगवानदीन) जी के साथ दो और युवक थे, अम्बुलकर और विक्रम सिंह। रास्ते में मालूम हुआ कि विचार बेढ़ब हैं। सोचा गया कि रावलपिण्डी के बाद पैदल चला जाएगा। सामान कन्धों पर रहेगा। कोशिश होगी कि पैसा पास न रहे। एक प्रयोग है, देखें क्या होता है।

सुनकर कुछ ढारस नहीं हुआ। खासा ट्रंक-बिस्तर लेकर साथ चल रहा था।

ऐसी अवस्था में इस निराले प्रयोग की बात सुनकर सुख क्या होना था।

लेकिन रावलपिण्डी में सात रोज बीते, और महात्माजी की तबीयत भी जो जरा बिगड़ गयी थीं सुधर आयी, तो देखा, अगले सवेरे से पैदल बढ़ने की तैयारी है। लाचार ट्रंक-बिस्तर वहीं किसी के यहाँ पटका और मैं भी साथ हो लिया। वहाँ से कश्मीर की सीधी राह है। पर हम सीधे नहीं गये। तक्षशिला, केम्बिलपुर, पंजा साहब, हरिपुर, हवेलियाँ कहाँ-कहाँ भटकते ऐबटाबाद पहुँचे। वहाँ से कश्मीर की राह थामी। मुजफ्फराबाद, उड़ी वगैरह होते आखिर कश्मीर घाटी के किनारे आकर लगे। यहाँ तक का प्रवास कम रोचक न था। पर बात आगे की करनी है।

सवेरे तनिक तड़का होते ही हम चल दिया करते थे। चलते-चलते घाटी के तट की अन्तिम ऊँचाई पर हम पहुँचे तब सूरज मुँह ऊपर निकल ही रहा था। अद्‌भुत अपूर्व दृश्य जान पड़ा मानो वैसा प्रभात पहले हुआ न हो। आकाश साफ था, दूर तक कोई व्यवधान न था। सामने बर्फीली चोटियों के पीछे से उभरता सूरज अनूठी छटाओं से मण्डित था। किरणें हिम शिखरों पर बिखरकर नानावर्ण ले उठती थीं। हम स्तब्ध विभोर वह दृश्य देखते ही रह गये, समय का भान न रहा। पाँव आप ही स्थिर हो आये थे।

कितनी देर ऐसे मुग्धभाव में बीती, याद नहीं। उतरे तो तली में ही बिछा बारामूला था। अपना कायदा था कि बस्ती आते ही गुरुद्वारा पूछते और सीधे वहीं चले जाते थे। गुरुद्वारे की संस्था ने हम जैसे आवारों का बड़ा काम साधा। उस उपकार को भूला नहीं जा सकता। वहाँ जाति-कुल कोई पूछता न था। न आपके प्रयोजन से ही उन्हें प्रयोजन था। आश्रय मिल जाता था, ऊपर से आवभगत। पर बारामूला के प्रवेश पर इसका अवसर ही न आया। मुश्किल से अभी बस्ती के मकान शुरू हुए होंगे कि राह में एक बाबा मिले। अच्छे भरे-पूरे शरीर के व्यक्ति थे और चेहरा प्रभावपूर्ण। पश्मीने की गेरूएँ रंग की कफनी लगभग टखनों तक उनके शरीर को ढँके हुए थी। चरणों में पादुका और हाथों में स्लेट। जैसे वह अनायास उस राह आ निकले हों।

संकेत से हमें ठहराया और पास आकर उन्होंने स्लेट पर अँग्रेजी में लिखा, "आप लोग भारतवर्ष से आ रहे हैं?"

हमने कहा, "हाँ।" साथ ही यह बतलाया कि कश्मीर क्या भारतवर्ष नहीं है?

अँग्रेजी में ही स्लेट पर फिर पूछा गया, "यहाँ कुछ दिन ठहरिएगा?"

"हाँ, आशा तो है। रमणीक स्थान है"

इस बार स्लेट पर हिन्दी में प्रश्न आया। "व्याख्यान आदि की कोई व्यवस्था

की जाए?"

"जी नहीं। बिलकुल नहीं।"

स्लेट ने पूछा, "चार दिवस तो विश्राम कीजिएगा। कहाँ रुचिकर होगा—नगर में अथवा बाहर वाटिका में?"

हम उन बाबा के सौजन्य पर चकित थे। कहा, "तनिक बाहर बगीची में व्यवस्था हो सकती हो तो उत्तम है।"

"आइए।"

उन्होंने हाथ से संकेत कर बढ़ते हुए निर्देश किया।

हम लोग मौनी बाबा के पीछे हो लिये। सचमुच रम्य स्थान था। उद्यान के बीचोंबीच एक भव्य कुटिया थी। हम मग्न हुए, कन्धों से सामान उतारा और जरा इधर-उधर की शोभा निहारने लगे।

स्लेट पर लिखकर पूछा गया, "थके होंगे, स्नान करना चाहेंगे?"

"हाँ, वह तो आवश्यक है।"

"स्नानागार में या वितस्ता की धारा में? जैसी इच्छा हो।"

झेलम के किनारे ही बढ़ते हुए हम आये थे। धारा बड़ी लुभावनी थी, लेकिन उसमें नहाने की सुविधा रास्ते में ठीक-ठीक कहीं हो नहीं पायी थी। नदी गहरे में होती थी और किनारा सुगम न मिला था। यहाँ जो निमन्त्रण आया तो छोड़ा कैसे जा सकता था।

"सुगम नदी है तो क्या प्रश्न है। अवश्य वहीं स्नान होगा।"

बारामूला की वितस्ता और ही है। वहाँ वेग की जगह विस्तार है। हम लोगों ने कपड़े साफ करने, नहाने, तैरने में कम समय नहीं लगाया। मौनी बराबर किनारे खड़े रहे। हमने उधर ध्यान नहीं दिया, यद्यपि यह सब व्यापार हमें अनहोना अवश्य लगा था। नहाकर लौटते हुए उन्होंने लिखकर पूछा, "भोजन नगर में पाइएगा या वाटिका में?"

हमने स्वभावतः ही कहा, "कष्ट ही होगा, पर कुटिया पर ही हो सके तो अच्छा है।"

हम लोग चल रहे थे कि इस बार स्लेट पर उन्होंने उर्दू में लिखा, "मेरी कुटिया पर आप पधारें तो मैं कृतार्थ हूँगा, युवक लोग अपने स्थान पर जा सकते हैं।"

निमन्त्रण केवल एक महात्माजी के लिए था और उन्होंने कहा, "तुम लोग चलो, मैं आता हूँ।"

महात्माजी हमारे कोई चालीस मिनट बाद स्थान पर पहुँचे। बताया कि मौनी खूब आदमी हैं। उसने पीने को छाछ दी, फल मैंने नहीं लिये। उसका स्वयं यही

भोजन है। खासी लायब्रेरी उसके पास है और किताबें चुनी-चुनी हैं। महात्माजी स्वामी रामतीर्थ की एक किताब साथ लाये भी थे।

हम लोगों ने अपने स्थान पर आकर देखा कि बराबर में उसी तरह की एक दूसरी कुटी और उद्यान है और वहाँ गेरुए वस्त्र के अनेक साधु ठहरे हुए हैं।

समय पर मौनी महाशय के साथ खाना लिये आ पहुँचे। खाने के बाद बर्तन वगैरह तो आदमी ले गया, मौनी वहीं रह गये। अब स्लेट की मार्फत काफी बातचीत हो निकली। हिन्दी भाषा छूट गयी थी। मुख्यता से अँग्रेजी और उर्दू में ही स्लेट बोल रही थी। कब अँग्रेजी आती है और कब उर्दू, इसका कुछ अनुमान हमें नहीं हुआ। काफी दार्शनिक चर्चा उन्होंने की और बीच में बताया कि वह उधर, उत्तर की ओर से, रूस को भी सीधा रास्ता जाता है।

हम लोग नये थे। उत्सुकता से बोले, "रास्ता सीधा है?"

स्लेट ने बताया, "हाँ, कुछ हिन्दुस्तानी उधर से गये भी हैं।"

क्रमशः विदित हुआ कि ऐसे सन्तों में मौनी साधु की विशेष श्रद्धा है जो प्रेरणा धर्म से लेते हैं, उपयोग उसका देशहित में करते हैं। केवल अध्यात्म स्वार्थ-परायण भी हो सकता है। भारतीय धर्म जीवन-विमुख कभी नहीं हुआ। इत्यादि-इत्यादि।

हमने पूछा, "आपने मौन क्यों लिया? कब से है, कब तक के लिए है?"

अँग्रेजी में लिखकर बताया कि शक्ति का इससे अपव्यय बचता है। आत्मसंचय की यह आर्षपद्धति है। इधर आठ वर्ष से मौन लिये हूँ। आगे अवधि नहीं।

उन्होंने हम सबको निमन्त्रण दिया कि जब तबीयत हो उनकी कुटिया पर आ सकते हैं और पुस्तकालय से जो चाहे किताब ले सकते हैं।

मन में उन साधु के लिए सराहना का उदय हुआ और जाने पर उनके सम्बन्ध में हम लोग आपस में चर्चा करते रहे।

बारामूला चार रोज रहना हुआ। पास की कुटिया में दो एक साधुओं से परिचय हुआ। नित्य सवेरे एक मण्डली स्नान के स्थान पर जुट जाया करती थी। यहाँ नाना चर्चाओं में अकसर मौनी बाबा का प्रसंग उठता। लोगों के मुँह में अधिकांश उनकी प्रशंसा थी, मन में रहस्य।

चौथे रोज श्योपुर (शिवपुर) के लिए रवाना हो गये। गुरुद्वारे पर डेरा जमा। पहला रोज वहाँ बीतते ही महात्माजी ने कह दिया, "यहाँ से आगे पैसा पास नहीं रहेगा। जो जिसके पास हो खर्च कर दे, वापिस भेज दे या कहीं दे डाले। पास बचेगा वह चलते वक्त नदी में फेंक दिया जाएगा।"

मैं घबराया, कहा, "लेकिन भीख कैसे माँगी जाएगी?"

उत्तर सीधा नहीं आया। तय हुआ कि हर कोई देख ले। पैसे के साथ रहना जिसे जरूरी हो, उसे मण्डली के साथ रहने की जरूरत नहीं है।

दूसरा उपाय न था। पैसा दनादन खर्चना शुरू किया। शिवपुर ऊनी लोइयों और चादरों की जगह है। नाहक पैसा उन पर बहाया। इतने में बुखार ने आ घेरा। ज्वर ने पहले महात्माजी को पकड़ा, फिर विक्रम और अम्बुलकर को धर दबाया। बचा मैं और गिनती के साढ़े चार आने पैसे।

शिवपुर से हटने का सवाल बीमारी ने दूर सरका दिया। इधर बारिश से नदी का पानी गन्दला हो चुका था। वही पीया जाता और परिणाम में बीमारी फैलाता। बीमार तो बेफिक्र थे, क्योंकि हम लोगों में तय था कि हर बीमारी का इलाज लंघन है। पर अभी जिस पर रोग की कृपा नहीं हुई है, वह उपासा कैसे रहे? मैं लकड़ी इधर से उधर से बीनकर लाता और पाई-धेले के हिसाब से चावल, मूँग, तेल और नमक जुटाता। उनकी खिचड़ी पका, खा, चैन की बंसी बजाता। पर असल में न बँसी थी, न चैन था। बल्कि अन्दर फिकर थी। कारण चार-पाँच पैसे तो एक बार में टूटते ही थे। अठारह पैसों की बिसात कब तक? आगे क्या होगा? बहुतेरा सोचता पर कहीं से उत्तर न पाता था। अन्त में कहा, ''महात्माजी, बुखार तो फैल रहा है अब यही है कि जल्दी से यह जगह छोड़ी जाये और पैसे साढ़े पाँच बचे हैं। नहीं जी मुझसे माँगा न जाएगा।''

''अच्छा, क्या बनाया है?''

''वही—खिचड़ी।''

''है?''

''आपको तो अभी बुखार है।''

''कोई बात नहीं। लाओ, जरा दो।''

उन्हें चार रोज का लंघन था। तो भी उठे, दो कौर खिचड़ी खायी और खड़े होकर बोले, ''अब जरा चलना होगा?''

''कहाँ जाइएगा?''

''देखो—''

कोई दो घण्टे बाद महात्माजी लौटकर आये। थक गये थे और आते ही लेट गये।

मैंने कहा, कहिए, ''क्या हुआ?''

बोले, ''कुछ नहीं।''

मैंने निराशा से कहा, ''तो—?''

बोले, ''अब कल देखेंगे।''

असल में हुआ यह था कि महात्माजी बाजार में द्वार-द्वार और दुकान-दुकान

घूमे थे। हर जगह सवाल था कि क्या कोई दयालु है जो अगले पड़ाव तक तीन मूर्तियों को पहुँचाने का बन्दोबस्त कर दे। सवाल सबने सुना था, पर सभी ने अनसुना कर दिया था, और मानव-हृदय के द्वार पर सदा देते हुए अपनी ओर से निश्चित दो घण्टे बिता चुके तो महात्माजी अकुंठित भाव से लौट आये थे। निर्णय किया था कि अगले दिन पुकार को फिर दोहराना होगा। आखिर तो मानव के हृदय के द्वार को खोलना होगा। न, बन्द ही रहना है उसे तो कोई बात नहीं। यही तो है कि उस कारण यहाँ चार आदमियों का भाग्य बन्द हो जाएगा। होना है तो वही हो। इसमें व्यग्रता की क्या बात है!

व्यग्रता की बात ही नहीं है? जी हुआ इस आदर्शवाद पर अपना माथा पीट लूँ। लेकिन लगता है, श्रद्धा का जीवन विफल नहीं होता। न वह निर्बल होता है। श्रद्धा स्वयं जो बल है। श्रद्धापूर्वक भविष्य को जिन्होंने लिया है, प्रमाणित है कि भविष्य उनका डूबा नहीं है। उलटे चिन्ता के बल पर भविष्य किसी का विशेष बनता नहीं देखा जाता है।

अगले दिन बोले, ''लाओ, भई, जरा खिचड़ी दोगे?''

तीन पैसे खिचड़ी में टूट गये थे। ढाई पास बच गये थे। उनसे शायद शाम का किनारा पाया जा सकता था। लेकिन फिर?

लेकिन यह 'फिर?' का प्रश्न शायद मेरा ही था। महात्माजी में वह न रहा होगा। खा-पीकर उठे और पहले दिन की तरह भटकने को चल दिये।

इस बार घण्टे भर में लौट आये। आते ही कहा, ''उठो, चलने की तैयारी करो।''

विक्रम और अम्बुलकर को बुखार ने अभी छोड़ा न था। इस असमंजस के सिवा असबाब में हमारे पास था क्या कि तैयारी में लगता। महात्माजी ने अन्त में एक दयावान पाया था जिसने ताँगा कर देना स्वीकार किया था, एक चवन्नी ऊपर से दी थी। इस दया पर हँसने को जी नहीं चाहा और हम लोग जाकर ताँगे में बैठे।

महात्माजी ने पूछा, ''क्या बचा है?''

बचे ढाई पैसे थे। ताँगे के पास एक लड़की शहतूत का बड़ा दौना लिये खड़ी थी। पैसे-पैसे में दौना दे रही थी। एक दोना लिया, बाकी डेढ़ पैसा नदी की धार में फेंक दिया। चलिए, यों शिव के उस पुर से और पैसे से बिदा ले ली गयी।

यहाँ तर्क नहीं हो सकता। यह कि पैसा क्यों फेंका गया, चवन्नी क्यों माँगकर ली गयी और पास रखी रहने दी गयी? मूल्य के लिहाज से चवन्नी पैसे से सोलह गुना भारी है। लेकिन भावना की तौल कुछ दूसरी भी हो सकती है। पैसा

अहन्ता का और ममता का माना गया हो, चवन्नी स्नेह की और समता की समझी गयी हो। कहा ना कि भावना अगम वस्तु है। तर्क चलाना वहाँ बेकार है।

श्रीरामपुर पहुँचे तो कहना चाहिए कि भिक्षावृत्ति के पहले दिन का आरम्भ हुआ। माँग-ताँगकर सीधा-सामग्री इकट्ठी हुई, बर्तन गुरुद्वारे से मिले और इस स्वपाक की तैयारी में लगे। चावल-दाल बीन रहे थे कि देखते हैं, दालान में एक अजीब मूर्ति आकर खड़ी हो गयी है। नाटा कद, सर पर जटाजूट, नीची लम्बी एक कुर्ती, हाथ में लठिया। एक टाँग टेढ़ी और कुचली हुई। कुल मिलाकर दृश्य किसी तरह भव्य न था। कपड़े चीकट और मैले। हमने देखा कि हम देख रहे हैं तो वह मूर्ति भी हमें देख रही है। हम आपस में उस व्यक्ति के सम्बन्ध में उपहास पर आ निकले। तभी उसने आगे आकर कहा, ''कहाँ जाओगे, श्रीनगर?''

''हाँ।''

''कहाँ ठहरोगे।''

''मालूम नहीं।''

''साधु हो? कौन साधु हो?''

साधु की किस्में हमें नहीं मालूम थीं और चुप रहे। अनुभव हुआ कि साधु हम दीखने को तो हैं नहीं।

''ब्रह्मचारी हो? कौन ब्रह्मचारी हो?''

ब्रह्मचर्य के प्रकारों का भी हमें विशेष परिचय न था। पर सहसा सूझ जागी और मैंने कहा, ''राष्ट्रीय ब्रह्मचारी।''

''क्या-आ—?''

उस व्यक्ति की हैरानी पर हमें आनन्द अनुभव हुआ। हमने फिर दोहराया, ''राष्ट्रीय ब्रह्मचारी।''

ब्रह्मचर्य का यह नया प्रकार उस व्यक्ति को शायद प्रामाणिक नहीं प्रतीत हुआ। हमारे व्यवहार में उसने शायद रुखाई का भी अनुभव किया। मुँह बिचकाया और हमारी तरफ पीठ करके वह महाभाग लौट गया।

भोजन बना और हम उससे भी निबट गये। तभी याद करना पड़ा कि सत्रह मील की मंजिल तत्काल पाँव पैदल पूरी करने को बाकी है। माँग-माँग कर इतना पैसा हो सका है कि ताँगे में कुल एक व्यक्ति श्रीनगर भेजा जा सके। न विश्राम के लिए समय है। लगातार छह घण्टे की चलाचल यात्रा तो गिननी ही चाहिए। फौरन चल पड़े तो कहीं शाम अँधेरे श्रीनगर पहुँचने की सम्भावना है।

अम्बुलकर हम सबमें पात्र था। कारण उसे अब भी बुखार था। सो ताँगे में बिठाकर उसे रवाना किया और अपने कन्धों ढुलनेवाला सामान भी उसके पल्ले डाला। कह दिया कि गुरुद्वारे की धर्मशाला हो तो सीधे वहाँ जाना और नगर में

किनारे राह पर हमें मिलना।

हम भी कोई एक बजे निकल खड़े हुए। चलाचल, चलाचल, चलाचल। ऐसे हम कोई सात बजे श्रीनगर जाकर लगे। तारीफ करनी होगी अपनी। अपनी में मैं स्वयं नहीं आता हूँ, क्योंकि मुझे तो किसी बुखार ने पकड़ा न था। लेकिन महात्माजी का बुखार मुश्किल से अभी टूटा था, और विक्रम का तो टूटा तक न था। ऐसे में एकतार सत्रह मील की मंजिल छोटी चीज न थी। फिर सच यह कि मैं तो राह में उकताया भी हूँगा, लेकिन दोनों साथी जिस उत्साह और उमंग में मुझ तक को थामते हुए बढ़ते चले गये, उसको याद कर अब विश्वास करना भी कठिन होता है।

मीराकदल पर गुरुद्वारेवाली धर्मशाला के बरामदे में सामान पड़ा है और हम पड़े हैं। रात उतर आयी है जो वहीं बितानी है। छह-सात घण्टे की लगातार पदयात्रा पूरी करके बैठे हैं। ऐसी स्थिति में भूख का लगना गलत तो नहीं माना जाएगा। पर सही भी नहीं मालूम हुआ, क्योंकि उसे मिटाने का कोई इन्तजाम न था। पर सत्रह मील के सफर के बाद की भूख को लेकर आराम से सोना भी आसान न दीखा। आखिर आपस में घुसपुस करने के बाद हमने मुँह खोला। उत्तर मिला कि बर्तन आसपास से माँग लो, सामान मैं लाये देता हूँ। बनाओ और खाकर सो जाओ।

''अब इस वक्त कैसे कुछ बनाया जाएगा?''

''तो मैं कब कहता हूँ। वैसे ही सो जाओ।''

''लेकिन भूख लगी है।''

''उसका तो वही इलाज है। या ये बचे सात पैसे हैं। बोलो, जल्दी फैसला करो।''

फैसला क्या करना था। हारे-थके थे, चूल्हा फूँकने में लगना असम्भव था। आखिर निकले और बचे पैसों में से चार के भुने मटर लिये और चबाकर सो गये। तब मालूम हुआ कि भुना चना क्या न्यामत चीज है। पर कश्मीर में उसकी जगह मटर ही हाथ आ सका।

रात ज्यों-त्यों कटी। मगर सवेरा ऐसा मालूम हुआ जैसा सूना और रीता हो। कहीं कूल-किनारा न दीखता था। पैसों पर रहनेवाले पैसे के बिना कैसे अथाह में गिर जाते हैं, यह तब मालूम हुआ। उठते देर नहीं हुई कि सिर पर फिक्र सवार कि अब क्या होगा? तीन पैसे के मटर चलो चबने के काम आ गये? पर अब?

धर्मशाला के बरामदे में खड़े नीचे चलती हुई मीराकदल की सड़क के सजीव और सुहावने दृश्य की ओर देखते हुए हम तनिक भी रस पा रहे थे यह कहना झूठ है। अपने बारे में तो मुझे सन्देह नहीं कि कश्मीर की श्री और सुषमा मेरे

लिए उस समय कहीं रह नहीं गयी थी। सवेरा सुहावना था, और सब कुछ ताजा और नया था। पर मेरी चेतना को डसकर बैठा हुआ विकट प्रश्न था, कि अब?

इतने में क्या देखता हूँ कि एक गेरुए साधु नीचे सड़क से गुजर रहे हैं। अरे, यह तो वही हैं जो बारामूला की बराबरवाली कुटी में मिला करते थे। ऊपर से ही पुकारा, ''सुनिए, ओ भगवन्!''

पुकार-पुकार कर ज्यों-त्यों उनकी निगाह ऊपर ली जा सकी। बोले, 'नमस्तु भगवन्। आनन्द मंगल हैं?''

''नहीं प्रभु, तनिक आनन्द मंगल नहीं है। आपका कहाँ आसन है?''

''चिनार बाबा के महन्त हैं ना, वहीं अपना स्थान है।''

''कैसा स्थान है?''

''सुन्दर रमणीक है।''

समाचार प्रसन्नता के थे। आशापूर्वक हमने पूछा और जाना कि स्थान इसी सीधे रास्ते पर है, डाकघर के पास। यहाँ से यही आधा-पौना मील।

साधु बढ़ गये और हम विमर्श में पड़े। सोचा कि होगा सो होगा। चलकर जगह देख ली जाये और हम तीनों निरीक्षण के लिए चल दिये।

जगह सचमुच मनोरम थी। एक तरफ दुमंजिला मकान, किनारे पशुशाला, उद्यान और द्वार के तट से लगा महन्त का निकुँज। जहाँ-तहाँ फहराते वस्त्रों में साधु विचरण करते दिखाई दिये। पूछने पर मालूम हुआ कि आवास के लिए महन्त से अनुमति प्राप्त करनी चाहिए।

महन्त का स्थान समीप था। पर एकदम दूर बन गया था। मुझ पर कर्तव्य डाला गया। महन्त की अनुज्ञा लूँ। साहस बाँध, सीढ़ियाँ चढ़, मैं ऊपर गया। महन्त का मुँह दूसरी ओर था। पर तनिक जो देखा सो गड़बड़ उलटे पाँव वापस लौटता मैं भाग आया।

अम्बुलकर ने पूछा, ''क्यों, क्यों?''

मैंने कहा, ''वहाँ तो वही लँगड़ावाला चीकट आदमी बैठा है।''

हम तीनों ने परामर्शपूर्वक निश्चय किया कि यह तो घोर संकट का सामना है।

फिर भी हम कुछ देर सम्भावित युक्तियों से बुनते-उधड़ते रहे।

''सचमुच वही या और महन्त है?''

''मालूम तो ऐसा ही होता है।''

''नहीं-नहीं जी, कुछ भूल है।''

पर औरों ने भी चुपके से छिपकर जाकर देख लिया, विराजमान् महन्त वही महाभाग थे।

फिर चुना गया कि मैं ही जाऊँ। आखिर कुछ तो करना था। मैं डर कर साहस लपेटकर ऊपर पहुँचा। कुटिया के आगे खुला आँगन था। महन्त की आँखों ने मुझे देखा और तुरन्त ही अनदेखा कर लिया। उसके बैठने की सेज कम चीकट न थी। तख्त पर पड़ा गदेला और बिछा कपड़ा दोनों ही चिरन्तन और नित्य जान पड़े। मानो वे प्रत्येक परिवर्तन में से सनातन भाव से उत्तीर्ण होते आये हैं। समझ में न आया कि किस प्रकार, किस भाषा में। क्या कहकर मैं उस जन्मजराहीन मानवाकृति के प्रति आगे बढ़ूँ। कहते हैं, एक नमूना मानव का मिलता नहीं है। हनुमान पुराण के पात्र हैं। क्या इतिहास एवं पुराण की मर्यादा लाँघकर वही वरेण्य यहाँ उपस्थित हो गये थे! महन्त के लिए जैसे मैं था ही नहीं। उन्होंने खरल और पास लेकर सोटे से खट्ट-खट्ट घोंटना शुरू कर दिया था। अमृतबटी रही होगी। उसे समक्ष लेकर मानो मुझ मर्त्य को उन्होंने शून्यवत् कर डाला हो। मैंने भी अपने को उस क्षण सर्वथा तिरोभूत अनुभव किया। मैं नहीं हूँ, या अभी हूँ? देखा कि अस्तित्व से पार पाना आसान नहीं है। मैं रहा चला आया और कुछ न बना तो आँगन में ही घूमने लगा। रह-रहकर स्थान की भव्यता और रम्यता के प्रति स्तुति के उद्गार उद्गीर्ण करता जाता था। कनखी से देख लेता कि क्या कुछ परिणाम हो रहा है वहाँ कि जहाँ चाहिए। पर सोटे की रगड़ में जैसे कहीं अवकाश न था। इधर मैं टलता तो कहाँ? अत: मैं स्थान की यदा-कदा शोभा बखानता वहीं घूमता रहा और घूमता रहा। ऐसे आठ-दस मिनट हो गये होंगे कि एक कड़कती आवाज़ पड़ी, ''कौन है?''

मेरे कदम रुके। सामने चेहरा देखा, कठिन और भयानक।

मैं ऐसा बना जैसे निहाल हुआ हूँ। कहा, ''प्रणाम। अहो-हो, स्थान कैसा मनोज्ञ है।''

मूर्ति ने भर्त्सना की मुद्रा में कहा, ''क्या है?''

निवेदन किया, हम चार मूर्तियाँ हैं।

उत्तर मिला, ''स्साले साधु बनकर चले आते हैं! सुल्फा चिलम पीते हैं और...''

अरज किया, ''जी नहीं, हममें कोई बीड़ी तक नहीं पीता।''

सच ही बीड़ी न पीने के महत्त्व का हमें पता न था। लेकिन उस सूचना से मूर्ति का रुद्र रूप किंचित् उतरता दिखाई दिया। उन्होंने कहा, ''क्या चाहते हो?''

''आपकी कृपा हो तो हम चार मूर्तियों के लिए यहाँ स्थान हो जाए।''

''बीड़ी नहीं पीते?''

''नहीं।''

''तो जाओ, वहाँ आसन ले आओ।''

और संकेत से स्थान बता दिया।

भला परमोपलब्धि और क्या होती है। सुनते ही मैं चला और आकर साथियों को बताया। उल्लासपूर्वक हम चले और स्थान देखा। वाह, क्या बात! जगह पशुओं के बँधने की थी और हमसे पहले शायद पशु मिले न हों। वहाँ की धरती गीली और ऊबड़-खाबड़ थी। अब आप सोचिए कि आदमी अपने को कुछ भी समझे, यह साबित करना मुश्किल है कि वह पशु नहीं है। फिर भी हम महन्त की बात का सम्मान न कर सके। किया यह कि चुपचाप सामान लाकर बँगले की ऊपर मंजिल में वहाँ जमा दिया जहाँ बढ़िया फैशन और चाल के साधु ठहरे हुए थे। दिन के दस-साढ़े दस तक यह सब करके हम इन्तजार में हुए कि देखें आगे क्या होता है। सबेरे के तीन पैसे के मटर पर तीन जन का भोजन हुआ था। अब साढ़े बारह हो चला था। कुछ पता न था कि भावी क्या है, बराबर ठहरे साधु अपने-अपने स्थान पर निश्चिन्त सोये दीखते थे। इतने में टन-टन-टन घण्टी बजी और पुकार हुई, पंगत की हरिहर!

सुनकर साधु लोग झटपट उठते दिखाई दिये। अपना पात्र कमण्डल लेकर वे नीचे उतर चले। हमने भी अनुकरण किया। सब उसी पहलेवाले आँगन में पहुँचे और पंक्ति बनाकर बैठ गये। हम चारों भी कतार में जम गये। कुल बारह-चौदह जन रहे होंगे। सबके आगे ऊँची किनारे के पीतल के थाल रख दिये गये और उनमें ढेर भात डाल दिया गया। ऊपर से पानी बनी मूँग की दाल और सेर भर छाछ। बस लोगों ने खाना शुरू कर दिया। हमने भी यथानुसार वर्तन किया।

खाना इधर शुरू हुआ, उधर से गालियों की बरखा शुरू हो गयी। पहला दिन था और हमको बड़ा अटपटा मालूम हुआ। गालियाँ महन्त के मुखारविन्द से झड़ी बाँधकर झर रही थीं। हेतु उनमें न जान पड़ता था, अहेतुक कृपा थी। बड़े स्थानों में प्रथा है कि खाने के साथ मधुर संगीत के संगत रखते हैं। कुछ उसी आधुनिकता का संस्करण होगा। वह बौछार किसी खास-आम को नहीं देखती थी, वह तो मानो सबके लिए समान संशोधन थी।

पर बड़ी चीज आदत है। हमको आदत न थी, इसी से तिलमिला आये और कौर उठ न रहा था। लेकिन देखा कि दूसरे साथी एकाग्र निर्विकार भोजन में तल्लीन हैं। प्रश्न अभ्यास साधना का है। साधुजन साधनाभ्यस्त रहे होंगे। उनके स्थितप्रज्ञ भाव को देखकर अपना क्षोभ हमें भी व्यर्थ मालूम होने लगा। स्थित-धीरज जाने किसे कहते हैं। किन्तु यद्यपि गालियों की वर्षा अजस्त्र रही, हममें से किसी ने भोजन की दत्तचित्तता में व्यक्तिक्रम उपस्थित नहीं होने दिया। सब सौम्य शान्त साधुता में आत्मप्रतिष्ठ बने रहे।

"...स्साले चले आते हैं भकुए कहीं के। इन्हें अनाज नहीं मिलता क्या कि निकल पड़े। साधु बनेंगे और पड़े ऐड़ेंगे। काम न धाम, माल सारा हराम। बस दोनों बखत खाने को दिये जाओ। यह नहीं कि मेहनत को कुछ हाथ लगाएँ। देखो जी, बाग में पानी देना है, रसोई के बर्तन माँजने हैं। पर खाने के बाद जो कोई स्साला मुँह दिखाये। सब हाड़ते फिरेंगे। काम से मुँह चुराएँगे। कमीने, हरामी, बदजात।..."

कहना होगा, यह सब सुनना भारी पड़ता था। पर भाषण वह इतना धाराप्रवाह था कि जैसे सर्वथा निष्काम हो। कोई उसमें प्रयोजन नहीं। कहीं ओर-छोर ही उसमें चुभने के लिए न था। फिर भी अनोखा और अजब अनुभव था। शायद अतिथि के आत्मसम्मान के जागरण में आतिथेय को यह करना पड़ता हो। जो हो, महन्त उस उत्साह में कुटी से बाहर आँगन में आ जाते और अपनी बात पर बल देने के लिए यदा-कदा हाथ की लाठी को आगे बढ़ाकर फर्श पर ठक से ठोंक देते थे। उस समय उनकी लँगड़ी टाँग का सन्तुलन किंचित् अस्थिर हो आता था और झट लकड़ी वापिस लेकर उसे अपनी बगल के नीचे टिका लेना पड़ता था।

"...अबे क्या देखता है। दे, दे, एक रोटी और दे! नहीं महाराज, यह क्या? कुछ तो और लीजिए। अबे देख, गुड़ लाके दे महाराज को। अच्छा ठहर।" कहकर महन्त लपकते हुए अपनी सनातन सेज पर जाते, वहाँ जाने कहाँ से मिश्री का एक डला खींचकर निकालते और परोसनेवाले के हाथ में देकर कहते, "ले, ये दे महाराज को, और हाँ, सबको थोड़ा-थोड़ा गुड़ ला के दे। समझा? अबे, सन्त लोग हैं, साधु-सन्त!"

खिलाने के प्रति महन्त का यह आग्रह गालियाँ बरसाने के संकल्प से कम दृढ़ न था। यह रोज की बात थी। लोग खाते रहते, तब तक महन्त आँगन में ही खड़े रहते। परोसने में तनिक त्रुटि उन्हें बरदाश्त न थी और भरपूर खिलाये बिना उनका मन न मानता था। पर गाली के जप-जाप में भी उस कारण त्रुटि न हो पाती थी।

पहले दिन की बात है। थालियाँ लेकर हम उठे और अपने चारों की मँजी हुई थालियाँ मैंने खुद ले लीं कि लाओ मैं ही रख आता हूँ। आँगन पार कर रहा था कि महन्त ने टोककर पुकारा, "ऐ, इधर आओ।"

पास आने पर थालियाँ देखीं और घुड़की देकर कहा, "बर्तन ऐसे माँजे जाते हैं। इतना नहीं आता? जाओ, फिर माँजकर लाओ।"

गया और भरपूर यत्न से मँजी थालियों को फिर माँजा।

महन्त ने फिर निरीक्षण किया और मालूम हुआ कि थाली में तो तिरूरे रह

गये हैं, लकीरें हैं, फिर माँजकर लाना होगा।

तीसरी बार अपनी ओर से सावधानी में कमी न रखी। सन्तोष इस बार भी महन्त को न हुआ पर जैसे दया आ गयी। कहा, ''अच्छा, इन्हें रख आओ और फिर इधर आना।''

वापसी में उनके आसन के पास पहुँचा तो बोले, ''बीड़ी नहीं पीते हो न?''

''जी नहीं।''

''अच्छा करते हो। स्साले साधु इसी उमर में चरस-गाँजा पी-पी के कलेजा काला कर लेते हैं। अच्छा, ले...''

कहकर तकिये के पास से गोले की गरी का एक टुकड़ा खींचा और मेरी तरफ आगे बढ़ाया।

''ले, ले, शरमाता क्या है, और लेगा?'' इस बार मिश्री की डली हाथ में थी।

''ले, ये भी ले। अरे, क्या देखता है। इस हाथ से सबको नहीं मिलता है। जा, बीड़ी कभी न पीना। हाँ?''

पहला रोज तो पहला था। दूसरे रोज से देखा कि एक हाय-हाय सी मची रहती है। आदमी कम नहीं हैं, पर इन्तजाम नहीं है। खासकर रसोई के बर्तनों की सफाई से सब कतराते हैं। पकड़ाई में जो आ गया, आ गया। नहीं तो सब कन्नी काट जाते हैं। बस इसको लेकर एक हँगामा मचा रहता है। ''ऐ, तू किधर जा रहा है? इधर चल। ये कूण्ड साफ कर ला।''

''अभी आया।'' कहकर वह गया कि फिर खाने से पहले उससे क्या सामना होना था!

हमने आपस में सलाह की। विक्रम ने तो वापिस अपने घर जाने की ठानी। उसे समझ ही न आया कि इस दूभर रोटी तोड़ने में भी कोई साधना हो सकती है। कश्मीर की सैर का मंसूबा उसका पूरा हुआ कि तार से घर से रुपये माँगा, मोटर में बैठ, वह तो रवाना हो गया। मेरा हाल यह कि आगे कुछ लक्ष्य ही न था। वापिस घर जाऊँ तो करूँ क्या। आवारगी थी, इसलिए इस या उस तरह रहने में मेरे लिए फर्क न था। घर पर ही मैं कौन कोई काम करता था। बल्कि जिन्दगी बँधी और सुस्त थी। यहाँ एक नयापन तो था और महज दर्शक बने रह सको तो विपदा में से भी स्वाद ले सकते हो। तब गालियाँ तुम्हें छूती नहीं, बल्कि बोधपाठ हो जाती हैं। उनसे अपनी ही थाह में उतरने में मदद मिल सकती है। गाली जीवन में वजन दे सकती है।

अम्बुलकर की पूछिए नहीं। उसे मानो अपने लिए सोचना न था। महात्माजी से उसने अपने को अभिन्न माना तो माना, फिर प्रश्न ही उसमें न रहा। बीज ही

न हो तो अंकुर कहाँ से हो? वह हर घड़ी ताजा रहता था। कण्ठ में उसके लोच था और वह खूब गाता था। यह संगीत मानो उसे सदा उत्तीर्ण रखता। उसकी मस्ती के ऊपर कोई चीज न आ पाती। क्षण के लिए आती भी तो गाना छेड़कर, मानो उस दाँव से, बह वह फिर उसके ऊपर हो रहता। निष्काम शब्द की शास्त्र में बड़ी व्याख्या है। तत्त्व में जो बात मेरे लिए उलझ जाती, अम्बुलकर को देखकर साफ होती लगती थी। उसके लिए व्यतीत न था, न भविष्य आवश्यक था। वर्तमान में वह इतना भरपूर रहता था।

अजीब शख्स था अम्बुलकर। उसके गाने की तान ने और स्वभाव की अलमस्ती ने नाना घटनाओं को जन्म दिया है। अकसर उस निमित्त से हम अपरिचितों को सहज शरण मिल जाया करती। लोग स्वागत करते, भोजन देते और संगीत सुनते। अम्बुलकर अकसर घुटन्ना पहनता और नंगे बदन रहता। कुरता कभी ऊपर डाला तो ऐसे कि जैसे वह अलग हो, बाल सिर पर हाल कटी दूब से सपाट। कुल मिलाकर आकृति को विशेष आकर्षक कहना कठिन था। पर स्वर में जाने क्या लोच था, क्या कम्पन, कि लोग रीझे बिना न रहते। खासकर गृहिणियाँ। कभी तो मन थामना उन्हें मुश्किल हो जाता।

हो जो हो, हमने तय किया कि रसोई में बर्तनों को मैं लेता हूँ, सवेरे ही सब माँज-धो डाला करूँगा। अम्बुलकर उधर बाग-पानी सँभालेगा। तो बस तड़के ही मैं उठता और बड़े हण्डे-पतीले लादकर नल पर पहुँचता और जूझने लगता। अम्बुलकर ने बाग को शकल देनी शुरू की। ऐसे हम सवेरे दो-ढाई घण्टे बदन तोड़ते और फिर नहा-धोकर निकल जाते। म्यूजियम जाते और वहाँ मनमाना पढ़ते या घूमते।

महन्त ने यह देखा और चुप रहा। उसकी मुद्रा में अन्तर न पड़ा। दातुन लेकर वह रोज सवेरे नियम से दो घण्टे खँखारता था। वह खँखार ललकार बनकर दूर-पास गूँजा करती। साढ़े दस इंच की नीम की दातुन इस सिरे से उस सिरे तक जब तक खत्म न हो जाये उसकी खँखार का उद्घोष तब तक शान्त न होता। दन्त क्षालन की यह प्रक्रिया किंचित् मौन भाव से भी होती देखी जाती है। पर महन्त को नीरव कर्म पसन्द न था। वह प्रात:कालीन रव दिग्दिगन्तव्यापी होता, यह कहना तो न्याय्य न होगा। क्योंकि उस शोर से यहाँ दिल्ली में उस कारण किसी की निद्रा भंग हुई है, इसका प्रमाण नहीं है। पर लिखकर पाठक की कल्पना में उस घोरता को मैं कैसे लाऊँ यह मेरी समझ में नहीं आता। कुएँ की जगत पर बैठा, दातुन के सहारे खकार पर खकार भीतर से निकालता हुआ वह महन्त बड़े-बड़े बर्तन ले जाते हुए मुझे देखता और एक अक्षर न बोलता। मानो देखता तक न था। मुहल्ले भर के लोगों का नाम ले-लेकर पुकारता और उन्हें अपना

बखान सुनाता। बस, थूकता जाता और बोलता जाता और बोलता जाता और थूकता जाता!

माननना होगा, महन्त योगी पुरुष था। उसकी दृष्टि से तनिक आभास न मिला कि वह भीतर हमारे प्रति पसीज भी रहा हो सकता है। राजा को प्रजा के प्रति वात्सल्य रखकर भी दुर्गम रहना चाहिए। हम भी प्रजा ही थे और जैसे प्रभु-कर्तव्य उसे सहज सिद्ध था। पर महन्त हो या राजा हो, आदमी आदमी होता है।

सात दिन तो खिंच गये। आठवाँ दिन रहा होगा। आज बर्तन ज्यादा थे, क्योंकि पहली शाम भोज था। बर्तनों की आखिरी फेरी रसोई में रखकर लौट रहा था कि दहाड़ आयी, ''ऐ!''

मैंने मुड़कर ऊपर देखा।

''क्या देखता है, इधर आ।''

मैं बढ़कर पास गया। उसके आसन के पास स्टूल रहता था। अवश्य वह भी आदिकालीन था।

''खड़ा क्या है! बैठ।''

मैं स्टूल खींचकर जरा सा परे हटकर बैठ गया।

''दूर क्यों बैठता है! अरे मूरख, डरता है? पास आ।''

मैंने स्टूल पास किया। महन्त की आवाज का कड़कपन अब जैसे हठात् धीमा पड़ आया था। पर मानो यह अयुक्त हुआ हो। महन्त बोला, ''ऐ, क्या चुप बैठा है? समझता होगा मैं देखता नहीं हूँ। बर्तन ठीक माँजे हैं ना?''

मैं चुप रहा। स्पष्ट था कि वह अपने विरुद्ध वर्तन कर रहा था।

''अच्छा, जा के परात ला। देखें।''

मैं परात उठाकर लाया और निरीक्षण के लिए सामने की।

उसने लेने के लिए हाथ नहीं बढ़ाया और वह हँसा। उस कठिन चेहरे पर वह हँसी एकाएक बड़ी मीठी मालूम हुई।

''अच्छा, जा। ठीक है। रख आ।''

मैं परात ज्यों-की-त्यों रख आया। आकर देखा कि उसको कठिनाई हो रही है। अपनी कोमलता सहना जैसे उसे भारी हो रहा है। शब्द उससे बन नहीं रहे हैं।

''बादाम लेगा?'' मुट्ठी में छह-सात बादाम खींचकर देते हुए कहा, ''ले और ठीक काम किया कर।''

बादाम मैंने ले लिये। निश्चय ही वह मजदूरी के नहीं थे। अवश्य वे अधिक स्निग्ध एवं प्रगाढ़भाव में से आये थे। महन्त में उस समय कुछ घुल पिघल रहा था।

"क्यों रे, बताया तैने क्यों नहीं कि तू अँग्रेजी जानता है।"

क्षमा-प्रार्थना स्वरूप कहा, "जी, यों ही कुछ..."

"तो डरता क्यों है? मैं तेरी अँगरिजिया छीन नहीं लूँगा। अरे यहाँ तो काला अच्छर मच्छर नहीं भैंस बराबर है।" कहता हुआ अपनी कविता पर महन्त हँसा। फिर बोला, "सत्तो। कहता था..."

सत्तो था सद्गुरुशरण। वह सत्रह-अठारह वर्ष का सुन्दर किशोर था। एक काशी से संस्कृत विद्या सीखकर आये हुए तीस-बत्तीस वर्ष के युवक थे। दूसरा यह सत्ती था, जो संस्कृत के साथ अँग्रेजी सीखना चाहता था। वह हमारे पास उठता-बैठता और अँग्रेजी के अभ्यास में सहायता लिया करता था।

"इस साल वह इन्ट्रैन्स का इम्तिहान दे सकता है?"

मैंने कहा, "पढ़ाई ठीक से हो तो दे भी सकता है।"

महन्त ने गद्दे के नीचे से मिश्री का टुकड़ा निकाला, मुझे दिया और कहा, "तुम यह काम कर दो तो उसका भला हो। हम तो ठूँठ हैं, ठूँठ। वह आदमी बन जाए।"

मिश्री का टुकड़ा मेरे हाथ में था। मैंने महन्त को देखा। उस पर जैसे मानो बोझ आ पड़ा था। वह दबंग ही दीखना चाहता था। प्रस्तुत स्थिति में उसका दबंगपना भारी भार के नीचे आ गया था। महन्त एक प्रकृत पुरुष था। संस्कारी न होने से शिष्टता और नम्रता का प्रकाशन उससे ठीक बन नहीं रहा था। भाषा ऐसे लोगों के पास स्वतन्त्र नहीं होती, वह व्यक्तित्व से तत्सम होती है। सभ्य नागरिक जैसे मन में दुर्भाव रोककर मुँह से शिष्टाचार की भाषा का चिकना प्रयोग कर सकता है, वैसा इन लोगों के साथ सम्भव नहीं होता। कोमल या भीगे ये हो सकते हैं, उसे बोल नहीं सकते। बोल में आते-आते जैसे उन भावों को फिर कठोरता पहन लेनी पड़ती है!

मैं सहसा जवाब नहीं दे सका और महन्त को देखता रह गया।

"क्यों, करेगा?"

मैंने कहा, "जब तक हूँ सेवा के लिए उद्यत हूँ!..."

बोले, "देखो, यहाँ से अमरनाथ चलेंगे। सब लोग चलना। और फिर सितम्बर-अक्तूबर के महीने यहाँ नहीं देखे तो कुछ नहीं देखा। सर्दी बहुत होने लगे तो चले आना। तकलीफ तो नहीं है कुछ। क्यों?"

मैंने कहा, "नहीं, सब कृपा है। लेकिन हम लोगों का कुछ ठीक नहीं है।"

"ठीक क्या नहीं है? कह देना अपने महात्मा से कि अमरनाथ की यात्रा पर सबको चलना है। समझा?"

मैं समझ गया था। बात हम लोगों में हो चुकी थी और अमरनाथ जाने का

विचार स्थिर था। महन्त का यह निमन्त्रण अत: अनुकूल ही था। इससे मैं चुप रहा। विशेष प्रसन्नता जतलाना भी उचित न होगा। महन्त ने अन्त में दो साबित अखरोट निकाले और उन्हें लेकर मैं साभार बिदा हुआ।

उस स्थान पर नित्य कुछ नये साधु आते-जाते रहते थे। उनमें दो की तरफ एकदम ध्यान गया, दोनों बंगाली थे। एक साफ, चिकने और तेज मालूम होते थे। मिलनसार, हँसमुख और कुशल। कपड़े उनके हमेशा बढ़िया होते, केश स्निग्ध और कढ़े हुए। उनके दूसरे साथी जरा लम्बे थें, दुबले, आँखों पर चश्मा, कम-बोल और कुछ खुरदरे। यह दूसरे अधिकांश अपने स्थान पर दीखते, पहले अकसर अनुपस्थित। कुछ विचित्र सी जोड़ी मालूम हुई और हमको आश्चर्य हुआ।

वहाँ की भोजन-पद्धति का वर्णन आ ही गया है। क्रम वह अपरिवर्तनीय था। अर्थात्—सामने थालियों में भोजन आता कि तभी ऊपर से गालियों की बौछार शुरू हो जाती। भावना का प्रश्न न था, मानो यह तो नित्याभ्यास था। पर बंगाली नये थे, अपरिचित और बड़े निरीह जान पड़ते थे। उनका स्वास्थ्य दुर्बल था और पहले रोज किसी कारण उन्हें वमन हो गया था।

सो भोजन के समय इस बार महन्त ने उन्हें ही भीगी-लिपटी सुनानी शुरू की।

''आ जाते हैं साले कहीं से। जैसे सारी धरती मुफ्त की हो। अरे यह कश्मीर है कश्मीर। यहाँ करम का साग होता है, नसीब का भत्ता। यह नहीं कि खा के ऐड़ रहें। ऐसे यहाँ का चावल निकलेगा नहीं तो क्या होगा। कुछ जोर किये बिना यहाँ का पानी नहीं पचता। खाएगा भर-भर के, बदन से काम करेगा नहीं, तो और क्या होनेवाला है। आदमी काम का होता है। चाम का तो ढोल हैं ढोल। ढोल क्या, सीधे कहो जी, ढोर।...''

ऐसे जाने महन्त क्या-क्या बके जा रहा था।

बंगाली साधु कुछ देर तो सुनते रहे। फिर सुनते-सुनते बीच में ही वह थाली लेकर उठ खड़े हुए और बिना बोले चले आगे बढ़ लिये।

महन्त ने यह देखा। वह अपनी जगह से साधु की ओर लपका और घबराया हुआ बोला, ''यह क्या! यह क्या महाराज?''

साधु मानो रुकने को तैयार न थे। उन्होंने कहा, ''शान्ति से ही भोजन हो सकता है। नहीं तो भोजन से क्या लाभ?''

महन्त ने कहा, ''नहीं नहीं; यह नहीं हो सकता महाराज, आपको बिराजना होगा।''

साधु ने महन्त के अनुनय को व्यर्थ करते हुए एक कदम आगे बढ़ाया। कहा, ''अशान्ति के भोजन से लंघन अच्छा होता है, महन्तजी।''

महन्त ने हाथ से लकड़ी को फेंका और वह वहीं साधु के चरणों में साष्टांग गिर पड़ा। बाँहों से उसने साधु के पाँवों को घेर लिया और गिड़गिड़ा उठा, "नहीं महाराज, यह न होगा। मुझे नरक से बचाना होगा। भूखे आप मेरी लाश के ऊपर से ही जा सकते हैं, वैसे मैं नहीं जाने दूँगा।"

और उपाय न था। साधु थाली लिये लौटे और अपनी जगह आ बैठे।

इस व्याघात के बाद भोजन शुरू हुआ कि दो मिनट बाद महन्त का भी पारा ठीक जगह पर आ गया और वही गालियों का कार्यक्रम शुरू हो गया। इस बार लक्ष्य में वह बंगाली साधु न थे। मानो जनता के हर सदस्य के लाभ की दृष्टि से महन्त की गर्जनाएँ थीं। वह बंगाली साधु सुनते-सुनते थोड़ी देर बाद हँस पड़े। वह हँसी उस चेहरे पर बड़ी विरल दिखाई दी। कारण, वह चेहरा सदा अनमना और गम्भीर रहता था। हँसी सुनकर महन्त और तेजी में आ गया। जैसे उसको शाबासी मिली हो।

साधु ने धीमे से कहा, "नहीं, आपका दोष नहीं है। व्याधि का दोष है।"

यह ऐसे नहीं कहा गया कि महन्त सुने, केवल हम लोगों ने सुना और हम सब थोड़े-थोड़े हँस दिये।

ऐसे ही एक दिन भोजन के समय की ही बात है कि बिचारे गाँधी की शामत आ गयी। महन्त ने गर्जना की कि सनातन धर्म का गाँधी के समान शत्रु दूसरा नहीं है। देश और धर्म का उसने सत्यानाश करके रख दिया है, इत्यादि-इत्यादि। महन्त के शब्दों को दोहराना सम्भव नहीं है। उस ऊँचाई तक पहुँचना मुश्किल है। न उससे सनातन हिन्दू धर्म की महिमा बढ़नेवाली है। किन्तु उस समय उन बंगाली साधु ने कहा, "ठीक कहते हैं, महाराज! गाँधी ने एक करोड़ का स्वराज्य फण्ड किया था। किसे पता फिर क्या हुआ?"

आग में घी पड़ा और महन्त के मुँह में सरस्वती साक्षात् ज्वाला का रूप लेकर लहक उठी। भोजनोपरान्त अपने महात्माजी ने कहा कि महन्त तो सनकी है। उसे जुबान पर काबू नहीं है। उसका बुरा भी क्या मानना। पर यह बंगाली आदमी समझदार मालूम होता है। इसे क्या पड़ी थी कि पागल को शह दे। जाकर उसे मिलो और कहो, "बात जाँच-परख के बाद मुँह से निकालनी चाहिए। हिसाब-किताब उस फण्ड का तुमने जाँचा है कि मुँह से कुछ भी कह दिया और खासकर ऐसे बैमोके!"

मैं साधु के पास गया। वह अकेले थे। साथ के चिकने-चिपुड़े दूसरे उनके साथी दो-एक रोज से गायब दिखाई देते थे। बातचीत शुरू होने पर मालूम हुआ कि वह स्वामी स्वाधीनानन्द सरस्वती हैं। कराची व्याख्यान के लिए गये थे। वहाँ यह साथी आ मिला। मिला भक्त के रूप में था। उसने सुझाया कि आपका स्वास्थ्य

ठीक नहीं रहता, स्वामी जी, कश्मीर चलिए, वहाँ की जलवायु बड़ा लाभ करेगी। एक महीने में कायान्तर न हो जाये तो कहिएगा। सुझाव भक्ति से भीगा था और व्यक्ति परम सेवाभावी प्रतीत होता था। औरों ने भी समर्थन किया और स्वामीजी राजी हो गये। जम्मू के कॉलेज में भाषण किया और वहाँ से श्रीनगर पहुँचे। अब वह साथी सब ले-लाकर चम्पत हो गये हैं और स्वाधीनानन्द महाशय यहाँ अकेले असहाय पड़े हैं।

उन्होंने फिर हमारे बारे में पूछा।

मैंने बताया, "हम लोग प्रयोग के बीच हैं कि देखें, साधु-जीवन क्या होता है। अपने-अपने लिए रहने-कमाने का ढंग कुछ बहुत सार्थक नहीं मालूम होता। कमाई एक चिन्ता का चक्कर है। उससे अपने अस्तित्व को रखना, मजबूत करना और फैलाना लक्ष्य बन जाता है। ऐसे सार्थकता एक ओर रह जाती है और जीवन संघर्ष बन जाता है। सोचा कि जीवन वह जीकर देखना चाहिए, जहाँ स्वयं जीविका प्रश्न न हो और अस्तित्व चिन्ता का विषय न हो। वह जीवन बन्धन से हीन होगा और मुक्ति का क्या अर्थ है, इसका कुछ अनुभव आएगा।"

स्वाधीनानन्द जी कोई पचास वर्ष के प्रौढ़ व्यक्ति रहे होंगे। बदन उनका इकहरा था। विशेष उल्लेखनीय कुछ न था, नासिका अवश्य चेहरे पर अन्य अवयवों से कुछ प्रधान थी। उससे बौद्धिकता का आभास होता था। आँखें गहरी और तीखी थीं। हमारा प्रस्ताव सुनकर जैसे उनमें दया हुई, कहा कि इस प्रवंचना में कभी न पड़ना। फिर अपना इतिहास सुनाया, बताया सात-आठ वर्ष के थे कि उनको एक साधु हर ले गये। ले जाकर शिक्षाभ्यास कराया और मैट्रिक पास होने पर कहा कि चाहो तो तुम घर जा सकते हो। हम लाये तुम्हें इस आकांक्षा से थे कि भारत को अपना गौरव पुनः प्राप्त करना है। इसके लिए आवश्यक है कि कुछ युवक ऊँची से ऊँची शिक्षा पाएँ और देश-विदेश जाकर भारत की उपलब्धियों का परिचय दे। अपना जीवन वे इसी लक्ष्य में लगा दें। परिवार वे न जुटाएँ, विश्व उन्हें परिवार हो और भारत के अद्वैत दर्शन की संसार में वे प्रतिष्ठा करें। तुमसे हमारी यह अपेक्षा थी और है। लेकिन तुम चाहो तो माता-पिता के पास जा सकते हो। मैं उन्हें समझाकर कह दूँगा और वे तुम्हें सम्मानपूर्वक रखेंगे। पर मेरा घर से नाता टूट चुका था। सोचा कि अब तो उन गुरु का घर ही मेरा घर है। इससे कह दिया कि नहीं, अब घर जाकर क्या होगा? फिर उन्होंने मुझे क्रमशः दर्शनशास्त्र में एम.ए. कराया। अनन्तर उनकी व्यवस्था में अद्वैत दर्शन पर व्याख्यान देते हुए पाँच वर्ष यूरोप, अमेरिका का भ्रमण करता रहा। यानी छुटपन से अब तक साधुपने में ही मैं रहा हूँ। इससे जो कहता हूँ कल्पना न मानना। यह यथार्थ है।

मैंने बीच में ही पूछा था, "सुना है, हिमालय में बहुत ऊँचाई पर योगी

या ऋषिजन हैं जिन्हें अलौकिक ऋद्धि-सिद्धि प्राप्त हैं तो वह क्या सब छल हैं?''

बोले, ''अब तक मुझे कोई ऐसे योगी-ऋषि मिले नहीं। मिले उनमें 90-95 प्रतिशत साधु ही नहीं थे, कानून के चंगुल से भागे हुए अपराधी लोग थे। उस मोह में न रहना। कल्पित के पीछे न भागना, उन्होंने सलाह दी कि मैं पढ़ाई करूँ, यहाँ के बाद विलायत चला जाऊँ। आग्रहपूर्वक उन्होंने विलायत के दो-एक पते लिखाए और कहा कि चाहो तो छात्रवृत्ति के लिए व्यवस्था का यत्न किया जाए। वह कठिन न होगा।''

बातचीत के बाद शंकर के अद्वैत दर्शन पर यूरोप के उनके भाषणों के मैंने नोट्स लिये।

उनके सम्बन्ध में और भी जानकारियाँ पायीं। स्थान और पता उन्होंने दिया और सानुरोध निमन्त्रण भी कि कभी हो तो आकर अवश्य मिलना।

लेकिन उस समय स्वाधीनानन्द बेचारे और असहाय थे। उनका स्वास्थ्य अच्छा न था और वहाँ कोई उनका अपना न था। कुछ दिन बाद उन्हें बुखार हो आया। उस समय थोड़े-बहुत हम ही शायद उन्हें सहारा हो सके। होमियोपैथी की दवा ला देते। पथ्य की व्यवस्था कर देते। अन्त में महात्माजी ने माँग-ताँगकर कहीं से रुपये का प्रबन्ध किया और स्वाधीनानन्दजी को बस में बिठाकर जम्मू के लिए रवाना किया। उनका स्वास्थ्य तब तक सँभल न पाया था और विदा वह भीगी थी।

श्रीनगर के बाद उनसे फिर कभी भेंट नहीं हुई। लगता है कि जैसे वह कहानी ही तो न थी।

चिनार बाबा के महन्त के यहाँ हम रहते चले गये। जब तक रहे, महन्त नहीं बदले। उनका क्रम नहीं बदला। मैं अपने बर्तन निपटाता, अम्बुलकर बगीचा सहलाता था, उसके बाद हम फिर इधर-उधर निकल पाते। मैं अकसर म्यूजियम जाता जहाँ लायब्रेरी भी थी।

एक बार लौटते समय यह क्या देखता हूँ! देखता हूँ कि एक बँगले के द्वार पर बाहर मोटर कार है, पास खड़े फौजी अफसर हैं और उनसे बातें करते हुए और कोई नहीं बारामूलावाले मौनी बाबा हैं। स्लेट नहीं है और धड़ाधड़ अँग्रेजी बोल रहे हैं। बड़े व्यस्त मालूम होते हैं। मैंने उन्हें टोकना उचित न समझा। उनका ध्यान मेरी ओर गया ही न था। मैं चलता चला आया और आकर साथियों को यह नयी सूचना दी। महात्माजी बोले, ''अरे, तुम अब तक नहीं समझे थे?''

मैंने पूछा, ''क्या नहीं समझा था?''

''कि वह मौनी नहीं, खुफिया है।''

मैं अचरज में सुनता रह गया। बोले, ''मैं तो तब ही समझ गया था। देखोगे

कि वह अमरनाथ यात्रा में हमारे साथ जाएगा।''

और सचमुच मौनी बाबा यात्रादल में था। उसके साथ अब स्लेट थी और संघ में आठ-दस साधु भी दिखते थे। महन्त के दल के साथ हम भी यात्रा पर निकले। उस अमरनाथ यात्रा की बात कभी की जाएगी। अभी तो महन्त प्रकरण तक ही रहना है।

मालूम नहीं अब भी वह महन्त है कि नहीं? बत्तीस साल हो गये हैं। मैंने जानने का प्रयत्न नहीं किया। शायद हाल में कभी कश्मीर जाना हो। तब देखूँगा कि जो था उसका क्या कितना रह गया है, या क्या नया कुछ उसकी जगह हो आया है। पर महन्त उस चिनार के मठ में हों या न हों, मन में तो अभी हैं और उसी अदा के साथ हैं।

वही लाठिया, चीकट कुर्ती और लूँगी। वही जटाजूट, वही कड़कती आवाज! कोमल हृदय और कठोर तर्जना। अवश, आवेदन और सदर्प हुँकार। वह अनगढ़ प्रकृत पुरुष था। मानो पशु, किन्तु शिशु, सम्पदा का स्वामी होते हुए भी उसके पास चार-छह फीट के सूखे तखत से ज्यादा सामग्री न थी। सब काम अपना अपने हाथ से करना। भंग अपनी घोंटना, बुहारी अपनी लगाना, खाना एक बार खाना और अपने हाथों बनाना। कोई और कुछ उसे मोड़-तोड़ न सका। सभ्यता से अनजान, अदब-कायदों से लापरवाह, जैसे वह अपना तन्त्र आप हो। दृश्य मन में उठ आता है...यात्रा जा रही है। चन्दनवाड़ी का सुहावना पड़ाव है। सत्तों ने आकर कुछ शिकायत की। बस चिमटा उठा और टोली को ललकार पड़ी। टोली लेकर महन्त सीधा पहुँचा दरोगा पर। सवाल किया, ''क्यों रे, ये क्या है?''

दरोगा ने इधर-उधर किया। महन्त ने कहा, ''दरोगा, ठीक बोल।''

दरोगा दरोगापन के साथ ही पेश आया। महन्त का चिमटा उठा और उसकी खोपड़ी पर पड़ा। खोपड़ी खुल गयी। लेकिन आगे हो, सो हुआ करे। महन्त को उससे वास्ता न था। यह बाँका नमूना अब तक शेष रहा होगा, यह विश्वास नहीं है। फिर भी कश्मीर में मीराकदल के उस चिनार के पास जाकर इस बार पता ले लेना चाहता हूँ कि समय ने क्या कुछ इस बीच करके रख दिया है। क्या मिटा दिया है।

वर्ष पर वर्ष बीतते चले गये। मानो एक जीवनकाल ही बीत गया। इस बीच दुनिया में जाने कहाँ-कहाँ भटकना पड़ गया। पर कश्मीर जाना नहीं हुआ। स्वराज्य देश को मिला और कश्मीर भारत से जाते-जाते रह गया। उस समय उन सभी स्थानों की याद आयी जिनके नाम अखबार में आते थे और जहाँ हमने सामान

कन्धों पर ढोते हुए पाँव पैदल यात्रा की थी। मुज़्ज़फराबाद और उड़ी के नाम अखबार में क्या दीखते, वे जैसे खुद आँखों के सामने आ जाते थे और फिर महन्त!

ऐसे सन् '59 आ गया। काफी राजनीति की अदल-बदल हो चुकी थी और तब का जैनेन्द्र अब कुछ का कुछ हो गया था। जाने क्या-क्या फितूर दिमाग में उठते थे, अपना आपा उसके लिए बस न था। देश-दुनिया के बारे में नाहक सोचे जाने की लत भी उसे लग गयी थी। इसी सिलसिले से उसके मन में कुछ सूझ उठी, सूझ को महत्त्वपूर्ण भी उसने मान लिया। संयोग कि सर्वोदयी चिन्तक दादा धर्माधिकारी दिल्ली आ निकले। उनसे जो बातचीत हुई तो मालूम हुआ कि कल्पना एकदम व्यर्थ नहीं है और उसको लेकर आगे बढ़ना चाहिए। भारत के राष्ट्रपति राजेन्द्र बाबू थे और जवाहरलालजी प्रधानमन्त्री थे। देश के सम्बन्ध में कुछ भी सोचा जाये तो इन दोनों किनारों के सन्दर्भ से ही वह व्यवहार्य हो सकता है। तब जैनेन्द्र के मन में बन चुका था कि राज्य ही देश नहीं हैं, देश बड़ा है और यह हो सकता है कि राज्य का यन्त्र उस सम्बन्ध में उपयोगी हो सके। खैर मालूम हुआ कि विनोबा से बात करनी चाहिए। वह राज्य के यन्त्र के अंग नहीं हैं, पर राजकीय पुरुषों के विश्वासपात्र अवश्य हैं। देश के विश्वसनीय सेवक और मार्गदर्शक तो हैं ही।

विनोबा की पद-यात्राएँ चल रही थीं। देश की परिक्रमा हो चुकी थी और वह कश्मीर से उतर रहे थे। उनसे मिलना हो तो जम्मू मिलना सुविधा का होगा। और बस जम्मू के लिए हम तीनों चल निकले। दादा के अलावा साथ तत्वज्ञ विमला ठक्कार भी थी।

क्या मालूम था कि जम्मू श्रीनगर का द्वार ही खोल देगा। पर निकलने पर मालूम हुआ कि दोनों साथियों का जम्मू से कश्मीर जाने का कार्यक्रम है। पहले सन् '27 में भी संगसाथ के उपक्रम से कश्मीर जाना मिला था। इस बार भी ऐसा ही हुआ।

जम्मू में विनोबा भावे से मिलना हुआ और चार-एक दिन साथ रहा। हम भी उनके साथ सवेरे अँधेरे ही पैदल निकल पड़ते और पाँच-सात मील जाकर डेरों में टिक जाते। यात्रा यह अजब ही थी, बरसात के दिन थे और वर्षा हमारी सहमति-अनुमति की प्रतीक्षा न करती, राह-बेराह भी चलना हो जाता था, सड़क-सड़क चलते तो भी बचाव था, पर कहीं तो पगडण्डी ही नदारद होती। नीचे पत्थर, ऊपर बारिश और राह-कुराह हम चले जा रहे हैं! कुछ यह बहुत सुखद अनुभव तो न था। पर अप्रसन्नता भी चेहरे पर न लायी जा सकती थी। बाबा के परिवार में कोमल वय की सम्भ्रान्त महिलाएँ भी थीं। उन पर हर परिस्थिति

में उल्लास खिला दिखायी देता था। और विनोबा की अदम्यता का तो कहना क्या। प्रकृति की अकृपा के रूप में भी उन्हें तो परमेश्वर की कृपा ही दीखती थी। ऐसे पुरुष के प्रति क्या ईर्ष्या की जाये जो सब कुछ में परमेश्वर का हाथ देख लेता है। परमेश्वर के संकेत पर जो अपना सब करता है उसके साथ निरे हम जैसे आदमी भी कैसे कोरे रह सकते हैं, उनको भी दिव्य और अलौकिक हो जाना पड़ता है।

बात हुई। आज हुई, कल हुई, परसों हुई। चारों रोज होती चली गयी। धुन्नता, कतता और फिर मानो लौटकर सब वही रुई का रुई बन जाता। पाँचवें रोज अकृतार्थता अनुभव हुई और देश की चिन्ता का बोझ हमसे छूटा। सच में तो यह एक कृतार्थता ही थी और श्रीनगर के हवाई अड्डे पर हम उतरे तो कोई मिशन हम पर लदा न था और हम एकदम हल्के थे।

मैं आँखें फाड़-फाड़कर देखना चाहता था कि यही कश्मीर है न जो 32-33 वर्ष पहले छोड़ा था। तब श्रीनगर पहुँचने का पहला दिन याद आया, 17 मील पाँव-पाँव चलते शाम अँधेरे श्रीनगर के किनारे आ करके लगे थे। ठिकाना न था कि कहाँ ठौर मिलेगी। धर्मशाला के बरामदे में हारे-थके जा फैले थे और सोचने लगे थे कि क्या करना चाहिए। कारण लगातार 17 मील की चलाचली में थकान के साथ भूख लग आयी थी, पर भूख को शान्त करने का आसपास कोई उपाय न दीखता था। शायद पिछले पड़ाव पर माँग-ताँग की जो पैसे पाये गये थे, उनमें से दो-चार बच गये हो और सच ही सात पैसे बचे-कुचे निकल आये। मालूम हुआ कि उन्हीं से जो मिले पाकर चैन की नींद सो जाना होगा। अन्यथा हिम्मत कर सकें तो सीधे इन्तजाम किया जा सकता है, खिचड़ी राधने को हम तैयार हो जाए। याद किया कि राधने-रुदने की जहमत हमसे न हो सकी थी और भुने मटर टूँगकर हम शान्त भाव से उसी बरामदे में कम्बल लेकर सो गये थे।

कश्मीर का यह दूसरा प्रवेश था और कार तैयार थी।

बहुत आराम के साथ ठहरे और ठहराए गये। खूब घूमे और घूमाये गये। देखने योग्य सब कुछ देखा। थोड़ा कुछ मालटाल भी खरीदा गया। फुरसत ही न मिल पाती थी। आज यहाँ है, कल वहाँ अब कुछ है, तब और कुछ। इस भाँति श्रीनगर के चार रोज फुर्र में उड़ गये। मेजबान खातिर में रहते थे और नौकर-चाकर की कमी न थीं। बात यह कि जैनेन्द्र की तो क्या कहिए, पर साथी दोनों देश सेवक और तत्त्वचिन्तक थे। उनके जैसा प्रवचनकार तो ढूँढ़े मिलना मुश्किल है। अतिथि उनकी गरिमा के अनुकूल थे, एक मैं जैनेन्द्र बस रूँगे में था।

मुझे नित्य याद आती। चिनार बाबा के मठ की और महन्त की, पर श्रीनगर का रूप बदल गया था। व्यस्तता में समय भी न मिल पाता था। यह दिन उन

दिनों की याद दिलाते। दूरी के कारण शायद हो, पर इन दिनों पर से वह पुराने दिन बहुत ही रमणीय जान पड़ते थे। जैनेन्द्र उन दिनों महन्त के रसोड़े के बड़े-बड़े हाण्डे कुण्डे लेकर सवेरे ही पाँच बजे नल पर पहुँचता और घिस-घिसकर उन्हें माँजने-धोने में लग जाता था। साथ परात थाल भी हुआ करते थे। इस सब काम में दो घण्टे तो लग जाते ही होंगे। तब कुछ कसाला मालूम हुआ हो तो होता होगा। पर अब 33 वर्ष बाद आकर वही दूर से अत्यन्त मनोरम बन गया था। जी में बेहद चाहत होती थी कि जाकर वह स्थान देखे और उस व्यतीत को प्रत्यक्ष कर डाले। पर मन की मन में रहती गयी और रात को सोते समय मालूम हुआ कि अगला दिन चल देने का है, अन्तिम वही है, फिर जाने श्रीनगर के दर्शन भाग्य में बदे हो कि नहीं।

परिणाम, मैं सवेरे ही उठा और बिना जताये-बताये चुपचाप बाहर निकल गया। ब्रेकफास्ट के साथ तक वापिस आ ही जाऊँगा और किसी को जानने की आवश्यकता न होगी। अनुमान के सहारे मैं झेलम के किनारे-किनारे चला और एक बिन्दु पर नीचे उतर गया। लेकिन जहाँ चिनार बाबा की जगह हो सकती थी वहाँ तो उसके कुछ आसार ही नजर नहीं आते हैं। जगह तो यही होनी चाहिए। पर दोनों तरफ दुकानें हैं और ऊँचे-ऊँचे मकान। खासा बाजार है। तब तो एक भी घर न था। बस खुला था और इधर-उधर लॉन थे। यह जरूर इधर यही होना चाहिए। पर वहाँ तो दीवार है और द्वार है। मैंने फिर इधर-उधर देखा, कितना भी रूप बदल गया हो, जगह अवश्य यही हैं, कुआँ नहीं है तो क्या जगह अवश्य वही हैं। इस तरह निश्चय और साहस बाँधकर मैंने द्वार ठेला और अन्दर चलता चला गया, दाहिने हाथ तिमंजिली इमारत खड़ी थी। मैं उसको तिरोधान करके वहाँ नीचे छप्पर की फूस की कुटिया देखना चाहने लगा।

पूछा, ''महन्त जी यहीं रहते हैं।''

दीखने में साधुत्व के एक उम्मीदवार सज्जन जो तनिक दूर थे उनसे मैंने यह पूछा। उन्होंने मुझे देखा, कहा, ''हाँ और वह अपनी राह बढ़ गये।''

''कहाँ होंगे?''

सज्जन को शायद अच्छा न लगा और अँगुली से दिखाते हुए कहा, ''उस जीने से चले जाओ।''

सबसे ऊपर तीसरी मंजिल पर?

जल्दी में 'हाँ' कहते हुए वह अपना छुटकारा ले गये और मैं चढ़ते हुए ऊपर आया। बरामदे में कोई दीखा नहीं। तो भी भिड़े हुए दरवाजे को जो सबसे पहिले पड़ता था खोलकर मैंने अन्दर कदम रखा।

एक अत्यन्त भव्य आकृति नजर आयी। चेहरा उनका छँटी, दाढ़ी-मूँछ से

मण्डित था। केश छितरे हुए थे और अधिकांश श्वेत थे। दाढ़ी भी खिचड़ी थी। ललाट प्रशस्त और चेहरा प्रभावशाली था। वह अकेले थे और तख्त पर बैठे थे। मैं धीमे-धीमे उनकी ओर बढ़ा और उन्होंने सहसा मुझे देखा।

उस क्षण मैं पहिचान गया। उस भव्य और सौम्य आकृति के पीछे मुझे वह किशोर याद आ गये जो महन्त के छोटे शिष्य कहलाते थे और जिनको अभी-तभी अँग्रेजी बता दिया करने का काम महन्त ने हमें सौंपा था।

''कहिए,''

मैंने कहा कुछ नहीं और खड़ा रह गया।

''बैठिए।''

बैठा नहीं और खड़े ही खड़े कहा, ''आपने पहिचाना?''

उन्होंने मुझे ऊपर से नीचे और नीचे से ऊपर दो-एक बार देखा और मालूम हुआ कि पहिचान नहीं सके हैं। वह सम्भव भी न हो सकता था। 33 वर्ष थोड़े नहीं होते। फिर सब सन्दर्भ अनुपस्थित था।

और तब मैंने याद दिलाई। धीरे-धीरे करके वह 33 वर्ष पीछे चलकर वहाँ पहुँच सके, जहाँ हम लोगों का संयोग हुआ था। उन्हें बहुत अद्‌भुत मालूम हुआ। निश्चय ही अच्छा भी लगा। चेहरे पर स्मित आ गया। बोले, ''बहुत दिन हो गये।''

''हाँ, बहुत दिन हो गये।''

पूछा, ''महात्माजी कहाँ हैं?''

''नागपुर हैं।''

''और वह?''

''अम्बुलकर?''

''हाँ वही।''

''वह भी नागपुर ही।''

उनकी मुसकराहट और विशद हुई, पूछा, ''आपने कुछ लिखा था?''

''मैं कुछ समझा नहीं।''

बोले, ''लोगों ने बताया था, धर्मयुग में कुछ निकला था।''

''ओ हाँ, कुछ लिखा तो था।''

''आप-आप कहाँ हैं?''

''वहीं दिल्ली। महन्तजी?''

''वह तो गये। पाकिस्तान की तरफ से लोग आये थे न? तब वह बीमार थे। आप जानते हैं, हवाई अड्डे तक लोग आ गये थे। फिर पीछे हट गये, तभी महन्तजी का देहान्त हो गया।''

मैं बीच में घड़ी देख लेता था। ब्रेकफास्ट पर मुझे वापिस पहुँच जाना था। ''नहीं नहीं, आप जा नहीं सकेंगे अभी।''

''आज ही हम लोग चले जाएँगे।''

''आज?''

''और मुझे अभी पहुँचना होगा। बिना कहे निकल आया हूँ। आपके बड़े गुरु भाई?''

उनका चेहरा कुछ क्लान्त हो आया। बोले, ''वह बहुत बीमार हैं, एकदम अशक्त हो गये हैं। बराबर के कमरे में हैं। देखेंगे? लेकिन कष्ट होगा।''

मुझे उन सुन्दर भरे-पूरे युवक की याद आयी जो काशी से संस्कृत का अध्ययन करके लौटे थे और उत्तराधिकारी थे।

''देखना चाहें तो—'' कहते हुए वह अपने आसन से उठने को हुए। मैंने कहा, ''जाने दीजिए।''

उन्होंने पूछकर जाना कि मैं श्रीनगर कब पहुँचा। कौन साथ हैं, कहाँ ठहरा हूँ और अनुरोध किया कि अपने साथियों को लेकर यदि जाने से पहले एक बार फिर आ सकूँ तो उन्हें आनन्द होगा।

मैंने कहा कि मैं कोशिश करूँगा। उन्होंने कहा, ''अवश्य आइएगा।''

मैंने विश्वास दिलाया कि अच्छा, हम लोग होते जाएँगे।

जो तब किशोर थे अब महन्त थे। अँग्रेजी सीखने की बात के लिए कहीं अब अवकाश न था। बल्कि वह गुरु थे और मैं संसारी था। उनकी सारी मुस्कान में भव्यता और संस्कारिता थी। वह अपने स्थान से उठे, कहा, ''आइए।''

और सचमुच मालूम हुआ कि 33 वर्ष बीच में से शून्य हो गये हैं। चलकर बराबर के दरवाजे को उन्होंने धीमे से खोला, भीतर शैय्या पर संक्षिप्त से स्थान में कपड़ों से लिपटी एक आकृति पड़ी थी। आकृति क्या कपड़ों की गठरी ही कहना चाहिए।

महन्त स्तब्ध भाव से दरवाजे के बाहर खड़े रहे। मैं भी चुपचाप पास ही बना रह गया। कुछ देर मूक से अवसन्न खड़े रहकर उन्होंने कहा, ''सुन नहीं सकते, बोल नहीं सकते। सुध ही नही है...चलिएगा।''

उनके मन के भाव मैं समझ सका और तत्क्षण मुड़ लिया।

जीने तक साथ गये, बोले, ''आइएगा, जरूर आइएगा। साथियों को लाइएगा।'' मैंने कहा, ''अच्छा।'' मेरा विचार और विश्वास था कि आ सकूँगा और ला भी सकूँगा।

घर जाकर दादा और विमला को मैंने कथा सुनाई और कहा कि चलना है, मान दोनों ने ही लिया कि चलना है और वह नहीं हो पाया—नहीं हो पाया, यही

बहुत हुआ कि समय पर पहुँच गये और सामान लद-लदा सका। महन्त ने राह देखी होगी पर हम एकदम उड़ आये।

इसको भी अब वर्षोंवर्ष हो गये हैं। कहते हैं, कश्मीर की स्थिति बिगड़ी ही है। बीच में एक आक्रमण झेला जा चुका है, और भी काण्ड हुए हैं। मालूम नहीं अब कब जाना मिलेगा। और क्या देखने को मिलेगा। गुरु भाई रहे होंगे! क्या रहे होंगे? महन्त के साथ क्या बीता होगा और मन पर क्या बीत रहा होगा। सोचता हूँ, कश्मीर की समस्या है और समस्या को लेकर बड़े-बड़े लोग व्यस्त हैं। बड़े लोगों के व्यस्त होने से समस्याएँ भी बड़ी हो जाती हैं। लेकिन मैं कश्मीर की समस्या में व्यस्त नहीं हो पाता हूँ और महन्त के बारे में सोचता रह जाता हूँ। एक महन्त जिनकी कथा है, दूसरे जो कब आये और कब गये पता न चला, तीसरे जो किशोर रूप के अन्तर एक साथ गुरु रूप में मिले। कश्मीर समस्या क्या एक राजनीतिक ही है?

लेकिन कश्मीर मैं गया तो समस्या को देखूँ या न देखूँ महन्त को जरूर देख और मिल लूँगा।

□

विहंगावलोकन

निराशा में लिपटा दशक

एक दशक बीत गया और नया दशक शुरू हो गया है। बीते हुए काल खण्ड की क्या उपलब्धियाँ हैं, नये दशक के लिए क्या आशा-आकांक्षाएँ हैं, इसकी चर्चा चल रही है। लेकिन मैं समय को दशक में विभाजित नहीं कर पाता हूँ। विकास या परिवर्तन ठीक दशकों के हिसाब से होता नहीं दीखता है।

भारत में नया वर्ष, नया दशक चुनाव की धूमधाम से शुरू हो रहा है। चुनाव की धूम के साथ धुँआ अधिक दिखायी देता है। चुनाव का अवसर लोक शिक्षण के लिए मूल्यवान माना जाता है, परन्तु दलों का प्रचार एक-दूसरे के खिलाफ जैसा हुआ, उससे लोक शिक्षण नहीं, लोक विभ्रम ही अधिक उत्पन्न हो गया है।

ऐसी स्थिति में इस वर्ष से शुरू होने वाले दशक के सम्बन्ध में आशा नहीं हो पाती है कि राजनीतिक स्तर पर कुछ स्थिरता का अथवा शान्ति का लाभ देश को हो सकेगा और इस नाते रचनात्मक कार्यों के विषय में यथेष्ट उन्नति हो पाएगी। उत्पादन बड़े उद्योगों द्वारा ही होगा अथवा कि कुटीर या कृषि उद्योग का लाभ बढ़ेगा, ऐसे अनुमान के लिए स्थान नहीं है। राजनीतिक परिस्थितियाँ अस्थिरता देंगी और इस कारण असम्भव नहीं है कि वैमनस्य, जातीय, साम्प्रदायिक, प्रादेशिक, भाषाई विवाद बढ़ते हुए नहीं दीखें। कुल मिलाकर संकेत शुभ नहीं है।

आजकल आत्म-व्यवस्था, आत्मानुशासन की बात आध्यात्मिक समझ ली जाती है। किन्तु वही जब और न्यायिक मानी जाएगी, तभी सम्भव हो सकेगा कि लोक-शक्ति जैसी चीज हृदय में आये। अभी तो बेरोजगारी है, श्रमदाताओं के सामने सुरक्षा का प्रश्न है। इसलिए सबसे बड़ा सवाल आदमी के सामने आर्थिक हो जाता है, जो मूलतः राजनीतिक ही है। अगर हम चाहते हैं कि राजनीति हावी न रहे, बल्कि अपने उचित और सीमित स्थान पर आ जाए तो अपनी अर्थ-व्यवस्था में मूलभूत अन्तर लाने के लिए तैयार होना पड़ेगा।

गाँधीजी का कहना था—बड़े पैमाने पर उत्पादन (मास प्रोडक्शन) नहीं,

जनसमूह द्वारा उत्पादन (प्रोडक्शन बाई मासेज) होना चाहिए। जन समूह द्वारा उत्पादन की यह नयी धारणा यदि कार्यान्वित की जाए तो राजशक्ति के सामने सचमुच एक पूरक, बल्कि अधिक बलवती लोकशक्ति पैदा हो सकती है। परन्तु लोगों के हाथ खाली हों, या उन्हें पूँजी के लिए बैंकों का मुँह ताकते रहना पड़े, तो इस पद्धति से राजशक्ति ही अमोघ और सर्वोपरि शक्ति बनी रहेगी और होती जाएगी। फिर मनुष्य चाहे नेताजी को कितना ही कोसता रहे, भाग्य उनका उन्हीं नेताओं के हाथ में रहेगा।

कहा जाता है कि जनसमूह द्वारा उत्पादन की पद्धति कम्युनिस्ट देशों—सोवियत संघ, चीन आदि में भी चल रही है। लेकिन अब वहाँ भी सत्ताधारियों का ऐसा वर्ग पनप गया है, जो सुविधा भोगी है, श्रमदाता पर हावी है। चीन में भयंकर गरीबी है, रूमानिया में हजारों कोयला श्रमिक अपने अधिकारों की माँग करने के कारण जेलों में बन्द हैं। ऐसी स्थिति में गाँधीजी की जनसमूह द्वारा उत्पादन की धारणा कितनी व्यावहारिक हो पाएगी?

खादी अब निर्जीव

मैं मानता हूँ कि जनसमूह द्वारा उत्पादन का माध्यम यदि सरकारी अथवा दलीय तन्त्र का ही रहता है तो अवश्य ही अभीष्ट परिणाम नहीं आएगा। चीन मैं 1956 के बाद गया नहीं हूँ। उस समय माओत्से तुंग जीवित थे। माओ का भी गाँधीजी के समान ध्यान जनसाधारण की ओर था और शहरीयत का ज्यादा पनपना उन्हें रास नहीं था। लेकिन एक बड़ा अन्तर यह है कि राज्य के तन्त्र अथवा हिंसा के तन्त्र का उपयोग इस काम में लेने में उन्हें आपत्ति नहीं थी। गाँधीजी इस बारे में सावधान थे। इसलिए इस जनसमूह द्वारा उत्पादन के विचार को देश में उन्होंने चरखा संघ, तालिमी संघ, हरिजन सेवक संघ, आदि-आदि रचनात्मक संस्थाओं का सत्ता-निरपेक्ष निर्माण किया था। ये रचनात्मक संस्थाएँ गाँधीजी के बाद निर्जीव बनती चली गयीं, क्योंकि उन्हें प्राण-बल के अभाव में उत्तरोत्तर अर्थापेक्षी बन जाना पड़ा—चरखा-खादी उस ग्रामोद्योग संघ के आधीन आ गये जो स्वयं सरकारी अनुदानों के बल पर चल पाता था, और चल पाता है। इसलिए वह रचनात्मकता तेजस्वी नहीं हो सकी और अन्ततः राजशक्ति की अपनी ओर से और पुष्टि देने के काम की ही रह गयी।

यह स्थिति बदलने के लिए इस रचनात्मकता को राजशक्ति के चंगुल से मुक्त करने का तरीका सोचना होगा। अन्तःप्राण के अभाव में अनुदान की अपेक्षा हो ही जाती है। गाँधीजी के बाद जब जयप्रकाश नारायण संघर्ष को लेकर राजनीति में उतरे तो सहसा मालूम हुआ कि रचनात्मक कार्यकर्ताओं में भी दम-सा आ गया

है। यानी प्राणों की पूँजी की सृष्टि असत्य और अन्याय से लड़ने की तैयारी में से हो पाएगी। गाँधीजी रचनात्मक संस्थाओं को युद्ध में नहीं पड़ने देते थे, लेकिन अपनी ओर से सत्य का आग्रह रखने में कभी पीछे हटते नहीं थे। परिणाम यह आता था कि रचनात्मकता शक्ति के साथ जुड़ी रहती थी, यथास्थिति का समर्थन नहीं करती थी। तब यह सिर्फ राहत का काम नहीं था, जो कि दान-दया से चला करता है, तब वह साहस का काम था और उसके लिए बलिदानी व्यक्ति की आवश्यकता होती थी। अव तो खादी सिर्फ वह कपड़ा है, जिसे बनाने में काम आने वाले श्रमदाता मजदूर हैं और वो भी अल्पवेतन भोगी। ऐसी खादी से लोकशक्ति कैसे आएगी?

मानवीयता सिर्फ कविता में

अब यह सवाल रह जाता है—पूँजी कहाँ से आएगी? दूसरा यह भी कि मनुष्य का श्रम अल्पोत्पादक है, मशीन एकदम जल्दी और बहुत पैदा करती है। इसलिए मनुष्य को मशीन से हर हालत में हारना पड़ेगा। सचमुच यह हार, यह देश भोग रहा है और सब देश भी भोग रहे हैं। पूँजी भी वहीं उपजती और केन्द्रित हुई मालूम होती है जहाँ यान्त्रिक उद्योगीकरण के केन्द्र हैं। इस तरह जान पड़ने लगता है कि राजशक्ति और राजनीतिक चिन्तन ही लोक समर्थन प्राप्त करता रहेगा। बाकी मानवीयता की बातें कविता के लिए और आदर्शवाद के लिए रह जाएँगी।

मैं जानता हूँ कि सचमुच यही होगा और होता रहेगा यदि गाँधीजी के समान मानवता और नैतिकता का नाम लेने वाले लोग मानव-मात्र की सुख-दुःख की समस्याओं को लेकर, अपने ऊपर खतरा मोल लेकर जूझेंगे नहीं।

सिद्धान्त नहीं चलता है, क्योंकि चलने के लिए उसके पास पैर नहीं है। चलता तब है जब पैर रखने वाला आदमी मन के भीतर उसकी निष्ठा रखकर चलने को उद्यत होता है। ऐसा होगा तो हम देखेंगे कि पूँजी विवश हुई पड़ी है और श्रम स्वाधीन है।

तो आदर्श मूल्यों की थाती में अपने जीवन-प्राणों की आहुति देने वाले उतरें—तब ऐसी लोकशक्ति उपजेगी जिसे राजशक्ति अथवा शस्त्रशक्ति से आतंकित होने की आवश्यकता नहीं रह जाएगी।

उन्नति के ढंग में चूक

असल में लगता यह है कि देश उधार बुद्धि से चल रहा है। अमरीका सबसे शक्तिशाली देश माना जाता है। उसकी क्या हालत है? ईरान से वह परेशान है। उसका डालर कितना गिरा है? प्रतीत हो गया है कि उसकी इकोनोमी (अर्थ-

व्यवस्था) भी स्वाधीन नहीं थी और न है। अर्थात जिस ढंग से उन्नति हो रही है और की जा रही है, उसमें कही चूक है।

हमने मान लिया कि हमें स्वराज गाँधीजी ने दिखाया। लेकिन इस बँटे हुए राजनीतिक स्वराज को तो स्वयं उन्होंने भी स्वराज नहीं माना। उनके स्वराज की कल्पना दलीय पार्लियामेन्टरी पद्धति तक रुकी नहीं थी।

'लोक' पर 'तन्त्र' की जकड़

हम जाने किसकी नकल में यह मान बैठे हैं कि चुनाव हुआ, चुने हुए लोगों से पार्लियामेन्ट बन गयी, बहुमत वाले दल में से सरकार बन गयी और बस हो गया विधिवत ढंग से तैयार लोकतन्त्र! लोकतन्त्र के इस भ्रम से चिपटे रहना चाहें तो रहिए, परन्तु देखिएगा कि यह तन्त्र वह है जिसकी जकड़ में लोक सिसक रहा है।

मैं मानता हूँ कि भारत देश, जो सहस्रों वर्षों से राष्ट्र के रूप में जीवन्त रहा। वह मात्र राजनीतिक नहीं था। उसकी अजस्रता और अखण्डता के मूल में राष्ट्र की सांस्कृतिक प्रकल्पना थी। अब तो राष्ट्रवाद एक नितान्त राज्यवाद बन गया है। ऐसे राज्यों से जो दुनिया बनेगी उसके भाग्य में यही तो होगा कि वह शस्त्र के बल पर जिये, हरेक को अपनी सुरक्षा की पड़ेगी और शस्त्रास्त्र का संभार बढ़ाते जाना उसे परमावश्यक प्रतीत होगा। प्रतिस्पर्द्धा मूलक समाज और जगत की यह धारणा कब तक टिकेगी? आणविक प्रलय ही क्या स्थिति में सुधार लाएगा? अथवा मनुष्य की सूझबूझ में से ही कुछ उपचार निकलेगा? मैं मानता हूँ कि भारत देश को गाँधीजी इसी आसन्न आणविक प्रलय के उत्तरस्वरूप विकसित होता हुआ देखना चाहते थे। उन्होंने कल्पना दी थी एक अहिंसक समाज की—उस आधार पर खड़ा लोकतन्त्र सचमुच वह तन्त्र होगा जिसमें शासन-प्रशासन मात्र उपकरण होगा और लोक स्वयं शासक होगा।

जनपदीय स्वावलम्बन

लेकिन भारत में राजनेताओं को जैसे-तैसे चुनकर सत्ता पर आने की होड़ में बुनियादी प्रश्नों पर सोचने का अवकाश ही नहीं रह गया है और जो व्यस्तता से बचे-खुचे सोचने वाले लोग हैं भी, वे तार्किकता में ऐसे लिप्त हैं कि शब्द से आगे कर्म में उनकी गति ही नहीं है। तब अगले दशक के बारे में आशान्वित होने का कारण कहाँ है?

सांस्कृतिक प्रकल्पना के सन्दर्भ में यह सही है कि हमारे यहाँ जातियाँ स्वावलम्बी थीं। उनके मामले अपनी पंचायतो में सुलटा लिए जाते थे। इस प्रकार

बहुत अंश में समाज सत्ता-निरपेक्ष भाव से चल सकती थी। अब स्थितियाँ उत्तरोत्तर जटिल होती जा रही हैं। आवागमन बढ़ गया है, संचरण द्रुत हो गया है और लोक दुनिया में आसपास आ गये हैं। इसलिए जातीय इकाइयाँ टिक नहीं सकती हैं और पैसा अभिनिवेश अगर है भी तो जीर्ण हुआ पड़ा है। आज वहाँ विशेष शेष नहीं है।

सम्प्रदायों को भी सम्पूर्ण इकाई मानकर चलने में खतरा है—मुसलमान मस्जिद में, ईसाई गिरजाघर में, हिन्दू मन्दिर में, सिख गुरुद्वारे में बन्द होकर नहीं रह सकता है, रहना होता है उसे जनपद में।

इसलिए अब स्वावलम्बन की बात सोची जाए तो उसे जनपद की भाषा में सोचना होगा। अर्थात स्वावलम्बन केवल भाषिक और धार्मिक ही नहीं, आर्थिक भी उसे होना होगा। तब जातीय, साम्प्रदायिक अथवा धार्मिक विषमताएँ गौण पड़ जाएँगी और जनपदीय एकात्मकता उनका स्थान ले लेगी। जयप्रकाश नारायण ने पंचायती राज की बात उठायी थी। वर्तमान परिस्थितियों में वह बात निष्फल सिद्ध हुई और होने वाली है। कारण, आर्थिक संरचना को ज्यों की त्यों रहने देकर स्वावलम्बी पंचायत सत्ता-निरपेक्ष नहीं हो सकेगी और उसके मूल में आधारभूत मूल्य राजनीति ही होगा।

केवल विकेन्द्रीकरण नहीं

सत्ता के विकेन्द्रीकरण का शब्द गाँधीजी से ही मिला था—स्वावलम्बी गाँव की कल्पना में वह आशय प्रयुक्त दीखता भी है। लेकिन अगर गाँव स्वायत्त इकाइयों का रूप ले लेते हैं तो फिर उनके बीच सम्बन्धों का निर्माण और नियमन किस प्रकार होगा? इसलिए प्रबुद्ध लोगों को लगा कि यह पीछे (बैक टू विलेज) ले जानेवाला कदम है। मैं स्वयं मानता हूँ कि यदि मात्र विकेन्द्रीकरण हो, तो यह गलत होगा। इसको मैं इतिहास का, सभ्यता का विकास मानता हूँ कि हम राष्ट्र की इकाई तक उठ आए हैं—आगे राष्ट्रमण्डल और संयुक्त राष्ट्र संघ तक भी आ सके हैं। ऐसा विकेन्द्रीकरण कभी अभीष्ट नहीं हो सकता है जो इस उपलब्धि से हमें पीछे ले जाए। इसलिए उस विकेन्द्रीकरण को ही सही और उचित माना जा सकता है जिसका स्वरूप मात्र कार्यकारी हो। किन्तु उसके साथ हो आधिकारिक से उल्टे नैतिक केन्द्रीकरण की भी आवश्यकता है अन्यथा वह केवल बिखराव होगा। क्या हम कल्पना कर सकते हैं उस शरीर की जिसके भीतर आत्मा रह नहीं गयी है?

मुझे संयुक्त राष्ट्र संघ की याद ताजा है। मैंने देखा कि राष्ट्र-संघ का शरीर बहुत-बहुत बड़ा है। मेरे जैसे हजारों प्रतिनिधि वहाँ पहुँचे हुए हैं और जाने कितने

हजार स्थायी कार्यकर्ता भी हैं। लेकिन उस शरीर के भीतर कोई अपनी आत्मा नहीं है...रूसी और अमरीकी दो महादलों और महाबलो की आपसी स्पर्द्धा का वह क्रीड़ा-क्षेत्र है और इस समीकरण से निरपेक्ष अपना कोई नैतिक प्रभाव नहीं है।

मनुष्य जाति का अन्तःकरण जग सकता है और मूर्त रूप पा सकता है और आज भी उस चीज का अस्तित्त्व है जिसे विश्वमत कहा जा सकता है। उसके प्रभाव को सब स्वीकार भी करते हैं, यद्यपि, समाचारपत्रों के, भाषाओं के, नेताओं के शब्दों के अम्बार के बीच ठीक पता चल नहीं पाता है कि विश्व का वह लोकमत क्या है...? किन्तु स्वीकार करना होगा कि वह है।

यहाँ फिर उस गाँधी की याद आती है जिसने कहा था कि असत्य को छोड़ो, स्वार्थ को छोड़ो, अपने भीतर प्रभु को बसाओ, सबके सेवक बनो। मनुष्य मात्र को सत्य मानो। सत्य को न छोड़ो, चाहे उसके लिए मर मिटना ही क्यों न पड़े। अपने में पवित्र बनो। कर्ता के रूप में कुछ न करो, जो कुछ करो वह प्रभु का निमित्त बनकर करो। देने को ही अपना परम पुरुषार्थ, कर्तव्य मानो।

याद में आने वाला यह गाँधी कोई राजनीतिक नेता नहीं, बल्कि एकदम नितान्त और निरीह बन गया वह आत्मा है जिसे दुनिया महात्मा कहने को लाचार है।

वस्तुतः इस मनुष्य में ही देवता छिपा है, उसे उजागर करने की जरूरत है।

□

धर्महीन कर्म की विडम्बना

आकाश में उड़ते-उड़ते अगर धरती पर निगाह जाए तो यहाँ के ऊँच-नीच, छोटे-बड़े का भेद गायब दीखेगा। परिदृश्य विस्तार पाएगा। दुनिया हम तक सिमटी नहीं रह जाएगी और यह हमारे कामकाजी स्वार्थों से उत्तीर्ण दीखेगी। यों तो तन की आवश्यकता धरती से हमें जुड़ा रखती है। हम कल्पना के आकाश में उड़ भले लें, रहना धरती पर ही होता है। पर स्वार्थों के संघर्ष के बीच अगर समाधान की आवश्यकता हो तो स्वार्थ से उठकर परमार्थ के सन्दर्भ का ध्यान कर लेना उपयोगी होगा, यह विहंगावलोकन इसलिए स्व-निरपेक्ष रहेगा और पक्ष-प्रतिपक्ष से तटस्थ न्याय और सत्य को पाने की कोशिश करेगा।

विश्व बड़े विकट संकट की घड़ी में से गुजर रहा है। सभी राष्ट्र अपनी सुरक्षा के विचार में उत्तरोत्तर शस्त्र-सन्नद्ध होने की आवश्यकता अनुभव करते हैं। महाशक्तियों के शस्त्रागारों की संहारक शक्ति का तो ठिकाना क्या? सन्धियाँ होती हैं, कोशिशें होती हैं, पर होड़ बन्द नहीं होती। महाशक्तियों के प्रभाव-सन्तुलन में कब विचलन आ जाए, कहा नहीं जा सकता। नये-नये गठजोड़ उत्पन्न हो रहे हैं। कल्पना थी कि गुट-निरपेक्ष-राष्ट्र मिलकर एक नया बल खड़ा कर सकेंगे और आणविक शस्त्र-संग्रह से उत्पन्न भय से त्राण मिलेगा। पर वह गतिविधि मन्द है और संशय हो निकला है कि क्या यह यथार्थ में गुट निरपेक्ष है भी? चीन ने प्रक्षेपास्त्र का सफल प्रयोग किया है जिसकी मार दुनिया के दूसरे कोने तक पहुँच सकती है।

विस्फोट का इन्तजार

खबर है कि फ्रांस न्यूट्रन बम तैयार कर रहा है। कहते हैं पर्शियन गल्फ पर सब की निगाह है। इधर अफगानिस्तान में रूस बढ़ रहा है, उधर दियेगोगार्शिया में अमरीका की फौजें उतर रही हैं। धधक बढ़ रही है, और कब ज्वालामुखी फूटे, इसकी राह-भर देखी जा सकती है, माने विशेष कुछ किया नहीं जा सकता है।

इस स्थिति की ओर पिछली दो सदियों से दानवता बढ़ती चली आयी है और मूल में इसके मेरी प्रतीति से है—धर्मनिरपेक्षक विज्ञान का वाद और सिद्धान्त।

धर्मनिरपेक्षता की धारणा को अभीष्ट मानकर इधर उसे बहुत ऊँचाई पर बिठा दिया गया है। राज्य शासन के लिए तो अवश्य यह विशेषण उपयुक्त है। कारण, धर्म की आत्मा से राज-सत्ता का वास्ता नहीं। उसके हिसाब में सिर्फ धर्म का संगठन आता है, निगाह में धर्म का सम्प्रदाय। धर्म के अन्तरंग से उसे लेना-देना नहीं। बस संगठित धर्मों की पृथकता से उसे निबटते रहना पड़ता है। शासन-सत्ता केवल भौतिक रह सकती है और संगठित स्वार्थों के बीच बन-बनाव बिठाते रहने की चेष्टा से आगे उसका बस नहीं है। 'धर्म-निरपेक्ष' शब्द इस तरह मात्र राज्य-शासन की मर्यादा को सूचित करता है। आगे अगर उसको जीवन-दृष्टि के तौर पर मान्य कर लिया जाए तो उसका जो भयंकर परिणाम होगा वह हमारे सामने है। दृष्टि मात्र लौकिक हो तो स्वार्थ-रक्षा और स्वार्थ-संचय से बड़ा कोई कर्तव्य नहीं रह जाएगा। अपने स्वार्थ, या अपने परिवार, अपने वर्ग, अपनी जाति, अपने सम्प्रदाय, अपने पन्थ, अपने दल, अपने राष्ट्र के स्वार्थ से आगे फिर कुछ और देखने की आवश्यकता तब नहीं रह जाती है। दुनिया का और भविष्य का हित भी फिर हमें स्वार्थ के माध्यम से ही दीखने लगता है। धर्म था, और है, वह कि जिसमें स्वार्थ का विसर्जन सीखना और साधना पड़ता है। धर्म से निरपेक्षता का मतलब अगर स्वार्थ-साधन ही रह जाता है, स्वार्थ-त्याग का मूल्य ही निरर्थक बन जाता है, तो फिर हमारे बीच से वह तत्व ही समाप्त हो जाता है जो विरोधों में सामंजस्य बिठाएँ और द्वन्द्वों के बीच में से एकता को फलित कर दिखाए।

अनेकता में एकता

अनेकता में व्याप्त एकता के सूत्र की खोज धर्म ने की और ऐसा मालुम हुआ कि एक ईश्वर की छत्र-छाया के नीचे हम सब एक दूसरे को अपनाने के लिये हैं। लेकिन वह छत्र अगर हम पर से उठ जाता है तो अपनी-अपनी अर्हता ही हमारे लिए बस परम मूल्यवान वस्तु बन जाती है। ऐसी स्थिति में आपसी स्पर्धाएँ और तनाव न बनने और उनके उग्र और उत्कट न होते जाने का कारण नहीं रह जाता है।

धर्म और कर्म का यह विलगाव मनुष्यता के लिए आज बहुत-भारी पड़ रहा है। अब तक चल भी सकता था, क्योंकि दुनिया छोटी नहीं बनी थी और आपसी झगड़ें आपसी ही बने रह सकते थे। लेकिन विज्ञान की औद्योगिकी और प्रौद्योगिकी के बल से देश सब पास आ गये हैं और किन्हीं दो की अनबन विश्व-सन्तुलन में दरार डाल सकती है। संघर्ष को सीमित रखना कठिन है

और प्रतिक्रिया उसकी दुनियाभर में कम्पन लाये बिना नहीं रहती। इसलिए धर्म और कर्म का द्वैत आज की तरह आगे भी कायम रहता गया तो विस्फोट टलेगा नहीं और युद्ध को अधिक काल तक ठंडा बनाये रखना सम्भव न रहेगा, वह एक-दूसरे का खून माँगेंगा। आज हमारे पास जो शस्त्रास्त्र हैं उनके रहते इस महाविभीषिका को आमन्त्रण देने से घातक कुछ न होगा।

आज जिन शब्दों के सहारे हम चल रहे हैं, अपनी व्यवस्था को चला रहे हैं, वे विकसित माने जाने वाले देशों से आयातित धर्म-निरपेक्ष चिन्तन में से आविष्कृत हुए हैं। निश्चय ही वह चिन्तन तर्क-शुद्ध है, संयुक्त है, प्रौढ़ है, और अपनी जगह सही भी हो। पर सन्दर्भ आत्मिक से निरपेक्ष मात्र लौकिक होने से वह अर्ध-सत्य जैसा रह गया है। यह चिन्तन बाहर सामाजिक परिस्थिति को ध्यान में लेता है, मनुष्य की अन्तरंग स्थिति को हिसाब के बाहर ही छोड़ देता है। पर मनुष्य तन नहीं मन भी है। तन की सुख-सुविधा भर से अनायास वह ऊब भी उठता है। ऐसे साधनशील पुराणों के उदाहरण हर देश, हर कोने में मिलेंगे, और इतिहास उनके गुण भी गाता है। अर्थात उनकी हस्ती सामाजिक, लौकिक एवं राजनीतिक विचार के लिए सर्वथा नगण्य नहीं मानी जा सकती। और तो और, परम वैज्ञानिक आइन्सटाइन गाँधी को महात्मा के रूप में महामानव माने बिना न रह सके। राजनेता गाँधी को भारत अपना राष्ट्रपिता भले माने, लेकिन जिसने उस वैज्ञानिक को चमत्कृत किया वह तो गाँधी का धार्मिक और आध्यात्मिक रूप ही था।

लोकतन्त्र का भविष्य

तो डेमोक्रेसी, सोशलिज्म, सेक्युलरिज्म आदि शब्द अपने में गलत नहीं हैं। केवल वे अपर्याप्त हैं, उनके साथ यदि सन्दर्भ उस परम अद्वैत का भी जोड़ दिया जाता है, जिसको ईश्वर कहते हैं, तो मानों वे शब्द समग्रता पाकर खिल उठते हैं। अर्थात आज अगर द्विपक्षीय अथवा बहुपक्षीय पार्लियामेन्टरी डेमोक्रेसी का चलन हो तो आगे उसका सही दिशा में विकास किया जा सकता है। अर्थात पॉर्लियामेन्टरी डेमोक्रेसी को स्पर्द्धात्मक से रचनात्मक आधार दिया जा सकता है। अभी कल एक विदेशी लेखक का वाक्य पढ़ा। उन्होंने लिखा कि डेमोक्रेसी में दो पक्ष एक-दूसरे को शासन के अयोग्य बताते रहने में अपनी सारी शक्ति लगाते रहते हैं और अन्ततः यह सिद्ध करने में सफल भी होते हैं। अगर लोकतन्त्र का यही हाल रहा तो उसके लिए आगे भविष्य नहीं है, बल्कि वर्तमान में तो दिख रहा है कि उसका वर्तमान तक नहीं है। इसी प्रकार 'सोशलिज्म' 'सेक्युलरिज्म' आदि शब्दों को भी नयी दिशा में उचित संस्कार दिया जा सकता है।

अपेक्षा यह भारत से थी और अब भी है। क्योंकि वह धर्मपरायण देश के रूप में आज भी जीवित है। तिस पर तकनीकी दिशा में भी उसका स्थान गणनीय है। बस विडम्बना यह है कि यदि कर्म धर्मविहीन है, तो धर्म भी यहाँ का कर्मविहीन-सा हुआ पड़ा है।

□

अधिकार के साथ ही कर्तव्य का भी बोध

लोकसभा के जनवरी चुनाव को यदि देश की ओर से पूर्ण तौर पर निर्णायक नहीं भी माना जाय तो भी विधानसभाओं के अभी हाल के चुनावों में भारी बहुमत ने उस निर्णय पर अपनी मुहर लगा दी है। स्पष्ट है कि देश फिर से श्रीमती इन्दिरा गाँधी को खुला और एक अवसर देने के पक्ष में है। जीत दल की भाषा में इन्दिरा काँग्रेस की हुई है। पर यदि वह काँग्रेस की है तो सीधा 'ई' विशेषण के कारण से। असल में वह व्यक्ति की है। मतदाता के मन के गहरे में, जनता से सम्पूर्ण निराशा के बाद इंदिराजी के दृढ नेतृत्व से नयी प्रत्याशाएँ जग आएँ तो यह स्वाभाविक है। नहीं तो उनके दल के भीतर व्यक्तियों और शक्तियों का आपसी समीकरण क्या है इससे मतदाता को जरा भी वास्ता न था। आठ नवनिर्वाचित विधानसभाओं में इंदिरा काँग्रेस के मन्त्रिमण्डलों का निर्माण हो चुका है और इसके साथ केन्द्र में भी मन्त्रिमण्डल का विस्तार किया गया है। इस सबके द्वारा भरोसा बँधता है कि इन्दिरा गाँधी का वर्चस्व निर्विघ्न होगा और विरोधी पक्षों के सम्मिलित दल के लिए भी उनके मार्ग में बाधा बन पाने की सम्भावना न रहेगी।

पर यह शासनाधिकार का अवसर मिला है सीधे इन्दिराजी से। वहाँ से यह दल पर किस प्रकार उतरता है यह स्वयं इंदिराजी के निर्णय करने की बात है। काँग्रेस उनकी अध्यक्षता के अधीन है। देश के आश्वासन के लिए अब तक इतना पर्याप्त था, लेकिन अगर इन्दिराजी के हाथों से छनकर या सरक कर वह अवसर किसी या किन्हीं दूसरे हाथों में पहुँच जाता है तो परिस्थिति आसानी से बदल जा सकती है।

जागरूक मतदाता

मतदाता को कोई अपने पक्ष से सहज स्वीकृत नहीं मान सकता। यह दो आम चुनावों से साफ हो गया है। इन्दिरा शासन को उखाड़कर मोरारजी के नेतृत्व में जनता पार्टी के शासन पर जिस सहजता से उसके लिए सम्भव हुआ, उसी आसानी

से जनता दल को तोड़कर फिर इन्दिराजी के शासन पर लाने में उसे कठिनाई नहीं हुई। मतदाता जागरूक है। जान गया है कि शासन का भाग्य जन-निरपेक्ष नहीं है और एक तरह यह उसकी मुट्ठी में है। मैं मानता हूँ कि लोकतन्त्र की यह निष्पक्षता उसकी शक्ति है और यदि जनता जाग्रत रहती है तो शासक के लिए भटकने का अवसर नहीं है।

इन्दिराजी अनुभव पा चुकी हैं। आपातकाल अब फिर आएगा नहीं। लेकिन यदि नितान्त बहुमत का दल नियन्त्रण में नहीं रहता है, वह हाकिम शाही का रुख हठात् धारण कर ही लेता है तो जनमत क्या रुख लेगा, कैसे फूटें और फटेगा, कहा नहीं जा सकता।

वातावरण में आज अहिंसा का विचार नहीं रह गया है। राजनीति उसको लगभग असंगत बना चुकी है। वह राजनीति महत्त्वाकांक्षा के द्वन्द्व में से अपना निर्माण पाती है और इस प्रतिस्पर्धा में मानो कोई आयुध निषिद्ध नहीं रहने दिया जाता है। परिणाम होता है राष्ट्र चेतना का आपसी द्वन्द्व में क्षय और अन्त में निरी नंगी शक्ति प्रतिष्ठा पाने के लिए रह जाती है। जो ऊर्जा रचना में लग सकती थी, स्पर्धा में स्वाह होती है और शेष शासन पाकर दमन की राह पकड़ती है। एक-दूसरे के लिए समायी का भाव समाप्त होता है, पृथक भाव पुष्ट होता है और सब वर्ग और समूह अपने-अपने लिए अधिकार पाने और ऊपर जाने की चेष्टा में जुटे रहते हैं। कोई तत्त्व रह नहीं जाता है जो सद्भाव जगाए और सहयोग उपजाए।

राजनीति की परम्परा

इन्दिराजी के लिए अवसर है, और यही अवसर प्रतिपक्षों के लिए भी है कि राष्ट्र एक आवाज पाये। शासन और विरोध पक्ष एक-दूसरे को घटाने और हटाने की भाषा छोड़ दें और एक दूसरे को विश्वास में लें। पर यह होना सम्भव नहीं दिखता है। राजनीति की परम्परा कुछ ऐसी चली आ रही है कि उसको रचनात्मक आधार मिलना कठिन है।

पर सभ्यता इस समय अनी पर जा खड़ी हुई है। कोई देश अपने में सम्पूर्ण नहीं है। सब एक-दूसरे के साथ कड़ी में जुड़े हैं और राजनीति बहुत साल चल नहीं पाएगी जो इस तथ्य से बेभान रहना चाहेगी। उधर से आँख मूँद कर जो लोकतन्त्र को दलों के परस्पर विरोधात्मक आधार पर कायम रखा जा रहा है, भारत के लिए वह महँगा पड़ेगा। और मैं मानना चाहता हूँ कि इन्दिरा गाँधी अपनी जगह इतनी मजबूत हैं कि वह विश्वासपूर्वक विरोध को अपने परामर्श में ले सकती हैं।

इस समय भारत का उत्तर-पूर्वांचल बेहद क्षुब्ध है। सशस्त्र पुलिस या फौज के वश की स्थिति नहीं रह गयी है। इन्दिराजी की चेष्टा सही थी कि इस प्रश्न का हल सब दल मिलकर निकाले। यदि वे अपने-अपने पक्ष का लाभ इस विक्षुब्ध स्थिति में से लेना चाहेंगे तो देश के टूटने की सम्भावना बढ़ेगी। दमन से तनाव में कमी नहीं आएगी, न ऊपर की हिंसा से नीचे की हिंसा की जड़ें कटेंगी।

सरकार की अक्षमता

पर सरकार इस क्षेत्र में अक्षम है। उनके पास दण्ड शक्ति से अलग कोई साधन नहीं है। डण्डे की धमकी के नीचे अनुशासन सीखा-सिखाया नहीं जा सकता। अनुशासन शासन-प्रशासन से अलग तरह की चीज है। उसका स्वरूप नैतिक है और स्रोत आन्तरिक। राज को आगे रखकर जो नीति चलेगी वह पूरी तरह ऐसी स्थितियों में काम नहीं दे पाएगी। लोगों के दिलों तक पहुँचना होगा और वह ऊँची कुर्सी के मान से करना कठिन होता है। सरकार के लिए आसानी से मान का प्रश्न खड़ा हो जाता है जिससे स्थिति कसती है और बीच में सम्वाद की स्थिति कमजोर पड़ती है। असम का प्रश्न यदि इसी तरह खिंचता रहा तो वह अनिष्ट दिशाओं में मुड़ सकता है, साम्प्रदायिक हो सकता है, कलहकारी हो सकता है...पृथक राष्ट्र की माँग उठ सकती है।

ऐसे समय अनुभव होता है कि राष्ट्र के पास शासन केन्द्र है तो साथ एक अनुशासन केन्द्र भी होता तो? तो ऐसे उलझाव के प्रश्नों के सुलझाव में बड़ी सहायता मिलती। आम अनुभव है कि जिस राष्ट्र में नैतिक केन्द्र का अभाव हो चलता है, वहाँ चारों तरफ से हवाएँ दौड़ती और एक शक्ति-संकट की स्थिति उत्पन्न कर देती हैं। देश संविधान की धाराओं से एक नहीं बना रहता। उसे नीचे भावात्मक आधार की भी आवश्यकता रहती है। जो अंचल आज जल रहा है उसे शिकायत है कि भारत ने कभी उसे अपनाया ही नहीं। शिकायत है कि अपने ही क्षेत्र में वे बेगाने से रहे। अब डर है कि उनके बीच आये विदेशी स्वदेशी न बन जाएँ और वे परदेशी से बने ताकते रह जाए इत्यादि। इन शिकायतों को तर्क से झेलना और टालना सही नहीं होगा। सुना जाता है कि आन्दोलनकारी संकल्पपूर्वक अहिंसक रहे हैं और रहना चाहते हैं। यह अपने आप में सम्वाद आरम्भ करने के मार्ग को सुगम कर देता है।

कर्तव्य का बोध

यों कठिनाइयाँ हैं। अल्पसंख्यकों का प्रश्न है और अल्पसंख्यकता का आधार धर्म, जाति, भाषा, वंश कुछ भी हो सकता है। सच में तो अल्पसंख्यक वाला सवाल

ही कुछ कृत्रिम है। अल्पसंख्य के अधिकार हैं और अधिसंख्य के पास बस कर्त्तव्य रह जाए, तो ऐसी स्थिति में कभी सही सन्तुलन आ नहीं पाएगा। मुश्किल यह है कि राजनीतिक चेतना अधिकारभाव को उभारती है और इस प्रकार का शिक्षण फिर-फिरकर अपने वाले चुनावों से बराबर मिलता ही रहता है। आवश्यक है कि सामुदायिक मतावेशों के बीच अपने-अपने हकों के अलावा एक दूसरे के प्रति कर्तव्य का भाव भी जागे। यदि किसी ओर से वह भाव-स्थिति नहीं बनती तो अधिकार का सवाल मानो अन्त में शक्ति-परीक्षण का ही सवाल रह जाएगा और निपटारे के लिए सरकार के पास डण्डे का ही भरोसा बचेगा।

आसार हैं कि सम्वाद के सूत्र ढूँढे नहीं हैं और हमें आशा से भी अधिक विश्वास है कि इन्दिराजी सबके सहयोग से कुछ न कुछ हल निकाल ही ले जाएँगी।

□

युवाशक्ति के वेग और विवेक में सामंजस्य

संजय गये और एक क्रूर दुर्घटना में गये। उनकी माता श्रीमती इन्दिरा गाँधी के साथ इस शोकावस्था में देश की नहीं विश्व की गहरी सहानुभूति का सम्बल है। संजय पारिवारिक रूप में कितने भी उन्हें सहारा हो, राजनीतिक तौर पर तो लगभग वही उनके निकट एकमात्र विश्वसनीय सहारा थे। स्पष्ट था कि क्रमश: स्थिति का भार-केन्द्र निरन्तर उनकी ओर जाता जा रहा है। उनके काँग्रेस (इ) में महामन्त्री बनने और उत्तर प्रदेश का मुख्यमन्त्री न बनने दिये जाने का आशय इसके सिवा दूसरा नहीं हो सकता। उनको इस समय राष्ट्रीय छवि मिलती जा रही थी जबकि दूसरे सम्भावित राष्ट्र नेताओं का मात्र प्रादेशिक या दलीय नेता भर का रूप रह गया था। अब वह शक्ति का केन्द्र रिक्त है और सहज सम्भव नहीं दिखता कि इसके लिए कोई उपयुक्त विकल्प पाया जा सकेगा।

साफ है कि भारत की राजनीति में एक नयी युवा-शक्ति का उदय हुआ है। केन्द्रीय मन्त्री-परिषद् के स्वरूप और विधान-सभाओं में नये निर्वाचित मुख्यमन्त्री तथा उनके मन्त्री-मण्डलों की रचना से इस सम्बन्ध में कोई संशय नहीं रह जाता। इनका चुनाव सीधे इन्दिराजी द्वारा न भी हुआ हो तो भी उनकी अनुमति तो अवश्य रही ही। किन्तु युवा नेता संजय के अभाव में यह युवा शक्ति निरपेक्ष रूप से काम नहीं कर सकेगी। पूरी सम्भावना है कि इस युवा शक्ति को सही सन्तुलन में रखने के निमित्त इन्दिरा जी उन तत्त्वों को कुछ बढ़ावा दें जो उतने नये नहीं हैं और अपेक्षाकृत अनुभवी हैं।

युवा शक्ति

युवा शक्ति से अपेक्षा रखी जाती है वेग की। विवेक अगर लम्बे अनिश्चय में परिणत होता देखा जाए तो आवश्यक होता है कि वेग के प्रतिनिधि तत्त्वों का उदय और योग हो। वेग-विवेक के बीच सामंजस्य साधे रखना आसान नहीं है। यही भार अब इन्दिराजी पर आया है। एक तरह से ये उनके लिए परीक्षा की

घड़ी है और पिछले विधानसभा में सीटों के बँटवारे और उससे आगे की कार्रवाई से दल के भीतर जो असन्तोष उत्पन्न हुआ है उसको समाए और सँभाले रखने का काम उनके लिए काफी नाजुक सिद्ध होगा।

राष्ट्र आर्थिक समस्याओं के अतिरिक्त कई राजनीतिक समस्याओं से भी आज ग्रस्त है। जन समुदाय में एक या दूसरे बहाने, अपनी-अपनी अस्मिता और पृथकता का भाव बढ़ रहा है और स्थिति से वह महत् भाव गायब है जो हठात् उन्हें समूचे राष्ट्र की भाषा में सोचने की प्रेरणा दे। राजनीति ने अधिकार की चेतना को जगाया है और इस तरह परस्परता के भाव को शिथिल किया है। हर समूह परस्परता नहीं, सिर्फ स्व-परता की भाषा में सोचने लगा है। इसमें आवेश पनपते हैं जिनमें से फिर हिंसा फूटती है। त्रिपुरा के काण्ड की बातें सुनकर जी दहल जाता है। वैसी बारूद इधर-उधर भी उपज रही है और उपजाई जा रही है। शासन की मशीन के पास इसका उपचार है नहीं। नीचे से फूट आने वाली हिंसा को ऊपर से भारी पड़ने वाली हिंसा से दबा भले दिया जाए, परस्पर सद्भाव नहीं उत्पन्न किया जा सकता। आवश्यकता आज इसी चीज की है।

रचनात्मक राजनीति

हमने राजनीति के रचनात्मक होने की आवश्यकता पर बल दिया था। इसका आशय है कि पक्ष-बुद्धि कम हो, उनके बीच विरोध का आधार समाप्त हो और वह भूमि खोजी जाए जहाँ परस्पर सहकार सम्भव हो सके।

अब तक की गयी नियुक्तियों और चलायी जाने वाली नीतियों से ये नहीं प्रकट होता कि बाहरी सहयोग का आमन्त्रण है। चुनाव हो गए हैं। पद भर लिए गए हैं। स्पष्ट है कि उनके पीछे दलीय से भी अधिक गुटीय दृष्टि रही है। फिर भी शासन और शासक राष्ट्रगत दायित्व को अपना मानकर उस भाव से काम करने को क्यों नहीं उठ सकते? यदि यह सम्भव नहीं हुआ तो हम देखेंगे कि राजनीतिक समस्याएँ उत्तरोत्तर उत्कट और गुणानुगुणित होती जाती है। मैं मानता हूँ कि सरकार की आर्थिक और अन्य प्रकार की रचनात्मक योजनाएँ, यदि राजनीतिक वातावरण परस्पर वैमनस्य से विषम और विषाक्त रहता है, तो सफल नहीं हो सकतीं। इस सत्र में जो बजट पारित हुआ है उससे सम्भावना नहीं बनती कि मुद्रा-स्फीति कम होगी। तिस पर यदि जगह-जगह छिटपुट उपद्रव होते रहते हैं, अपराधों की संख्या बढ़ती है, कानून का भय कम होता है और उसका वर्तन अनावश्यक समझ लिया जाता है, भ्रष्टाचार आम व्यवहार का रूप ले लेता है तो इनसे निबटने में सरकार की शक्ति समाप्त होती है, रचनात्मकता के लिए शेष नहीं बचती।

युवा शक्ति उभर आयी है और उसके कन्धों पर खासा उत्तरदायित्व भी

आ गया है, आवश्यकता है कि वह उन तत्त्वों का विश्वास और सहयोग प्राप्त करे जो राष्ट्र के परिचित हैं, अनुभवी और विवेकशील हैं। युवक के पास प्राणशक्ति है जिसके बिना कुछ नहीं होता। किन्तु गतिवेग के लिए दिशा का सही रहना भी आवश्यक है। आपातकाल से अब के संजय में किन्चित् अन्तर आया था। उनके नेतृत्व के अभाव में युवा शक्ति, मुझे विश्वास है कि, मर्यादाशील रहना सीखेगी और इन्दिराजी उसको वशीभूत रखेंगी।

राष्ट्रीय एकता

असम का प्रश्न जल रहा है। राज्य यद्यपि यहाँ कई हैं पर एक असन्तोष सारे पूर्वांचल में व्याप्त है। उसकी हवा बाहर भी फैल चली है। यदि राष्ट्र को एक बने रहना है तो अनिवार्य है कि उसका शीघ्रातिशीघ्र उपचार हो और राष्ट्र-नेतृत्व में दरार न पड़े।

इन्दिराजी को सबकी सहानुभूति प्राप्त है। उस आधार पर वो व्यापक विश्वास भी अर्जित कर सकती हैं। शोक उनको तोड़ नहीं सकता और आशा की जा सकती है कि उस शोक को वह संस्कारी शक्ति में परिणत कर सकेंगी और भारत का प्रेम, उनको स्वगत और दलगत भाषा एवं व्यवहार से ऊँचा उठाएगा।

□

लोकतन्त्र को रचनात्मक आधार दिया जाए

विश्व की वर्तमान परिस्थिति में अगर भारत को अपने लिए कुछ सार्थकता प्राप्त करनी हो तो पहली आवश्यकता है कि भारतीय शासन को तनिक स्थिरता मिले। भारत को स्वावलम्बी होना है और बड़ी शक्तियों के तनावों के बीच यह नहीं होने देना है कि वह गुटनिरपेक्ष आन्दोलन में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान खो बैठे।

हमने परम्परा में जिस राजनीतिक विधि और पद्धति को प्राप्त किया यह भारत के हित में फलदायी सिद्ध नहीं होगी। द्वि अथवा बहुदलीय पद्धति जिन देशों में किन्हीं अर्थों में उपयुक्त सिद्ध हो भी गयी है वे अपनी संस्कृति और संरचना में भारत से भिन्न हैं। वहाँ के संसद सदस्य और सामान्य नागरिक में यहाँ जितनी बड़ी आर्थिक खाईं नहीं है। राजनीति वहाँ उतना लाभदायी व्यवसाय नहीं है। चुनावों के पुछल्ले में वहाँ उतना भ्रष्टाचार का प्रवाह नहीं उमड़ता। शासन पक्ष और विरोध पक्ष के बीच वहाँ के लोकतन्त्र में इतनी कटुता और विपरीतता नहीं है।

पर इस दण्ड के लिए विरोध के आधार पर चलने वाली पक्ष-विपक्ष की राजनीति बेहद अहितकर प्रमाणित हो रही है। दलवाद निरन्तर गुटवाद को ही जन्म नहीं देता। बाहर जातिवाद और क्षेत्रवाद को भी उपजाता और उत्कट बनाता है। स्पष्ट है कि इस मनोवृत्ति के नीचे राष्ट्रभाव खोखला हुआ जा रहा है और हर समूह और समुदाय को अपने-अपने संकीर्ण और पृथकभाव को बढ़ावा मिल रहा है। इस स्थिति में कानून और व्यवस्था का प्रश्न जगह-जगह फूटता दिखे तो अचरज नहीं है। कानून के प्रति आदर का भाव लगभग रह नहीं गया है। माना जाता है कि अगर संघबद्धता हो तो कहीं भी कानून की अवज्ञा की जा सकती है ?

इस प्रसंग में 'सत्याग्रह' शब्द का जैसा दुरुपयोग और छीछालेदर हो रहा है उसका ठिकाना नहीं है। 'सत्याग्रह' शब्द प्राप्त हुआ देश को और संसार को महात्मा गाँधी से। इसका आविष्कार हुआ था एक अहिंसक शस्त्र के रूप में। इसने

चमत्कार दिखाया पहले दक्षिण अफ्रीका में और वह चमत्कार यह था कि जनरल स्मट्स बाद में गाँधी के मित्र ही नहीं भक्त बन गये। भारत में स्वतन्त्रता के सत्याग्रही युद्ध का परिणाम आया कि माउंटबेटन स्वतन्त्र भारत के प्रथम गर्वनर जनरल बने। अर्थात सत्याग्रह वह था जिससे पक्ष-विपक्ष के बीच की खाईं मिटती थी और दो हितों का विरोध एक सम्मिलित परम्परा में समाप्त हो जाता था। फिर विषमता-कटुता की परम्परा जारी नहीं रहती थी।

सत्याग्रह वह नहीं है, न वह सत्याग्रही है, जहाँ केवल अपना पक्ष देखा जाता है और विपक्ष का विचार सर्वथा असंगत रहता है। सत्याग्रही संघर्ष में एक की जीत दूसरे की हार नहीं होती। हार-जीत का वहाँ सवाल ही नहीं रहता। एक-दूसरे की समझ पैदा होती है और मालूम हो जाता है कि मूल में दो हितों में विरोध नहीं था बल्कि वह परस्पराश्रित थे। इस तरह सत्याग्रह के द्वारा गाँधी ने व्यवहारनीति और राजनीति के क्षेत्र में एक नैतिक शस्त्र को अपने सफल प्रयोग से युद्ध तक में प्रभावी और उपयुक्त करके दिखाया।

सत्याग्रह के बारे में इतना कहने की आवश्यकता इसलिए होती है कि आज देश में इस उस तरह की और छोटी-बड़ी सभी समस्याओं में इसका उपयोग किया जाता है। लेकिन किया जाता है अहिंसक नहीं, बल्कि विरोधी और आक्रामक उपाय के रूप में।

बड़ा सवाल इस समय देश के सामने असम समस्या को लेकर है। प्रश्न विदेशी उन घुसपैठियों का है जिनकी संख्या कई-कई लाखों में है। इनके कारण वहाँ के मूल निवासी अल्पमत में हुए जा रहे हैं और उनका निजत्व खोता जा रहा है। असम निवासियों की अस्मिता इस खतरे को सामने देखकर इस मात्रा तक जग आयी है कि आंसू संगठन के विद्यार्थियों और गण संग्राम परिषद के नेताओं द्वारा घोषित हड़ताल इतनी परिपूर्ण होती है कि सब जीवन ठप्प हो जाता है। शायद ऐसा जन आन्दोलन स्वतन्त्रता युद्ध के दिनों के बाद देश में कहीं नहीं देखा गया। यह हो नहीं सकता कि इसके नीचे कुछ सार न हो, सत्य न हो। लेकिन विदेशी ठहराने की जटिल प्रक्रिया, और इस प्रकार विदेशी ठहराये गये लोगों के आगे बसाने के सवाल को भी अधर में नहीं छोड़ दिया जा सकता। यह किल्लत और सिरदर्दी सरकार की है, ऐसा मानकर गाँधी सत्याग्रही तो छुट्टी नहीं पा सकता है। इसलिए सत्याग्रह शब्द के साथ न्याय करने की दृष्टि से मेरा निश्चित मत है कि आन्दोलकारियों और सरकार के बीच उच्चतम स्तर पर तत्काल वार्तालाप का सिलसिला शुरू हो जाना चाहिए। इधर दमन स्थगित हो, बन्दी रिहा हों और उधर आन्दोलन बन्द हो। बातचीत के आधार के तौर पर गाँधी शान्ति प्रतिष्ठान वाले सुझाव को लिया जा सकता है। प्रधानमन्त्री ने पत्र लिखकर इस

दिशा में पहल की है।

स्पष्ट है कि यदि यह तनाव की स्थिति खिंचती है तो आन्दोलन प्रगटतः अहिंसा मानने वालों के हाथों से खिसककर किन्हीं दूसरे तत्त्वों के पास पहुँच जाएगा। और तब राष्ट्र के विखण्डन की सम्भावना भी घिर आ सकती है। ऐसा हुआ तो बहुत ही दुर्भाग्यपूर्ण होगा और उसकी विश्वव्यापी अनिष्ट प्रतिक्रियाएँ होंगी।

आशा की जानी चाहिए कि इस प्रश्न को लेकर राजनीतिक शक्तियाँ परस्पर प्रतिस्पर्धा से मुक्त होकर राष्ट्र की भाषा में सोचेंगी और इस तरह एक-दूसरे के बीच सम्वाद की स्थिति बन सकेगी।

निःसन्देह आज का शासन दलगत शासन है। किन्तु कोई कारण नहीं कि इन्दिरा गाँधी के नेतृत्व में बहुराष्ट्रीय भाव और स्वरूप तक क्यों न उठ सके? प्रधानमन्त्री व्यापक सहयोग को आमन्त्रण दे सकती हैं। राजनीतिक दल भी परिस्थिति की गम्भीरता को देखकर सहयोग का आश्वासन देकर उनके हाथ मजबूत कर सकते हैं। संजय गाँधी के अभाव में युवाशक्ति की ओर से ऐसी कोई आशंका नहीं रह जाती कि शासन का सचमुच राष्ट्रीय स्तर मिलने में विशेष बाधा आये। तन्त्र दलगत रहे जा सकता है, फिर भी भावना और नीति यथार्थगत और राष्ट्रगत हो सकती है।

रचनात्मक लोकतन्त्र

हमने कहा है कि लोकतन्त्र को, शनैः-शनैः ही सही, विरोधात्मक से नया रचनात्मक आधार दिया जा सकता है। यद्यपि वातावरण क्षुब्ध है और मनोभाव विषम, तो भी जो जबरदस्त विश्वास पिछले चुनावों में देश ने इन्दिरा गाँधी को सौंपा है, उस बल पर इन्दिरा जी उदार नीति बरत सकतीं हैं और मिलने के लिए झुक सकतीं हैं। वे कल्पनाशील तत्त्व भी जो अब तक अपने को विरोधी मानते आये हैं, मेरी आशा है कि सहयोग का हाथ बढ़ाएँगे और शासन को इस घड़ी एक स्थिरता देंगे जिसकी आज परम आवश्यकता है।

□

प्रेमचन्द का साहित्य और राजनीति

31 जुलाई, 1980 प्रेमचन्द के जन्म का शताब्दी दिवस था। वह लोगों ने देश और विदेश में जगह-जगह बड़ी धूम-धाम और श्रद्धा के साथ मनाया। इतनी व्यापक लोक-श्रद्धा और लोक-भावना विरल पुरुषों को ही मिलती है। श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर के बाद भारतवर्ष मानपूर्वक प्रेमचन्द को दुनिया के समक्ष कर सकता है।

ये दो साहित्य के महापुरुष आपस में इतने असमान हैं कि असमानता का वैसा उदारहण दूसरा नहीं मिलेगा। मानो ये दो धुव्र हों—उत्तर और दक्षिण। इन्हीं दो धुवों के बीच हमारी यह दुनिया थमी हुई हैं। उसी प्रकार मैं मानता हूँ कि साहित्य के इन दोनों ध्रुव-पुरुषों के बीच भारत की समग्रता आ जाती है।

यदि रवीन्द्रनाथ भारतीय चिन्तन-धारा के सर्वोच्च शिखर के प्रतीक है तो प्रेमचन्द भारतीय जीवन के कठोर यथार्थ को प्रस्तुत करने में अनुकरणीय है। रवीन्द्र नाथ हर सम्भव सुख-सुविधा के बीच पले और इस कारण उनकी कल्पना व्योम-विहरण के लिए मुक्त रह सकी। इस साधना में उन्होंने परम अद्वैत का स्तर जा छुआ। किन्तु कोई कठिनाई न थी, जिसमें से प्रेमचन्द को नहीं गुजरना पड़ा और तभी अपनी 'कफन' कहानी में उस गहन पाताल के तल को वह छू सके कि जहाँ तक दमित और दुखित मनुष्यता गिर जा सकती है।

सामयिक समस्याएँ

दोनों नेता न थे, अर्थात सामयिक-समस्याओं के प्रति उनका कोई महत्त्वपूर्ण अवदान नहीं देखा जा सकता। उस क्षेत्र में गाँधी थे, जवाहरलाल थे और अन्यान्य नेता-पुरुष थे। गाँधी के बारे में तो क्या कहिए? उन्होंने तो चूड़ान्त अपरिग्रह और शिखरस्थ अध्यात्म के समन्वय को एक साथ अपने व्यक्तित्त्व में साधकर अद्‌भुत चमत्कार कर दिखाया। लेकिन क्या कारण है कि राजपुरुषों को वह व्यापक जन-श्रद्धा नहीं प्राप्त होती जो मिल जाती है उन्हें जिन्होंने शब्द के द्वारा अपने हृद-गत भावों को मूर्त कर सबके दर्शन के लिए सुगम कर दिया।

प्रेमचन्द को बड़े हुनरमन्द लेखक की हैसियत से यदि मानता हूँ, तो मुझे प्रतीत होता है कि मैं, उन्हें छोटा करता हूँ। बड़े उपन्यासकार वालजाक हैं, कहानीकार मोपांसा हैं। लेकिन प्रेमचन्द को मैं उनके समकक्ष नहीं रख पाता, ऊँची कक्षा में रखना पड़ता है। अपने से कारण पूछता हूँ, तो मालूम होता है, कारण है उनकी अनन्य मानवनिष्ठा। कहानी-उपन्यास का शिल्प-विन्यास, मुझे निश्चय है, उनकी चिन्ता और उनके चिन्तन का प्रधान केन्द्र न था। वह हुनर औद्योगिक और व्यवसायिक विकास के साथ उत्कर्ष पाता जाएगा और बड़े-बड़े उस लाइन के हुनरमन्द पैदा होंगे, बारीकियाँ छँटेगी और मानो कहानी की एक स्वतन्त्र कला ही उभर चलेगी।

लेकिन इस सारी प्रगति और उन्नति में प्रेमचन्द का नाम खो नहीं जाएगा। वह मन्द नहीं होगा, मिट नहीं सकेगा। इसलिए नहीं कि उनकी कहानियाँ कहानीकला का नमूना थी—यद्यपि सच यह कि प्रेमचन्द के बावजूद सचमुच उनकी कुछ कहानियाँ कहानी-कला की नमूना बन ही गयी हैं। पर इसमें प्रेमचन्द का दोष इतना ही है कि उन्होंने आदमी को समझना चाहा है और हर हालत में उसे अपनी पूरी हमदर्दी दी है।

चर्चा उठती है, और हठात् उठायी जाती है, कि क्या प्रेमचन्द प्रासंगिक हैं? क्या प्रासंगिक बने रहेंगे? उत्तर पूरा उस प्रश्न का इसमें आ जाता है कि बरबस लाखों-लाख आदमी आज भी उनकी याद करता है और कहीं तनिक उस सम्बन्ध में उत्सव की भनक मिले तो वहाँ खिंचा जाता है।

मंगल की आकांक्षा

फिर भी एक बात है। वह मेरे मन से दूर नहीं होती। वे कल्याण-कामी थे, जन-जन के शुभाकांक्षी थे। उनके व्यक्तित्त्व का और लेखन का अधिष्ठान वह मंगलाकांक्षा ही थी। किन्तु अपनी गीता में एक शब्द आता है—निष्काम कर्म। क्या उस निष्कामता पर प्रेमचन्द को रखा, तोला और परखा जा सकता है? मैं मानता हूँ कि आदमी-आदमी में अच्छे बुरे का भेद खोलकर उन्होंने दरसाया। धन, धर्म और राज्य का बल लेकर आदमी को नाचीज मान सकने वालों के अन्तरंग को उन्होंने उघाड़कर रख दिया। बता दिया कि वे शोषक हैं, पीड़क हैं, अपराधी हैं। इस भले-बुरे की पहचान से समाज को लाभ होगा, मर्यादाएँ स्थिर होंगी। लेकिन शुभ से आगे क्या वह कुछ सत्य भी नहीं है जहाँ सब अपने से विवश हैं? न कोई निरा बुरा है, न ही नितान्त अच्छा है। जो सामने स्याह सफेद का खेल दीख रहा है, उसके पीछे एक द्वन्द्वात्मक जीवन-प्रक्रिया काम कर रही है और भेद को वहाँ मूल्य के स्तर पर पकड़ लेना है, न कि आदमी-आदमी के बीच में उसे

स्थापित करना है।

साहित्य क्या राजनीति की कुछ सहायता कर सकता है? कर सकता है तो किस रूप में? राजनीति की जमीन तो निरन्तर द्वन्द्ववाद की है, वहाँ पक्ष-विपक्ष रहेंगे और दोनों एक-दूसरे को छकाने की चेष्टा में रहेंगे। यहाँ एक-दूसरे को सहना अधर्म और एक-दूसरे को गिराना-हराना ही धर्म माना जाएगा। क्या राजनीति की इस चेष्टा को तीव्रता देना साहित्य का काम हो सकता है? द्वेष-विद्वेष से संसार खाली तो होने वाला नहीं, लेकिन क्या उसको उकसाकर उसके सामुदायिक और वर्गीकृत गठन में साहित्य सहयोगी हो सकता है? यह तो राजनीतिक युद्ध के लिए बारूद तैयार करके देना जैसा हो जाएगा। मैं नहीं मानता कि यदि सांसारिक व्यवहार निरन्तर आपसी वैमनस्य को धधकाकर वह बारूद उपजा रहा है, तो साहित्य को भी उसी काम में लगे रहना चाहिए। मुझे प्रतीत होता है कि इस पक्ष-विपक्ष, वर्ग-प्रतिवर्ग की राजनीति के प्रति प्रेमचन्द वह तटस्थता नहीं रख सके, जिसकी साहित्यकार से माँग और अपेक्षा हो सकती है। क्या ही अच्छा होता कि शिवरानीजी की जगह वह स्वयं ले सकते। तब स्वतन्त्रता के युद्ध और उसके सेनानियों के प्रति उनकी वह कल्पना रम्य रंगीन भावना न रह पाती। राष्ट्र है और एक अर्थ में राष्ट्रवाद की भी आवश्यकता हो सकती है। किन्तु इन्सान को इन्सान रहना होगा, किसी राष्ट्रवादिता के फेर में उसके हैवान बन जाने को सराहा नहीं जा सकता।

प्रेमचन्द की प्रासंगिकता और महत्ता इसमें है कि उस हद तक राष्ट्रवाद में मुग्ध उन्होंने अपने को नहीं होने दिया। सामयिक समस्याएँ—उन्होंने अपने लिखने में, लेकिन मानवीय सन्दर्भ से उनके समाधान को उच्छिन्न नहीं हो जाने दिया। 'गोदान' का होरी अन्त में पाठक के मन में गहरी पीड़ा जगा जाता है। उसमें से रोष और आक्रोश भी मन में उपज सकता है उनके लिए, जिन्होंने होरी को मौत तक पहुँचाने में हाथ बँटाया, लेकिन होरी के लिए जाने-अनजाने व्यथा के साथ एक सराहना का भाव पाठक के भीतर घर किये ही रहता है। वह जुझारू व्यक्ति नहीं है, दबता जाता है और परम्परागत नैतिक मान्यताएँ हैं जो उसे विद्रोह में उभरने नहीं देतीं। क्या प्रेमचन्द उसे एक युयुत्सु, दृढ़ और प्रखर चरित्र प्रदान नहीं कर सकते थे? यह सर्वथा उनके वश में था, लेकिन उन्होंने उसे दब्बू बनाया और फिर भी वह अन्त तक हमारी गहरी सराहना का पात्र बना रहा।

गाँधी का प्रभाव

भारत में गाँधी हुए और दुनिया में जो क्रान्तियाँ हुईं, वे मार्क्सवाद से स्फूर्ति और प्रेरणा लेकर हो पायी। प्रगतिवाद मानेगा, और प्रमाणपूर्वक मानेगा, कि प्रेमचन्द अन्त में मार्क्स के निकट आ गये और गाँधी से छुट्टी पा गये। आरम्भ की रचनाएँ

हुई हो गाँधी के प्रभाव में, लेकिन गाँधी की नैतिकता और अहिंसा उन्हें अधिक भरमाये नहीं रख सकीं और शेष में उन्होंने मार्क्स की राह थामी। जो ऐसी भाषा में सोचते हैं। वे प्रेमचंद के साथ न्याय नहीं करते। प्रेमचन्द का काम इसका या उसका पैरोकार होना ही नहीं था, प्रेमचन्द को इजाजत होनी चाहिए, हक होना चाहिए कि प्रेमचन्द प्रेमचन्द रहे और अपने को कहीं गिरवी न रखें। निश्चय ही वह एक जगह नहीं रहे, क्योंकि सतत यात्रा पर रहे। उनमें सब-कुछ मिलेगा। लेकिन किसी अपने ही वक्तव्य के साथ उन्हें जड़ित करके देखना गलत होगा। वह यदि पक्ष के थे तो इस अर्थ में कि उनका पक्ष मानव का था। शेष पक्षधरता मानवता का अतिक्रमण कर जाती है और यदि राजनीति इसमें स्वयं अपनी सहायता नहीं कर सकती, तो साहित्य और साहित्यकार है जो इस जगह उसका सहायक होगा, अर्थात राजकारण को एक मर्यादाशीलता देगा।

□

आन्तरिक सुरक्षा का प्रश्न ज्यादा महत्त्वपूर्ण

देश की सुरक्षा का आधार माना जाता है सैन्य शस्त्र बल। ठीक भी है। अगर सशस्त्र सेना का खतरा बाहर की ओर से हो, तो वही बल काम दे सकता है। लेकिन ऐसा खतरा पैदा करना किसी के लिए आसान नहीं है। बल का अन्तरराष्ट्रीय समीकरण कुछ ऐसा विकट और सघन हो आया है कि सहसा ऐसा संकट कोई देश मोल नहीं ले सकता।

इसलिए बाहरी सुरक्षा से बड़ा प्रश्न आन्तरिक सुरक्षा का है। यो भी देश में अगर एका न हो, इसके अवयवों में आपसी दुराव और फटाव हो, तो शस्त्रास्त्र का और सैनिक का बल भी भला कितना काम दे सकता है? इसलिए मेरा मानना है कि आत्म-रक्षा के नाते भी देश की आन्तरिक अवस्था पर ध्यान देना कहीं ज्यादा जरूरी है।

बड़ा प्रश्न है साम्प्रदायिकता का। मुरादाबाद में से फूटा हुआ सिलसिला अब तक जारी है। जहाँ-जहाँ विस्फोट हुआ, वहाँ पूरी शान्ति हो गयी है, यह कहना कठिन है। उपचार के लिए सामान्य और विशिष्ट पुलिस का उपयोग हुआ है, सैनिक दस्ते भी भेजे गये हैं और उस उपचार से ऊपरी कुछ लाभ भी हुआ मालूम होता है। पर रोग के लक्षणों को ऊपर से दबा देने भर से स्वास्थ्य लाभ मिल जाएगा, इसकी सम्भावना नहीं है। रोग के गहरे निदान में जाने की आवश्यकता है।

धर्मनिरपेक्षता

उस निदान के तौर पर धर्मनिरपेक्षता का उपाय सुझाया जाता है। क्या वह उपाय है? क्या वह कारगर हो सकता है? मेरा मानना है कि इस जगह गहरे विचार की आवश्यकता है। मुझे प्रतीत होता है कि धर्मनिरपेक्षता के विचार से साम्प्रदायिकता को सीधा बढ़ावा मिलता रहा है। सोचने की आवश्यकता है कि इस्लाम के नाम पर खड़ी हुई मुस्लिम लीग का नेतृत्व उन श्री मुहम्मद अली जिन्ना के हाथ में

कैसे जा पहुँचा जो किसी भी हालत में शरई और नमाजी मुस्लिम न थे? कायदे-आजम वह बने, जबकि जमायते-उल-उलेमा को किसी ने न पूछा। कायदे-आजम जिन्ना शब्द के पूरे अर्थ में धर्म-निरपेक्ष व्यक्ति थे। शायद इसलिए जब धर्म की बुनियाद पर सियासती मसला खड़ा हुआ, तो नेता वह सियासतदाँ ही हो सकता था, जिसे मजहब से कोई वास्ता न हो और जो सिर्फ दुनिया-साजी में माहिर हो।

लीग का मुकाबला था काँग्रेस से। सन् 47 में विभाजन से पहले जब पहला स्वराज आया, तो मिली-जुली सरकार काँग्रेसी प्रतिनिधियों और लीगी नुमाइन्दों से बनीं। बहुमत वाली काँग्रेस के अधिकृत प्रतिनिधि की हैसियत से श्री जवाहरलाल नेहरू प्रधानमन्त्री बने। वह भी नितान्त धर्म-निरपेक्ष पुरुष थे। दोनों दलों और पुरुषों के तनाव के बीच से विभाजन हुआ, जिसमें से दोनों ओर के राष्ट्र-नेताओं ने समझा था कि निजात मिलेगी लेकिन मिली कायमी मुसीबत। हिदुस्तान पाकिस्तान आज तक पूरी तरह उस समस्या से मुक्त नहीं हैं। कश्मीर का बहुमत इस्लामी है। इसलिए दावा है कि वह पाकिस्तान का है। हिन्दुस्तान उतना ही पुरजोर नाहक है कि हमारे यहाँ सब धर्म हैं और इस्लाम की वजह से कोई हमसें बाहर नहीं हो जाता। दो लड़ाइयाँ हुई हैं और मालुम होता है कि दोनों मुल्कों के बीच में जो सीमान्त है वह आरजी ही है। कश्मीर का एक हिस्सा पाकिस्तान के अन्दर है और मानों दोनों तरफ उसको कबूल कर लिया गया है।

लेकिन यह ठहराव सियासती ही है। आशा नहीं की जा सकती है, और न ही की जानी चाहिए, कि हिन्दुस्तान का मुसलमान यह भूले कि पाकिस्तान इस्लाम के नाम पर बना है। इस्लाम की वफादारी किसी हालत में मुस्लिम के लिए दूसरे नम्बर पर नहीं आ सकती। मजहब सियासत से हमेशा इन्सान से गहरी वफादारी माँगता है। भले हैं वे मुसलमान, जो कह सकते हैं कि वे हिन्दुस्तानी पहले हैं, मुसलमान बाद में। पर सिर्फ भलाई में पूरी सच्चाई समा नहीं जाती।

धर्म और सम्प्रदाय

मैं मानता हूँ कि धर्म मनुष्य के लिए सर्वोपरि है। उससे निरपेक्ष हो जाता है तो ही सर्वोपरि उसके लिए सम्प्रदाय हो सकता है। गाँधी और गोड्से में ठीक यहीं अन्तर था। गाँधी ने सनातन सिद्धान्त के अधीन जान को खतरे में डालकर, अनशन तक करके, काँग्रेसी सरकार से पाकिस्तान को 55 करोड़ रुपये का ऋण चुकवा कर अपना (हिन्दू) धर्म पाला और गोड्से ने, हिन्दू सम्प्रदाय की रक्षा के हित में इसे घोर अन्याय और पाप समझकर गाँधी का प्राणान्त करना अपना कर्तव्य माना।

धर्म और सम्प्रदाय के इस अन्तर पर गहरा मनन करने की आवश्यकता है। धर्म ही है जिसकी आस्था पर सम्प्रदाय गौण बन सकता है। जिसने धर्म को गौण

मान लिया, उसके लिए सम्प्रदाय ही अनायास प्रमुख बने बिना न रहेगा। राजनीति के लिए यह सम्भव है कि वह धर्म को गौण मान ले, लेकिन इसी कारण उसके लिए अनिवार्य हो रहता है कि अल्प-मत के नाम पर वह हर सम्प्रदाय को केवल स्वीकार ही न करे, बल्कि उसको प्रधानता और विशिष्टता भी दें।

धर्म अगर सच्चा है, फिर चाहे नाम से वह कुछ भी क्यों न हो, पड़ोसी को लांघ नहीं सकता। साम्प्रदायिक जन है जो यही किया करता है। हिन्दू, अगर पड़ोसी मुसलमान है, तो उसे लाँघकर दूर-दराज के हिन्दू को आसानी से अपना लेगा। यही मुसलमान का हाल है; वह पड़ोसी हिन्दू को जानने के झंझट में नहीं पड़ेगा। सही हिन्दू और सही मुस्लिम सही नागरिक हुए बिना न रह सकेगा। वह पड़ोसी-धर्म समझेगा और हिलमिल कर रहना ही उसके लिए कर्त्तव्य हो सकेगा। यह तो धर्म-निरपेक्ष जन हैं जिसे साम्प्रदायिक मंच बहका के और असामाजिक बनने की दिशा में उसे मोड़ दे सकता है।

मैं मानता हूँ कि धर्म-निरपेक्ष शब्द राज्य के लिए और राजनीति के लिए ही बस उपयुक्त है। किसी इन्सान को हक नहीं है कि वह धर्म-निरपेक्ष हो। आशय कि धर्म-निरपेक्षताएँ राजकाज की सीमा का संकेत हैं। ऊपरी व्यवस्था से आगे राजनीति की पहुँच नहीं है। सांस्कृतिक, नैतिक, आध्यात्मिक जीवन के आयाम उसके वश से बाहर के हैं। किन्तु मनुष्य के विकास के लिए वे उतने ही आवश्यक हैं। इन आयामों को नजरंदाज नहीं किया जा सकता। धर्म-निरपेक्षता का साराशय यही कि राज्य की नीति जीवन के एक पक्ष को छू सकती है, जीवन की समग्र और अखण्ड नीति तो सही अर्थों में उन्हीं महापुरुषों से मानव-जाति को प्राप्त होती रही है जिन्हें धर्म-प्रवर्तक माना गया है। नीति की उस अखण्डता और समग्रता से विलग होकर राजनीति फिर प्रपंच-मात्र ही रह जाएगी।

गाँधी के बाद

मुझे प्रतीत होता है कि गाँधी के जाने के बाद भारतीय राजनीति में यही दुर्घटना घटित होती गयी है। नैतिक मूल्यों का निरन्तर ह्रास हुआ है। यहाँ तक कि शायद आज उन मूल्यों को राजनीति के लिए मानो सर्वथा अनुपयुक्त और असंगत ही मान लिया गया है।

अपने स्वार्थ के साथ क्या किया जाए। धर्म ही है जो कहेगा कि स्वार्थ का विसर्जन करो। धर्म के उस संकेत को सुना-अनसुना किया तो लगने लगेगा कि स्वार्थ का उपार्जन पुष्टीकरण और विस्तृतीकरण ही जीवन का एकमात्र लक्ष्य है।

आज यही दीख रहा है। चुनाव खर्चीले-पर-खर्चीले होते जा रहे हैं। चुने

जाने पर, सांसद या सभासद खर्चा करेगा तो क्या उसकी भरपायी से बचेगा? लोकतन्त्र वही न, जो चुनाव की परिपाटी पर खड़ा है? अगर चुनाव में से श्रद्धा का फलित नहीं मिलता, सिर्फ संगठित स्वार्थ उसके आधार में रहता है, तो उस नीव पर खड़ा लोकतन्त्र क्या स्थिर रह सकेगा? क्या वह कुछ देश का भला कर सकेगा?

यह प्रश्न इस या उस दल का नहीं है। इन्दिराजी का काँग्रेस दल गिरा और जनता-दल आया तो धूम मचाई थी कि दूसरी स्वतन्त्रता आयी है। पर मालूम हुआ कि सिर्फ दूसरा दल आया था, कि जो अपने में दल तक न था। वह गिरा, परास्त और पराजित इन्दिरा गाँधी देश के प्रबल बहुमत से फिर सत्ता पर आयीं। विरोध पक्ष अब एकदम बिखरा है और प्रभावी विरोध तक करने में असमर्थ है। ऐसी हालत में क्या सत्ता-पक्ष और विरोध-पक्ष वाली दो-पार्टी की परिपाटी की रुढ़ि को चलाते जाना ही आवश्यक है? क्या यह सम्भव नहीं है कि नैतिक-सैद्धान्तिक बातों पर सहयोग और सत्याग्रह का हक सुरक्षित रखकर विरोधपक्ष सत्तारूढ़ दल के साथ सामान्य सहयोग की नीति अपनायें? ऐसा हो तो देश में एक सौम्य और रचनात्मक राजनीति का उदय हो सकता है। इस समय सक्रियता और प्रभावशीलता की दृष्टि से भारतीय जनता पार्टी को विरोधपक्ष में किंचित विचारणीय माना जा सकता है। धारणा है उसको राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ का पृष्ट-बल प्राप्त है। काँग्रेस (इ) और रा. स्व. सं. के बीच तनिक भी सद्भाव नहीं है। क्या वह सद्भाव का अभाव आवश्यक है? संघ अपने को सांस्कृतिक संकीर्णता से मुक्त मानता है। मैं समझता हूँ कि संकीर्णता से आगे वह सम्प्रदाय की सीमा से भी अपने को मुक्त कर सकता है। धर्म-निरपेक्षता उसका आदर्श नहीं है। समय है कि इस देश में रचनात्मक राजनीति का उदय और अभ्युदय हो। संघ के पास संगठन है और सत्ता की प्यास नहीं है। इसलिए मेरी आशा है कि एक सात्विक एवं रचनात्मक राजनीति और राष्ट्र-नीति के उदय में संघ सत्ता-प्राप्त दल को अपना मुक्त सहयोग अर्पण करके बड़ा योगदान दे सकता है। संशय की खाईं बीच में से हटायी जा सकती है।

आज देश को एकता की परम आवश्यकता है। अन्तरराष्ट्रीय क्षेत्र में उसका विशेष मान का स्थान नहीं है। आस-पास के सम्बन्ध भी विश्वस्त और आश्वस्त नहीं हैं। ऐसे समय राजनीतिक विवाद देश को कमजोर करेंगे। त्रुटियाँ हैं और दूसरी तरह के भी सवाल हैं। खासतौर पर उनके कारण और भी राजनीतिक क्षेत्र में सुस्थिरता लाने की आवश्यकता है। मैं मानता हूँ कि अल्पमत के प्रश्न को राजनीति, बहुत उभारेगी नहीं, क्योंकि अन्त में वह कृत्रिम प्रश्न है। नागरिकता का नहीं, वह गुटवाद का प्रश्न है। जातिवाद, भाषावाद, क्षेत्रवाद आदि सम्प्रदायवाद

के समान गुटवाद ही तो है।

रियायत की कोशिश

लोकतन्त्र में सभी तरह के गुट दबाव की नीति अपनाने और सरकार से अपने लिए रियायत पा लेने की कोशिश करते रहने की आदत में पड़ गये हैं। सरकार दृढ़ और संकल्पशील हो सकती है, यदि देश में सामान्य सहयोग का वातावरण हो। विरोध-पक्ष के लिए अवसर है कि वह उस प्रकार के वातावरण को लाने का प्रयास करें। प्रधानमन्त्री की हैसियत से श्रीमती इन्दिरा गाँधी अपने दल की नहीं, देशभर की नेता हैं। आवश्यक नहीं कि सत्ता में विरोध-पक्ष को शामिल किया ही जाए, लेकिन विश्वास और सहयोग का हाथ वह बढ़ा सकती हैं और देश में एक प्रकार की राष्ट्र-भावना के पुनरोद्भव को सम्भव बना सकती है।
□

देश की प्रथम आवश्यकता एकता है

भारत सरकार को अपने लिए आवश्यक हुआ है सहारा दो अध्यादेशों का। बताया गया है कि इनका उपयोग आर्थिक अपराधों और अपराधियों के लिए होगा। तस्करी और जमाखोरी की वारदातों को खत्म करने के लिए अतिरिक्त कानून से उसके हाथ मजबूत किये जाएँ यह जरूरी है।

लगभग प्रतिपक्ष के सभी अंगों की ओर से विरोध में आवाज उठी है। अध्यादेश व्यापक है और उन्हें प्रतीत होता है कि उनका उपयोग राजनीतिक असहमति को उठाने के लिए भी कर लिया जा सकता है।

राजनीतिक क्षेत्र में आज बेहद अशान्ति है। महँगाई आसमान छू रही है। आपस में भय-संशय व्याप्त है। हर गुट अपने-अपने हितों के लिए सरकार पर दबाव लाना आवश्यक मान रहा है। कानून और व्यवस्था की स्थिति कमजोर है। जनमानस में आदर और पालन का भाव उठा-सा जा रहा है। कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि सरकार अपने काम में सफल नहीं दीख रही है।

प्रधानमन्त्री इन्दिरा गाँधी के दल को प्रबल बहुमत मिला और केन्द्र के अतिरिक्त अधिकांश राज्यों में भी उसकी सरकार है। अपेक्षा थी कि अब शासन सुदृढ़ होगा और स्थिति सम्भलेगी और यदि ऐसा नहीं हो पाया तो कारण यही माना जाना चाहिए कि दल को मत तो मिले, सच्ची श्रद्धा नहीं मिली।

अपराध, आर्थिक अथवा अन्य अकारण नहीं उपज जाते। उनके लिए कारण लोक-जीवन में उपस्थित रहते हैं। उन कारणों को सामाजिक और आर्थिक अवस्थाओं में देखा जा सकता है। कानून से और दण्ड से सही-सही उनका ऊपरी उपचार भी नहीं हो पाता। उसी दण्डशक्ति का भरोसा बाँधकर यदि शासन-प्रशासन समाज को स्वस्थता देने की सोचता है तो भूल करता है। अध्यादेशों का इंगित है कि या तो वर्तमान न्यायतन्त्र अपर्याप्त है, या फिर शासन-तन्त्र ही असमर्थ है। राज्य के एक्जेक्टिव (कार्यकारी) अंग को उत्तरोत्तर अधिक ताकत पहुँचाते जाने के उपाय से जबकि उस न्याय-तन्त्र की गरिमा घटती है तब शासन की नैतिक स्थिति भी

दुर्बल पड़ती है। राजनैतिक क्षेत्र में विपक्षी दलों में सरकारी नीयत पर संशय बढ़ता है और परिणामत: सार्वजनिक क्षोभ और असन्तोष को बढ़ावा मिलता है।

हम इसी परिस्थिति में से गुजर रहे हैं। मैं मानता हूँ कि देश की प्रथम आवश्यकता एकता है। साम्प्रदायिक और वर्गीय एकता ही नहीं, राजनीतिक नेतृत्व की एकता भी। नेतृत्व की एकता का आशय राजनीतिक मत-मतान्तर का अभाव नहीं है। यदि राजनीति का सत्य रचनात्मक हो जाता है तो राजनीतिक दिशा की एकता असम्भव नहीं रहती। दलगत लोकतन्त्र को हमने नकल और उधार में पाया है। उसको ज्यों-का-त्यों मानना और उसी प्रकार चलाना भारत के लिए हितकारी सिद्ध नहीं हो रहा है। भारत वह देश है जहाँ दो-तिहाई से भी अधिक जन दीनता की रेखा के तले रहते हैं, जहाँ की सामाजिक संरचना के आधार में अब तक भी इस या उस प्रकार की धर्म-प्राणता है। परस्पर प्रतिस्पर्धा के आधार पर खड़ी राजनीति हमें रास नहीं आएगी। क्या यह नहीं हो सकता कि राजनीतिक स्तर पर विग्रह का वातावरण मन्द हो और जो शक्ति परस्पर जय-पराजय की होड़ में व्यर्थ ही क्षय होती है वह रचनात्मक कार्यों में लगे। देश की प्रथम आवश्यकता है कि हर किसी को दो जून खाना मिले, पीने लायक पानी मिले, खाली हाथों को काम मिले और ठहरने का ठौर-ठिकाना मिले। ऊपर चलती रहने वाली उठा-पटक से नीचे का दैन्य-दारिद्रय घोर से घोरतर होता जा रहा है। गाँव से उखड़कर लोग भागे जा रहे हैं शहर की तरफ, जहाँ वे फिर स्लमों की और अपराध की वृद्धि और सृष्टि करते हैं। इस अपराध की उपज को डन्डे के बल से रोका नहीं जा सकता, कानून खुद तो कुछ करता नहीं, उसके पालन के लिए बीच में पुलिस आदि से बने मानव-तन्त्र की आवश्यकता होती है। उस यन्त्र में जुटा आदमी क्या आदमी ही नहीं होता है? अर्थात ये कानून के एजेन्ट भी बड़ी आसानी से अपराध के सहयोगी बने देखे जाते हैं।

संस्कार की आवश्यकता

इस भयावह स्थिति का उपचार तब तक नहीं होगा जब तक देश की राजनीति को ही संस्कार नहीं प्राप्त होता। आवश्यक है कि उसको कुछ सौम्यता मिले, स्थिरता मिले। अथवा भ्रष्ट राजनीति तमाम लोक-जीवन को भ्रष्ट बना डालती है। यदि राजनीतिक नेतृत्व आपसी बदाबदी की नीति में से प्राप्त होता है और उसी नीति पर काम करने के लिए बाध्य रहता है तो किन्हीं अध्यादेशों का सहारा, यहाँ तक कि इमरजेंसी तक का उपाय, काम नहीं देगा। असामाजिक तत्त्व क्षुब्ध और रुग्ण समाज में से उपजते ही रहेंगे। ऊपरी बल से किए गये उपचार स्वयं उस उपज को बढ़ावा दे निकलेंगे, उसे समाप्त नहीं कर सकेंगे।

इस गिरती हुई स्थिति के सम्भलने में पहल करने का दायित्व उस वर्ग पर आता है जो शासन पर है। उसे नहीं मान लेना चाहिए कि राज का दायित्व उस पर आया है तो सिर्फ उसी दल के सहारे वह पूरा हो सकेगा। नहीं, व्यापक जनसहयोग की आवश्यकता होगी। पहले उसे अपने चित्त में से भय-संशय को दूर करना होगा। रचनात्मक मुद्दों पर विपक्षी दलों का सहयोग आमन्त्रित और उपलब्ध करना होगा। सत्ता और स्पर्धा की राजनीति को सहयोग और विश्वास की राजनीति में परिणत करना है। अध्यादेश अविश्वास का संकेत देते हैं। उसके आगे संकेत देते हैं भय का भी। आत्म-विश्वस्त शासक में इन दोनों के लिए अवकाश नहीं होना चाहिए। भारत की राजनीति, आसपास देशों में जो देखी जाती है, उस प्रकार और प्रकृति की नहीं रही है। उसके आधार में अब तक गाँधी की अहिंसा और परस्पर सहिष्णुता है। स्वराज के बाद से जितना भी कुछ परिवर्तन क्यों न हुआ हो, आज भी काँग्रेस के आदमी खद्दर के बाने में दिखाई देते हैं। लगभग वे विवश हैं कि कम से कम ऊपरी तौर पर तो वे सजधज में न दिखें। यह परम्परा भारत में अब तक मर नहीं पायी है। स्वराज के अनन्तर यहाँ अनेक-बार सत्तांतरण हुए हैं। पर ये सब शान्त चुनावों द्वारा सम्पन्न शान्त परिवर्तन थे। यह उज्ज्वल परम्परा अन्यायान्य देशों से छाँटकर भारत को अलग कर देती है। अर्थात जहाँ स्पर्धा-जन्य से अलग सहयोग मूलक नेतृत्त्व ही सही अर्थों में सफल होगा। वह अपने में अनायास एक नैतिक नेतृत्त्व होगा। इस भारत भूमि पर अवश्य यह सम्भव हो सकता है। किन्तु तब नहीं जबकि भरोसा अध्यादेशों पर हो, बल्कि सिर्फ तभी की जब सत्ता को पवित्र थाती माना जाएगा और उसको अपनी बनाए रखने की चिन्ता से शासक मुक्त होगा। क्या लोक-तान्त्रिक सत्ता सचमुच लोगों द्वारा सौंपी हुई वह धरोहर ही नहीं है. सो किसी की अपनी नहीं है, सिर्फ कुछ काल के लिए किसी एक को सौंपी जाती है?

सार-संक्षेप यह कि लोकतन्त्र में शासक को अपना दंड-बल बढ़ाना नहीं है, प्रत्युत वह बल बढ़ाना है जो लोक-विश्वास और लोक-सेवा में से प्राप्त होता है।

□

शक्ति और नीति के सन्तुलन से ही स्थिरता

समाज-व्यवस्था और शासन व्यवस्था की स्थिरता के लिए दो तत्त्वों का सन्तुलन आवश्यक है। वे हैं शक्ति और नीति। शक्ति में वेग है, पर उसे नियमन की आवश्यकता होती है जिसे नीति से मिलना चाहिए। शक्ति को दिशा भी नीति से ही प्राप्त होती है!

आज प्रतीत होता है कि यह सन्तुलन अपने देश में टूट-सा रहा है। शक्ति चुनाव के प्रबल बहुमत में से जिसको प्राप्त हुई है वह दल आत्मविश्वस्त तो भले कहा जाए, पूरी तौर से उदार नहीं है और विपक्ष के दलों के प्रति उसके चित में कदाचित संशय बना ही रहता है। वे विपक्षी दल भी फिर शक्ति के ही उपासक है और अपने व्यवहार में उदारता की नीति उनके लिए सम्भव नहीं हो पाती है। इस प्रकार सारा राजनीतिक क्षेत्र ही मानो अस्थिर है और विधि व्यवस्था के जर्जरित होकर टूट पड़ने की आशंका से वातावरण मुक्त नहीं है।

बड़ा प्रश्न जो देश को मथ रहा है वह साम्प्रदायिकता का है। जातिवाद, वर्गवाद, क्षेत्रवाद आदि को भी इसी कोष्ठक में लिया जा सकता है।

लज्जा और कलंक

मुस्लिम पर्व ईद का दिन आने को है और खबर है कि मुरादाबाद, अलीगढ़ आदि में सेना को तैनात रहने के आदेश दे दिये गये हैं। सेना को कानून और व्यवस्था के अन्तरंग मामलों में दखल देने को मजबूर होना पड़ जाए तो देश के लिए इससे बड़ी लज्जा और कलंक की बात क्या हो सकती है? लेकिन हालत यही है और कहा जा सकता है कि विभाजन के लिए और विभाजन के बाद साम्प्रदायिक समस्या का यह उपग्रह बराबर चिन्तनीय बना रहा है। हो सकता है कि सतह पर उसके लक्षण कभी उतने प्रत्यक्ष न हो, पर सतह के नीचे वह सिर्फ विद्यमान ही नहीं रहा है बल्कि सुलगता और धधकता भी रहा है। पुलिस और फौज से अगर ऊपर से उसका शमन भी कर लिया गया है, पर उससे भ्रम में पड़े रहने की भूल नहीं

करनी चाहिए।

स्पष्ट है कि धर्म के साथ अनायास एक सम्प्रदाय खड़ा हो जाता है। किन्तु ये साम्प्रदायिकता आधार में धर्म की ही अपेक्षा नहीं रखता। किसी तात्त्विक या राजनीतिक मतवाद को लेकर भी आसानी से सम्प्रदाय खड़े कर लिए जाते हैं। अन्याय आग्रह के आसपास भी साम्प्रदायिक संघटनाएँ हो चलती हैं जिनमें फिर इस साम्प्रदायिकता के रोग के बीजाणु समाए रहते हैं।

किन्तु जो समस्या बेचैनी पैदा करती है वह हिन्दू-मुस्लिम साम्प्रदायिकता कहीं जाती है। हिन्दू भारत में बहुसंख्यक माने जाते हैं, शेष हैं अल्पसंख्यक। सच यह कि हिन्दू की बहुसंख्यकता कुल मिलाकर एक किंवदन्ती-सी बनी जा रही है। हिन्दुओं में भेद-प्रभेद है और बहुत है जो अपने को एक अलग राजनैतिक अल्पमत वाली इकाई मानने का दावा करते या स्पर्धा रखते हैं। इस आधार पर डॉ. अम्बेडकर की प्रेरणा से नव बौद्धों का सम्प्रदाय खड़ा हो गया है। अनुसूचित जातियाँ, हरिजन, गिरीजन आदि भी उठ सकते या उठाये जा सकते हैं।

कल्याणकारी राज इन सबकी सुख-सुविधा का दायित्व लेगा और उसकी व्यवस्था करेगा। इस अर्थ में वह सेक्युलर होगा और पक्षपात नहीं करेगा। उसमें समभाव होगा धर्मों के प्रति, और मतवादों अथवा अन्य समुदायों के प्रति! लेकिन जो बात आवश्यक होगी वह यह कि नागरिकता एक होगी, समसामान्य होगी! उस स्तर पर भेदभाव बरता नहीं जा सकेगा।

क्या हिन्दू नागरिक और मुस्लिम नागरिक दो हो सकते हैं? सामान्यता नहीं हो सकते। पर मालूम होता है कि जैसे वे दो हैं और यहीं बड़ी कठिनाई है। सिविल लॉ दोनों के लिए एक नहीं है और मुस्लिम कौमियत के आधार पर हिन्दुस्तान में से बने पाकिस्तान के कारण मालूम होता है कि पूरी तरह से वह नागरिकता एक हो भी नहीं सकती।

मैं मानता हूँ कि राजनीति के सामने बड़ा सवाल यही है कि वह शहरियत या नागरिकता क्यों एक नहीं हो सकती? और कैसे वह एक की जा सकती है?

राजनीतिक रुख

साहस और कदाचित धृष्टतापूर्वक मुझे यह कहना होता है कि इस सम्बन्ध में राजनीति का रुख बहुत साफ नहीं हो रहा है। हिन्दू देखा जाए तो कोई सुपरिभाषित और सुनिर्दिष्ट धर्म नहीं है। उपासना की विधियाँ यहाँ अनेक हैं। देवता अनेक, पन्थ अनेक, ग्रन्थ अनेक। केन्द्र में कोई अमुक प्रवर्तक नहीं मात्र एक ग्रन्थ नहीं, और सबके लिए पूजा स्थल एक नहीं! इस कारण वह कोई संगठित और अनुशासित अमुक सम्प्रदाय भी नहीं है। असल में तो हिन्दू शब्द ही यहाँ की भूमि से नहीं

उपजा। भारत भूखण्ड के रहवासियों को बाहर के लोगों ने बिना भेदभाव के हिन्दू कहा और यह शब्द चल पड़ा। लेकिन इस्लाम भिन्न है। उसके पास साम्प्रदायिक संगठनहीनता नहीं है। उसके पास एक ग्रन्थ है और अपनी एक शरीयत है। यह विशिष्टता उसको बल देती है और वह धर्म है जो अपने को बढ़ा और फैला सकता है। तब लीग की वहाँ इजाजत है, बल्कि वह फर्ज है। इस्लाम की यह विशेषता, खास कर उसका बद्दत का सिद्धान्त, मुस्लिम सम्प्रदाय के हक में पड़ता है। मैं समझता हूँ कि उसके स्पर्श से 'हिन्दू' शब्द में भी बल आया है और उसकी विविधता को किन्चित एकता का सूत्र मिला है। कुल मिलाकर इस्लाम ने भारत समाज को और संस्कृति को सम्पन्न किया है। लेकिन राजनीति ने, इस्लाम धर्म ने जो कुछ भारत को दिया, उसको नहीं देखा। देखा उस धर्म के बाहरी शरीर सम्प्रदाय को। धर्म मुस्लिम सम्प्रदाय को अपने फरायज की तरफ रागिब रखता था। लेकिन राजनीति ने उस सम्प्रदाय की गलत अभिमुखता की ओर और उसे अपने अलग अधिकारों की तरफ मोड़ दिया। उसको एक राजनीतिक इकाई में बदल दिया। तभी वह राजनेताओं के चक्र में उस मुस्लिम लीग के हाथों अपनी पेशवाई सम्भाल बैठा जिसके कर्णधार कायदे-आजम मोहम्मद अली जिन्ना थे। कहा नहीं जा सकता कि जिन्ना साहब को सही तौर पर नमाज अदा करना आती भी थी कि नहीं। उस वक्त की जमीयत-उल-उल्मा जैसी जमात को अगर मुसलमानों ने कबूल नहीं किया और कायदे आजम के हाथों में उस सम्प्रदाय की पूरी कमान आ रही तो यह कारनामा धर्म का नहीं था, बल्कि राजनीति और राजनेताओं का था। उन्हीं के बीच में विभाजन का निश्चय हुआ और तब से दोनों देशों की जनता आज तक उसक विभाजन का फल भोग रही है।

अगर राजनीति सचमुच सेक्युलर है, और उसे सेक्युलर रहना है, तो क्या यह उचित नहीं है कि सब सम्प्रदायों को स्वीकार किया जाए, लेकिन अल्पमत के नाम पर किसी को राजनीतिक इकाई का रूप न पहनने दिया जाए। सम्प्रदाय रहे और उनके नेता अपने-अपने क्षेत्र में धर्म का, संस्कृति का, पुरातत्त्व का, इतिहास का, शिक्षण का, समाज सुधार का आदि-आदि का रचनात्मक कार्य पूरी मुक्तता के साथ करते रहे। उस आधार पर वे राजनीतिक पार्टी न बना सकें। चुनाव में वे अपने उम्मीदवार न खड़े कर सकें। या ऐसे उम्मीदवारों को राजनीतिक पार्टियाँ अपनाने से इन्कार कर दें। राजनीति उल्टे अल्पमत के नाम पर उनके अधिकारों की रक्षा आदि की बातें करके उनमें पृथकता का भाव लाती, बढ़ाती और उन्हें दूसरे सम्प्रदायों के विरोध में मानो सुरक्षा का आश्वासन देती है। इस नीति के अन्तर्गत सम्प्रदायों का बुनियादी विरोध मानो गर्भित मान लिया जाता है। अँग्रेज ने अपनी शहंशाहियत के वक्त यही नीति बरती थी। इसी बल पर पूरी एक सदी

से भी अधिक उसका साम्राज्य यहाँ कायम रहता चला गया। बड़ी विडम्बना यह है कि अब तक हम उसी परम्परा को स्वीकार करते चले आ रहे हैं। अधिकार उन्हें अलग रखते हैं, बल्कि विरोध में जाते हैं। कर्तव्य उन्हें मिलाएँगे और एक बना। आनुपातिक प्रतिनिधित्व और आरक्षण इसी अहलदगी को, इस दूरी को और गहरा करते जाने के सिवा और कुछ न कर सकेगा। क्या भारत में अल्पमत को बहुमत से फौज-पुलिस के जरिए सुरक्षित बनाने की बात ही राज्य सोचेगा और ऊपर से शिकायत करेगा कि आपसी सद्भाव दोनों में क्यों नहीं है? इन्दिराजी ने अभी मुरादाबाद में कहा, और ठीक कहा कि यदि साम्प्रदायिक सद्‌भाव न हो तो देश डूब जाएगा। लेकिन भेदभाव दूर करने का यह तरीका होगा कि दोनों के दरमियान मानो उन्हें एक-दूसरे से बचाने के लिए अपनी फौज लेकर सत्ताधीश बैठे और दोनों को यह भरोसा दिलाएँ कि मैं हूँ वह तीसरी ताकत, वह सेक्युलर ताकत जो दोनों के बीच न्याय करेगी और दोनों को बराबर में रखेगी? इस बन्दरबाट का जिम्मा जब तक राजनीति और राजनेता अपने हाथ में रखेगा, तब तक सम्प्रदाय बँटे रहेगे, फटे रहेंगे और सिर्फ खासकर चुनाव के वक्त, राजनेता के हाथ में खेलते रहेंगे।

राजनेता को जानना चाहिए कि धर्म-निरपेक्ष यह हो सकता है, लेकिन इन्सान धर्मनिरपेक्ष नहीं है, और नहीं हो सकता। क्योंकि धर्म है, जो सबको एक करता है और इन्सानियत को आखिर में एक होना है। सिर्फ भारत में ही नहीं, अन्तरराष्ट्रीय क्षेत्र में भी मारकाट की आज की युद्ध नीति से उसे पार होना है। राज की राजनीति उसे संघर्ष और युद्ध तक ला सकती है, उसके पार नहीं ले जा सकती। इन्सान को पार भी जाना है। जिस नीति से पार कराया जाएगा, वह होगी, राज की नहीं धर्म की नीति। इस्लाम के बद्‌दत और हिन्दू के एकेश्वरवाद की नीति।

राजनीति क्या धर्म की इस मूल-भूत नीति से अपने स्वप्न को सही दिशा दे नहीं सकेगी? अपने को यथोचित संस्कार क्या दे ही न पाएगी?

□

सम्प्रदायों की राजनीतिक इकाइयाँ

शक्तियों के ध्रुवीकरण की प्रक्रिया शायद अनिवार्य ही है। अन्तरराष्ट्रीय क्षेत्र में तो यह स्थिति एक अरसे से चल रही है। अब भारत के राष्ट्रीय स्तर पर भी मानों चीजें उसी तरफ बढ़ती दिखती हैं।

राजनीतिक और वैचारिक धरातल पर शायद यह प्रक्रिया अनिवार्य के साथ लाभकारी भी हो सकती हो। लेकिन यहाँ सम्भावना बड़ी भी है कि वह ध्रुवीकरण साम्प्रदायिक बिन्दू और रेखा पर हो चले। यदि ऐसा हुआ, और संकेत उस सम्भावनाओं के कम नहीं है, तो इससे बड़े दुर्भाग्य की बात कोई न होगी। पहले तो पाकिस्तान बनकर राजनीतिक भारत ने मानों क्षण के लिए चैन पाया भी हो। पर इस बार वह पूरी तरह तीन-तेरह हो जाएगा। स्थिति उसकी रहेगी भी तो वह पराधीनता से भी गयी बीती होगी।

आज के अखबार में सुर्खियाँ हैं : 'मुरादाबाद में अनिश्चितकाल के लिए कर्फ्यू, 'चार और मरे,' 'गोदरा में मृतक 15' आदि। गये अगस्त में मुरादाबाद में फूटे दंगे का सिलसिला ऊपर से कभी कुछ देर के लिए दबा दिया भी हो, पर प्रतीत होता है कि उसकी सुलग भीतर बराबर वर्तमान रही है और प्रशासन उससे निबटने में अक्षम रहा है। मैं मानता हूँ कि इस कैन्सर का प्रशासनिक स्तर पर कोई इलाज नहीं है। पुलिस मानसिकता की क्षेत्र में कुछ भी प्रभाव डालने में असमर्थ है। असामाजिक तत्त्वों के सम्बन्ध में पुलिस कुछ कारगर हो भी सके, लेकिन जब उस असामाजिकता का आधार ही सामुदायिक धार्मिक कहे जाने वाले आदेशों का तब यहाँ प्रशासन के डण्डे का जोर सर्वथा असंगत हो जाता है।

रोग का उपचार

प्रशासनिक से आगे राजनीतिक स्तर पर भी इस रोग का उपचार मुझे सम्भव नहीं प्रतीत होता है। वहाँ अल्पमत के नाम पर सुरक्षा की अतिरिक्त व्यवस्था की जा सकती है। कुछ विशेषाधिकार और आनुपातिक प्रतिनिधित्व आदि के भी आश्वासन

दिये जा सकते हैं, लेकिन सम्प्रदायों के बीच में बन बैठे संशय और विश्वास का उपचार इस तरह नहीं हो सकता। राजनीति, यदि केवल इसलिए कि वह नितान्त सेक्युलर है, इस क्षेत्र में सफल नहीं हो सकती। धर्म यदि साम्प्रदायिक आवेशों में निमित्त बना लिया जाता है, तो दायित्व धर्म पर और धार्मिकों पर ही आता है कि वे बताएँ कि उत्पात को उत्तेजन देने वाला धर्म है ही नहीं, धर्म का उपहास है। आपस में वैमनस्य यदि सम्भव हो सकता है तो तभी कि जब सम्प्रदायों में तो धर्मभाव समाप्त हो चुका हो।

और यही है भी। इतिहास बताता है कि इस्लाम के आधार पर अलग मुल्क बनाने की तहरीक के नेता अगर कायदे-आजम जिन्ना साहब बने तो सिर्फ इसलिए कि उनका वास्ता मजहब से नहीं, सियासत से था। इस्लाम के मजहब से जिस संस्था का ताल्लुक था, वह थी जमीयत-उल-उलेमा और उसे अलग रियासत की अपनी धर्मपालक के लिए कोई खास जरूरत नहीं मालूम हुई।

तो धर्मभाव की आवश्यकता है। गाँधी और जवाहरलाल नेहरू के नेतृत्व वाली काँग्रेस में यही अन्तर था। काँग्रेस राष्ट्रीय और राजनीतिक के आगे कुछ न हो सकती थी। मानवीय या सांस्कृतिक या नैतिक रहना उसके वश का न था। गाँधी ने चाहा कि हिन्दू अपने और मुस्लिम अपने धर्मशास्त्रों की ओर मुड़े और वहाँ से प्रेरणा प्राप्त करें। वह प्रेरणा दोनों को सच्चा इन्सान और सच्चा नागरिक बनाएगी। तब दोनों अनुभव करेंगे कि धर्म की आत्मा एक है, सिखावन एक है और भाषा का भेद उन्हें भरमा नहीं सकेगा। गाँधी की प्रार्थना में गाया गया, 'ईश्वर अल्लाह तेरे नाम, सबको सन्मति दे भगवान।' लेकिन राजनेता को भगवान की आवश्यकता न थी, जिसकी आवश्यकता मानवता को अपनी अन्तिम एकता के लिए सदा से रहती आयी है, और आगे सदा रहेगी।

राजनीति की प्रमुखता

मैं मानता हूँ कि उस परम ऐक्य के आदर्श को किसी भी हालत में आँख से ओझल नहीं होने देना है। उस आस्था के नीचे हमारी सदा यह कोशिश रहेगी कि भेदों में उस अभेद को खोजें और पहचानें जो हमको संग-साथ रख सकता है। फैसले आपस की बातचीत और सलाह मशवरा से करना सीखें और एक-दूसरे को कम करने की न सोचें। यह आस्था कच्ची पड़ती है तभी होता है कि हम प्रहार पर उतरते हैं और दूसरों की हानि में अपना लाभ देख लेते हैं।

राजनीतिकों के हाथों में देश ने काफी खेल कर देख लिया है। दल समुदाय के पृथक हित या स्वार्थ की धरती से ऊपर उठना उसके लिए संगत नहीं होता है, उसी जमीन पर सदा दे-ले मची रहती है। जीवन पर राजनीति की सर्व प्रमुखता

का मंच भारत का अपना न था। उसके भाग्य में यह पश्चिम से आकर बढ़ा है, पश्चिम से इसने बेहद दक्षता प्राप्त की है। उसके फलस्वरूप वहाँ लड़ाइयाँ होती रही हैं, ऐसी कि जिन्हें विश्व-युद्ध माना गया है। उसी राजनीतिक विलक्षणता के फेर में वर्तमान ध्रुवीकरण की अंगभूत दोनों महाशक्तियों में अत्यन्त संघातिक आणविक शस्त्रों और प्रक्षेपास्त्रों का निर्माण हुए ही जा रहा है। इस निर्माण के साथ सामान्य शस्त्रों के निर्यात का व्यवसाय भी धड़ाधड़ जारी है। अर्थात छोटे-मोटे राष्ट्र विवश हैं कि वे उनके कृपापात्र होकर जियें। और उनका अस्तित्त्व उनकी बड़ी विस्तारवादी योजनाओं के मार्ग में सर्वथा नगण्य ही बना रहे।

इन दो बड़े संगठित गुटों से निरपेक्ष बने रहने की नीति भी अमुक राष्ट्र नेताओं को सूझी थी और कहते हैं कि वह निर्गुट नीति अभी भी साँस ले रही है, पूरी तरह मरी नहीं है, लेकिन जीवन अपनी समग्रता का सन्दर्भ न पा सका और उसके सिर पर चढ़कर राजनैतिक का ही बोलबाला रहा तो निर्गुटता का कहीं अवकाश न रहेगा। आमने-सामने दो सन्नद्ध पक्ष रहेंगे। इस प्रतीक्षा में कि कब घड़ी आए और वे एक-दूसरे पर टूटने का अवसर पा जाएँ।

यह राजनीतिक चित्र है आज की मानव की अवस्था का। इस मानसिकता के हाथ में पड़कर साम्प्रदायिक वैमनस्य की समस्या समाधान की ओर तो जा ही नहीं सकती, केवल उसको धार देते रहा जा सकता है। राजनीति इस देश में उस वैमनस्य को दिन-दिन उत्कट बना रही है और चुनौती है उन रचनात्मक दृष्टि रखनेवालों के लिए कि वे कैसे अपने को, अपने देश को, और देश की समस्याओं को इस ध्रुवीकरण के दलदल से उबार और सुलझाव की ओर ले जाते हैं।

हिन्दू समाज के पास, जैसे कि मुस्लिम और अन्य समाजों के पास अब भी ऐसे सत् पुरुष हैं जो अपने लिए सत्ता नहीं चाहते, प्रत्युत्त सबका हित चाहते हैं। सभी समाजों में सन्त हैं और वे हैं जो सचमुच सेवाभावी हैं। बिलकुल सम्भव और सहज होना चाहिए कि वे परस्पर मिले और परस्पर विश्वास का वातावरण उत्पन्न करें।

सम्प्रदायों के बहुसंख्य जनों का मानस अब भी उनके हाथ में है। वह तो गिने-चुने साम्प्रदायिक नेता जन हैं जो राजनीति में दिखाई देते हैं और अपने स्वार्थों के लिए सामान्य जनता का लाभ उठाने के लिए उन्हें उकसाते और भड़काते हैं। सम्प्रदायों में धार्मिक नेतृत्व सम्प्रदायों को आपस में फटने नहीं देगा, इतना ही नहीं उन्हें परस्पर विश्वास में निकट लाएगा।

साम्प्रदायिक नेतृत्व

साम्प्रदायिक नेतृत्व लौकिकों और धनिकों के हाथों में रहकर सम्प्रदाय को दुनिया-

दारी की तरफ बढ़ाता है। आजकल के पंडित और मौलवियों की जमात का भी शुमार उन्हीं में किया जाना चाहिए, लेकिन हर वर्ग में साधु पुरुष हैं जो खुदगर्जी से ऊपर हैं। सवाल उनके सामने है, देश उनकी तरफ देखेगा। वे हैं जो देश को टूटने से बचा सकेंगे। वे हैं जो सच्चे अर्थों में निष्पक्ष (सेक्युलर) इसलिए हो सकेंगे कि वे मन से धार्मिक हैं। इसीलिए सब धर्मों के प्रति उनमें समभाव और आदरभाव होगा। जिनमें धर्म के लिए अवज्ञा हो उनका तो लड़ाई में से कुछ पाना भी हो सकता है। किन्तु अगर सम्प्रदायों में सचमुच लड़ाई होती है तो धार्मिक का तो आधार-धर्म ही उससे लुट जाता है।

सम्प्रदायों को राजनीतिक इकाइयों का रूप पहना दिया गया और पहनाया जा रहा है। उस कारण कठिन है कि साम्प्रदायिक नेतृत्व बदले और उनके रुख में फर्क आये। लेकिन इस नेतृत्व के हाथ में सम्प्रदाय का मत हो सकता है, मन नहीं। मन तो धर्माचार्यों और धर्मपुरुषों और धर्म-ग्रन्थों के हाथ में ही है। भारत एक तरह आज धर्म-संकट में ही है। संकट हैं कुल मानव सभ्यता का। मुझे आशा है कि सच्चे धर्म पुरुष उसके प्रति जगेंगे और इस खतरे के वक्त देश की एकात्मता की रक्षा में लगेंगे।

□

खिदमत की जगह हुकूमत की राजनीति

श्रीमती इन्दिरा गाँधी का कश्मीर का दौरा, अखबारों ने बताया, प्रधानमन्त्री नहीं अपने दल की अध्यक्ष की हैसियत से हो रहा है। इसलिए स्वाभाविक था कि वहाँ उनकी प्रवृत्तियों का मुख्य लक्ष्य काँग्रेस की छवि को चमकाना और अपने पक्ष को पुष्ट और प्रबल करना रहा हो। वहाँ हुई आम सभाओं में, जहाँ श्रोताओं की संख्या का अन्त न था, उन्होंने कहा कि उनकी यह काँग्रेस पार्टी थी जिसने कुर्बानियां दीं और देश को आजाद कराया। मुल्क की खिदमत का ही एक ध्येय उसका रहा और उसने ये-ये किया।

कहा और गलत नहीं कहा, लेकिन बात यह एक हद तक ही सही है। वह हद है स्वराज्य आने तक के समय की। लेकिन तब तक काँग्रेस राजनीतिक पार्टी ही न थी, उससे कहीं-कहीं ज्यादा थी। मानो वह देश की अग्रणीय प्रतिनिधि संस्था थी। जवाहरलाल नेहरू उसके साँस्थानिक नेता थे, गाँधी, कहा जा सकता है, उसके हृदय थे, उसकी आत्मा थे। लेकिन स्वराज्य के समय के आसपास तो वह उसके साधारण सदस्य तक न थे।

काँग्रेस की कुर्बानियाँ

सन् 1947 में, जैसा भी सही स्वराज्य आया। स्वराज्य को सम्भाला नेशनल काँग्रेस और मुस्लिम लीग ने मिलकर, लेकिन यह मिलना सम्भला नहीं, वह स्वराज्य भी नहीं सम्भव हो सका। उपचार के तौर पर हिन्दुस्तान और पाकिस्तान का विभाजन आ गया और नेहरू काँग्रेस ने इस कदर हिन्दुस्तान के स्वराज्य को सम्भाल रखने की जिम्मेदारी सिर ली।

सही है कि काँग्रेस के झण्डे के नीचे देशवासियों ने कुर्बानियाँ दी थीं। इस बलिदानी चरित्र से कांग्रेस को वह पुण्य-बल प्राप्त हुआ श्री जवाहरलाल नेहरू, उसके बाद लाल बहादुर शास्त्री, और फिर श्रीमती इन्दिरा गाँधी तक उसके शासन को कोई न हिला सका। चुनाव पर चुनाव हुए, और यद्यपि काँग्रेस का गौरव और

चुनावों में प्राप्त हुए मतदानों का ग्राफ निरन्तर गिरता गया, तो भी कोई और दल उसका सामना न ले सका। पर धीरे-धीरे गाँधी के समय की काँग्रेस द्वारा सेवा और त्याग के आधार पर अर्जित हुआ पुण्य क्षीण और क्षय होता गया। तब दूसरे दल उभरे और उन्होंने ताकत पकड़ी। केन्द्र में नहीं तो राज्यों में संविद अथवा अन्य दलीय सरकारें बनीं। स्वयं काँग्रेस अपने में बँटती गयी। अन्त में अपने शासन को नाना चुनौतियों से बचाये रखने के लिए इन्दिरागाँधी को एमरजेन्सी का सहारा लेना पड़ा। उसके बाद का इतिहास एकदम आँखों के सामने है और उसे दुहराने की जरूरत नहीं । स्पष्ट है कि आखिर केन्द्र की भी काँग्रेस सरकार को देश ने प्रचँड बहुमत से गिरा डाला, लेकिन जनता पार्टी के आपसी विघटन के परिणाम स्वरूप यद्यपि काँग्रेस (इ) को मतदान में भारी विजय प्राप्त होने के कारण इन्दिराजी के हाथ फिर शासन की बागडोर आयी है, पर क्या राज्यों में और क्या केन्द्र में, वे सरकारें अपने को मजबूत और निश्शंक अनुभव नहीं कर रही हैं? यह परिणाम स्वयं उनकी कार्यविधि से स्पष्ट प्राप्त किया जा सकता है। आवश्यकता होती है विशेषकर केन्द्र की सरकार को, कि अपने अधिकारों को अध्यादेशों के सहारे और भी फैलाया बढ़ाया जाए। दूसरी स्थितियाँ भी प्रमाणित करती हैं कि स्थिति पर शासन का काबू पूरा नहीं है और हठात व्यवस्था और कानून की समस्याएँ पैदा होती ही रहती हैं। पृथक भाव और गुटवाद बढ़ रहा है और कुछ भी आधार इस मनोवृत्ति के लिए काफी रहता है। आधार जाति का, सम्प्रदाय का, भाषा का, वाद का, क्षेत्र का, अथवा वर्गहित का।

खिदमत या हुकूमत

मुझे प्रतीत होता है कि काँग्रेस, जिसको इन्दिरा-जी त्याग और बलिदान की काँग्रेस कहती हैं, वह खिदमत से सरककर हुकूमत पर रहने में अधिक विश्वास करने लगी हैं, लेकिन सेवा और शासन कुछ अनमिल-सी चीजें हैं। फिर भी काँग्रेस ने स्वराज्य आने के समय कोशिश की कि खिदमत और हुकूमत के, और सेवा और शासन के दो भागों को हठात मिलाकर एक बनाये रखा जाए। चलते-चलते महात्मा गाँधी ने काँग्रेस को वसीयत की शक्ल में मानों चेतावनी दी थी कि वह खिदमत की बन जाए, हुकूमत को न ओढ़े। अपने स्वरूप को सत्ता के चुनाव की बड़ी मशीन से समेट कर लोक-सेवक-संघ में बदल ले। यानि अपने काम को 'लोक' के तल पर रखें, उसके 'तन्त्र' के निर्माण का काम सीधे राष्ट्र के हाथ में रहने दें। पर वह बात पण्डित नेहरू और दूसरे नेताओं की काँग्रेस की समझ में नहीं आयी। उन्होंने माना कि शासन द्वारा सेवा क्यों नहीं हो सकती? हुकूमत के जरिए खिदमत क्यों नहीं की जा सकती? और स्वराज्य के दिन से आज तक

यही नेताई समझ चल रही है। कहना गलत होगा कि नेतागण देश की सेवा ही नहीं चाहते। उनकी भाषा में सेवा की कमी नहीं है, न उसके मन में उसकी कमी मानी जानी चाहिए। सिर्फ इतना है कि खिदमत के खातिर, जरिए के तौर पर, हुकूमत पर कब्जा भी अपने लिए जरूरी समझते हैं। इस ईमान को अपनाये रहने के कारण, मेरा मानना है कि काँग्रेस ने खोया ही खोया है।

राज्य के आसन पर से जो भी सहायता और सेवा होती है वह पैसे वाली और कायदे वाली ही हो पाती है। लेखा राज्य के तल पर हजारों-लाखों में नहीं होता है, अरबों-खरबों में होता है। और चूँकि सेवा एकदम इतने बड़े देश की होनी है, इसलिए बड़ी-सेवा के खातिर बड़े सेवक को हैलिकाप्टर में ही आना-जाना पड़ता है। साफ है उसके दिमाग में कि अगर नीचे वाले को उठाना है तो उसके लिए खुद नीचे नहीं आया जा सकता है। खुद ऊपर रहकर ही किसी को नीचे कृपा का हाथ देकर ऊँचे लिया जा सकता है।

यही पद्धति चल रही है और मालूम होता है कि लोकतन्त्र में तन्त्र को ऊपर और लोक को नीचे बनाये रखना होगा। अन्यथा लोकहित नहीं सिद्ध हो सकेगा। यही नहीं कि लोक की उपयोगिता नहीं है। न ही हमारा संविधान स्वीकार करता है कि सत्ता का अधिष्ठान लोक में है। इसीलिए हर पाँचवें साल आम निर्वाचन का प्रावधान हमने रखा है। और राज्य के पास सब पैसा आखिर उस लोक से ही तो जाता है। सब कुछ वही तो है और निर्वाचन के द्वारा उसी की आज्ञा पाकर हम उस सेवा का दायित्व सम्भालते हैं जिसे राज नेतृत्व कहा जाता है। और प्रतिनिधि नेता के इस तर्क के सामने लोक को शान्त रहना पड़ता है। नतीजा कि वह खिदमत चलती रहती है जिसका नाम हुकूमत है।

गाँधी का रास्ता

हम गरीबी दूर करना चाहते हैं जो गांधी जी भी चाहते थे। गाँधी के लिए जरूरी हुआ कि वह खुद गरीब से गरीब बने और झोपड़ी में रहे। लेकिन नेता को इसमें गरीबी का हटाव नहीं दीखा, बहाव दीखा। गाँधी ने सुझाया कि गरीब क्या इसलिए गरीब नहीं है कि हम सब उस पर सवार है। पहला काम, अगर हम उसका हित चाहते हैं, तो यह होगा कि हम उस पर लदे न रहे, अपना बोझ खुद सम्भालें और उसकी कमर सीधी होने दें। हाकिमों-नेताओं का बोझ उसके सिर पर आ कर पड़ता है और जरूरी नतीजा यह होता है कि देश की बड़ी-बड़ी योजनाओं के नीचे उसे पिसना पड़ जाता है। धन के पास धन लगा होता है और गरीब और भी गरीब बनता है। यहाँ हो रहा है और अगर जनता के हित के लिए राजनीतिक पार्टियाँ पहले जरूरी यह समझती हैं कि राज के

तन्त्र को अपने कब्जे में किया जाए तो यह क्रम कभी बदलेवाला नहीं। चुनावों के जरिए पार्टी में अदल-बदल कितनी भी कर लीजिए—अन्तिम आदमी के पल्ले भूख ही रहेगी। अव्वल तो उसके हाथ में काम ही न होगा और काम होगा तो उसके और परिवार के पेट भरने लायक न होगा। श्रम बाजार में बिकेगा और उसके श्रम का लाभ खरीददार के खाते में जमा होता जाएगा। श्रमिक के पल्ले भूख की भूख रहेगी।

काँग्रेस के इतिहास से यह स्पष्ट हो जाता है कि हुकूमत को साध्य और खिद्मत को मात्र साधन बनाने का नतीजा उस सबमें कुछ नहीं निकला है। काँग्रेस के साथ, इस कारण, सारे सार्वजनिक जीवन की साख गिरी है और —'नेता' शब्द ही भाषा में अविश्वास का केन्द्र बन गया है। मन्चों पर से किए गये वायदे कुछ असर पैदा नहीं करते और लोग अपना नकद स्वार्थ लाभ देखकर मत देते और सरकार चुनते हैं। यानि हर सरकार में से लोग अपना स्वार्थ सिद्ध किया चाहते हैं और इस प्रकार अपनी चुनी सरकार के सामने नयी-नयी समस्याएँ ही खड़ी करते हैं।

असल में सेवा और शासन के आयाम अलग है। नेता को कभी राजा नहीं बनना है। नेता जनता के साथ और समकक्ष रहेगा, तभी राजा सही काम कर सकेगा। कारण, तब राजा के ऊपर भी कोई अनुशासन होगा और वह लोकानुशासन के प्रतीक नेता-पुरुष का होगा। जहाँ मार्क्स के 'वाद' को लेकर क्रान्तियाँ हुईं वहाँ ध्यान रखा गया कि पार्टी ऊपर और शासन तन्त्र आधीन रहे। जहाँ यह क्रम बदला, अथवा राज्य और दल एक हो गये, वहाँ ही संकट उपस्थित हो आया। पोलैण्ड का उदाहरण समक्ष है और शासन उससे शिक्षा ग्रहण कर सकता है। शिक्षा यही कि शासन को, अथवा शासक को सर्वग्रासी नहीं बन जाना है। ऐसा होगा तो शासक और शासित में तनाव ही चलेगा, और राज्य प्रजा के बल से विहीन हो जाएगा।

असम आन्दोलन

एक बड़ी घटना असम में घटित हुई है। वहाँ 'तन्त्र' की बात नहीं चलती है, 'लोक' की बात सहज चल जाती है। और लोकशक्ति के प्रतिनिधि हैं कुछ विद्यार्थीगण अथवा कुछ दूसरे जन जिनके पास सत्ता का कोई भी औपचारिक उपकरण नहीं है। केवल यह शक्ति है जो उन्हें सतत सेवा के बल पर प्राप्त हुई है।

राज्य को याद रखना है कि उसका बल उसका नहीं है, न शस्त्र-सेना

का है। बल वह उस समर्थन और श्रद्धा का है जो लोक-निर्वाचन द्वारा एक दिन उससे प्राप्त हुआ था और इस कारण अब भी प्राप्त समझ लिया जाता है। यदि वह समर्थन राज्य की असमयता अथवा दूसरी कार्यवाइयों से शिथिल होता है तो मात्र यान्त्रिक और तान्त्रिक कार्यकारी बल उसकी स्थिरता के लिए पर्याप्त सिद्ध न होगा, क्योंकि नीचे से उसका नैतिक बल क्षीण हो चुका होगा।

□

पूर्वांचल में सहयोगी भाव की आवश्यकता

एक बड़ी घटना, बड़ा परिवर्तन चुपचाप और अनायास घटित होता दीख रहा है। जिस प्रतिवाद और प्रतिकार को विरोध, विद्रोह और विग्रह का रूप अब तक दिया जाता था, अब मानो उसने दूसरा मोड़ लिया है। पहले स्वरूप आक्रामक था। उसमें आतंक की भी मात्रा रहती थी। कहिए कि आन्दोलन हिंसा-अभिमुख रहते थे। महात्मा गाँधी ने अहिंसात्मक रुख दिया था अपने आन्दोलनों को। उन्होंने असहयोग और सत्याग्रह की विधियों का आविष्कार किया था। समझा जाने लगा था कि गाँधी सक्रिय क्षेत्र से उठ चुके हैं और उनके तरीके पुराने पड़ गये हैं। सचमुच गाँधीवाद राष्ट्र की मुख्य धारा से मानों किनारे छूट गया था और अपने को अक्षम सिद्ध कर चुका था। करने धरने-वाले दूसरे थे, गाँधीवादी समीक्षा और शिक्षा के लिए बचे रहते थे। जयप्रकाश नारायण आये अवश्य, और उन्होंने गाँधी का नाम लिया। पर गाँधी उनसे कर्मक्षेत्र में सक्षम बन सके इसमें संशय है।

किन्तु प्रतीत होता है कि परिस्थितियों की और अनुभवों की अनिवार्यता में से गाँधी-नीति फिर उभर कर आ रही है और आक्रामक नीतियों से पृथक अहिंसात्मक कार्य-प्रणाली अधिक कारगर और उपयुक्त साबित हो रही है।

असम का उदाहरण

असम आन्दोलन का उदाहरण समक्ष है। आन्दोलनकारियों के हाथ में गाँधी का झण्डा नहीं है। उसके पास कोई बड़ा नाम या दावा भी नहीं है, लेकिन एक वर्ष से उठाया आन्दोलन, जहाँ तक नेतृत्व का सम्बन्ध है, दृढ़ता से अहिंसात्मक नीति पर चल रहा है। उसने इस बीच अतुल बल भी प्राप्त किया है। सत्ताशाली सरकार उसको समा नहीं पा रही है। उसकी आवाज पर असम का जनजीवन पूरी तरह ठप हो जाता है, सरकार की सुनी-अनसुनी कर दी जाती है। कर्मचारी अपने प्रभुओं की उतनी नहीं सुनते हैं जितनी इन सेवकों की बात रखते हैं। सरकार को रह-रहकर विवश होना पड़ता है कि उनसे बातचीत की जाए। बात टूटती

है, लेकिन फिर करनी होती है। वे अपनी जगह पर आत्मविश्वस्त हैं। सरकार के सामने भी अपनी कठिनाइयाँ हैं और पूरी तौर से उन जन नेताओं की बात मानना उनके लिए सम्भव नहीं हो पाता है। सरकार देश की एकता की रक्षा को अपना पहला कर्तव्य मानती है और उसके नाम पर आन्दोलन को और उसके समर्थन को अनुचित ठहराती है। अल्पमत के सवाल को भी उभारा जाता है। पर असम के जनमानस पर उसका प्रभाव नहीं पड़ता, प्रत्युत प्रतीत होता है कि इस सब प्रयास के उत्तर में, और दमन के बावजूद, उन मानस पर आन्दोलन के नेताओं की पकड़ ही मजबूत होती है। गृहमन्त्री ने आमन्त्रित किया उनको बातचीत के लिए और बातचीत त्रिभुजीय होनेवाली थी। विरोध पक्ष के राजनीतिक नेताओं को भी उसमें सम्मिलित होना था, लेकिन अखिल असम छात्र परिषद् और गण संग्राम परिषद् दोनों ने संयुक्त रूप से, पिछले अनुभव के आधार पर सम्मिलित होना स्वीकार किया तो सशर्त। शर्त इसीलिए कि बात चले और टूटने के लिए, तो उससे क्या लाभ है?

लोकशक्ति

उस समस्या के निदान में मुझे नहीं जाना है। व्यवहारिक कठिनाइयाँ अवश्य हैं। समस्या का सुलझाव सरल नहीं दिखता है, लेकिन जो बात मुझे बहुत सूचक और महत्त्वपूर्ण मालूम होती है, वह असम की 'समस्या' उतनी नहीं जितनी कि स्वयं असम की घटना है। घटना वह राजशक्ति के समक्ष लोकशक्ति के उदय को प्रगट करती है। स्पष्ट है कि लोकतन्त्र में इन दोनों शक्तियों में परस्पर तनाव नहीं होना चाहिए और लोकशक्ति, जब तक उसका आधार अहिंसा है, राजशक्ति के लिए वह संकट उपस्थित करने वाली नहीं होगी, वरन हित साधक ही हो सकेगी। प्रश्न विदेशियों, घुसपैठियों की पहचान का है और उसके निर्णय में सन्-सम्वत् बाधक हो रहे हैं। कब तक उन्हें बाधक होने दिया जाएगा? 51, 61,71, आदि की बातें उतनी व्यर्थ नहीं हैं जितनी की दूर वालों को लग सकती हैं। लेकिन अन्त में असम को सदा के लिए तनाव में तो नहीं रखा जा सकता। तनाव एक हद-तक बर्दाश्त होगा। पीछे उसमें हिंसा फूट निकली तो? साम्प्रदायिक रंग उस समस्या को मिल गया तो? वहाँ से पृथक अस्तित्त्व की बात फूट निकली, तो? असम भारत का सीमान्त क्षेत्र है। उसको इस नाजुक स्थिति में बहुत काल तक नहीं रहने दिया जा सकता है। अशान्त असम और भी बड़ी-सिर-दर्दी पैदा करेगा। और क्या भारत की अखण्डता और एकता सुरक्षित रह पाएगी दमन के आधार पर? अन्त में उस एकता को हार्दिक होना होगा। मुझे आशा है कि आन्दोलन की प्रकृति और आन्दोलनकारियों की प्रतिज्ञा यदि अहिंसात्मक है और रही तो

सरकार उनकी मानेगी और उन पर दायित्व आने देगी। विवेकहीन वह नेतृत्व नहीं है। तेल के निकास के लिए उन्होंने अवकाश दिया था, जूट के लिए भी छूट दी है। उनके इस शील पर विश्वास करके 1951 पर भी यदि उनका आग्रह हो तो स्वीकार कर लेने में आपत्ति नहीं होनी चाहिए। तब विदेशियों को हटाने-बसाने आदि के प्रश्न में स्वयं उन लोक नेताओं को भी भागी होना होगा। तब नये चुनाव हो सकते हैं और केन्द्र के साथ उस नयी निर्वाचित असम सरकार पर उन विदेशियों के समाने-बसाने आदि का निर्णय पाने के बोझ का अनुभव होने दिया जा सकता है। मैं मानता हूँ कि वर्तमान आन्दोलन के नेताजन इस दायित्व से बचना नहीं चाहेंगे।

केन्द्र का लाभ

असम ही उनका नहीं है, भारत भी उनका है। असम के अपने लोगों की अस्मिता टूटे नहीं, उनमें आत्मविश्वास आये, आत्म-व्यवस्था का भाव जगे तो यह सब अन्त में भारत को पुष्टि ही देने वाला होगा। भारत की समस्या को जटिल से जटिलतर बनाने में असम प्रदेश का लाभ नहीं है, यह आत्मविश्वस्त असम स्वयं अनुभव कर पाएगा। कोई कारण नहीं कि तब वह समूचे भारत के लिए उतना ही आत्मीय एवं अर्पण भाव न रखे जितना अन्य उसके अंग-प्रत्यंग के रख सकते हैं। असम के लोगों में इस स्वस्थभाव को जगने देने में केन्द्र का लाभ ही लाभ है। अभी तो असम हीनभावापन्न, क्षुब्ध और अस्वस्थ है। दमन की नीति उस क्षोभ को बढ़ा ही सकती है। दमित और रुग्ण असम समूचे भारत के शरीर को दंश पहुँचाता रहेगा। सच यह है कि आज भी भारत का जन मानस, राजनीतिक निहित स्वार्थों से जहाँ तक लिप्त नहीं है, वहाँ तक, असम के साथ सहानुभूति रखता और उसे समझता है। मुझे प्रतीत होता है कि यदि समय पर असम में जगती हुई इस चेतना को अवकाश नहीं दिया गया और उसमें भारत की एकता के लिए खतरा ही देखा जाता रहा तो सचमुच ही वह खतरा पैदा हो सकता है।

एक शब्द उदय में आया 'विकेन्द्रीकरण'। मैं मानता हूँ कि कार्यकारी विकेन्द्रीकरण केन्द्र को भौतिक पुष्टि देनेवाला होगा। भारत बहुत बड़ा देश है। वह तो उपमहाद्वीप ही है। हर प्रकार की विविधताएँ यहाँ हैं। प्रादेशिक चेतनाएँ भी हैं। केन्द्र जितना उनके प्रति समावेशशील होगा अवयव उसके प्रति उतने ही अभ्यर्पित हो सकेंगे। स्वस्थ भारत वह होगा जो मात्र राजनीतिक न होगा, प्रत्युत जिसके नीचे सांस्कृतिक भारत का भी अवलम्बन होगा। सांस्कृतिक भारत, अर्थात वह जहाँ सब घटकों को अपने-अपने विकास और व्यवस्था की सम्पूर्ण स्वतन्त्रता होगी और इसलिए समूचे भारत की स्वस्थता की भी चिन्ता होगी।

आज कहीं-कहीं केन्द्र और राज्य के बीच तनाव की स्थिति देखी जाती है। यदि केन्द्र शासन की सख्ती पर अधिक विश्वास रखेगा तो देश का यह दुर्भाग्य और गहरा ही होगा। लोकतन्त्र का भविष्य समावेशी वृत्ति के अर्थात अहिंसा के साथ है। वही नीति है जिससे सब तत्त्वों का सहयोग प्राप्त किया जा सकता है। दलगत भावना एक सीमा के आगे अनिष्टकारी हो सकती है। खबर थी कि असम में जल्दी ही काँग्रेस (इ) की सरकार बननेवाली है। सम्भव है कि सरकार कुछ मिली-जुली हो। लेकिन दल की प्रभुता की भाषा विशेषकर आज की असम की स्थिति में, लाभकारी सिद्ध नहीं होगी। कोई सरकार वहाँ सार्थक होगी तो तब, जब उसे वर्तमान में वहाँ से जननायकों का सहयोग और सद्भाव प्राप्त होगा। ऊपर से बोये गये समाधान में से यह नहीं सिद्ध होने वाला है।

सहयोगी भाव

आशा करनी चाहिए की राजशक्ति के प्रतिनिधि असम में अनायास उदय में आ गयी इस अहिंसक लोकशक्ति को किसी प्रतिस्पर्धा के भाव में नहीं लेंगे, प्रत्युत जैसे भी सम्भव हो उससे अपना योग साधेंगे। देश के आसपास की स्थितियाँ आश्वासन प्रदान नहीं करतीं। बड़ी अस्थिरता है दुनिया में। होड़ है बड़ी शक्तियों में। उनको अपना-अपना प्रभाव-क्षेत्र फैलाना है। उनकी अपनी योजनाएँ चल रही है। इधर भारत गुट निरपेक्षता का अग्रणी और आविष्कारक राष्ट्र है। उसे अपनी इस स्थिरता को नहीं खोना है और इसकी पुष्टि के लिए मैं आवश्यक मानता हूँ कि पूर्वांचल में जल्दी से सहयोगी भाव पनपे और तनाव की स्थिति समाप्त हो। अन्यथा... ?

□

अपने ही देश में परदेशी होने की व्यथा

राजकारण से हटकर इस स्तम्भ में एक कष्टकथा कहने के लिए माफी चाहता हूँ। यों भी जिसको राजकारण समझा जाता है वो सामान्य तथ्यों से निरपेक्ष वस्तु नहीं है। वो तो परिणाम है। जो सतह पर दिखता है। उन अनेकानेक जीवन के तन्तु-जालों का जो परस्पर व्यवहार में से नित्य प्रति निर्मित होते रहते हैं।

घण्टी हुई, और मुझे बताया गया कि एक सज्जन बाहर प्रतीक्षा में बैठे हैं।

बैठक में जाकर मैंने कहा, ''कहिए?''

बोले, ''परसों मैंने फोन किया था, शाम पहुँचा भी था। कल भी हो गया है। आप मिले नहीं। अमुक पत्र की ओर से आया हूँ भेंटवार्ता के लिए।''

मुझे उनके आने और लौट जाने की सूचना न थी। कहा, ''आप को कष्ट तो होगा, लेकिन आज नहीं। कल आइए।''

सज्जन कुछ हताश दिखे, इसलिए पूछा, ''आप कहाँ रहते हैं? क्या उस पत्र में ही काम करते हैं?''

बोले, ''नहीं, दूर रामकृष्णापुरम से आना पड़ता है।''

''ओ...तो नियमित काम हाथ में कोई नहीं है।''

''नहीं, नौकरी की तलाश में आया हूँ, मिलती ही नहीं।''

मैंने पूछा, ''साथ परिवार है?''

''नहीं, दूर गाँव में है।''

''विवाहित हैं?''

''जी।''

''बच्चे हैं?''

''जी।''

''तो अकेले रहते हैं।''

''गाँव के एक जान पहचान के हैं, उन्हीं के साथ रहता हूँ।''

''कुछ हो जाता है इस लिखने-लिखाने में?''

''बस चल रहा है। मूर्खता की ही सजा भोग रहा हूँ।''

सज्जन एम. ए. थे। रिसर्च कर रहे थे और उनकी यह मूर्खता की बात मैं नहीं समझा। उन्होंने बताया कि अन्त तक पढ़ाई हिन्दी माध्यम से की और हिन्दी से ही एम: ए. किया। शोध भी उसी में कर रहा हूँ, और इससे बड़ी बेवकूफी क्या होगी? अँग्रेजी में कुछ होता, तभी नौकरी मिल सकती थी। अब तो लगता है जिन्दगीभर इसी तरह भटकना होगा।

यह व्यक्ति की कथा नहीं, समूचे देश की व्यथा है। लगता है भारत अपने ही देश में विदेश हुआ जा रहा है। यह हिन्दी का आदमी इस हिन्दी देश में यह नहीं जान पाता कि कैसे जीयें। अपने को यदि वह यहाँ अजनबी पाता है, तो इस स्थिति को क्या कहिए? इस दुर्भाग्य में हम जी रहे हैं और मानते हैं कि हम स्वतन्त्र हुए हैं। स्वतन्त्र हुए हैं अवश्य, क्योंकि राज पर परदेशी कोई नहीं बैठा है। बैठे हैं वो जो इसी धरती की उपज हैं। लेकिन लगता है कि अँग्रेजी के जरिए आयी हुई मानसिकता में वे ऐसे पग गये हैं कि सचमुच यहाँ की धरती से लग कर रहने वाले की पहुँच से बहुत दूर और ऊँचे हो गये हैं। उसकी बोली उन्हें समझ नहीं आती। उनके द्वारा चलाई गयी व्यवस्थाओं की सतह ही दूसरी हो गयी है। भाषा अँग्रेजी हो गयी है। आम भारतीय अपने देश में ही परदेशी होता जा रहा है। यह अँग्रेजी न जानने की व्यथा है।

भारत का योगदान

मैं मानता हूँ कि विश्व व्यवस्था में अगर आज भारत देश अपना उचित देय नहीं दे पा रहा है तो उसका मुख्य कारण है कि उसके पास अपनी बोली नहीं है। इसलिए अपने विचार भी नहीं हैं। उसकी आत्मीयता भीतर में पनप नहीं पाती है। इसलिए उसे पूरी तौर पर विश्वहित में अपने आत्मदान का अवसर भी नहीं है।

भारत जीता रहा है हजारों वर्षों के ऊँच-नीच के भीतर से अब तक अखण्ड भाव से। उसके पास अपनी एक अविच्छिन्न संस्कृति रही है। शायद आज दुनिया में एक यही देश है जो अब तक अपनी जड़ों से पूरी तरह टूटा नहीं है। एक अजस्रता उसे थामे रही है और उसने अपने अनुकूल संस्थाओं का विकास किया था कि जिनको राजतन्त्र छू या छेद नहीं पाता था। राजकीय तल पर द्वन्द्व-विग्रह चलते रहते थे और वे समाज की स्वस्थता को तोड़ नहीं पाते थे। समाज बहुत हद तक आत्मनिर्भर था और बड़ी आसानी से राजपुरुषों के राज-भोग राज-दर्प को अपनी छाती पर झेल तो सकता था। यहाँ की भूमि उस सबको पी जाती है और बाहर से जेता-विजेता बन कर आता वो यहाँ का बनकर रह जाता और समा

जाता। यहाँ की संस्कृति इसलिए वर्जनामूलक नहीं थी, समावेशी थी, और हर तरह का भेद-प्रभेद भी उसे उल्टे सम्पन्न ही करता था।

लेकिन एक समय आया कि यह समावेशिता उसकी टिक नहीं सकी। इस्लाम आया और यहाँ का हो गया। ईसाईयत भी इस धरती से अनमिल नहीं रही, लेकिन व्यापारवाद के रास्ते से जो राज्य-एवं साम्राज्यवाद आया वो इस देश की प्रकृति के लिए एकदम पराया था। मानों उसके लिए यह देश था ही नहीं, महज उपनिवेश था। वहाँ से इसकी प्रकृति में अन्तर पड़ा। अपनी संस्थाएँ टूटीं, विजातीय संस्थाएँ आरोपित हुईं। रहन-सहन में फर्क पड़ा। व्यापार-व्यवसाय के रूप बदले। उनमें लाभ-लोभ वाला स्वार्थ व्याप्त हो गया। सब कुछ एक केन्द्र की धूरी पर सिमट जाने लगा। ये केन्द्र या साम्राज्यवादी शासन-सत्ता का केन्द्र। यहाँ से राजतन्त्र समाज के शरीर में व्याप्त होने लग गया। समाज की आत्मनिर्भरता खंडित हुई और व्यक्ति का व्यक्तित्त्व मानों उसके हाथ में न रह गया। वह सर्वथा धनाधीन और परवश होने लग गया।

ये न हो पाता अगर हमारी भाषा हमारे हाथ में रहती। देशी भाषाओं के माध्यम से बचपन से ही हम वह पाते रहते थे। वो हमें थामे रखता था। इस नये साम्राज्यवाद ने उस सिंचन के माध्यम को तोड़ डाला। उसकी जगह नये माध्यम को रोप दिया, और आज फल यह है कि अँग्रेजी पढ़-लिखकर, उसमें दक्षता प्राप्त करके व्यक्ति अनुभव करता है कि वह है यहाँ जो अपनी जमीन पर है, अपने घर में है, अपनों के बीच में है। अँग्रेजी के सहारे वो अपने गाँव से उठता है और वहाँ से खिंचकर, उखड़कर शहर में जा पहुँचता है। गाँव के पास सिर्फ अपनी बोली रह जाती है और मालूम होता है कि वह अब सिर्फ चूसने के लिए है। वहाँ का रस सब इकट्ठा होकर भोगोपभोग के लिए जा पहुँचता है शहरों में अँग्रेजीदांओं के पास।

भारत की भाषा

यहाँ बोलियाँ सैकड़ों हैं ना, और भाषाएँ ही दर्जनों। इसलिए भारत की भाषा उनमें से कोई नहीं हो सकती है। उसको मिलाए रखने के लिए सिर्फ एक भाषा उसकी अपनी हो सकती है और वह है अँग्रेजी। वो किसी की नहीं है, इसलिए सबकी है। अँग्रेजी के सिवाय और सब भाषाओं के अपने-अपने दावेदार हो सकते हैं। अँग्रेजी बाहर की होने के कारण सबसे एक-सी दूर और सबके प्रति एक समान है। इसलिए इस देश का राज चल सकेगा और देश एकत्र रह सके तो अँग्रेजी के बलबूते पर।

अँग्रेजी से मुझे चिढ़ नहीं हो सकती। किसी को नहीं हो सकती। क्या उसी

ने दुनिया को शेक्सपीयर नहीं दिया? अनेकानेक मनीषी नहीं दिये। लेकिन हजारों कोस दूर से यहाँ आकर राज का दम भरनेवाली वह अँग्रेजी सचमुच असह्य हो जानी चाहिए, जिसके बिना, बीस-एक वर्ष अपने मूल ग्रन्थ पाने पर भी आदमी अपने को अनपढ़ अनुभव करे। अपने को बेकार समझे। ऐसी भाषा भला भारत और भारतीय के स्वास्थ्य को कैसे पुष्ट करेगी? उल्टे वो तो उस स्वास्थ्य को खा जाएगी।

देश की मूल प्रकृति

मैं मानता हूँ कि जो तन्त्र आज यहाँ स्थापित है उस पर चर्चाएँ हो सकती हैं। पार्लियामेन्टरी की जगह सिस्टम प्रेसीडेंशल बन जाए आदि पर बहस हो सकती है। लेकिन आवश्यकता है कि जीवन की जड़ों में से व्यवस्था का तन्त्र निकले। वह तन्त्र जो देश की मूल प्रकृति के अनुरूप हो, जिसको यहाँ का देहाती भी समझ सके, जिसमें सहभागी हो। जिसमें अपना दातव्य दे सकें, जो यहाँ के 65 करोड़ लोगों के बल से संपुष्ट हो। जो लगे कि उसके ऊपर नहीं है, बल्कि उनके अपने हाथों में है।

आज की परिस्थिति यहाँ की नाना आन्दोलनों से अस्थिर है। अनेक हित, वर्गीय, जातीय, प्रदेशीय आदि अपनी स्वतन्त्र अभिव्यक्ति कर रहे और हठात देश से इसकी स्वीकृति माँगना चाहते हैं। राज्य नहीं जानता कि उनसे सामंजस्य कैसे बैठाएँ। देश के भीतर की विविधता उसकी एकता को सम्पन्न करने से उल्टे उसके लिए खतरा बनी जा रही है। मूल कारण यही कि वो आत्म-तत्त्व गायब है जो अनेकता का रस दे। एकता जुटायी नहीं जा सकती शासन तन्त्र के बल-बूते पर। विशेषकर वो शासन जो देहात को शहरी, और भारत को अभारतीय-सा लगे।

बात भाषा से शुरू हुई थी, लेकिन वो सिर्फ भाषा की नहीं है। भाषा उपकरण है और वाहन है संस्कृति का। संस्कृति यहाँ की झलकेगी रीति-रस्म में, व्यवहार-व्यवसाय में, शासन में, शासन के तन्त्र में, समस्त व्यवस्थाओं में। तब समाधान जैसा प्रतीत होगा। अन्यथा नहीं जान पड़ता कि साम्प्रदायिक अथवा प्रादेशिक, या कि वर्गीय और जातीय परस्पर प्रतिकूल स्वार्थों में सामंजस्य कैसे सिद्ध हो सकेगा? □

गाँधीवाद बनाम वर्तमान राजनीति

समाजवाद एक मुख्य पाया है उस व्यवस्था का जो राजनेता-जन यहाँ लाना चाहते हैं। समाज के साथ वाद लगाने से शब्द में यह कुछ आशय पड़ जाता है कि व्यक्ति के पास कर्तव्य रहेंगे, जबकि समाज के पास सब अधिकार। इस समाजवाद को जब वैज्ञानिक चिन्तन प्राप्त हुआ तो प्रश्न हुआ कि समाज की ओर से वह अधिकार ठीक-ठीक रहेंगे कहाँ? तो समाज को धारणात्मक और भावनात्मक, कामकाजी, वास्तविक और ठोस रूप देना आवश्यक हो गया। यह रूप 'स्टेट' यानी राजसंस्था अर्थात वैज्ञानिक समाजवाद का आशय हो गया राज्य का अधिनायकवाद।

समाजवाद के साथ राजनैतिक मान्यता के दूसरे आधार-भूत स्तम्भ हैं, धर्म-निरपेक्षवाद और लोकतन्त्रवाद। लोकतन्त्र का भाव है कि राज्य जनता के चुने हुए प्रतिनिधियों का होगा और धर्मनिरपेक्षता का अर्थ कि वह सब धर्मों के प्रति समान भाव रखेगा।

भारतीय जनता पार्टी ने अपने घोषणा-पत्र में समाजवाद के जिस रूप को स्वीकार किया उसे नाम दिया गया है 'गाँधीवादी समाजवाद'। गाँधी की धारणा राज्य की संस्था के बारे में अपनी अलग थी। वे मानते थे कि उसका शासनिक-प्रशासनिक रूप उत्तरोत्तर ह्रस्व होते जाना चाहिए। वह रूप अधिकाधिक नैतिक होता जाए तो ही वह सही अर्थों में लोकतान्त्रिक हो सकेगा। शासन की आवश्यकता अनुशासन के रूप में लोक में व्याप्त होती जाए। इसका लक्षण होगा कि समाज में स्वैच्छिक संस्थाओं का दायित्व बढ़ेगा और राजकाज विकेन्द्रित होता जाएगा।

स्पष्ट है कि यह चिन्तन वैज्ञानिक के विपक्ष में मानवीय अधिक है। व्यक्ति और समाज के सम्बन्ध की धारणा इन दोनों में मूलतः अलग ही नहीं, प्रत्युत परस्पर काफी विमुख है। वैज्ञानिक में आत्मपक्ष के विचार की आवश्यकता नहीं रहती। वस्तुपक्ष और तन्त्रपक्ष ही वहाँ प्रधान है। शेष सब उसके अधीन बन जाता है, जबकि गाँधी में बुनियादी वह आत्मपक्ष ही है। उसके अलग होकर जैसे सब

निस्सार हो जाता है—आत्मपक्ष, अर्थात मनुष्य का चारित्रिक और नैतिक पक्ष।

आखिर तन्त्र तो निश्चेतन वस्तु है। यदि वह काम करता है तो मनुष्यों के द्वारा। मनुष्य को तन्त्र का यदि पुरजा भर रहना है तो चरित्र का प्रश्न सर्वथा गौण और असंगत बन जाता है। ऐसी हालत में मशीन काम तो खूब करती है, किन्तु यदि फल उसका मानवीय भाषा में अभीष्ट न प्राप्त हो तो इसमें आश्चर्य मानने की कोई बात नहीं है!

मान्यता में आज लोकतन्त्र है, समाजवाद है, धर्मनिरपेक्षता भी है। पर लोक में अशान्ति है, समाज में विषमता और अधिकारवाद है, और साथ में सम्प्रदायवाद, जाति और वर्गवाद भी देखने में आता है। भ्रष्टाचार की बात तो इसलिए करना वृथा है कि वह तो मानो शिष्टाचार ही बन गया है।

इस परिस्थिति पर विचार करते समय जान पड़ता है कि कुछ बहुत ही मार्मिक तत्त्व है जो राज-विचार और समाज विचार में लुप्त ही रह गया है। विचार वैज्ञानिक है और विज्ञान की तरक्की से दुनिया की बहुत-बहुत तरक्की भी हुई है। सभ्यता के नाम पर आज जो ऐश्वर्य आदमी के पास दिखता है वह सब उसी की देन है। लेकिन कुल मिलाकर अगर मानवजाति को निरन्तर युद्ध की विभीषिका की छाया में रहना पड़ता है, अगर वह अपने भाग्य के बारे में आशंकित है, भीतर से विघटित है, अकेला है, दिगभ्रांत है, तो सोचना होगा कि क्या है जो इस विचार में से छूट गया है। हिसाब तो सब तरफ से चौकस है, पर समाधान गायब है। निष्पत्ति सुख सन्तोष की नहीं हो रही है। सम्बन्धों के नीचे सद्भाव और सहानुभूति नहीं है, बस स्पर्द्धा और अविश्वास है।

ऐसे समय में भारतीय जनता पार्टी ने व्यावहारिक-राजनीति में 'समाजवाद' के संशोधन के लिए 'गाँधीवाद' का विशेषण स्वीकार किया है, तो मानो एक दुस्साहस ही किया है। मानो एक बड़ा भारी दायित्व अपने ऊपर ओढ़ लिया है।

चीजें क्या सब पैसे से ही नहीं चलतीं? क्या वे चरित्र से चल सकतीं? सब देखते हैं कि चलता पैसे से है। चरित्र बस पिछड़ा रह जाता है। जमाना रहा होगा कभी गाँधी का जब बात दूसरी देखने में आती थी। लेकिन वह जमाना समय के साथ बीत गया। क्या उसे फिर से लौटाया जा सकता है? कहते हैं इतिहास अपने को दोहराता नहीं है? लेकिन जान पड़ता है कि जिस राह वेगपूर्वक मानव जाति बढ़ी जा रही है, सब देशों के साथ भारत देश भी जिस पर चल रहा और चलाया जा रहा है उससे लौटना और उसे बदलना आवश्यक ही हो गया है।

गाँधी को सब ओर याद किया जाता है। सभी उस नाम की दुहाई देते हैं। भारत में कौन दल है जो अपने साथ उस नाम को जोड़कर गौरव अनुभव नहीं करता। लेकिन उस नाम के साथ लगे फलितार्थों को व्यावहारिक राजनीति में उतार

पाना कठिन है।

मैं स्वीकार करता हूँ कि समाजवाद, लोकतन्त्रवाद, धर्मनिरपेक्षवाद, इन तीनों की ही धारणाओं में अनुकूल संशोधन की आवश्यकता है। उस संशोधन को 'भारतीय' कहा जा सकता है। भारतीय इसलिए कि उसकी संस्कृति में जिस पक्ष को प्रधानता दी गयी थी, और अब तक दी जाती है, वह वस्तु-पक्ष नहीं आत्म-पक्ष है। हो सकता है कि यहाँ कालान्तर में दोनों के बीच का सन्तुलन एकाँगी हो गया हो। लेकिन अपने आप में यह महत्त्व की बात है कि जड़ का विचार चेतन से निरपेक्ष होकर भारतीय मानस को स्वीकार्य नहीं हो सका है। गाँधी आत्मा-परमात्मा की खोज में दुनिया छोड़कर वन-पर्वत नहीं गये, सतत् युद्ध में और जिन्दगी के बड़े भाग तक सरकार की जेलों में रहे। वस्तु-जगत के साथ इतना गहरा नाता अपना रखा कि होश आने के बाद चर्खे से सूत निकालने में एक दिन की भी चूक उन्हें असह्य रही। रचनात्मक कार्यों के लिए अनेकानेक संस्थाएँ स्थापित कीं। लेकिन यह सब किया कराया उन्होंने ईश्वर दर्शन के लिए। अपनी मुक्ति के लिए, देश का स्वराज, उसकी समृद्धि और उसकी गरिमा को उन्नत करते जाने का काम इत्यादि सब उनकी मुक्ति की राह में आते गये इसलिए होते चले गये। यही कारण था कि भारत के एकछत्र नेता और सर्वशक्तिशाली होते हुए भी उन्हें कुटिया में रहना पड़ा। गये तो कोई बैंक एकाउण्ट नहीं छोड़ गये। न किसी भी तरह की सम्पत्ति शेष रही। कुछ नहीं था पास उनके सिवा सिर्फ राम नाम के। और जिस तरह के राज के लिए उन्होंने भारत में काम किया वह पार्लियामेन्टरी या प्रेसीडेंशल डिमोक्रेसी आदि कुछ न था सिर्फ राम-राज्य था। मुझे मालूम होता है कि जो चीज हमसे छूटी रह गयी हैं, वह ठीक यही है। अर्थात विचार की सर्वांगीणता, समग्रता। विचार के केन्द्र में मनुष्य नहीं रहा है, गणित का अंक आ बैठा है। विचार को होना होगा सिर्फ लौकिक नहीं, साथ में नैतिक भी, ऐहिक के साथ, आध्यात्मिक भी।

यह बड़ी विडम्बना है कि भारत का धर्मप्राण आध्यात्मिक पुरुष सहसा जगत-द्वन्द्व से अपने को उत्तीर्ण मान लेता है। वह सबके प्रति सद्‌भिलाषा रखना प्रर्याप्त मानता है। लेकिन वह सत् क्या, इसकी खोज में उतरने की आवश्यकता नहीं देखता है। सत् के साथ क्या कुछ असत् भी वह नहीं पाता जिसका इन्कार करना आवश्यक हो? जिससे लड़ना उसके लिए अनिवार्य हो? मैं मानता हूँ कि देह रहते उस एक, अद्वैत और अखण्ड ईश्वर में निष्ठा ही रह सकती है, उसकी उपलब्धि नहीं हो सकती। उपलब्धि के लिए द्वन्द्वात्मक में जूझना पुरुष के लिए अनिवार्य है। वही उसका पुरुषार्थ है। उससे मुक्त यदि कोई है तो वह पुरुष कैसा है? अर्थात राज में रहते कोई राजनीति से मुक्त हो सकता नहीं है।

गाँधी यहीं शेष अध्यात्म-पुरुषों से अलग हो जाते हैं। अवतारी पुरुषों की बात नहीं की जा सकती। कोई उनमें नहीं है जिसे युद्ध में से न गुजरना पड़ा हो। लेकिन परम्परागत अध्यात्म की प्राप्ति मानो स्रष्टा की उपासना में सृष्टि से विमुख होती चली गयी है।

ये तात्त्विक-सी बातें दैनिक पत्र के स्तम्भ में असंगत मानी जानी चाहिए। लेकिन समाजवाद के साथ अगर 'गाँधीवाद' शब्द जोड़ा जाता है तब तो यही चर्चा सबसे अधिक प्रासंगिक और तात्कालिक हो जाती है। इसी के निष्कर्ष में पता चलता है कि जीवन भोग के लिए नहीं है, उपार्जन के लिए नहीं है, वह आत्म-बलिदान और आत्म-विसर्जन के लिए है। राजनीति में से ये या वह पाने की आकांक्षा रहती है तो वह नीति भ्रष्ट बनती है। प्रवाद चल पड़ा है कि राजनीति प्रपंच है। लेकिन मैं मानता हूँ कि उससे गरिमामय और दायित्वपूर्ण काम दूसरा नहीं। लाखों-लाख के सुख-दुख के प्रति निरपेक्ष रह जाना है, वह सम्भव नहीं होना चाहिए, उचित तो है ही नहीं, लेकिन राजनीतिक व्यवहार और विचार में जो दृढ़ता गाँधी के नाम का प्रवेश स्वीकार करते हैं, वे भारी दायित्व उठाते हैं। मैं अवश्य मानता हूँ कि त्राण गाँधी-मार्ग में ही है। लेकिन पक्ष-विपक्ष की द्वन्द्वात्मक राजनीति को भी प्रेम और विश्वास से चलाना सम्भव है, यह सिद्ध करके उन्हें दिखाना होगा। संघर्ष अपरिहार्य है राजनीति में, लेकिन द्वेष उसी अनिवार्यता से त्याज्य भी है। राजनीति को रचनात्मक रूप देना होगा। दलों को दलगत से अधिक सैद्धान्तिक वृत्ति से चलना सीखना होगा। 'एकात्म मानवता' को यहाँ सूत्र के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। मैं मानता हूँ कि इस पद्धति से विपक्ष शासनस्थ पक्ष को अवसर देंगे कि वह सही बने अन्यथा राजदर्प और राज्याधिकार की भावना से किया गया उसका व्यवहार स्वयं उसकी छवि को निष्प्राण करता जाएगा।

□

राष्ट्र की एकता का सवाल सबसे पहले

आज के दिन देश की एकता का सवाल पहला गिना जाना चाहिए। कटाव और फटाव के खतरे जगह-जगह से पैदा हो गये हैं। क्षेत्रीय, जातीय, वर्गीय और सम्प्रदायी आग्रह इस तरह उभर रहे हैं कि व्यवस्था और कानून ही समस्याएँ पैदा कर देते हैं। उनके शमन और दमन के लिए शासनिक और प्रशासनिक उपाय किये जाते हैं और वे पर्याप्त सिद्ध नहीं होते। प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गाँधी को बार-बार कहना पड़ता है कि आन्दोलनों का समय नहीं है, पर वह बात व्यर्थ जाती है। राज्य-शक्ति का दबाव नीचे से उठकर आते हुए अपने-अपने संकीर्ण हितों के आग्रहों को दबा नहीं पाता और इस कारण देश का वातावरण क्षुब्ध बना रहता है।

शासन-पद्धति

प्रधानमन्त्री मान सकती हैं कि इसकी जड़ में विपक्ष के कई दलों की कार्यवाही है, लेकिन लोकतन्त्र में विपक्ष आवश्यक है और उसको समाप्त नहीं किया जा सकता। शासन पद्धति संसदीय से यदि अध्यक्षीय कर भी दी जाए तो भी विपक्ष का अवकाश रहेगा। एक मत और एक दल जिस ढंग से बनाकर रखा जा सकता है, उसके लिए लोकतन्त्र शब्द में समायी नहीं है। अधिनायकवाद भारतीय संविधान के रचनाकारों को स्वीकार न था और देश को भी स्वीकार्य न हो सकेगा।

अर्थात ऊपर से बनी सरकारी एकता यहाँ सम्भव न हो सकेगी। यदि देश को रहना है तो सरकारी शक्ति का भरोसा उसके लिए काफी नहीं है। आधार जरूरी होगा उसके लिए यह जिसे भावात्मक कहा जा सकता है।

भारत देश का चरित्र अनोखा है। उसका इतिहास भी अनोखा रहा है। विश्व में शायद यही एक देश है जिसके सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि सहस्त्रों वर्षों से उसकी संस्कृति अटूट रहती आयी है। इतिहास के और राजनीति के ऊँच-नीच में से उसकी संस्कृति की अखण्डता को क्षति नहीं पहुँची। राजे, नवाब,

शाह और शहंशाह जहाँ सभी अनेक रहे हैं, यहाँ तक कि पूरा यह भारतवर्ष अशोक और अकबर के जमाने में राजकीय तौर पर एक और इकट्ठा नहीं रह सका। इस देश के सीमान्त घटते-बढ़ते रहे हैं। कभी काबुल इसमें था, आज लाहौर भी नहीं है। लेकिन राजकीय उथल-पुथल जो भी ऊपर होती रही है, नीचे भारत स्वयं स्वस्थ रहा है। सांस्कृतिक कड़ी टूटी नहीं है और उसमें एक ज्ञातव्य बना रहा है।

हाँ, विभाजन की घटना अवश्य ऐसी हुई है, जहाँ भारतीयता हारी है। उसके तनिक विवरण में जाने की आवश्यकता है। इण्डियन नेशनल काँग्रेस के नेतृत्व में भारतीय स्वतन्त्रता का संग्राम लड़ा गया। उसकी राजनीति में मौलिक अन्तर आया जब दक्षिण अफ्रीका के प्रवास में यहाँ के युद्ध के अनुभव से सम्पन्न गाँधी उसमें शामिल हुए। काँग्रेस राष्ट्रीय थी। गाँधी राष्ट्रीयता पर रुके न थे, वो अपने को पहले धार्मिक मानते थे। इन दोनों दृष्टियों में अन्तर था जो उत्तरोत्तर पीछे स्पष्ट होता गया। यहाँ तक कि स्वराज्य आने और अँग्रेजी सत्ता जाने के समय काँग्रेस नेतृत्व उस स्वराज्य को विजय के हर्ष के साथ राजधानी दिल्ली में अपने कन्धों पर सम्भालने को उद्यत और उपस्थित था, तब गाँधी उसकी तरफ पीठ करके गहरे विषाद में नोआखली की रक्त से भीगी गद्दी पर पाँव-पाँव पैदल शान्ति की अलख जलाते चल रहे थे। भारत की एकता खण्डित हुई थी और जिनके बीच में उसे कटना-बँटना था वे काँग्रेस और लीग अँग्रेज के हाथ से लेने को आतुर थे।

काँग्रेस ने मुस्लिम मास कान्टेक्ट का अभियान चलाया था। हिन्दू-मुस्लिम एकता का उसका नारा था और भरपूर प्रयत्न था। उस एकता को आधार मिलना था सेक्युलरिज्म का। गाँधी का कहना था कि मुस्लिम अपने धर्म इस्लाम की तरफ मुड़ें और हिन्दू अपने सनातन धर्म को समझें। काँग्रेस ने राजनीतिक तल पर लीग के साथ समझौते पर समझौते किये। क्या उनका परिणाम वो हो सका, जो चाहा गया था? क्या कारण है कि परिणाम उल्टे विभाजन हुआ।

मेरी प्रतीति है कि इस तथ्य की गहरायी में जाने की आवश्यकता है।

विमत का आदर

भारतवर्ष एक रहा और उसकी एकता टूट नहीं सकी, जब तक कि अँग्रेज के प्रवेश के बाद भारत की अपनी प्रकृति राजनीति के रंग से पूरी तरह रंग नहीं गयी। उस अखण्ड एकता के मूल में मुझे विश्वास है कि मुख्य कारण यह रहा कि भारत के ऋषियों ने कभी एकता का आग्रह ही नहीं रखा। यहाँ कुछ भी एक नहीं था, न एक है, न धर्म, न मन्दिर, न देवता, न दर्शन, न वेद, न भाषा, न

वर्ण, न शास्त्र अर्थात उन्होंने माना कि एकता तो है इसीलिए उसे करना या बनाना नहीं है। सिर्फ भाषा में व्याप्त रखनी है, ऊपर उसे जोड़-तोड़ के जरिए बनाने की चेष्टा में नहीं पड़ना है। एकता है और होगी आत्मा में। बनायी जानेवाली एकता एकरूपता को जन्म देगी और यही वस्तु है एकरूपता जो एकात्मता के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा है।

इसलिए मैं मानता हूँ कि सच्ची एकता के लिए प्रत्येकता का आदर सीखना आवश्यक है। मत के साथ विमत को रहना ही है। सहमति थोपी नहीं जा सकती, यदि मतियाँ भिन्न हैं तो असहमति भी अनिवार्य है। लोकतन्त्र में विश्वास रखने वालों के लिए यही बड़ी और कड़ी परीक्षा का प्रश्न है कि विमत और असहमत के साथ कैसे बरता और निभाया जाए। दूसरे शब्दों में लोकतन्त्र का अस्तित्त्व और भविष्य अहिंसा की भावना के साथ है।

यहाँ शासन के लिए कठिनाई उपस्थित होती है। उसे व्यवस्था रखनी है और कानून की रक्षा करनी है। सबको सब कुछ करने देने का अवसर यदि अहिंसा का धर्म देता हो तो, उस धर्म का निर्वाह राज्य नहीं कर सकेगा। राज्य का स्व-धर्म अपना है और इसलिए समाज की ओर से दण्ड और दमन के साधन उसे सौंपे जाते हैं।

किन्तु राज्य को अन्त में समझना होगा कि देश की जिस व्यवस्था का दायित्व उस पर है, उस देश को अगर एक बने रहना है तो वह सिर्फ राज्य-बल से न हो पाएगा। उसके लिए देश की आत्मवत्ता को जगाना होगा। राजनैतिक चेतना अगर सबको अपने-अपने अधिकारों की याद दिलाती है तो आत्मवान् पुरुष होंगे, जो सबको अपने कर्तव्यों का भान कराएँगे। उस आत्मवत्ता के स्तर पर काम करने वालों को अवकाश देना होगा। उनके बिना राजकीय सामर्थ्य देश में यथा आवश्यक, भावात्मकता जगा नहीं पाएगी। आज दिन उसका अभाव है। समर्पण है नहीं, स्वाग्रह है। उन आग्रहों के बीच हो सकता है कि जिसका दबाव अधिक हो वो अधिक पा जाए और असमर्थ और भी असमर्थ बना रह जाए। राजनीतिक सामर्थ्य के उपयोग से अधिकांश लोकजीवन में इसी प्रकार की विषमता उपजती और बढ़ती देखी जाती है।

यह देश तो प्रायः महाद्वीप ही है। महान देश है यदि वह तो अपने इतिहास, अपने अतीत के कारण ही नहीं, बल्कि अपने शरीर की विशालता के कारण भी है। आवश्यक है कि इसके अवयव और अंगोपाँग परवश अनुभव न करें बल्कि अपने को स्वाधीन पाये। स्वतन्त्रता का यही अर्थ होनी चाहिए।

अभी असम का सवाल है। उसमें भाव जगा है कि वह स्वाधीन नहीं पराधीन है। चेतना जिसे राजनैतिक कहा जा सकता है जगाई गयी है कि उसकी

धरती पर तेल है, वन सम्पदा है और उसे ही उसके लाभ से वंचित रहना पड़ता है। यह चेतना सच्ची नहीं है, पर है। किन्तु असम की समस्त सम्पदा उसका सब स्वत्व भारत को सम्पन्न करता है। यह भाव यदि असम को परिपूर्ण करेगा तो तब जब वो अपने को स्वस्थ एवं स्वाधीन अनुभव करेगा। दिल्ली की ओर से भारतीय भावना ऊपर से उसके भीतर डालने की कोशिश होगी, तो प्रतिक्रिया उल्टी भी हो सकती है। इस भाव को भीतर से जगने देना होगा। और मैं मानता हूँ कि असम की अस्मिता को उस मात्रा तक अवकाश मिलने देना चाहिए जहाँ उसे स्वास्थ्य का अनुभव हो।

सीमान्त प्रदेश

दिल्ली राज्य का केन्द्र है और स्वीकार करना होगा कि असमवासियों के लिए अवसर है कि वे मानें कि उनकी उपेक्षा हुई। असम भारत का सीमान्त प्रदेश है। आवश्यक है कि केन्द्र के साथ उसका गहरा भावात्मक सम्बन्ध हो। वहाँ की व्यवस्था उनके मनोनुकूल हो, ऐसा न लगे कि असम सरकार उन पर लदी है। या कि दिल्ली सरकार उन पर लदी है। दोनों के प्रति उनको लगना चाहिए कि वे उनकी अपनी हैं और उनके गहरे हित से विमुख नहीं हो सकतीं।

दिल्ली राष्ट्र का दिल है, उसे राष्ट्र का दिल जीतना है। शक्ति के दिखावे से यह काम न होगा। प्रशासन के बस का यह काम नहीं है। प्रश्न राजनीतिक है, राष्ट्रीय है और आपसी सम्वाद में से ही उसका हल निकल सकेगा। प्रतीत होता है कि हाल में हुए राष्ट्रीय सम्मेलन से उस प्रश्न के प्रति सब पक्ष आगे हों और आशा करनी चाहिए कि आपसी बातचीत के द्वारा उसका हल निकलेगा। □

आधुनिक राष्ट्रवाद अँग्रेज की देन है

एकता का सवाल बार-बार उठता है। प्रधानमन्त्री इन्दिराजी ने चेतावनी दी है कि खतरा देश को अपने तीन ओर से ही नहीं है। भीतर से भी है—ऐसे समय उसको एक और मजबूत होना है।

मान लीजिए खतरा किसी पड़ोसी देश से है, तो उसके मुकाबले में एक और मजबूत होने से क्या हमेशा के लिए चल जाएगा? मान लीजिए सैनिक बल उसकी तुलना में हमारा अधिक हो जाता है तो उस देश की ओर से इस कारण क्या खतरा कम हो जाएगा? अर्थात शक्ति की स्पर्धा और प्रतिस्पर्धा वह उपाय नहीं है जिसमें से पक्की सुरक्षा बन सकती है। असुरक्षा का भाव इस प्रकार समाप्त नहीं हो सकता।

न वह एकता ही इतिहास में काम देती हुई टिक सकेगी कि जिस एकता और प्रमुखता से दूसरा कोई आतंकित होता हो। उस सत्ता को सदा ही अपने फैलाव की आवश्यकता और तृष्णा रहेगी और अपनी आन्तरिकता में विघटन का डर भी बना रहेगा। कारण, वह सत्ता की एकता जुटाव और बनाव की एकता होगी और उस राष्ट्र के अवयव आपस में किसी घनिष्ठ भावना में एकत्र न होगे, प्रत्युत परस्पर उनमें अपनी-अपनी अस्मिता का भाव तनाव पैदा किये रखेगा। वह व्यवस्थागत एकता होगी, हृदयगत न हो पाएगी।

भारत वह देश है जिसमें हर प्रकार की विविधता और विभिन्नता रही है। फिर भी शताब्दियाँ नहीं सहस्त्राब्दियों से वह एक प्रकार की एकता में जुटा चला आ रहा है। उसकी समग्रता को कभी एक राज्याधिपति नहीं मिला। यहाँ तक कि सम्राट अशोक और अकबर के शासनकाल में भी, जिसको पूरा कहें, वह भारत नहीं आता था। अथवा कहिये, इस प्रकार राजनीतिक और भौगोलिक रेखाओं के भीतर बन्द और घिरी किसी इकाई के नाम को भारत का नाम देना ही सही और सच नहीं है। भारत एक सांस्कृतिक इकाई के रूप में रहा है। उसके अन्तर्गत अनेकानेक राजा-महाराजा समाए रह गये हैं।

व्यवस्था और कानून के द्वारा जुटायी जानेवाली इकाई तब तक स्थिरता प्राप्त नहीं रह सकेगी जब तक उसे आधार हार्दिक और सांस्कृतिक भी प्राप्त न हों। भावात्मक एकता देने का काम व्यवस्था-तन्त्र के वश का नहीं है। केवल उनके वश का है जो मानव को भाव के स्तर पर छू पाते हैं और इसी प्रकार वहाँ अपने पृथक अस्मित्व की वासना का द्रवण सम्भव बना सकते हैं।

आज से पृथक-पृथक अस्मिताएँ नाना आधारों पर देश में उपज रही हैं। उन्हें भड़काया भी जा रहा है—जातिवाद, भाषावाद, क्षेत्रवाद सम्प्रदायवाद आदि के रूप में। गहरायी से देखा जाए तो वह राष्ट्रवाद भी असिद्ध ठहरता है जो एकात्मक मानवता की भावना से विहीन है।

अँग्रेजी राष्ट्रवाद

भारत देश में राष्ट्रभाव का अभाव था, यह तो नहीं कहा जा सकता किन्तु जिस राष्ट्रवाद में से टकराव फलित होता है उसको इस भूमि में कभी प्रतिष्ठा नहीं मिली। यह आधुनिक राष्ट्रवाद, कहना गलत न होगा कि, भारत को अँग्रेज और अँग्रजियत की देन है। अँग्रेज इस पर गर्व भी मान सकता है। लेकिन मनीषीजन भारत के आज स्वीकार कर रहे हैं कि ब्रिटेन की यह देन अन्त में प्रतिक्रियात्मक सिद्ध हो रही है। समीचीन भारतीयता के वह अनुकूल नहीं है। कुल मिलाकर विलायती राष्ट्रवाद ने देश को एक नहीं किया है, बल्कि बाँट डाला है। इस्लाम यहाँ बीसियों सदी पहले आ चुका था। पर इस्लामी राष्ट्रवाद का शब्द अँग्रेजों के जमाने में उपजा। मुस्लिम बादशाह रहे, मुगल शहंशाह रहे, पर वे सब भारतीयता में खप गये। बाहर से आये लोगों की पृथकता क्रमशः यहाँ की भूमि से सिंचकर रच-बस गयी। अँग्रेज अपना राष्ट्रवाद लेकर आया और यह देश उसका उपनिवेश बन गया। अँग्रेज सम्राट रहता था इंगलैण्ड में और भारत उसका देश न था, सिर्फ उसके अधीन देश था।

इस संयुक्त अधीनता, यानी सबकी मिली-जुली गुलामी में से अपना यह नया राष्ट्रवाद भारत को प्राप्त हुआ।

मैं कहना चाहता हूँ कि इस राष्ट्रवाद में भारत की मुक्ति नहीं है, आत्मलाभ नहीं है। भारत का अपना राष्ट्रभाव अलग प्रकार का होगा। वह किसी के लिए खतरा न बनेगा और सबके लिए आश्वासन का कारण होगा। सारी मानवता उसमें से अपने त्राण का मार्ग देख पाएगी और उस मार्ग से एक समीचीन एकता की दिशा में बढ़ती जा सकेगी।

यह स्वप्न है जिसको मानवजाति सदा से अपने भीतर पोसता आया है। राजनीति के अधिकांश एकता के प्रयत्न उस स्वप्न की पूर्ति में बाधक ही हुए हैं,

साधक नहीं हो पाये हैं। मुझे भय है कि भारत का राजनीतिक मानस आज भी एकता के निमित्त उसी भ्रान्त दिशा में सोचने का अभ्यस्त है, और जाने-अनजाने अपनी-अपनी पृथक अस्मिता के लिए अवकाश देते रहने की नीति में से, तात्कालिक सफलता देखकर, अपनी सार्थकता मानने की भूल में पड़ा है।

अधिकारों की चेतना

राजनीतिक जागरण के प्रयत्न जिस चेतना को जगाते हैं वह अधिकारों की चेतना होती है, जैसे अल्पमत के अधिकार। मुस्लिम यदि अल्पमत हैं तो उनके अधिकारों की रक्षा इस अर्थ में की जाए कि वे विशेषाधिकार बन जाएँ, उनका सब जगह आनुपातिक प्रतिनिधित्व हो। समझा जाता है कि यही तरीका है जिससे इस्लाम के, और इस्लाम के अनुयायियों के साथ सही न्याय हो सकता है। मान लीजिए कि ऐसे सामाजिक न्याय हो भी गया, तो क्या इससे समाज में अल्पमत और बहुमत के बीच क्या ऐसे सदा के लिए एक बुनियादी खाईं न खुद जाएगी? तब क्या कर्तव्य और अधिकार के बीच विरोध ही न आ बनेगा? अधिकार सब अल्पमत के पास, और कर्तव्य सब बहुमत के ऊपर।

यहीं हो रहा है, देश अगर एक है तो उसका नागरिक एक क्यों नहीं है? नागरिकताओं में फर्क होना क्या आवश्यक है? क्या बहुमत का अल्पमत के प्रति, और अल्पमत का बहुमत के प्रति कुछ कर्तव्य नहीं है? राजनीति अधिकार दे सकती है, पर क्या कानून से कर्तव्य का भाव भी पैदा किया जा सकता है? उसका पालन कराया जा सकता है?

स्पष्ट है कि कर्तव्य में से अधिकार उत्पन्न और प्राप्त होता है। दोनों की साथ जोड़ी है। अर्थात सामाजिक क्षेत्र में एक-बनाम-दूसरे का नहीं है, वह परस्परता का क्षेत्र है और जहाँ तक हो उसमें कानून को कम-से-कम दखल देना चाहिए। कानून का उपयोग वहाँ है जहाँ दो के बीच का सम्बन्ध योग का नहीं; प्रत्युत ऋण का, साथ का नहीं, बनाम का हो जाता है।

इस बनाम के सम्बन्ध में से आक्रामकता जन्म पाती है और यदि यह पृथकता का और बनामता का सम्बन्ध स्थायी बनता है तो आपसी झगड़े और दंगा-फसाद की भूमिका सदा के लिए कायम हो जाती है।

मुस्लिम अल्पमत की जगह अनुसूचित जातियों या हरिजनों के अल्पमत की बात ले लीजिए। न्याय के नाम पर उन्हें कानूनी विशेषाधिकार दिए जाते हैं, आरक्षण दिए जाते हैं। तो ऊँच-नीच, सवर्ण-अपर्ण का भेदभाव उससे गहरा होता है। समाज में फटाव आता है, विषमता जड़ें पकड़ती हैं और जातियों में आपसी दुर्भाव जन्मता है।

गाँधीजी के जीवन के अन्तिम अध्याय में जो काम उन्हें सबसे प्रिय और निकट था, वो था हरिजन सेवा का काम। विलायत के प्रधानमन्त्री की तरफ से 'राउण्ड टेबिल कान्फ्रेंस' के अनन्तर जो सुधार-पत्र आया उसमें हिन्दू समाज से अलग हरिजनों को चुनाव अधिकार दिया गया था। यह तो जाहिरा तौर पर बड़े क्रान्तिकारी सुधार का काम समझा जा सकता था। डॉ. अम्बेडकर ने उस रूप में उसको स्वीकार ही नहीं, स्वागत भी किया; लेकिन गाँधीजी ने आमरण उपवास की घोषणा से उसका मुकाबला किया और अपनी जान की बाजी लगा दी।

दो मानसिकताएँ

तो ये दो दृष्टिकोण हैं, दो मानसिकताएँ हैं। एक राजनीतिक तो दूसरी नैतिक, या धार्मिक। मैं मानता हूँ कि सच्चे सामाजिक न्याय की दृष्टि से जड़-वृत्ति नैतिक और हार्दिक चाहिए। सिर्फ हिसाबी से नहीं चलेगा। धर्म के नाम पर चलायी जाती राजनीति है। धर्म से उसका तनिक भी वास्ता नहीं होता।

यदि कर्तव्य-भाषा को बीच में से सर्वथा असंगत बना दिया जाता है। तो सुधार और सामाजिक न्याय के नाम पर किए गये सारे कानूनी काम भेदभाव को बढ़ाने और स्थायी बनाने के ही उपकरण बनेंगे। सामाजिक समरसता उतनी ही कठिन होती जाएगी। तब विषमता बढ़ेगी और कटुता उत्पन्न होगी।

उदाहरण में अनुसूचित जातियों को लीजिए। वहाँ फिर अपने-अपने स्तर हैं। एक बार यह भेदभाव और पृथकभाव की हवा बढ़ने दी गयी तो देखा जाएगा कि उसका अन्त कहीं नहीं है। जिस आधार पर भारतीय ग्राम-रचना और समाज-रचना खड़ी है, वह आधार टूट रहा है। गाँव जो अब तक एक था, अब आपसी कलह का अखाड़ा बन गया है।

जो मर्यादाएँ परम्परा-भाव से बनी थीं वे रूढ़ होकर अपनी उपयोगिता खो बैठी है। ये ग्राम की एकता को अब धारण नहीं कर पातीं। ऊँच का नीच पर दबाव अनुभव होता है और उसमें से चिंगारियाँ फूटती हैं। लेकिन कानून से उन मर्यादाओं का लोप करने की चेष्टा से अराजकता उत्पन्न होती है। आवश्यक है यह कि नयी मर्यादाओं की सृष्टि हो, जो कानून के जरिए हो नहीं सकती।

आज की स्थिति इसी से विषम बनी हुई है कि पुरातन मर्यादाएँ काम नहीं दे पाती और राज-कारण केवल अधिकार चेतना उत्पन्न करते रहने के अपने अभ्यास के कारण नयी मर्यादाओं की सृष्टि में बाधक ही बन पाता है। उधर आर्थिक श्रेणियों का निर्माण हो रहा है जिनमें परस्पर किसी समझ-सहानुभूति का अवकाश ही नहीं है। आर्थिक क्षेत्र वैसे भी खुली स्पर्द्धा, शोषण और अराजकता का क्षेत्र है। सामाजिक और आर्थिक इन दोनों क्षेत्रों को मर्यादा-हीनता से इस देश की स्थिति

बहुत ही अस्थिर बनी हुई है। राजनीतिक स्तर पर से इस अस्थिरता का लाभ तो उठाया जा सकता है, उपचार वहाँ से आना असम्भव है।

मैं मानता हूँ कि देश की एकता का सवाल जितना बड़ा है उतना ही गहरा है। राजनीतिक मानस उसके तात्कालिक उपचार पर भले रुका रह जाए, पर मेरी आशा है कि चिन्तक मानस उसकी गहरायी में जाएगा और अल्पमत के नाम पर जो तथाकथित उपाय किए जा रहे हैं, उनकी अकृतार्थता के कारणों को खोलकर स्पष्ट करेगा। भूलना नहीं चाहिए कि सांस्कृतिक एकता के विपक्ष में राजनीतिक मानसिकता ही थी कि जिससे देश को विभाजन का दर्द भोगना पड़ा था। उस समय तो हम अँग्रेज को दोष देकर स्वयं उसके भागी होने से अपने को बचा ले सकते थे। अब वह बहाना देश के पास नहीं है, लेकिन खड़ी और पड़ी दोनों रेखाओं में विभाजन के खतरे सामने हैं। बाहरी से अन्दरूनी खतरा बड़ा होता है। यह वह नाम देकर इस-उसके माथे डालकर उसे नहीं टाला जा सकता। राजनीति इस तरकीब से आसानी से जिम्मेदारी से बच जाती है। लेकिन राजनीति और राजनेता ही सब नहीं हैं। भारत उनसे अधिक है और उन तत्त्वों को जगाना होगा जो देश की एकता की रक्षा एकात्मकता में देखते हैं, सत्ता की एकरूपता में नहीं।

□

राज्य से अलग राष्ट्र-शक्ति का उदय

महाशक्तियों के ध्रुवीकरण के बीच एक तीसरी निर्गुट शक्ति के उदय के विचार ने बीसेक वर्ष पहले बेलग्रेड में स्वरूप लिया। यूगोस्लाविया और इजिप्ट (मिस्र) के प्रमुखों के साथ भारत के जवाहरलाल नेहरू उसके कर्णधार थे। ठीक समय इसका सूत्रपात हुआ था और आशा बँधी थी कि दुनिया का भाग्य महाशक्तियों की परस्पर प्रतिस्पर्धा के चंगुल में ही नहीं रहेगा, एक और भी शक्ति होगी जो सन्तुलन रखेगी और देशों के प्रभुसत्ता की सुरक्षा के लिए खतरा ही नहीं बना रहेगा।

निर्गुट आन्दोलन इन बीस वर्षों में संख्या की दृष्टि से यद्यपि बहुत बढ़ गया है, 24 से अब उसके 94 सदस्य हैं, पर इसमें संशय है कि इस अनुपात में उसका वर्चस्व बढ़ा है। संशय तो यहाँ तक होता है कि कहीं वो दिशाहीनता में तो नहीं पड़ गया है।

निश्चय ही राजनीति भावना से नहीं चलती। यथार्थ का ध्यान रखना ही पड़ता है और आज की परिस्थिति का सबसे बड़ा यथार्थ ये है कि अमरीका-रूस आमने-सामने हैं, उनकी शक्ति अपार है, योजनाएँ व्यापक हैं और शीत युद्ध की परिस्थिति फिर आ बनी है। किन्तु यदि निर्गुट विचार के लिए कोई आधार था, और उसकी कोई उपयोगिता है, तो यही कि शक्तियों के द्वन्द्व की विभीषिका से मानव जाति को तनिक त्राण मिले और कोई स्वर बलिष्ठ व संकल्पयुक्त ऐसा उठे जिससे देशों को ढाँढस पहुँचे और उनके अस्तित्त्व के सम्बन्ध का खतरा दूर हो।

स्पष्ट रुख की जरूरत

किन्तु इसी सोमवार से आरम्भ होनेवाले निर्गुट सम्मेलन में से वैसा कोई निश्चित स्वर उठेगा, इसकी आशा कम है। भारत आतिथेय देश है और यह उचित ही है कि वो चाहे कि उसकी भूमि पर विवाद उग्र न हो और निर्णय सर्वसम्मत

रूप से स्वीकार किए जा सकें। किन्तु कुछ प्रश्न ऐसे हैं जिनके बारे में सम्मेलन को अपना रुख स्थिर करना होगा, लीपापोती से काम नहीं चलेगा। दायित्व भारत पर आया, और इस बारे में वह सावधान भी है। उसके राजनयिक कार्य कर इस सम्बन्ध में सम्बद्ध देशों के पास जाकर यथावश्यक परामर्श करते रहे हैं। भरसक उनका प्रयत्न है कि मतभेदों का समावेश अन्तिम वक्तव्य में इस प्रकार हो कि स्थिति जितनी कठिन है उससे अधिक बिगड़े नहीं। उसमें दो प्रश्न काँटे के हैं एक अफगानिस्तान का है, दूसरा कप्यूचिया का।

अफगानिस्तान के बारे में सब ओर सहमति है इस पर कि भारत ही उस सुविधाजनक स्थिति में है कि पहल कर सके। रूस से उसके अच्छे सम्बन्ध हैं और उसकी कोशिश यकायक सुनी-अनसुनी नहीं की जा सकती। उस पर दबाव है कि वह स्पष्टता से कहे कि उन रूसी फौजों को वापिस जाना चाहिए जिनका इस वक्त वहाँ कब्जा है। साफ है कि इस प्रकार किसी प्रभुसत्तात्मक देश में विदेशी फौजों का दखल सही नहीं है। परिस्थितियाँ अन्तरराष्ट्रीय जो भी हों, पर यह अनुचित है। लेकिन ऐसे पैदा हुई समस्या का हल बल से नहीं किया जा सकता। बल के समक्ष प्रतिबल से काम लिया जाएगा तो स्थिति बेहद विस्फोटक होगी। हल राजनीतिक ही हो सकता है। प्रश्न गलत को गलत कहने से निबट नहीं जाता। ऐसा करने से अगर स्थिति उलझती हो तो शब्दों के व्यर्थ व्यय को बचाया जा सकता है।

भारतीय मसविदा

बहरहाल भारत ने जो पहला मसविदा विचार के लिए प्रस्तुत किया था, वह समक्ष है और उस पर विशेषज्ञ जूझ रहे हैं। कप्यूचिया को भारत ने निजी तौर पर मान्यता दी है, लेकिन वह आमन्त्रित देशों में नहीं है। एशिया के कुछ देश इस अनिश्चिय पर प्रसन्न नहीं हैं। वह मानते हैं कि वियतनाम की ज्यादती के बारे में निर्गुट सम्मेलन को स्पष्ट होना चाहिए।

दूसरे भी प्रश्न हैं जिनको नजर अन्दाज नहीं किया जा सकता, जैसे कि ईरान-इराक का युद्ध, भारत महासागर में नौ सेना के अड्डे, और परशियन खाड़ी के क्षेत्रों में महाशक्तियों का प्रभाव और प्रवेश। किन्तु इन प्रश्नों पर प्रगटतः निर्गुट सम्मेलन कुछ प्रभावी हो सकेगा, ये कहा नहीं जा सकता।

कुल मिलाकर देखना ये है कि भारत के इस निर्गुट अधिवेशन में से क्या बनता है और स्वयं इस निर्गुटता का भाग्य क्या रह जाता है। सच यह है कि जब तक भरोसा शस्त्रों का है और सबको अपनी सुरक्षा के लिए उनके अधिकाधिक भण्डार की आवश्यकता प्रतीत होती है, तब तक निर्गुटता सही और पूरे मायनों

में चल नहीं सकती। आज भी सामने-आमने खड़ी दो महाशक्तियों से सबको हथियार पाने की अपेक्षा है। तब कैसे हो सकता है कि इस निर्भरता के कारण इनकी गुट निरपेक्षता में भी अन्तर ना आये। पाकिस्तान को अपेक्षा है कि अमरीका से उसे हथियार मिले। इसलिए भारत के लिए भी आवश्यक होगा वह रूस से हो या चाहे जहाँ से हो अपने लिए पर्याप्त युद्ध सामग्री प्राप्त करे। निर्गुट आन्दोलन में सम्मिलित देशों का सबका लगभग यही हाल है। तब यह आशा कि तीसरी शक्ति कोई ऐसी खड़ी होगी जो सन्तुलन बनाये रखे और शान्तिभंग न होने दे कैसे पूरी हो सकती है?

यहाँ आकर प्रश्न केवल सामयिक और तात्कालिक नहीं रहता। वह गहरे तल को जो छूता है और उसका स्वरूप यह बनता है कि क्या कोई राष्ट्र और उसका राष्ट्रवाद ऐसा हो सकता है जो अनाक्रामक हो, अविरोधी हो, असुरक्षा की चिन्ता में जिसे पीड़ित न रहना पड़ता हो, जो आर्थिक आदि दृष्टियों से स्वाश्रयी हो, परमुखापेक्षी न हो, और जो इसलिए निर्भयता के साथ न्याय और सत्य का पक्ष ले सकता हो?

अपेक्षा हो चली थी भारत से कि वह ऐसा राष्ट्र बनेगा। उसकी स्वतन्त्रता का युद्ध अनोखा था और वह युद्ध गाँधी के नेतृत्व में लड़ा गया था। उस नेतृत्व की प्रकृति से दुनिया में भरोसा जग आया था कि युद्ध से निस्तार मानव जाति को मिल सकता है और अणुशक्ति की विध्वंसकता से बचकर उसके रचनात्मक उपयोग का मार्ग पाया जा सकता है। गाँधी ने अहिंसा शब्द का आधार पकड़ा था जो कि आध्यात्मिक और धार्मिक शब्द समझा जाता है। गाँधी ने उसको एक अद्भुत प्रबलता और व्यावहारिकता दी। उन्होंने उसका एक नए शस्त्र के रूप में प्रयोग किया और सिद्ध कर दिखाया कि उस शस्त्र से राजनीतिक युद्ध जीता जा सकता है और सफलतापूर्वक हिंसा से मोर्चा लिया जा सकता है।

यदि शस्त्रसन्नद्ध आमने-सामने दो पक्ष है तो बीच में न्याय के लिए या तो वो समर्थ होगा जिसकी शस्त्रशक्ति शीघ्र उन दोनों से कहीं बढ़कर हो अन्यथा वह जो कि स्वयं सर्वथा निःशस्त्र है।

नैतिक मान्यता

मैं मानता हूँ कि द्वन्द्व में कहीं से उस पक्ष के उठने की आवश्यकता है जिसको नैतिक मान्यता प्राप्त हो। निर्गुट देश यदि स्वयं शस्त्रनिरपेक्ष रह सकते होते तो उस मान्यता के अधिकारी हो सकते थे। यदि सब सशस्त्र हैं तो संकट के आसन्न युद्ध के अंग भी बन जाते हैं। उनकी निर्गुटता, अन्ततः देखा जाएगा, कि नाम भर की ही है। उनकी एकता में दरार पड़ रही है और कुछ इधर झुके हैं तो

कुछ उधर। सत्य और अन्याय की रेखा इस स्थिति में गायब हो जाती है और अन्तिम निर्णय के लिए बलाबल का परीक्षण ही एकमात्र उपाय रह जाता है।

आज ठीक वही स्थिति है। शस्त्र-सीमा के निर्धारण के लिए बैठकें होती हैं और वहाँ कुछ निर्णय भी हो जाता है। लेकिन निर्णय स्थिर नहीं रहता और शस्त्र-स्पर्धा फिर होड़ पकड़ लेती है। विज्ञान ने, व्यवसाय ने, संचार-व्यवहार ने ये दिखा दिया है कि दुनिया एक है और किसी का सिर्फ अपने बलबूते रहना यहाँ सम्भव नहीं है। ऐसी स्थिति में यदि देशों के परस्पर सम्बन्ध बनते और टिकते हैं, उनकी शस्त्रशक्ति के अनुपात और आधार से तो अन्तिम परिणति इसके सिवा और क्या हो सकता है कि फैसला एक नये युद्ध के द्वारा हो। शीतयुद्ध जो आज है केवल तैयारी अगले रक्तपात के लिए कि जिसकी कल्पना भी भयावह है।

विश्व व्यवस्था राष्ट्र-राज्यों के आधार पर चल रही है किन्तु कहीं भी राज्य से अलग किसी को राष्ट्र का स्वरूप प्राप्त नहीं है। संस्था के रूप में राज्य तो असमर्थ है कि शस्त्र सैन्य के बिना उसका काम चले, किन्तु राष्ट्र के लोग तो ये अनुभव किए बिना रह नहीं सकते कि मानव जाति एक है और एक होना है। राज्य-व्यवस्थाएँ उन्हें यदि तनिक कमतर भी रखती हैं तो यह उनको अधिकार नहीं कि वे मानव जाति को प्रलय में झोंक दें। अर्थात आज की प्रथम आवश्यकता यह है कि राज्य से अलग और अतिरिक्त किसी देश में राष्ट्र-शक्ति का उदय हो और वह अविरोधी और जनाक्रामक राष्ट्र का यथार्थ उदाहरण प्रस्तुत करें।

□

राष्ट्र के वर्चस्व में निरन्तर ह्रास

शासन व्यवस्था का क्या स्वरूप हो इस बारे में तो कहा गया और चाहा जाता है कि राष्ट्रीय स्तर पर चर्चा हो। लेकिन इससे कहीं महत्त्वपूर्ण मुद्दा यह है कि राज्य का स्वयं राष्ट्र से क्या सम्बन्ध हो? यह विषय मैं मानता हूँ कि प्राथमिक विचार के योग्य है। पार्लियामेन्ट्री और प्रेसीडेंशियल दोनों पद्धति लोकतान्त्रिक कहलाती है। लेकिन लोकतन्त्र का आशय क्या चुनाव की प्रथा को बीच में स्वीकार करने से पूरा हो जाता है?

प्रश्न यह भारत के लिए ही नहीं सब देशों के लिए एक-सा अनिवार्य है। कुछ देश अब भी शेष हैं जहाँ शासन के ऊपर कोई एक राजा अधिष्ठित है। इंग्लैण्ड और जापान में पालिर्यामेन्ट है लेकिन उनके ऊपर राजा भी है। दोनों जगह यद्यपि राजा विशेष कुछ करता नहीं है तो भी वो दलों से ऊपर है और समूचे राष्ट्र का प्रतीक माना जाता है। किन्तु जहाँ राजा नहीं है वहाँ अधिक से अधिक ये कहा जा सकता है कि प्रेसीडेण्ट है जिसको राष्ट्र के प्रतीक रूप में हम स्वीकार कर सकते हैं, लेकिन वो प्रेसीडेण्ट शासक दल में से अथवा उसकी अनुमति से बनता है और दलहित के ऊपर रहना सदा उसके लिए सम्भव नहीं होता है।

यह भी अनुभव किया जा रहा है कि कुल परम्परा से प्राप्त राजा अथवा निर्वाचन द्वारा उपलब्ध अध्यक्ष प्रबुद्ध राष्ट्र के प्रतीक के रूप में समुचित अधिकार और सामर्थ्य का द्योतक नहीं है। वो राजकीय अथवा राजनैतिक गतिविधि को विशेष प्रभावित नहीं कर सकते।

राष्ट्र और जनता

यों राजनीतिक मतवाद और शास्त्र सभी स्वीकार करते हैं कि सत्ता का अधिष्ठान राष्ट्र है, उसकी जनता (पीपुल्स) है, लेकिन जिस तन्त्र के द्वारा उस सत्ता का प्रयोग और विनियोग होता है, क्या उस तन्त्र से अलग कहीं उस राष्ट्र का या पीपुल्स का अस्तित्व देखने में आता है? शब्द अवश्य हैं राष्ट्र और जनता का।

लेकिन उन शब्दों की रूप-हीनता के कारण विडम्बना यह बन आयी है कि जिसको राष्ट्राश्रित होना चाहिए था वह राज्य सर्वग्रासी हो उठा है। राष्ट्र (नेशन) व जनता (पीपुल्स) यह दोनों ही मात्र राज्याश्रित व राज्याधीन होने को रह गये हैं। शब्द हैं हमारे पास लोकतन्त्र और दुहाई देने का भी अवसर है तन्त्र को कि हम लोकानुमति से अपनी सत्ता और क्षमता प्राप्त करते हैं। लेकिन क्या निर्वाचन के एक दिन के अतिरिक्त क्या कहीं उस लोक की सत्ता दीखने को रह जाती है? अर्थात इस प्रकार लोकतन्त्र लोकहीन होकर मात्र जड़ तन्त्र होने को रह जाता है।

यों कहने को राज्य केवल सरकार नहीं हैं। सरकार तो मात्र राज्य के हाथ का कार्मिक उपकरण है। वह तो सिर्फ कार्यपालिका है। राज्य के दो अंगभूत स्तम्भ उससे अलग और तनिक ऊपर होते हैं : न्यायपालिका और विधायिका। लेकिन आम अनुभव है कि दलगत पद्धति में यह केवल सम्भव ही नहीं है, प्रत्युत्त अनिवार्य जैसा हो जाता है कि विधायिका के साथ न्यायपालिका भी प्रबल बहुमत वाले शासक दल के नीचे और उसकी अधीनता में आ जाए। विधायिका अगर कार्यपालिका के नीचे और मातहत हो आती है तो केवल मात्र विपक्षी दल या दलों के अस्तित्व के लिए अवकाश रहने देने से क्या सही तौर पर लोकतंत्र का आशय सिद्ध हो सकता है? क्या कोई उपाय तब रह जाता है कि लोकहित दलहित के दबाव के नीचे ना आ जाए? सच्ची स्वतन्त्रता क्या राष्ट्र के 'स्व' के तन्त्र के आधार पर ही खड़ी ना होगी? राष्ट्र का वह 'स्व' कहाँ है? यदि केवल तन्त्र है और उस 'स्व' के सन्दर्भ से युक्त नहीं है तो क्या वह तन्त्र जड़ और आत्महीन ही नहीं हो जाता? क्या फिर उस तन्त्र के पास हुकूमत शाही के अतिरिक्त दूसरा कुछ भी नैतिक या वास्तविक अधिकार रह जाता है?

स्वराज्य आया तो बातचीत के जरिए। बात अँग्रेज के साथ होनी थी जिसका यहाँ साम्राज्य था। भारत की ओर से कौन बात करे? 'राउण्ड टेबिल' के लिए तो अँग्रेज ने तरह-तरह के पक्ष अपने साथ शामिल होने के लिए खड़े कर लिये थे। लेकिन जिस आन्दोलन की बदौलत इस सन्धि-चर्चा की स्थिति उत्पन्न हुई थी वह तो गाँधी के नेतृत्व में राष्ट्रीय महासभा (काँग्रेस) ने चलाया था। राष्ट्र का यह प्रबल जागरण बलिदानों के बल पर सम्भव हो पाया था। किन्तु तभी राजनीति उलझ पड़ी। काँग्रेस को 'हिन्दू' गरदाना गया और आवश्यक हुआ कि बातचीत में हिन्दू के अलावा मुस्लिम का भी समावेश हो। यों काँग्रेस के मुकाबले मुस्लिम लीग आ खड़ी हुई। भारत राष्ट्र तो वास्तव में उसी बिन्दु पर बँट गया। गाँधी ने कहा काँग्रेस को कि सीधे-सीधे अँग्रेज को कह दो कि वह जाए, हमारे बीच बँटवारा करने वाला अपने को न माने। जैसा होगा हम आपस में भुगत लेंगे।

पर वह न हुआ। काँग्रेस झाँसे में आ गई और हिन्दू-मुस्लिम के नाम पर बँटवारे को मान बैठी। उसके नतीजे से मैं नहीं मानता कि तब बंटे इन दोनों देशों को कभी छुटकारा मिल सकेगा।

लेकिन वह दूसरा प्रश्न है। संगत बात यह है कि तब काँग्रेस को गाँधी ने कहा कि तुम राज्य मत बनो, राष्ट्र बने रहो। राष्ट्र की भाषा में सोचो, उसी की सेवा में लगो। राजनीतिक बाना जिसलिए तुमने पहना था तो वह काम पूरा हो गया। अब काम उस स्वराज्य को पूरे राष्ट्र में उतारना है, गाँव-गाँव फैलाना है। इसको अपना काम मानो और बनाओ। आखिर मजबूत राष्ट्र नीचे होगा तभी तो ऊपरी व्यवस्था का उपकरण दृढ़ और स्वस्थ व्यवस्था दे सकेगा। तभी यह देश दुनिया के सामने और उसके बीच गणनीय हो सकेगा। इससे आगे भारत का एक अद्‌भुत इतिहास रहा है। अपूर्व संस्कृति रही है। उस सबका उदाहरण बनकर यह भारत राष्ट्र हो सकता है कि लड़खड़ाती वर्तमान सभ्यता को नई दिशा दे सके। मशीनी से मानवीय मोड़ दे सके।

पर वह नहीं हुआ। नहीं हुआ इसलिए कि सामने जो राज्य का उपहार आया तो राष्ट्र इन काँग्रेस कर्मियों और नेताओं के मनों में पीछे पड़ गया, मानों गायब ही हो गया। सत्ता का आकर्षण चीज ही ऐसी है। और तब से हम देख रहे हैं कि राष्ट्र गायब है, जीने दिया जाता है तो सिर्फ चुनाव के दिन के लिए एक रोज। अन्यथा शेष पूरे पाँच वर्ष उसकी दुहाई भर सुनी और सुनाई पड़ती है। उसको जगने देने की चेष्टा लगभग होने ही नहीं दी जाती।

कहा जाएगा कि शासक दल के सामने जब तक विपक्षी दल भी हैं तब तक लोकतन्त्र का दावा सही क्यों नहीं है? किन्तु लोक क्या कभी शासन पर बैठा है, बैठ सकता है? शासन पर वे ही आएँगे जिन्हें फिर शासन के अतिरिक्त दूसरा काम रही न जाए। लोक तो उगाने बनाने के काम में दिन-रात प्रवृत्त रहता है। विपक्षी दल सब मिलकर भी अपने को 'लोक' इसलिए नहीं मान सकते कि न्यायत: उन्हें एक काम यही रहता है कि सत्तारूढ़ दल को गिराएँ और स्वयं सत्ता पाएँ। लोक इतना खाली नहीं है कि इस बेकाम के काम की बात सोचने में रहा करे।

किन्तु लोक है, राष्ट्र है, उसके पास आत्मा है। ये बात पिछले दो आम चुनावों से सिद्ध हो जाती है। फिर भी आवश्यक रहता है कि उसको सोया न मान लिया जाए और राज की नीति ही अपने को सब कुछ न मानती रहे। उसे राष्ट्र-मानस, राष्ट्रमति और राष्ट्रभावना की तरफ सावधान रहना भी जरूरी हुआ करे।

सन् सैंतालीस में स्वराज्य आया और तब गाँधी थे। सन अड़तालीस शुरू

होते ही वह चले गये। यद्यपि काँग्रेस ने राजनीतिक रूप छोड़कर राष्ट्रीय स्वरूप अपना लेने की बात उनकी नहीं मानी थी, लेकिन गाँधी रहते तो राज्य के समक्ष राष्ट्र गायब न हो पाता। कुछ न कुछ स्वरूप तब लोक को, राष्ट्र को प्राप्त होता और राज के तन्त्र के लिए अपने को सर्वसत्ताधीश मानने का कहीं अवकाश न रहता।

चरित्र में गिरावट

गत तीस वर्षों में राष्ट्र के वर्चस्व में निरन्तर ह्रास होता गया है। परिणामत: राजनीति चरित्र भी गिरता चला गया है। मानो चरित्र और राजनीति ये शब्द ही एक दूसरे से विमुख हों।

इस परिस्थिति में मेरा आग्रह है कि राज्यतन्त्र रूप के बारे में जबकि विवाद को स्थगित भी रखा जा सकता है, तब सर्वथा आवश्यक और तात्कालिक यह है कि राष्ट्र का कुछ स्वरूप उदय में आये, वह उभरे और सक्रिय हो। राष्ट्र-भाव जागृत नहीं है तो तन्त्र, यह या वह, राष्ट्र को अपने में ग्रस्त रखेगा और स्वतन्त्रता का भोग तन्त्र के स्वामियों के पास सिमटा रह जाएगा और जिस जनता के नाम पर ये प्रभुजन उस सत्ता भोग को, अपने को न्यासी अथवा अधिकारी मानते हैं, उस जनता के जन-जन केवल निरीह और दीन-हीन बनने को रह जाएँगे।

उसी दिशा में हम बढ़ रहे हैं। हठात् बढ़ते ही जा रहे हैं। समय है कि हम ठहरें, सोचें और राष्ट्र को उदय में लाने के उपाय में लगें।

□

देश के शरीर पर अस्वास्थ्य के चिह्न

देश की अवस्था स्वस्थ नहीं है। उसके शरीर पर उठने वाले अस्वास्थ्य के चिह्नों की कमी नहीं है। असम, गुजरात के अलावा तरह-तरह के मुद्दों और नामों पर व्यवस्था भंग की वारदातें होती रहती हैं। अनुशासन है नहीं और प्रशासन के जोर से जो अनुशासन लाने की चेष्टा की जाती है, उसकी उल्टी प्रतिक्रिया होती है। दमन आन्दोलन को और धार दे देता है। यदि अन्त में किसी प्रकार सन्धि और शान्ति हो भी पाती है तो नीचे उत्पन्न भावों की सुलग शेष बच ही जाती है।

स्वास्थ्य पहले है, समृद्धि बाद में। लेकिन प्रतीत होता है कि अधिकांश सोचा और किया जाता है देश को जल्दी-से-जल्दी समृद्धिशाली बना डालने की भाषा में ही। दिल्ली में अभी पाँच सितारों के होटलों की कमी नहीं है, और नये-नये बनाए जा रहे हैं। सम्पन्नता का यह हाल है कि उन होटलों में जगह पाना मुश्किल होता है। सम्पन्नता यदि शहरों में शिखर तक चढ़ी दिखती है तो उन्हीं शहरों में विपन्नता की भी सीमा देखी जा सकती है। देहातों का तो जिक्र ही क्या है?

अराजकता का खतरा

अगर अमीरी और गरीबी के बीच यही विडम्बना और विषमता का सम्बन्ध रहा तो शनैः-शनैः देश में भीतर ही भीतर जमा होता हुआ रोग अराजकता के रूप में फूट पड़े तो अचरज की बात न होगी। बाहरी ऐश्वर्य अन्तरंग रोग का उपचार कभी सिद्ध नहीं हो सका है। वैभव सम्पन्न अनेकानेक परिवार मैंने देखे कि जिन्हें आपसी दुर्भाव ले बैठा है। देखते-देखते वैभव सब उड़ गया है और वे परिवार नष्ट हो गये हैं।

स्वास्थ्य का प्रश्न वस्तुगत नहीं है, इसलिए वह गणित का भी नहीं है। हो सकता है कि उत्पादन खूब हो और उत्पादन वृद्धि का ग्राफ निरन्तर ऊँचे जा रहा है। लेकिन देश की विपदा और विपन्नता उस कारण और भी बढ़ती जाती

है। यदि चीजों को, और उनके विनिमय को सुगम बनाने के साधन रूप मुद्रा को एकान्त महत्त्व दिया जाता है तो यही परिणाम आने वाला है। सम्पन्नता अगर फैलती नहीं है, वितरण उसका विषम रहता है, तो अमीरी-गरीबी आमने-सामने होकर एक-दूसरे को गुर्राने को रह जाती है। और देश घटकर सम्पन्न और विपन्न की श्रेणियों में विभक्त हो जाता है। देश की एकता के लिए आवाहन किया जाता है और जोरों से उसका अभियान चलाया जाता है। लेकिन यह एकता का प्रश्न भी भाषात्मक नहीं है, परिस्थितियों का मुख्य पहलू आर्थिक है। आवाज उठ रही है कि नैतिक मूल्यों का निरन्तर ह्रास हो रहा है। नैतिकता की बात करने वाले लोग भारत में कम नहीं हैं। धर्म पुरुषों और धर्म गुरुओं की भरमार है, निरन्तर और सर्वत्र प्रवचन चला करते हैं। फिर क्यों है कि उसी का अभाव है। उपदेश सुननेवालों की कमी नहीं है। हजारों-हजार भी, तो लाखों-लाख की संख्या में धार्मिक अनुष्ठान में लोग सम्मिलित होते हैं। क्यों नहीं ये धर्मोपदेश देश की मानसिकता में यथेष्ट परिवर्तन ला पाते हैं?

कारण है कि नैतिक आर्थिक से निरपेक्ष नहीं हो सकता है। जीवन खानों में बँटा नहीं होता। वह अखण्ड है और शास्त्र को कहना पड़ता है कि भूखा क्या पाप नहीं कर सकता। हम नीचे दीनता को रहने दे, और उस दीनता के कारण उत्पन्न हुए असन्तोष को, रोष को, द्रोह को बढ़ते जाने दें, तो कैसे हो सकता है कि ऊपर के शासन के लिए समस्याएँ उत्पन्न न हों, और वे शासन-प्रशासन को अस्थिर न बनाये रखें।

भारत में गाँव उजड़ रहा है। सब उठकर भागे चले जा रहे हैं शहरों की तरफ। दिल्ली देखते-देखते कैसी क्या हो गयी है? जहाँ मैं बैठा हूँ वह जमीन सन् 21 में चार आने गज में ली गयी थी। अब कीमत पाँच हजार रुपये वर्ग गज लग गयी सुनते हैं। आज अखबार में है कि राजधानी में पन्द्रह बीस हजार अवैध फैक्टरियाँ पकड़ी गयी हैं। घर-घर में बाजार घुसा आ रहा है। परिवार टूट रहे हैं क्योंकि आपसी सम्बन्धों में अपना-अपना स्वार्थ प्रवेश पा गया है। इस स्वार्थ-साधन की चेष्टा में बहुत-बहुत किया जा रहा है। परिणाम है कि दिल्ली की सूरत बदल गयी है। मंजिलों पर मंजिलों के मकान खड़े हो रहे हैं और उनके कारण सम्बन्धों में से आपसी विश्वास का सूत्र समाप्त हुआ जा रहा है। भ्रष्टाचार इतना आवश्यक हो गया है कि शिष्टाचार उनके बिना निभ नहीं सकता।

मैं मानता हूँ कि अगर जीवन ने यह रंग पकड़ा है तो वह रंग उसको प्राप्त हुआ है आधुनिक राजनीति की प्रकृति से। कहा जाएगा कि लोकतन्त्र है और राज्य वही होगा जिसके योग्य समाज होगा। यह भाषा डेमोक्रेसी के विचार में से हमें प्राप्त हुई हैं। हमारी भाषा रही थी, यथा राजा तथा प्रजा। अर्थात राजा प्रजा की

ओट नहीं ले सकता। अगर रामराज्य वह शब्द है कि जिसको राष्ट्रपिता गांधी ने कभी नहीं छोड़ा तो इसी कारण कि राम ने अपने को कभी क्षमा नहीं किया था। प्रजा के समक्ष आदर्श उपस्थित करने के लिए अपनी सति शिरोमणि भार्या को निर्वासन का दण्ड देने में दुविधा नहीं की थी। क्या उन्होंने सीता को सदोष माना था? नहीं। किन्तु राजा होकर उन्हें अपने प्रति निर्मम बने रहना था।

राजनीतिक प्रणाली

चर्चा राज्य के बारे में होती है कि उसकी प्रणाली संसदीय हो या अध्यक्षीय हो। इसके आधारभूत स्तम्भों को बखाना जाना है कि वे हैं, डेमोक्रेसी, सोशलिज्म और सेक्युलरिज्म। वह सब अपनी जगह ठीक है, किन्तु जिस राष्ट्र के प्रति उसे उत्तरदायी होना है उसकी कभी चिन्ता हुई है? उसे स्वरूप देने की चेष्टा हुई है? कहाँ है वह राष्ट्र जिसके आश्रित होकर राज्य को काम करना है? क्या राष्ट्र यहीं है जो पाँच सालों में निर्वाचन के लिए पूछ भर लिया जाता है और फिर वह विचार के लिए एकदम लुप्त हो जाता है। अर्थात यदि राष्ट्र अस्तित्त्व में रहता है चुनाव के बाद भी, तो क्या उसका स्वरूप मात्र राज्याश्रित ही नहीं रह जाता? संक्षेप में तन्त्र वह काम करता है जो लोकनिरपेक्ष है, और दलाधिकृत है। मैं मानता हूँ कि वह प्रश्न जो राष्ट्र के समक्ष प्राथमिक विचार का होना चाहिए। इससे बचने का कोई उपाय नहीं है।

हम देखते हैं कि कसौटी के अवसर पर लोकतन्त्र एकतन्त्र या सैन्यतन्त्र के सामने अक्षम सिद्ध होता रहा है। कारण यही कि उसके पीछे जो मान भर लिया जाता है वह लोकबल तो होता नहीं, फिर भी लोक दुहाई की उसे रक्षा करनी पड़ती है। राष्ट्र नीचे एक होता नहीं, ऊपर पार्टियाँ अनेक होती हैं, और इस तरह लोकतन्त्र अधिनायक तन्त्रों के समक्ष निर्बल भर सिद्ध होने को रह जाता है।

यदि हम अपेक्षा रखते हैं कि लोकतन्त्र सबल और सक्षम बनकर प्रकट हो तो राज्य के तन्त्र से अधिक हमें राष्ट्र का भरोसा बाँधना होगा। राष्ट्र की शक्ति नहीं सीमित है। अपनी सेनाओं की संख्या पर, न उसके शस्त्रास्त्र ही राष्ट्रभक्ति और उस वेदी पर अपना बलिदान देने की तैयारी और तमन्ना है जो मूल शक्ति है। यदि यह चीज मनों में जाग जाती है तो 64 करोड़ की आबादी वाला यह देश विकासशील नहीं रहता, एक क्षण में विकसित बन जाता है।

भारतीय प्रकृति

राजनीति अगर वही है जो राष्ट्र को दलों में बाँटे रखती है तो ऐसी राजनीति राष्ट्र निर्माण के लिए पर्याप्त सिद्ध न हो सकेगी? क्योंकि तब उसकी शक्ति सत्ता को

सामने रखकर उस पर पहुँचने और वहाँ डटे रहने या उस सत्ता के पद से पदस्थ दल को गिराने आदि के कामों में क्षय होती रहेगी। भारत की अपनी प्रकृति और संस्कृति अलग रही है। लगभग यूरोप के बराबर यह देश है। यूरोप में एक धर्म है और जातपात का भी वहां भेदभाव नहीं है। लेकिन यूरोप के देश आपस में कभी अमुक प्रयोजन के नाते थोड़े बहुत मिल भी पाये हो, यों इतिहास भर में सदा वे आपस में युद्ध में ही ठने रहे हैं। इसमें युद्ध के विज्ञान और कला का वहाँ अपार विस्तार हुआ है। किन्तु भारत में कभी और कुछ भी एक नहीं रहा है। राजा-महाराजा सदा यहाँ अनेक रहे हैं। स्वयं हिन्दू धर्म ने कभी एक बनने की चेष्टा नहीं की। यों भी सब धर्म यहाँ जनमन की ओर से प्रोत्साहन पाते रहे हैं। फिर भी यह देश और उसकी सभ्यता की परम्परा यदि अटूट रही है, कभी कड़ी उसकी नहीं टूटी है, तो शायद इस कारण कि उसने राज्य को, उसकी नीति को प्रधानता नहीं दी है। प्रधानता मिली है यहाँ मानव को, मानव धर्म को, और मानव नीति को इसीलिए यहाँ अनायास वह राष्ट्रीयता और वह राष्ट्रवाद, पनपता गया है जो किसी के लिए आशंका अथवा आतंक का कारण बन ही नहीं सकता। भारतीय सभ्यता पहुँची दूर-दूर तक, लेकिन विजेता का दर्प लेकर नहीं। उसने विस्तार पाया तो संस्कारिता के आधार पर, मानवता के आधार पर।

वर्तमान विश्व संकट में है, दो महाशक्तियों की स्पर्द्धा के कारण। मानो शेष राष्ट्र इन्हीं के आपसी समीकरण के हिसाब-किताब के बीच समा जाते हैं। राष्ट्रों के स्वार्थों में टकराहट है, क्योंकि वे राष्ट्र अपने-अपने राजकीय निहित स्वार्थों से पृथक कुछ है ही नहीं। राज्य मानो अपने निजी स्वार्थ स्थापित कर लेते हैं। इसलिए युद्ध तमाम इतिहास में मानव का सदा प्रधान व्यवसाय बना रहा है। उसकी तमाम उत्पादन क्षमता उसी उद्देश्य के प्रति अर्पित होती रही है। यदि इस स्थिति से मानव जाति को पार पाना है तो आवश्यक है कि उस राष्ट्र का उदय हो जो राज्यान्तर्गत न हो, राज्याधीन न हो, किन्तु राज्य जिसके पास मात्र व्यवस्था के उपकरण रूप में हो। यही और इसी रूप का राष्ट्र मानवनीति को प्रतिष्ठा और विस्तार देने में सक्षम हो सकेगा।

□

विस्फोट और विध्वंस की ओर बढ़ती दुनिया

आज के अँग्रेजी अखबार में है कि बर्लिन में 10 लाख बेघरबार लोगों (स्कपेटर्स) का उत्पात बढ़ता ही जा रहा है और काबू में आता नहीं दीखता। वारदातों का सिलसिला जारी है। वे खाली मकानों में जा बैठते हैं और मालूम होता है कि इसमें उनका इरादा सिर्फ अपने लिए जगह पाने का नहीं, बल्कि गहरा है। उनके मन में उस व्यवस्था को भी चुनौती देने की बात है जिसमें वे जी रहे हैं, देश जी रहा है, दुनिया जी रही है। यानि वह एक बुनियादी आन्दोलन है इस सभ्यता के विरोध में जो श्रेणियाँ पैदा करती हैं। एक को शिखर पर चढ़ाती हैं दूसरे को पाताल में फेंकती हैं।

यह पश्चिम जर्मनी की बात है। वो देश विकसितों में भी विकसित है। वह है कि जिसकी उन्नति अपने में समायी न रह सकी और प्रथम विश्वयुद्ध में फूट पड़ी। नतीजे में जर्मनी हारा और परास्त हुआ। लेकिन देखते-देखते हिटलर का आविर्भाव हुआ। जर्मनी फिर फन काढ़कर उठ खड़ा हुआ और देश उसके आतंक से थर्रा आए। दूसरा विश्व युद्ध हुआ और फिर जर्मनी हारा और अस्त-व्यस्त हो गया। अब फिर वह विकास के शिखर पर है और उतनी ही मात्रा में समस्याओं से ग्रस्त है।

विकास की प्रकृति

मुझे प्रतीत होता है कि वह स्वयं इस विकास की प्रकृति के बारे में सोचता होगा। उससे उन्नति होती है और साथ उतना ही दुःख-त्रास उत्पन्न होता है। यन्त्र बढ़ता है, धन बढ़ता है और साथ ही मानव सम्बन्धों के दुर्भाव व तनाव भी बढ़ता जाता है।

यह है हाल उस चली आ रही सभ्यता का जो वैज्ञानिक और औद्योगिक कही जाती है।

चलिए उस सभ्यता में दोष है, उससे प्रदूषण बढ़ रहा है, सम्पन्नता की तुलना में दूसरी ओर विपन्नता भी बढ़ रही है। और भी अभाव अभियोग की बातें

उसके खिलाफ कही जा सकती है। लेकिन प्रश्न है कि क्या कोई सभ्यता हो सकती हैं जो विज्ञान से मुँह मोड़े, यन्त्र से मुँह मोड़े, जो पदार्थ की सम्पन्नता से विमुख हो और उसके उत्पादन की बढ़वारी और बहुतायत से उल्टी राह चलने में त्राण देखे? विज्ञान ने मनुष्य की शक्ति को बढ़ाया है और यन्त्र ने मानव जाति के समक्ष प्रभूत उत्पादन का मार्ग खोला है। जो इस सभ्यता के दोषों से आक्रान्त है और हमको उनके बखान से आतंकित करना चाहते हैं, क्या उनके पास सभ्यता का कोई नया वैकल्पिक चित्र हैं?

मैं मानता हूँ कि और उसका विश्व विचारक इसी प्रश्न के सामने खड़ा अपने में से उत्तर पाना चाह रहा है।

धन बढ़ा, उन्नति बढ़ी, और मालूम हुआ कि निष्कर्ष में उन महा उन्नत और महा विस्तारवादी शक्तियों में आमना-सामना हो आया है। उन्नति के परिणाम में दुनिया एक होने की जगह ध्रुवीकृत हो गयी है, पक्ष बन आये हैं और दोनों ओर शस्त्रास्त्र की सन्नद्धता है। बात बनते-बनते न बनी और युद्ध छिड़ने की नौबत आ गयी तो सब एकदम स्वाहा हो जाएगा। बारूद इतना है और अणुशक्ति अम्बार इस कदर है कि मानव जाति एक बार नहीं, दसियों बार नेस्तनाबूद हो सकती है।

मानव जाति का भविष्य

यह है। लेकिन मालूम होता है कि उपाय नहीं है। लौटने की राह नहीं है। ब्रेझनेव साहब की तरफ से आह्वान है और जो वो चाहते हैं वही चाहते रीगन साहब भी हैं। लेकिन शीर्षस्थों में बात होना कठिन है। कठिनाई वह अनुलंघनीय है। स्थिति-परिस्थिति से अधिक वह भीतर के मन की है और मन आजाद नहीं है कि खुल सके। वह जकड़ा हुआ है आपसी संशय से, भय से। कारण, ब्रेझनेव और रीगन केवल व्यक्ति तो हैं नहीं। वे प्रतीक हैं और मुख हैं उन महाशक्तियों और सत्ताओं के जिनको भूत की तरह इस सभ्यता ने आपसी प्रतिस्पर्द्धा और प्रतियोगिता में उठ खड़ा कर दिया है। वे अपने ही बस के नही हैं। बस में है वे उन विवशताओं के जो स्थितियों के पेट में पड़ी हैं।

क्या मानव जाति का भवितव्य एक नहीं है? क्या उसका हित और स्वार्थ एक नहीं है? क्या ज्ञान-विज्ञान इसी प्रतीति और प्रत्यक्षता के हमें निकट से निकट नहीं ला रहा है, कि दुनिया एक है और मानव जाति में फाँक नहीं है, कि देश कोई अपने बलबूते रह नहीं सकता है, कि समय परस्पर आश्रित और निर्भर है। समूची दुनिया को एक व्यवस्था चाहिए। पारस्परिक व्यापार-व्यवहार ऐसा चाहिए जो सबको भरपूर करे। लेकिन उस सब प्रत्यक्षता के बावजूद दुनिया को बढ़ना पड़ रहा है विस्फोट और विध्वंस के मुख में ही।

भारत के सामने विश्व की यह आस्फोटक स्थिति है। वह स्वयं दुनिया से बाहर तो है नहीं। निर्गुट आन्दोलन का वह प्रवर्तक रहा, हो सकता है और अब भी उसे उसका प्रवक्ता कहा जा सकता है। पर आखिर विश्व की ध्रुवीकृत स्थिति से उसका भी विस्तार है नहीं। निर्गुट कितने निर्गुट है इसके बारे में वे देश स्वयं आश्वस्त नहीं हैं। मुझे लगता है कि किसी के लिए दूसरी गति शेष नहीं है।

इस संकट का निदान? निदान गहरा है। गहरे में पड़ा शायद मूल कारण यह है कि हम एक मिथ्या के आधार पर खड़े हैं और चल रहे हैं। सब कोई सत्य के रूप में यह मानता और जानता है कि राज्य जनता के द्वारा, जनता के हित में, निर्वाचित और नियुक्त होता है। सत्ता का स्रोत जनता है। (पॉवर वेस्ट्स इन पीपुल) राज्य राष्ट्र की अनुमति से बनेगा। इस सबसे न सोशलिज्म, न कैपिटलिज्म, न कोई तीसरा इज्म इन्कार कर सकता है। राजनीतिक सब मत या सब विधान, विधियाँ और पद्धतियाँ वहीं से अपना समर्थन प्राप्त करती हैं।

लेकिन? लेकिन तथ्य क्या है! तथ्य यह है कि राष्ट्र कहीं है नहीं, राज्य ही है। है यदि राष्ट्र तो केवल राज्याश्रित, राज्याधीन है। अर्थात एक झूठ पर जिया जा रहा है।

अस्थिरता

मुझे निश्चय होता जा रहा है विश्व के शरीर में यह झूठ का विष है जो नाना उपद्रव रच रहा है। कोई देश शान्त नहीं है। सब जगह अस्थिरता है, हलचल है, उथल-पुथल है। विनाश और विध्वंस है। इसलिए कि जिसको साधन के रूप में हमने स्वीकार किया था। साध्य उससे भिन्न कुछ रह ही नहीं गया है।

भारत में गाँधी हुआ था, जिसने पार देखा था। उसने कहा था कि राज्य अन्तिम नहीं है। वह साध्य नहीं है, सिर्फ साधक है। जिस राजनीतिक स्वराज्य के लिए गांधी के नेतृत्व में काँग्रेस के झण्डे के नीचे देशवासियों ने आहुतियाँ दी थीं यह राजनैतिक स्वराज्य सामने आया तो गांधी ने काँग्रेस को कहा कि देखना तुम राज्य मत बन जाना, राष्ट्र ही बने रहना। काँग्रेस को उस लोभ से बचाया नहीं जा सका और देश को उस लालच से भोग भोगना पड़ा। धर्म के आधार पर विभाजन हुआ और दूसरे कि नीचे से राष्ट्र लुप्त हो गया। राज्य ही फलने-फूलने को रह गया। काँग्रेस एक पार्टी बन रही है और नौबत यहाँ तक आयी कि प्रधानमन्त्री नेहरू को उस पार्टी की अध्यक्षता भी हाथ में लेनी पड़ी। यह हालत भारत की नहीं दुनिया के सब देशों की है। राज्य से अलग राष्ट्र का स्वरूप कहीं किसी को प्राप्त नहीं है। दूसरे शब्दों में राजा से अलग कोई नेता बचा नहीं रहने दिया

गया है। राजा नेता हो नहीं सकता। राजा दबाता है, नेता मन को उठाता है। आज हालत यह है कि राष्ट्र राजनैतिक दलों के बीच बँटकर रह गया है। राष्ट्रवासियों के एक-दो प्रतिशत को लेकर इन सब राजनैतिक दलों का निर्माण हो जाता है और मानो वे ही राष्ट्र कहलाने को रह जाते है। सत्ता का अदल-बदल उन्हीं के बीच हुआ करता है और जनता का काम सिर्फ पाँच साल बाद उसको या उसको मत देने तक सीमित रह जाता है। उस उपचार के बाद राष्ट्र को बड़ी सुगमता के साथ लुप्त मान लिया जाता है और राज्य सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र बनता है कि राष्ट्र की गृह नीति और विदेश नीति का निर्माण करे। इन नीतियों का परिणाम विषमता उपजाने, बढ़ाने, फैसले के अतिरिक्त दूसरा कुछ इसलिए नहीं हो सकता कि राज्य दल का एक न्यस्त स्वार्थ बन आता है। नीतियाँ उस संकीर्ण हित और स्वार्थ से उत्तीर्ण हो नहीं सकतीं। अन्तरराष्ट्रीय व्यापार व्यवसाय अथवा कूटनीतिक व्यवहार इन स्थापित स्वार्थों से चलता है। परिणामत: मानव जाति को युद्ध के चक्र से मुक्ति नहीं मिलती। राष्ट्रों में प्रतिस्पर्धा अनिवार्य बनती है और उनके लिए उस भूमिका का आविष्कार उत्तरोत्तर कठिन होता जाता है। जहाँ दोनों ओर के स्वार्थ एक बड़े परमार्थ में मिल जाते हैं, परस्पर विपरीत और विमुख रह नहीं जाते।

पृथक स्वार्थ

राजनेता अपने-अपने देशों के पृथक स्वार्थ के प्रहरी और प्रवक्ता होने के कारण मानव नीति जैसे वस्तु को अपने बीच असम्भव और असंगत बनाये रखते हैं। नैतिक जैसी कोई वस्तु रह नहीं जाती और विश्व मानव का उद्‌गम भी असम्भव बनता है। एक राष्ट्र के नेता को दूसरा राष्ट्र यदि शत्रु मानता रहे तो सोचने की बात है कि सचमुच जननेता उत्पन्न कैसे हो सकता है?

क्या मैं आशा करूँ की राष्ट्र और राज्य के सम्बन्ध के प्रश्न की गहरायी में विचारशील जन उतरेंगे और नयी व्यवस्था के विकल्प की सम्भावनाओं को सामने लाएँगे।

☐

क्या राजनीति का नैतिकीकरण सम्भव है ?

एक खतरे की ओर प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गाँधी ने ध्यान दिलाया है। उन्होंने कहा है कि महाशक्तियों का शीतयुद्ध भारत के द्वार तक आ गया है। पाकिस्तान को शस्त्रास्त्र दिये जा रहे हैं और वहाँ अणुबम के निर्माण की प्रक्रिया जारी है। यह विश्व की स्थिति के लिए संकट माना जा सकता है।

दूसरे संकट की बात भी अखबार में है। वह यह कि सार्वजनिक जीवन में नैतिक मूल्यों का निरन्तर और भयंकर ह्रास होता जा रहा है। विशेषकर भारत में यह संकट और भी चिन्तनीय है। इस आधार पर 'नवीन भारत' नाम से एक नया अभियान चलाने की योजना है।

दोनों संकट आसपास के नहीं भी समझे जा सकते हैं। लेकिन मैं मानता हूँ कि दोनों के मूल एक हैं और वह मूल कारण यह है कि राज्य को ही राष्ट्रों का पर्यायवाची समझ लिया गया। राष्ट्रों के बीच तनाव होता है, युद्ध होता है तो उसका निर्णय और उसकी घोषणा उन राष्ट्रों की सरकारें करती हैं। युद्ध समझा जाता है राष्ट्रों का, पर चलाया जाता है, राज्यों के तन्त्रों द्वारा। क्या सीमान्तों के आसपास बसने वाले लोगों के हित भी उस आपसी युद्ध को चाहते हैं ? क्या सचमुच दुनिया के वासी यह चाह सकते हैं कि वे आपस में लड़ मरे ? फिर भी उनके नाम पर युद्ध होते हैं तो क्या इसीलिए नहीं कि जब राष्ट्रों के स्वार्थ परस्पर पूरक हैं तब राज्यों के स्थापित स्वार्थ परस्पर स्पर्धी बनकर आपस में ऐसे टकराते हैं कि इस रगड़-झगड़ में से युद्ध फूट उठते हैं।

राज्य उपकरण है राष्ट्र के हाथ में अपनी व्यवस्था का। उस तन्त्र पर कुछ मर्यादाएँ आती हैं। राज्य संक्षेप में राष्ट्राश्रित और राष्ट्राधीन होता है। राज्य इस मान्यता पर खड़ा है कि सत्ता जनता की है, वहाँ से निर्वाचन द्वारा यह तन्त्र को प्राप्त होती है। किन्तु जहाँ से वह सत्ता और शक्ति राज्य के तन्त्र को मिलती है या सौंपी जाती हैं। वहाँ तो निपट असहायता है। सर्वसहाय होकर राज्य ही सत्ताशाली बना दिखता है। राष्ट्र उसकी अधीनता से अलग होकर कहीं रह ही नहीं जाता है।

नैतिक मूल्यों का दृश्य

लोक जीवन के अनेक आयाम हैं। प्रकार-प्रकार की प्रवृत्तियाँ उसके लिए आवश्यक है। एक उनमें राजनीति भी है। उसके अतिरिक्त लोक जीवन के अनेक आयाम हैं। उसके अतिरिक्त शैक्षिक, सांस्कृतिक, नैतिक आदि-आदि अनेकानेक प्रवृत्तियाँ हैं। किन्तु राज्य जब राष्ट्र का रूप ले लेता है, तो राजनीतिक प्रवृत्ति सर्वोपरि बनती है और शेष सब कुछ उसके अधीन हो पड़ता है। शीतयुद्ध इसी मिथ्या में से बनता है और रक्त युद्ध की आशंका भी उसी के कारण मानव जाति पर आ छाई है। नैतिक आदि मूल्यों का ह्रास भी उसी कारण अनिवार्य होता है। राजनीतिक सत्ता प्राप्ति के लिए तो नैतिक आचरण सहायक होता नहीं। उसकी कला नीति-निरपेक्ष समझी जाती है। वह नितान्त व्यावहारिक है और नैतिकता वहाँ के लिए न केवल संगत नहीं है, प्रत्युत बाधक बन जाती है। अर्थात जिन दो भिन्न क्षेत्रों के दो संकटों का जिक्र प्रधान रूप से आज के समाचारों में है वे दोनों मूलत: इस मिथ्यावाद में से उदय पाते हैं कि राज्य ही राष्ट्र है। और मेरी दृढ़ मान्यता है कि जब तक राष्ट्र का स्वरूप राजनीति तक ही सीमित रहेगा, उसको मानवीय और सांस्कृतिक रूप नहीं प्राप्त होगा, तब तक उन दोनों संकटों से मानव जाति को त्राण नहीं मिल सकेगा।

क्या राजनीति का नैतिकीकरण हो सकता है? आध्यात्मिकीकरण हो सकता है? महात्मा गांधी का यही प्रयास था। लेकिन काँग्रेस के निकट राजनीति ही पूरी नीति बनी रही। इसमें काँग्रेस का भी दोष नहीं माना जा सकता है। कारण कहीं भी राजनीति को मानवीय स्वरूप प्राप्त नहीं है। अर्थात गाँधी निरे अपवाद सिद्ध हुए। गाँधी से पहले जैसे धर्म-नीति और राजनीति अलग थी वैसे ही बाद में वह सर्वथा अलग हो गयी।

राष्ट्र धर्मनीति पर चलकर ही स्वस्थ और समृद्ध हो सकता है। किन्तु राज्य को हर हालत में धर्म-निरपेक्ष ही रहना पड़ता है। यह कहकर कि धर्म अनेक है, राज्य अपने लिए उस मानव धर्म से भी निरपेक्ष ही रहने का हक बना लेता है, जो सर्वथा एक है और धर्मों की तथाकथित अनेकता के दायरे में समान भाव से व्याप्त है कि ऐसी राजनीति न अपने देश की जनता को एक कर सकती है, न मानव जाति में पड़े विभेद और वैमनस्य को कम कर सकती है। वह तोड़ती है, जोड़ती नहीं। उस आधार पर राष्ट्र एकात्मकता प्राप्त नहीं कर सकता। न दुनिया को युद्ध से निस्तार मिल सकता है।

राष्ट्र का उदय

इसलिए आज की जो बड़ी आवश्यकता है वह यह कि राष्ट्र का उदय हो जो

राज्य को सीमा में रखे और राजनीति को मर्यादाशील बनाए। लेकिन आधार में राष्ट्र-दृष्टि नहीं होगी तो राजनीति भेदो-प्रभेदों को उग्र और उत्कट बनाये बिना रहेगी नहीं और इस प्रकार भीतर और बाहर संघर्ष के नये-नये कारण उत्पन्न करती रहेगी।

गाँधी को राष्ट्र-पुरुष कहते हैं। राष्ट्र-पिता भी कहते हैं। किन्तु किसी भी बहाने उन्हें हम राजपुरुष नहीं कह सकते हैं। राज का अंग बनना उन्हें स्वीकार्य हो ही नहीं सकता था। राजपुरुष को महल चाहिए, गाँधी-झोपड़ी की तरफ बढ़ते गये। यहाँ तक की कोई कुटिया भी उनकी अपनी न हो सकी। बापू की कुटिया नाम से जो अब भी सेवाग्राम में मौजूद है, उस पर भी उनका स्वत्व न था। राजपुरुष के पास सत्ता होती है, उल्टे गाँधी एकदम अकिंचन थे। शायद इसीलिए उन्हें भारत का शीर्ष राष्ट्र-पुरुष कहना होता है। किसी सत्ता में राष्ट्र को मूर्त देखने का आग्रह हो तो गाँधी जैसे अकिंचन पुरुष को राष्ट्र-पुरुष कहने का कोई आधार नहीं रह जाता है। अर्थात राज्य की सत्ता में राष्ट्र को मूर्त देखने की धारणा जड़ मूल से ही गलत है। भारत की प्रकृति के अनुकूल वह है ही नहीं। इतिहास में अँग्रेज से पहले भारत राजनीतिक दृष्टि से कभी एक नहीं रहा। अनेकानेक राजा-महाराजा यहाँ एक साथ पलते-पुसते रहे और उनमें किसी के साथ भारत की एकता नत्थी न थी। भारत की राष्ट्र धारणा राज्य निरपेक्ष थी और इसीलिए सहस्रों वर्षों से वह अखण्ड बनी रही। राजनीतिक उथल-पुथल, उलट-पुलट उस धारणा का कुछ बिगाड़ नहीं सकी।

राज्यवाद के आधार पर खड़ी राष्ट्रवादिता उस पश्चिम से आयातित धारणा है जहाँ युद्धों की परम्परा रही है। वहीं से इस शताब्दी के दो विश्व युद्ध फूटे थे। वहीं की प्रतिस्पर्द्धा में से तीसरे विश्वयुद्ध की आशंका है।

आवश्यकता है इसलिए उस राष्ट्र के उदय की जो राज्य के अन्तर्गत न हो, प्रत्युत जिसका वृत्त उससे वृहत्तर हो। यह राष्ट्र मानवनीति के आधार पर खड़ा होगा। राजनीति भले कुछ मात्रा तक राज्य को चलाए, लेकिन उस कारण राष्ट्र-नीति नीति-निरपेक्ष अथवा कि धर्म-निरपेक्ष न हो पाएगी। गहरे अर्थों में वह पारमार्थिक होगी, क्योंकि वह नैतिक होगी। यह राष्ट्र अविरोधी होगा, अनाक्रमक होगा और किसी के लिए आशंका का कारण नहीं बनेगा। युद्ध को तो उसका सहारा कभी हो नहीं सकेगा।

युद्ध की विभीषिका

इस प्रकार राष्ट्र का अस्त और अभाव ही है जिसके कारण सारी दुनिया में सुरक्षा के नाम पर सारे राज्य शस्त्र-सन्नद्ध और युद्ध की विभीषिका से आक्रान्त बनाए

जा रहे हैं। राष्ट्र के उदय का अभाव ही फिर इसमें भी कारणीभूत है कि नैतिक मूल्य नष्ट और असंगत बने जा रहे हैं। त्याग की जगह मूल्य तृष्णा का बनता जा रहा है और वे ऋषि-मनीषी समाज के लिए व्यर्थ माने जा रहे हैं जो उसी के हित में स्वयं अकिंचन बन गये हैं और सार्थक एवं सम्मानित समाज के लिए अर्थपति हो उठा है। परिणाम इस स्थिति का यह है कि सब ओर स्वार्थपरता का बोलबाला है और परमार्थ धनिकों का शौक बनकर रह गया है। भारत राष्ट्र की धारणा के मूल में है, वे ऋषि-महर्षि जिन्होंने राज्य के और राजाओं के पार देखा था, उस पारमार्थिक दृष्टि को हटाकर पश्चिम से आर्थिक दृष्टि का यहाँ आयात हो आया है। उस आधार पर सत्ता का केन्द्र भी बदल गया है। आत्मसत्ता मिटी है, राजसत्ता छा गयी है। राष्ट्र का भाव अभिषिक्त था हृदयासन पर। वह पहुँच गया है अब सत्ता के सिंहासन पर। जागरण की आज आवश्यकता है ठीक इस बिन्दु पर। राष्ट्र को उदय में आना है। राज्य में उसे विलुप्त नहीं बने रहने देना है।

□

सब ओर टूटन और विघटन के संकेत

इस नयी आर्थिक सभ्यता के प्रवाह वेग में भारत ने जिस जीवन-विधि को स्वीकार किया है उसमें साधन का मूल्य साध्य के ऊपर आ गया है। पदार्थ की आवश्यकता मनुष्य के लिए होती है, लेकिन ऐसा प्रतीत होता है कि मनुष्य की सार्थकता ही अब पदार्थ और उसके अर्थ, अर्थ संग्रह में मानी जाने लगी है। व्यक्तिगत और पारिवारिक जीवन तक यदि यह मूल्य-विपर्यय सीमित रहता तब तक बात उतनी असहनीय न थी, लेकिन समूची जीवन-विधि ही उसमें रम गयी है। परिणाम यह हुआ कि शासन-तन्त्र सर्वोपरि हो गया है। जिसके लिए उसकी आवश्यकता थी, वह राष्ट्र स्वयं मानो उस तन्त्र के अधीन हो पड़ा है।

अवश्य शरीर के बिना मनुष्य नहीं है। लेकिन क्या शरीर ही मनुष्य है? यदि शरीर ही सब कुछ होता तो हुतात्मा शहीदों की याद क्यों की जाती? क्यों माना जाता कि वे ही इतिहास को प्रकाश और दिशा देते हैं?

अधिकांश समस्याएँ देश की जो इस समय संकट की स्थिति बना उठी हैं। मुख्यत: से इस मान्यता पर खड़ी हुई हैं कि सत्ता लक्ष्य है। उसी के आधार पर शेष सब निर्णय होगा।

खालिस्तान की आवाज

खालिस्तान की आवाज नई उठी है। उस पर अचरज नहीं होना चाहिए जिस आधार पर पाकिस्तान बना उसको क्या आज अमान्य किया जा सकता है? यदि नहीं तो खालिस्तान की ही बात नहीं, जहाँ-जहाँ, जिस-जिस आधार पर अपनी पृथक पहचान और अस्मिता की बात उठायी जा रही है, वहाँ ही उस रोग के बीच मिल जाएँगे। भारत राष्ट्र का संघटन जिस आधार पर हुआ था वह मूल्य दूसरा था। आज यदि सब ओर टूटन और विघटन के संकेत दिख रहे हैं तो इसका कारण है अपने को पृथक रूप में देखना और रखना, सफलता और सार्थकता का लक्षण माना जा रहा है। अपने को दे देना, मिटा देना नहीं है, बल्कि अपने को कुछ

बना लेना है। साधारण से स्वयं को विशिष्ठ कर लेना ही सबको अभीष्ट है। गाँधी एक नेता हुआ था जो अपने को कम से कम करता गया, यहाँ तक कि अन्त में अकिंचन हो गया। सत्य के निमित्त शरीर की भी आहुति दी और हमने माना कि देश को उन्होंने एकता दी थी।

और जब वह राह बन्द हो, उसे ढँक दिया गया हो। खोल दी गयी दूसरी राह जहाँ सबको अपने लिए सत्ता पाना है, या उसमें हिस्सा-बाँट करना है।

पश्चिमोत्तर में कश्मीर है, उससे लगा सीमान्त प्रदेश पंजाब है, उधर उत्तर पूर्वांचल में नागालैण्ड-असम इत्यादि है। सबमें नयी चेतना जगी है और अपनी अलग अस्मिता की-सी माँग पैदा हुई है। जातिवाद, सम्प्रदायवाद, भाषावाद आदि भी इसी व्याधि के लक्षण है। कठिनाई यह है कि उस व्याधि को ही नवजागरण समझा जाता है। यह राजनीतिक चेतना का जागरण है जिसने अपने बढ़े-चढ़े अधिकारों की माँग सब ओर पैदा कर दी है। जो चेतना सर्वथा असंगत बन गयी है, जिसे पिछड़ेपन का लक्षण तक मान लिया गया है, वह अपने कर्तव्य की चेतना है। अपने कर्तव्य का ध्यान रहा यदि आपको तो दौड़ में पिछड़ जाएँगे। यदि बढ़ना है तो एक ही मार्ग है कि गिरोह जुटाइए, और आन्दोलन भड़का दीजिए। ऐसी स्थिति में अस्थिरता आएगी, विधि व्यवस्था का सवाल होगा और सरकार को चेतना और कुछ करना होगा। आखिर सरकार ही तो करनेवाली है, और बस इसलिए सबके लिए करने का जो एक काम रह जाता है, वह यह कि खुद यदि वह सरकार में जगह नहीं पा सका है तो उस पर भरसक दबाव तो ला ही सकता है।

राजनीति का वर्चस्व

बहुत लोग हैं जो अपने-अपने काम में लगे हुए हैं। राजनीति में रहने-बसने वालों की संख्या आबादी का एक-डेढ़ प्रतिशत भी न होगी, लेकिन काम वाले ये सभी लोग अनुभव करते हैं कि सरकार का सहारा आवश्यक है। उसके लिए फिर उनका सहारा जरूरी है जो खुद काम नहीं करते हैं और इसलिए सिर्फ राजनीति ही किया करते हैं। आर्थिक दृष्टिकोण वैज्ञानिक होने की चेष्टा में हठात हिसाबी हो जाता है। तब उसे निर्वैयक्तिक और नीति निरपेक्ष होना पड़ता है। वहाँ भावना का प्रश्न नहीं उठता। अर्थात उस आधार पर मानव सम्बन्धों में परस्पर हित भावना की कोई उपादेयता नहीं रह जाती है। वे सम्बन्ध प्रयोजनात्मक हो चलते हैं। उन सम्बन्धों में घाटे में वह रहता है जो भावनाशील हैं, चतुर और चालाक उन सम्बन्धों का लाभ उठा ले जाता है।

ठीक यह है कि जो आज भी सब व्याधियों के मूल में है। इसमें से तमाम कर्म-नीति राजनीति बन जाती है। स्वार्थ साधन उसके लिए ध्रुव बनता है और

नतीजे में सब ओर असुरक्षा का भाव फैलता जाता है। पड़ोसी पर भरोसा नहीं हो सकता उससे खतरा ही माना जा सकता है। इस तरह समाज सम्बन्धों का तन्त्रजाल जीर्ण और जर्जर बनता है और ऊपर शासनतन्त्र उत्तरोत्तर बलशाली होता जाता है।

भारत में राष्ट्र कभी राज्य में सीमित नहीं रहा था। राजे-महाराजे अनेक रहे हैं पर वे राष्ट्र-पुरुष की महिमा नहीं पा सके। राज्य को ही राष्ट्र मान लेने वाली धारणा एवं कल्पना पश्चिम की ओर से आई है और यहाँ अपना ली गयी है। वहाँ ही दो विश्व युद्ध हुए और उसी सभ्यता में अग्रणी दो महाशक्तिशाली देशों की सैनिक और सामरिक प्रतिद्वन्द्विता है जिसमें तीसरे महायुद्ध की सम्भावना से समूचा विश्व गहरी चिन्ता और असुरक्षा अनुभव कर रहा है। समूची दुनिया ध्रुवीकरण की स्थिति में है और जाने कब कुछ नहीं हो जा सकता है।

क्यों है कि हिंसा से ही शक्ति जीतती है और उसी का भरोसा बन पाता है? दूसरी सम्भावना क्यों सर्वथा ओझल है? पाकिस्तान अपने पड़ोसी अफगानिस्तान के कारण हथियार पा रहा और बढ़ रहा है तो फिर उनके पड़ोसी हिन्दुस्तान को भी क्यों वैसा ही नहीं करते जाना चाहिए? इस तरह मालूम होता है कि सबके पास एक ही चिन्ता और एक ही उपाय है और वह है पड़ोसी से बढ़कर सामरिक सन्नद्धता बनाए रखना।

मानवजाति को इस चक्र से पार होना हो तो मुझे प्रतीत होता है कि पहला काम यह जान लेना होगा कि राज्य राष्ट्र नहीं है। राज्य राष्ट्र के लिए है, राष्ट्र की व्यवस्था के लिए है; किन्तु उसके मर्यादित अधिकार हैं। राष्ट्र की ओर से सर्वाधिकारी वह नहीं है। माना जाता है कि कांस्टि्यूशन (संविधान) की धाराओं में राष्ट्र के संकल्प का आलेख है। किन्तु उन धाराओं का अमलदारी अन्त में एक्जीक्यूटिव कही जाने वाली सरकार के हाथ में है। वर्तमान दलगत प्रणाली में कानून बनाने वाली पार्लियामेण्ट को भी सरकार के ही अधीन मानना चाहिए। इस प्रकार राष्ट्र संकल्प सरकार की मुट्ठी में बन्द हो जाता है।

युद्ध के बादल

इसी का परिणाम है कि संसार पर युद्ध के बादल छाये हैं और कहीं निस्तार नहीं दिखाई देता है। करोड़ों-करोड़ों लोग दुनिया में शान्ति चाहते हैं कि जिससे उनकी रचनात्मक शक्ति अपने पूरे उपयोग का लाभ मानव जाति को दे सके; किन्तु यह सारी सृजनशीलता युद्ध की आशंका के नीचे स्थगित बनी रह जाती है। मनुष्य को निरन्तर युद्ध की विभीषिका के तले साँस लेते-लेते जीना पड़ता है।

भारत की राष्ट्रीयता अँग्रेज के जाने से पहले कभी राज्य निर्भर नहीं रही।

इसलिए वह राष्ट्रीयता न आक्रामक हो पायी, न किसी ओर से संकीर्ण ही हो सकी। वह सर्वथा समावेशी रही। सब मत, सब धर्म, सब वाद उस राष्ट्रीयता में समाते, खपते चले गये। जो राष्ट्र बस राज्य में मूर्त होकर रह जाता है, वह असुरक्षा की भावना से आक्रान्त हुए बिना नहीं रह सकता। इसलिए आवश्यकता है उस राष्ट्र के उदय की, जो अविरोधी हो और जिसकी राजनीति और कूटनीति मानव नीति पर आधारित हो।

मेरी मान्यता है कि गाँधी उसी राष्ट्र के उदय का उदाहरण इस भारत को बनाना चाहते थे और उसी के निर्माण में उन्होंने अपनी जान की बाजी लगा दी। □

नैतिक बल का खिसकता सम्बल

देश ने भारी बहुमत से इन्दिराजी और उनके दल को केन्द्र में सत्ता पर भेजा था। आशा की जा सकती थी कि इस बल से लोक समर्थन का नीतिबल पाकर इन्दिरा सरकार के लिए फिर अपने दण्डबल के उपयोग का विशेष अवसर नहीं आएगा। लेकिन कानून और व्यवस्था सम्बन्धी वारदातें इतनी हुईं और हो रही हैं कि पुलिस के अलावा कभी फौज का भी इस्तेमाल जरूरी हो जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि सरकार की धाक घट रही है और नीचे से नैतिक बल का सम्बल खिसकता जा रहा है। यह स्थिति चिन्ताजनक है। मात्र दण्डबल के भरोसे कोई सरकार स्थिरता प्राप्त नहीं कर सकती।

प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गाँधी का आरोप कि असामाजिक तत्त्वों के पीछे विरोध पक्ष के लोग हैं। वे तरह-तरह से उभार कर इधर-उधर आन्दोलन खड़े कर दिया करते हैं। इससे प्रशासन पर बोझ आता है और स्थिति अस्थिर बनती है। इस अस्थिरता का लाभ उठाने के लिए फिर अपराधी तबका ऊपर आता और मनमानी कर निकलता है।

स्वीकार करना होगा कि भारत में लोकतन्त्र है। पर राजनीतिक पार्टियों में परस्पर सदाशय का सर्वथा अभाव है। लोकतन्त्र में कल्पना है कि सत्तापक्ष और विरोध-पक्ष राष्ट्रीय मुद्दों पर परस्पर पूरक होंगे और इस तरह एक रचनात्मकभाव राष्ट्र को उद्यत और जाग्रत रखेगा। लेकिन ऐसा नहीं है। रचनात्मकता का राजनीति के क्षेत्र में सर्वथा अभाव प्रतीत होता है। पार्टियाँ आमनें-सामने होकर एक-दूसरे को छकाने और हराने की ही भाषा में सोच सकती हैं। सत्ता पर पहुँच कर भी राजनीतिक पार्टी राजनीतिक और पार्टी ही बनी रह जाती हैं। उसकी मानसिकता राष्ट्र चिन्तन के स्तर तक नहीं उठ पाती है।

चुनावों के आँकड़े

लोकतन्त्र में विरोध के लिए अवकाश, लेकिन विरोधवाद के लिए नहीं। यदि

वातावरण में विरोधवाद भर रहता है तो फिर वह लोकतन्त्र, लोकतन्त्र के रूप में टिकने वाला है नहीं। यदि तन्त्र के पास दिखावे मात्र के लिए लोक-समर्थन रह जाता है। अर्थात केवल दलील के लिए चुनावों के आकड़े सामने पेश करने के लिए रह जाते हैं, तो वह स्थिति को सँभालने के लिए काफी न होगा। तब शासन-प्रशासन के पास कड़े से कड़े होते जाने के सिवाय अन्य उपाय न रहेगा। कारण, तब राज्यजन और सामान्यजन के बीच खाईं पड़ने लग जाएगी और प्रतीत होगा कि जैसे अब राज्य राष्ट्राश्रित नहीं है, बल्कि राष्ट्र को ही राज्याश्रित होकर जीना पड़ रहा है।

यदि ऊपर राज्य की ओर से, और नीचे जनता की ओर से, केवल आतंक और हिंसा का भरोसा रहने लग जाता है तो प्रतिनिधिक लोकतन्त्र का कोई भविष्य नहीं रह जाता। लोकतन्त्र शासन का वह सभ्य स्वरूप है जिसमें हम मान लेते हैं कि जनानुमति से सत्ता का निर्माण और संचालन होता है। तब यथावश्यक हिंसा के उपकरण अमुक मात्रा में उसी जनानुमति पूर्वक शासन तन्त्र को सौंपे जाते हैं और उस तन्त्र से बाहर किसी प्रकार की हिंसा का अवलम्बन अकल्पनीय और अवैध बनता है। वह स्थिति आज भारत में नहीं है। भारत गर्व अवश्य कर सकता है यह कि सत्ता का हस्तान्तरण यहाँ शुद्ध वैधानिक रूप से होता रहा है। हिंसा कहीं बीच में नहीं आयी। आसपास के देशों के उदाहरण सामने रखकर अवश्य भारत के लिए इस गर्व का अवसर है। लेकिन गाँधीजी के पास से प्राप्त हुई परम्पराएँ टूट रही हैं। निर्वाचन की प्रक्रिया अब पहले जैसी सीधी और स्वच्छ नहीं रह गयी है। राजनीति में पैसे के खेल का स्थान बहुत फैल गया है। रचनात्मकता का ध्यान मन से गायब हो गया है। राजनीतिक दल देश से अधिक अपने दल के प्रति वफादार है। देशवासी पाँच-छः वर्ष में एक बार अपना मत देकर फिर बस देखते रहने और भुगतने के लिए रह जाता है। यह नहीं कि सत्तारूढ़ करता कुछ नहीं है। नहीं करता बहुत कुछ है। लोक कल्याण की योजनाओं पर योजनाएँ बनती हैं। लेकिन परिणाम में देखा जाता है कि सब करने-धरने का उदिष्ट दलगत विचार के बाहर नहीं है। अर्थात देशहित को दलहित के अधीन रहना पड़ता है। इसमें असहमति विरोध का रूप लेती और विद्रोह समझी जा सकती है। तब ज्ञात होता है कि राजनीति निरा उठा-पटक का खेल है और देश के सब उद्यम-उद्योग का फल मानों इस उठापटक के खेल में काम भर आने के लिए ही रह जाता है।

ध्रुवीकरण

अन्तरराष्ट्रीय स्थिति में खासा ध्रुवीकरण हो आया है। उस दिशा में तनिक और प्रगति हो तो विस्फोट का क्षण दूर नहीं रहेगा। इजरायल छोटा-सा देश है और

आवश्यक मानता है कि आसपास अगर वह आणविक ऊर्जा का संयन्त्र लगने देता है तो फिर वह स्वयं सुरक्षित नहीं रह सकता। इसलिए उसने इराक के रिएक्टरों को नष्ट कर दिया और इरादा जाहिर कर दिया कि वह अड़ोस-पड़ोस में कहीं भी ऐसा निर्माण नहीं होने देगा। इस कार्यवाही को सबने धिक्कारा, लेकिन युनाइटेड नेशन्स की सिक्युरिटी कांउसिल में अमेरिका इस बात को उठने नहीं देगा और वीटो का इस्तेमाल करेगा। भारत के आसपास की हालत से भी साफ है कि महाशक्तियों का ध्रुवीकरण उत्कट है, और उसकी अपनी अन्दरूनी समस्याओं के बारे में भी नहीं कहा जा सकता है कि वे ध्रुवीकरण के प्रभाव से मुक्त हैं। निर्गुट आन्दोलन जब आन्दोलन ही नहीं है और भारत की गुटहीनता पूरे विश्वस्तभाव से स्वीकार नहीं की जाती है। पड़ोसियों को देखकर उसे अपने शस्त्र सम्भार को समतुल्य से तनिक भारी रखने का विचार करना पड़ता है।

राष्ट्रीय और अन्तरराष्ट्रीय इस तनाव की परिस्थिति में देश की पहली आवश्यकता मुझे यह मालूम होती है कि देश विरोधवाद के वातावरण से मुक्त हो। इन्दिराजी को देश ने विश्वास सौंपा तो वह भी देश को विश्वास दें। दल ही उनका नहीं है और सिर्फ दल पर भरोसा बांध कर वह न बैठ जाएँ। किन्चित जो सत्ता से निरपेक्ष अथवा असहमत से दीखते हैं वे उनके सहायक और पूरक हो सकते हैं। विरोध पक्ष के नेताओं को भी चाहिए कि वे वातावरण को रचनात्मक बनाने में योग दें। अभी तो सब ओर परस्पर संशय भरा है। एक-दूसरे से हम सुरक्षा खोजते हैं। इसमें राष्ट्र की नींव कमजोर होती है। राज्य को राष्ट्र के बल का सिंचन नहीं पहुँच पाता। दुर्दिन होगा वह जब राज्य को अपने तन्त्र का और सेना का ही भरोसा रह जाएगा और राजा-प्रजा के बीच अन्तर्विरोध दीख जाएगा।

यह परामर्श एक तटस्थ व्यक्ति की हैसियत से बड़ी आसानी से दिया जा सकता है। पर अमल में कठिनाइयाँ हैं। राजनीतिक अभिनिवेश मनों में गहरे उतर गये हैं। मतभेद मनों में गहरी फाँक डाल गया है। किन्तु फिर भी एक श्रीमती इन्दिरा गाँधी है जिनकी राष्ट्रीय छवि अभी तक अक्षुण्ण है। दल उनमें बन्द माना जा सकता है, वह दल में बन्द नहीं हैं। वह उठ सकती हैं और विशुद्ध और विशाल दृष्टि अपना सकती हैं। राज्य के बल के नीचे राष्ट्र के बल का आधार आवश्यक है। उनके और सामान्य जन के बीच यदि केवल दल के ही व्यक्तियों का माध्यम रह जाता है तो ऐसे उनकी राष्ट्रीय छवि मन्द और मलिन बनेगी। वैसा शनैः शनैः हो भी रहा है।

समृद्धि की होड़

मैं अत्यन्त आवश्यक मानता हूँ कि दुनिया में कोई राष्ट्र उदय में आये जो अन्तर-

कलह और युद्ध की ओर लपककर जाते हुए विश्व के लिए चेतावनी बने। जो हिंसापरक साधनों पर भरोसा रखने वाले मानस को तनिक ठिठक आने और सोचने पर विवश करे। गाँधी के स्वप्न का भारत देश वही होने वाला था। वह समृद्धि की होड़ में पड़ने वाला न था। न सत्ताओं के ध्रुवीकरण का मात्र अंग उसे बना रहना था। वह स्वतन्त्र भारत-राष्ट्र मानो प्रबल प्रश्नवाचक होता, ध्वंस की ओर बढ़ती जाती हुई राजनीति के समक्ष और मानवता के समक्ष। मेरा मानना है कि यदि इन्दिराजी दल के दायरे में नहीं, बल्कि तनिक बाहर होकर सोचें और चाहें तो भारत अब भी वह राष्ट्र हो सकता है। जिसे पराया और परावलम्बी न बनना पड़े, बल्कि जो आज के रुग्ण विश्व के लिए रुग्ण सभ्यता के लिए औषधि और उपचार का स्वरूप ले सकें।

□

राजनीति को आदेश लेना होगा धर्मनीति से

राजनीति का इतिहास सदा से युद्ध का इतिहास रहा है। वर्ग-युद्ध, दल-युद्ध, शीत-युद्ध, या रक्त-युद्ध। यह क्षेत्र शक्ति की प्रतिस्पर्धा का क्षेत्र है और काम सब शक्ति से होते हैं। शक्ति अधीन ऊर्जा या एनर्जी? ऊर्जा का स्वरूप ही है कि वह द्वन्द्व में से उत्पन्न होती है। यानी करने का क्षेत्र कुरुक्षेत्र अनिवार्यतः युद्धक्षेत्र है। किन्तु धर्म का क्षेत्र भी उससे दूसरा नहीं है। सबसे बड़ी समस्या यह है कि कुरुक्षेत्र के युद्धक्षेत्र में अर्जुन क्या करे? श्रीकृष्ण ने, जिनको भगवान माना गया है, अर्जुन को बोध दिया कि युद्ध को सामने पाकर उससे किनारा कर लेना सही नहीं है। अर्जुन इसी द्वन्द्व में पड़ गया था। भगवद्‌गीता से उसे बोध मिला कि युद्ध का ही वह क्षेत्र है जहाँ धर्मनीति की आवश्यकता और कसौटी है। अर्थात धर्म के बल से जीयो और उसी बल से लड़ो।

प्रश्न यहीं खड़ा होता है। युद्ध के लिए आवश्यक प्रतीत होते हैं द्वेश और आवेश। युद्धनीति अगर इस द्वेश-आवेश के बल पर चलायी जाती है, तो धर्मनीति नहीं रहती, वह अनीति और दुर्नीति बन जाती है। राजनीति के लिए कोई अवसर नहीं है कि वह अनीतिमूलक न बन जाए यदि उसके नीचे दलावेश और मनोवेश इत्यादि की शक्ति को स्वीकृत ठहरा दिया जाता है।

राजनीति को क्षत्रियोचित माना गया है। क्षत्रिय वह है कि जिसके लिए शक्ति ही मूल्य हो। किन्तु सनातन हिन्दू कल्पना यह भी कहती है कि शक्ति का उपयोग रक्षा में है, उसकी सार्थकता अन्यत्र नहीं है। अतः उस शक्ति के विनियोग के लिए परामर्श-नीति आवश्यक है। अर्थात इस पुरुष या वर्ग का निर्देश जिसका मूल्य नीति है, दूसरे शब्दों में राजनीति को आदेश लेना होगा धर्मनीति से।

मैं मानता हूँ कि राजनीति के समक्ष सदा यह चुनौती थी, है और रहेगी कि वह नैतिक अथवा धर्म नैतिक मूल्यों के व्यवहार तक कैसे उठे, चले और बँढ़े।

युद्धों का स्वरूप

मानव इतिहास स्वयं बताता है कि युद्धों का स्वरूप बदला है। एक तो यह कि युद्ध बड़े-बड़े होते गए हैं। बीसवीं सदी में आकर युद्धों ने विश्व-युद्ध का रूप ले लिया है। अब आगे यदि युद्ध होगा तो विश्व-युद्ध से भी बड़ा हो जाएगा। धरती के साथ वह आसमान में भी लड़ा जाएगा; बल्कि लक्षण दिखायी देते हैं कि वह आसमानी ही ज्यादा होगा। कब्जे का प्रश्न जगह धरती का होगा, लेकिन निर्णय उसका आसमानी ताकत के बल पर होगा।

लेकिन युद्ध के विकास क्रम में एक और भी बात देखी जा सकती है। भीम ने दु:शासन की छाती का रक्त पिया होगा, अब यह दृश्य सम्भव नहीं हो सकता है। युद्धों में होने वाली क्रूरता अब मानवीय नहीं रही वह वैज्ञानिक होते जाने के नाते अमानवीय हो गयी है। नेता अपने दफ्तर के कमरे में शास्त्र बाँचता रह सकता है और उसके संकेत पर लाखों-लाख आदमी रण में मारे जा सकते है। यह नेता मानवीय अर्थों में क्रूर भी नहीं कहा जा सकेगा। अर्थ वहाँ मानवीय तल पर रहता ही नहीं, वैज्ञानिक अर्थात अ-मोरल, मानवोत्तर स्तर तक उठ जाता है। यह नेता-पुरुष प्रतिभा-पुरुष होता है। उसके स्तवन में काव्य लिखे जाते हैं और इनका जीवन बालकों के सामने आदर्श के उदाहरण के रूप में बोध-पाठ के तौर पर प्रस्तुत किया जाता है।

राजनीति और धर्मनीति अपने-अपने अलग रास्तों पर चलकर प्रखर पुरुषों की सृष्टि कर आती है। एक ओर सिकन्दर और चंगेज खाँ जैसे और दूसरी ओर डायजिनिस जैसे सन्त और दधीचि जैसे ऋषि थे। ये दो प्रकार के उदाहरण जीवन और जगत में दुविधा उत्पन्न करते हैं। पर मालुम होता है कि कर्म अलग होगा धर्म से और धर्म अलग होगा कर्म से। इन दोनों की सम्पन्नता में एक-दूसरे का हवाला नहीं दिया जा सकेगा। धर्म के लिए कर्म-मुक्ति तक पहुँचना होगा और कर्मीजन को सर्वथा धर्म-निरपेक्ष रहना होगा।

ईरानी क्रान्ति

यह सब कुछ मुझे सूझ रहा है इसलिए कि अखबार में इधर एक लम्बे अर्से से ईरान के बारे में खबर पढ़ने-सुनने को मिल रही है। वहाँ कहा जाता है कि एक धार्मिक क्रान्ति सम्पन्न हुई। शाह भागे और खुमैनी शीर्ष पर विराजे। तब से लगता है कि क्रान्ति प्रति-क्रान्ति का सिलसिला जारी ही है। नित्य फाँसियाँ हो रही है और जो धर्मगुरु खुमैनी की धर्मक्रान्ति में दायें हाथ जैसे थे, उन बनी सदर को छिपकर भागना पड़ा है और उनकी जान के लाले पड़े हैं।

अखबार में पढ़ा है कि असम की बातचीत दोनों पक्षों के बीच जुड़ गयी है। लगता है सुलह की बात की जगह अब खुले मैदान में संघर्ष की बात चलेगी। आन्दोलनकारी आन्दोलन करेंगे और सरकारी कर्मचारी विवश होकर उसको तोड़ने-कुचलने में लगेंगे। यह होगा दोनों ओर से कर्तव्य भावना के नाम से।

ईरान में कल क्या होगा? या असम में कल क्या होगा? कहा नहीं जा सकता। ईरान और असम में कोई समता नहीं है। दोनों को एक कोष्टक में याद करना भूल भरा माना जाएगा। यह भी कि ईरान में बम-गोलों का विस्फोट है और असम का आन्दोलन नेतृत्व की ओर से अहिंसक बताया जा रहा है। लेकिन राजनीति और धर्मनीति की परस्परापेक्षिता की बात मुझे ईरान और असम इन दोनों के ही वास्ते से सूझती है और हर तरह संगत मालुम देती है।

शासन की अपेक्षा

समाज को शासन की अपेक्षा रही है, और रहेगी। शासन होगा तो आवश्यक है कि शासक और शासित का भी भेद रहेगा। अर्थात ऊपर होकर प्रशासक नीचेवाले को अनुशासन में रखेगा। यह संघर्ष चलता रहेगा। इसका निपटारा आसानी से होनेवाला नहीं है।

किन्तु विकास का क्रम तो रुकता नहीं है। शासन तन्त्र के विकास क्रम में इन शताब्दी में हम गणतन्त्र, लोकतन्त्र की धारणा तक आ पहुँचे हैं। आशय इस विकास की दिशा का है कि शासित की अनुमति से शासक निर्वाचित हो और इस प्रकार इन दोनों स्तरों का भेद मिट जाए। आशय तो यह है और आदर्श भी है, लेकिन स्थिति में और व्यवहार में यह हो पाता नहीं है। निर्वाचन के आँकड़े प्रतिनिधि को शासकीय मनोवृत्ति से भला कैसे बचा सकते हैं? अर्थात सिद्धान्त के रूप में मोनारकी से 'डेमोक्रेसी' तक शासन-तन्त्र का विचार और व्यवहार आ भी गया, पर वह अपने में काफी नहीं है। शक्ति के बल से नहीं, नैतिक बल के बूते काम चले तब तो अभीष्ट सिद्ध हुआ माना जा सकता है। किन्तु बल यदि लाठी का है और लाठी के अधीन मुद्रा का है, तो केवल तन्त्र के हेरफेर से विशेष अन्तर आया नहीं माना जा सकता।

मैं मानता हूँ कि अवश्य वह पल है जिसका स्वरूप नैतिक है। उसी के उत्तरोत्तर उदय, विकास और व्यवहार की ओर हम बढ़ते जा रहे हैं। शासन की परीक्षा इसमें है कि किस बल पर यह खड़ा है और चल रहा है। गाँधी ने चलते-चलते कहा था कि शासन का सम्बल (सेक्शन्स) सैनिक नहीं, नागरिक होगा। पुलिस और सेना के बल का जिसे प्रमुख आधार हो और तुलना में जनाश्रय का आधार क्षीण हो तो निश्चय रखना चाहिए कि राजनीति क्रमशः हिंस्र उपायों की

ओर हठात बढ़ती ही जाएगी। भारत में वह नहीं हुआ जो आसपास घटित होता रहा है और ईरान में उत्कट रूप में घटित होता दिख रहा है। श्रेय भारतीय परम्परा का माना जा सकता है।

तो भी प्रश्न होता है कि क्या राजनीति हो सकती है कभी जो धर्मनीति के मूल्य पर चल सकती हो? हाँ, हो सकती है। इसका उदाहरण इस वर्तमान युग में महात्मा गाँधी ने दिखाकर सिद्ध कर दिया। शासक की स्थिति पर स्वराज से पहले कहा जा सकता है कि नेहरू और पटेल थे। स्वराज्य नहीं पर एक तरह से काँग्रेस राज्य तो था। काँग्रेस का संगठन इन लोगों के हाथ था, लेकिन इन्हें अधीन रहना पड़ता था गाँधी के जिनके पास ऊपरी शक्ति के कोई उपादान न थे। शक्ति उनकी नैतिक थी। यह दूसरी बात है कि खण्डित भारत का स्वराज्य इन लोगों ने गाँधी के पीठ पीछे स्वीकार कर लिया था। लेकिन तब भी सत्य यह है कि गांधी के आशीर्वाद के नीचे ही थे; विभाजित भारत के सत्ताधिकारी बने और बने रह सके। अर्थात राज्यबल अपने आप में अधूरा है, जब तक जनबल का सहारा न हो। राज्य के नीचे राष्ट्र का आधार चाहिए। राष्ट्र को यदि आत्म-श्रद्धा प्राप्त नहीं है, और उसको राजतन्त्र के भरोसे और उसके आश्रित होकर जीना पड़ता है, तो राजनीति अस्थिर बनी रहेगी और जाने-अनजाने उसे अधिकाधिक दमन और हिंसा का सहारा लेने की ओर उतरना या चढ़ना पड़ेगा। भारत के सम्बन्ध में अभी तक कहा जा सकता है कि वह गाँधी का देश है। लेकिन आगे कब तक ऐसा रहेगा, इस सम्बन्ध में कुछ कहना कठिन है।

□

ध्रुवीकरण में महाविभीषिका के अंकुर

हम पहले कह चुके हैं कि मानव इतिहास युद्धों का इतिहास है और यदि वे पहले पक्ष-विपक्ष के दल-नेताओं के युद्ध थे तो अब इस बीसवीं शताब्दी में आकर उन्होंने विश्वयुद्ध का रूप ले लिया है। दो युद्ध इस सदी ने देखे हैं और अब इस शताब्दी के अन्तिम और चौथे भाग में जिस युद्ध की आशंका दुनिया के भाग्य पर छायी है, वह लाक्षणिक नहीं, पर पूरे और समूचे अर्थ में विश्व युद्ध होगा; बल्कि इससे भी कुछ अधिक ही होगा, क्योंकि सम्भवत: वह धरती पर से ज्यादा आकाश में लड़ा जाएगा। आदमी अब इस धरती के भरोसे ही नहीं रह रहा है, वह आकाश में बस जाने की योजनाएँ बना रहा है।

अर्थात युद्ध का प्रश्न अब सीमित प्रश्न नहीं है। राजनीति के और राजनेताओं के भरोसे उसे छोड़ा नहीं जा सकता। अब किसी के लिए सम्भव नहीं है कि वह इस प्रश्न में निरपेक्ष रह सके। कारण, अब युद्ध हुआ तो उसमें पक्ष-विपक्ष का प्रश्न न रहेगा। जय-पराजय किसी की न हो सकेगी बल्कि सब सर्वस्व स्वाहा होगा। मानव जाति के लिए कोई भविष्य शेष नहीं रह जाएगा।

इसलिए युद्ध की घोषणा और निर्णय यदि कुछ राष्ट्र-राज्यों के अधिनायकों के हाथों में रह जाता है, मात्र शस्त्र सैन्य और आपसी बलाबल की भाषा में उस पर विचार किया जाना पर्याप्त मान लिया जाता है। उस प्रश्न को आपसी प्रतिस्पर्द्धा की भूमि पर ही तोला जाता है। समूची मानवता के भाग्य का सन्दर्भ उसे प्राप्त नहीं होता है, तो फिर अनिष्ट की सम्भावनाएँ ही मानव जाति के लिए शेष रह जाती है।

हम विकास क्रम में आज इस सभ्यता के इस बिन्दु पर आ पहुँचे हैं कि दुनिया छोटी पड़ गई है। यानि हम अब उस दुनिया को अन्यान्य ग्रहों की परस्परता के सम्बन्ध में देख सकते हैं। कुल दुनिया हमारे व्यवहार के लिए कुल एक इकाई है। संचार और यातायात के साधन इतने द्रुतगामी हो गये हैं कि कोई हमारे लिए दूर और दूसरा नहीं रह जाता है। व्यापार-व्यवसाय के द्वारा सारी मानव जाति में एक आपसीपन पैदा हो गया है। यहाँ बैठे दूर से दूर के कोने तक के आदमी

से आप बात कर सकते हैं और कुशल मंगल पूछ सकते हैं। यह सब अपूर्व उन्नति के लक्षण हैं और यह उपलब्धि हमें विज्ञान द्वारा प्राप्त हुई है। हम अनुभव करते हैं कि अब हम घिरे नहीं हैं, खुले हैं। प्रकृति के वश में नहीं हैं उसके प्रभु हैं। हमने आकाश को वश में किया है और समय को अपने अधीन बनाया है। क्या-क्या चमत्कारी आविष्कार विज्ञान ने सभ्यता के पक्ष में नहीं कर दिखाये हैं। दुनिया के किसी देश की राजधानी में जाइए और वहाँ के वैभव देखकर चकित हो जाइएगा।

विज्ञान की उपलब्धियाँ

विज्ञान की इन उपलब्धियों की सीमा नहीं है, उनका पार नहीं है। उसने गहरे उतरकर पा लिया है कि परम अणु में भी अमित शक्ति सोयी पड़ी है। उस शक्ति के उदय का मन्त्र उसने अधिकृत कर लिया है। किन्तु महाशक्ति के शान्त और रचनात्मक उपयोग का सूत्र हमारे हाथ आये उससे पहले उसका विस्फोटक और महाविध्वंसक उपयोग हमारे आकर्षण का कारण बन गया है। अणुबम बने हैं और वे बनते ही जा रहे हैं। उनके आकार-प्रकार में निरन्तर विकास हो रहा है। सब अनुभव करते हैं कि उनका विस्फोट अत्यन्त विनाशकारी ही होगा, फिर भी उनका निर्माण जारी है। अब तक उनका इतना ढेर कुछ बड़ी शक्तियों के पास जमा हो गया है कि उनसे पचासों बार समूची मानव जाति को सर्वथा भस्म किया जा सकता है।

प्रश्न है कि सभ्यता के इस उत्कर्ष के साथ इन विनाशकारी सम्भावनाओं का भी विकास क्यों अनिवार्य बनता चला गया है? क्या विवशताएँ विज्ञान के अनुसरण में मनुष्य ने अपने सामाजिक और सामुदायिक जीवन में ऐसी रच ली है कि लगता है कि हम प्रलय के किनारे तक आ गये हैं। हाँ, अवश्य रचना स्वर्ग की हुई है और हमने वो ही रचना करनी भी चाही थी, लेकिन देखते हैं कि साथ-साथ जाने-अनजाने रचना घोर नरक की भी हमारे आसपास होती चली गई। ऐसा क्यों हुआ, इसकी गहरी गवेषणा में जाने की आवश्यकता है।

आस्था और कुंठा

लगभग दो शताब्दी पहले अनुभव किया गया कि धर्म-संस्था से मानव जीवन और मानव-भाग्य कुण्ठित हो रहा है। दास्य भाव आ रहा है और धर्म ने यह प्रतीति मान्य कर ली कि इस मनोभाव से नहीं चलेगा और उसे कुछ तथ्यान्वेषी स्वाधीन चेता पुरुषों ने गतानुगतिक श्रद्धा को चुनौती देने का साहस किया। पृथ्वी सूरज के चारों ओर घूमती दीखती है, गैलीलियों ने कहा कि सूरज स्थिर है, घूमती पृथ्वी है। धर्म को यह बर्दाश्त नहीं हुआ और वहाँ से तथ्य और विश्वास में टकराव शुरू

हो गया। इस प्रकार जीवन समानान्तर दो धाराओं में बँट गया। धर्म-परम्परा नष्ट नहीं हो सकती थी और नष्ट नहीं हुई। लेकिन वैज्ञानिक मानस भी जगा तो वह रूक या दब नहीं सकता है। इन दो धाराओं में केवल द्वैत ही नहीं रहा, बढ़ते-बढ़ते उनकी समानान्तरता वैर-विरोध के भाव तक जा पहुँचीं।

किन्तु मनुष्य में तो खण्ड नहीं हैं वह एक है। उसमें बुद्धि है अवश्य। उसके कारण ही वह मनुष्य है, किन्तु अपने को सहने के लिए उसे श्रद्धा की भी आवश्यकता होती है। स्वयं को केन्द्र मानकर सही और स्वस्थ भाव से जिया नहीं जा सकता। कहीं झुकने की सुविधा के लिए किसी परम की भी आवश्यकता रहती है। और यह झुकना उसे कृतार्थता की अनुभूति देता है। मनुष्य को स्वयं और परम इन दोनों आयामों को निभाते हुए चलना पड़ता है। इस निर्वाह में जोर पड़ता है, तनाव भी अनुभव होता है, लेकिन दोनों में दरार पड़ जाए, उनमें तोड़ आये, तो जीवन सारा ही टूटने लगता है। मनुष्य की अखण्डता भंग और विभक्त हो जाती है।

मनुष्य के साथ विज्ञान के प्रारम्भ से यही कुछ होने लगा है। विज्ञान ने धर्म को और अध्यात्म ने विज्ञान को अपने-अपने मार्ग में बाधा रूप अनुभव किया है। वैज्ञानिक वृत्ति मानव जीवन के विश्लेषण में उतरी और विवेचना में पड़ी तो मालूम हुआ कि परस्पर सम्बन्धों का निर्वहन करनेवाला तत्त्व है, अर्थ। अर्थात आर्थिक विचार विज्ञान के प्रवेश से क्रमशः नैतिक से ऊपर आता गया। आर्थिक अनिवार्यता स्वत: सार्थक हो रहता है। एक पारमार्थिक विचार भी है, किन्तु वहाँ तो स्व का सन्दर्भ ही लुप्त हो जाता है। लेकिन नितान्त आर्थिक विचार उस परमता को उपलब्ध इसलिए नहीं हो सकता कि मूल में ही वह बौद्धिक है और बुद्धि स्व-परता के बीच ही काम कर पाती है। यह हो सकता है कि स्व की धारणा कितनी भी फैलती और फूलती जाए, लेकिन अर्थ विचार में से स्व का केन्द्र अमान्य नहीं बन सकता। और यही हुआ है। स्व का भाव उत्तरोत्तर स्फीत होता गया है। विज्ञान ने इस स्फीति की प्रक्रिया में बहुत योग दिया है। अब हम राष्ट्र जैसी विस्तृत और विशाल इकाई तक आ पहुँचे हैं। इससे आगे भी कॉमनवेल्थ, योरोपियन कम्युनिटी, वारसा पैक्ट, सीटो, नेटो आदि पेक्टों तक बढ़ आये हैं। लेकिन इस प्रगति के मूल में हम देखेंगे कि परस्पर स्पर्द्धा और प्रतियोगिता का भाव बराबर कायम रहता चला गया है। ठीक है कि इस सदी के पहले महायुद्ध के बाद 'लीग ऑफ नेशन्स' का निर्माण हुआ और दूसरे के बाद आज हमारे पास 'यूनाइटेड नेशंस' जैसी संस्था है। लेकिन उसकी स्थिति प्रतिस्पर्द्धा और प्रतियोगिता मूलक है। हम देखते हैं कि वह राष्ट्रसंघ राष्ट्रों के बीच की किसी भी बड़ी अनबन को सुलझाने में सर्वथा असमर्थ बना रहता है। सब राष्ट्र अपने-अपने में सॉवरेन (Sovereign) हैं, सर्वथा प्रभुता सम्पन्न हैं। अपनी-अपनी अस्मिता के अभिमानी हैं। अपने-अपने हित की रक्षा और उन हितों का विस्तार

करते रहना ही उन राष्ट्र-राज्यों के अधिनायकों का एकमात्र कर्त्तव्य और दायित्व है। स्पष्ट है कि मनुष्य जाति के जनमानस के लिए आर्थिक भाषा ही सारे सोच-विचार के लिए रह जाती है, व्यवस्था की सफलता उसी सन्दर्भ में आंकी जाती है, उसी के प्रति राजनयिक और राजनेता अपने को प्रतिबद्ध मानते हैं तो परिणाम में यही हो सकता है कि जो आज है। अर्थात शक्तियों का उत्तरोत्तर और आत्यन्तिक ध्रुवीकरण (Polarisation) पोलराइजेशन का दृश्य हमारे सामने है और वहीं प्रलयंकर महायुद्ध की विभीषिका के अंकुर पनपते हुए पाये जा सकते हैं। शक्ति-प्रतिशक्ति को जन्म देगी ही और यदि परस्पर शक्ति-परीक्षण की नीति ही मानव जाति के हाथों में रह जाती है तो इस विभीषिका से त्राण का कोई उपाय नहीं रह जाता है।

□

स्वस्थ राष्ट्रीयता ही युद्ध का समाधान

अणु शक्ति के आविष्कार के साथ युद्ध को असम्भव बन जाना चाहिए था। यथार्थ में तो असम्भव वह है ही, फिर भी अन्तरराष्ट्रीय राजनीति में उसकी उपयोगिता मानी जा रही है। उसकी तैयारियाँ हो रही हैं और सम्भावनाएँ उपजायी जा रही हैं। माना जाता और समझाया जाता है कि अणु-शस्त्रों का दोनों ओर सन्तुलन ही है जो प्रगट युद्ध को रोके हुए है। फिर शीत युद्ध उसके प्रगट विस्फोट की प्रतीक्षा के अतिरिक्त है क्या?

युद्ध की बात को अपने राष्ट्र की तात्कालिक समस्याओं से पहले बार-बार उठाने की आवश्यकता मुझे इसलिए प्रतीत होती है कि इसी पर्यावरण में प्रत्येक राष्ट्र अपनी अवस्थाएँ और योजनाएँ चलाने को बाध्य है। स्वयं भारत उस प्रवृत्ति से मुक्त नहीं है। पाकिस्तान की शस्त्रनीति से वह, अप्रभावित नहीं रह सकता। यही और सब देशों का भी हाल है।

जिस विज्ञान पर हम भरोसा बाँधते चले आये हैं, उसका वश अणुशक्ति के आविष्कार तक तो रहा, आगे वह सर्वथा असमर्थ सिद्ध हो रहा है। वैज्ञानिक नहीं चाहता है कि इस नयी शक्ति से बमों का निर्माण किया जाए। लेकिन उसके किए कुछ नहीं हो सकता। राजनेता के आदेश के अधीन उसे उसी निर्माण में लगना पड़ता है।

विज्ञान को दिल की जरूरत

विज्ञान की इस अधीनता और परवशता का कारण यही कि वह अपने में अधूरा है। उसके पास दिमाग है, दिल की उसे जरूरत नहीं है। जिन्दगी दोनों के योग से बनती है और सिर्फ दिमाग मनुष्य को अपनी धरती से तोड़ दे सकता है। विज्ञान गुणात्मक को नहीं पकड़ पाता। या कहें कि गणना के द्वारा वह गुण को पकड़ने की चेष्टा में रहता है। नतीजा कि गुणात्मक से गणनात्मक प्रधान बन रहता है। यही कारण है कि विज्ञान पर दारोमदार रखकर तमाम चिन्तन आर्थिक और

औद्योगिक बन गया है। नैतिक और चारित्रिक मूल्य उत्तरोत्तर असंगत बनते जा रहे हैं।

परस्पर सम्बन्धों के नियमन में अगर यही दृष्टि प्रधान रही, शक्ति-सामर्थ्य ही अगर निर्णायक तत्व बन गया जैसा कि अब तक रहता चला आया है, तो युद्ध को परम्परा से बचने की कोई राह ही नहीं रह जाती है। अब तक उस शक्ति-पथ के लिए जिये जाने और चलते जाने का अवकाश था। क्योंकि युद्ध से आखिर तात्कालिक ही सही, फैसला हो तो जाता था। एक पक्ष हार जाता और जीतनेवाला उसे अपने अधीन बना लेता था। चलो, बात आगे चलती थी। सारी प्रगति में इसी द्वन्द्वात्मकता को देखा जा सकता है। इतिहास की और गतिशील समाज-व्यवस्था की वैज्ञानिक गवेषणा करने वाले महान चिन्तक कार्ल मार्क्स का अन्त में निष्कर्ष रूप से सूत्र देना—द्वन्द्वात्मक-भौतिकवाद का। मार्क्स के अनुसंधान के लिए वैज्ञानिक ईमानदारी की रक्षा में ही आवश्यक हुआ कि किसी परमेश्वर, परमब्रह्म, गॉड, अल्लाह जैसी धारणा को जड़मूल से ही समाप्त कर दिया जाए। कारण, उस 'परम' की आस्था के सहारे द्वन्द्व की जगह ऐक्य को साध्य और साधन दोनों रूप में स्वीकार कर लिया जाता है। द्वन्द्वात्मकवाद के लिए इससे बड़ा खतरा और क्या हो सकता है? किन्तु निरे मार्क्सिज्म पर द्वन्द्व का यह वाद स्थगित नहीं है। सारी राजनीति ही स्वहित और वर्गहित में विरोध मानकर चलती और चलायी जाती है।

'स्व' और 'पर' का स्वस्थ योग

मैं मानता हूँ कि ठीक यह है कि जहाँ समस्या का हार्द है, उसकी जड़ है। समस्या राष्ट्र के अन्तर्गत नाना रूप, आपसी विग्रहों की हो या चाहे बाहर हित-राष्ट्रीय अथवा अन्तरराष्ट्रीय तनावों और संघर्षों की हो। बात अन्त में 'स्व' और 'पर' के सम्बन्धों के स्वस्थ योग-विनियोग की है। प्रत्येक राष्ट्र-राज्य अपने को सम्पन्न, समर्थ और वैभवशाली बनाना चाहता है। उसका लक्ष्य है कि आयात पर उसका निर्यात बढ़ा-चढ़ा रहे। इस स्पर्द्धा में हर राष्ट्र और अधिक औद्योगिकीकरण बढ़ाना चाह रहा है। इस होड़ में कुछ राष्ट्र विकसित बन गये हैं, तो कुछ विकासशील हैं और कुछ अविकसित ही पड़े रह गये हैं। इस विषमता के भयावह परिणामों की सूझबूझ सबको है और 'नार्थ-साऊथ समिट मीटिंग' होती है, वर्ल्ड बैंक और मोनेटरी फण्ड की बात चलती है। लेकिन स्वहित के लिए परहित के शोषण का मानस इन सबके नीचे से नष्ट नहीं हो पाता है। नतीजा कि परस्पर संशय और तनाव बढ़ता है। सम्बन्धों के सुधार की और स्वार्थी में सन्धिवार्ता की सारी बातें अन्त में बड़ी शक्तियों के ध्रुवीकरण को कुछ बढ़ावा ही दे जाती

है। सबको अपनी-अपनी रक्षा की चिन्ता सताती है और विकास में पिछड़े माने जाने वाले राष्ट्रों को सुरक्षा के नाते आयात करना पड़ता है शस्त्रों का, विकासाभिमानी राष्ट्रों से। इससे विकसित राष्ट्र इस निर्यात से और भी शक्तिशाली और मालामाल बनते हैं। साफ है कि इस प्रक्रिया से युद्ध पास आता और मानो अवश्यंभावी बनता जाता है।

आज का युग धर्म है, राष्ट्रवाद। एक विचार उपजा था सोशलिज्म का। कल्पना थी कि उससे नेशनलिज्म की सीमाओं और बुराइयों से बचा जा सकेगा। लेकिन सोशलिस्ट राष्ट्रों में नेशनलिज्म की भावना तनिक भी मन्द नहीं है। हाल के पोलैण्ड के समाचार इसके उदाहरण है। अब तक जो राष्ट्रवाद हमें प्राप्त रहा उसमें साम्राज्यवाद और विस्तारवाद के बीज निहित रहे हैं। अतः अपेक्षा है कि कोई समावेशी और अविरोध राष्ट्रवाद सम्भव बने। क्या यह हो सकता है? मैं मानता हूँ कि युद्ध की समस्या का निदान और समाधान उसी स्वस्थ राष्ट्रीयता के उदय में पाया जा सकेगा कि जो किसी के लिए भी भय और आतंक का कारण न बने, प्रत्युत जिससे सबको स्वस्ति और आश्वस्ति प्राप्त हो।

मानव एकता का आधार

मैं मानता हूँ कि मानव इतिहास के इस चरण में एक आदमी हुआ जिसने विज्ञान और अध्यात्म की अभिन्नता को साधा अपने जीवन में, जो महात्मा कहलाया, किन्तु जीवनपर्यन्त जो राजनीति के घमासान में ही दीखा। जिसने अपने धर्म भाई के हाथों गोली खाकर मृत्यु पायी और जिसने इसे अपने राम का आशीर्वाद माना। वह आदमी था जिसने अपने व्यक्तित्व और कृतित्व द्वारा युद्ध का विकल्प प्रस्तुत किया। वह है जिसने बुनियादें दीं उस अविरोधी राष्ट्रवाद की जो समूची मानव जाति की एकता का आधार बन सकता है। उसका सपना भारत के सम्बन्ध में यह नहीं था कि वह सम्पतिशाली के मुकाबले में बढ़कर सम्पत्तिशाली और शक्ति के मुकाबले में शक्तिशाली बने, बल्कि वह स्वप्न था कि स्वतन्त्र भारत विश्व के और मानव जाति के हित में अपना बलिदान देने की योग्यता और सामर्थ्य का अर्जन करे। गांधी में देखा जा सकता है युद्ध की परम्परा की समाप्ति का उपाय। वह पुरुष द्वन्द्वात्मक जगत की समस्याओं के साथ परम ऐक्य की निष्ठा के बल से जूझा और इस तरह युद्धोद्यत जगत के लिए अनायास नये मार्ग का सन्देश और प्रकाश दे गया।

□

आवश्यकता मूल्यों के परिवर्तन की है

मीनाक्षीपुरम के प्रारम्भ से हरिजनों के व्यापक धर्मपरिवर्तन की, और उस तरह की कोशिशों की खबरें बराबर आती ही जा रही हैं। स्पष्ट है कि इसके पीछे योजना है और पैसे का बल है। यह पैसा बड़ी मात्रा में विदेशों से आया माना जाता है और इस मान्यता का निश्चित प्रतिवाद अब तक नहीं हुआ है। और स्वयं गृहमन्त्री ने अपनी यह आशंका प्रकट की है।

धर्म परिवर्तन समझ में आ भी सकता है, यदि वह व्यक्तिगत हो। यद्यपि आज के जमाने में इसका भी अवकाश है नहीं। सब लोग जानते जा रहे हैं कि सभी धर्म मूल आशय में एक हैं, समान हैं। फिर उनकी भाषा में ऊपरी मत-मान्यताओं आदि उपकरणों में थोड़ा बहुत अन्तर भले हो। हर धर्म व्यक्ति के आत्मविश्वास में अन्त तक सहायता ही करता है, कहीं रुकावट नहीं डालता। असल में धर्म के नाम पर हुआ परिवर्तन धार्मिक होता ही नहीं, साम्प्रदायिक होता है। साम्प्रदायिकता का सम्बन्ध आगे फिर वह राजनीति से हो आता है। इस प्रकार धर्म-परिवर्तन का प्रश्न, सामुदायिक धर्मान्तरण की बात तो दूर रही, अपने में ही, आज के जमाने में, अनायास राजनीतिक प्रश्न बन आता है।

राष्ट्रीय के प्रति षड्यन्त्र

मुझे अचरज है कि भारत की एकता और राष्ट्रीयता के प्रति होनेवाला यह गहरा षड्यन्त्र कानून की आँखों से कैसे और क्यों बचा रहे जा रहा है? इन चेष्टाओं से उस एकता और राष्ट्रीयता को जड़ से काटा जाता है, यह देखने में कठिनाई नहीं होनी चाहिए। हम भारत को भावात्मक एकता देने की बात एक अर्से से जोर-शोर से दोहराते आ रहे हैं। सरकार का इस पर बहुत आग्रह और बल है और उसके लिए बेहद धनराशि भी व्यय की जा रही है। उन प्रयासों की बुनियाद को ही खोद डालनेवाला सामूहिक धर्म-परिवर्तन का यह योजनाबद्ध आयोजन कैसे बर्दाश्त किया जा रहा है, समझ में नहीं आता। समझ यह भी नहीं आता

कि स्वयं मुस्लिम भाइयों की ओर से इसके विरोध में क्यों कोई मजबूत आवाज नहीं उठ रही है। कारण ऐसी घटनाओं से इस्लाम का गौरव नहीं बढ़ता है। दबाव, लालच, फुसलाहट के आधार पर हुआ परिवर्तन क्या धर्म का हो सकता है? और क्या इस प्रकार परिवर्तित हुए लोग किसी धर्म या समाज के लिए शोभास्पद समझे जा सकते हैं।

किन्तु बुराई में से भी जाने-अनजाने भलाई फलित हो जाती है। इन घटनाओं का शुभ परिणाम यह हुआ है कि हिन्दूजन चौंके और चेते हैं। उनके समाज के बीच में परम्परा से क्या गहरा पाप पल और पनप रहा था इसका भान उन्हें हुआ है। हिन्दू नेता जागे है और उसके धर्मपुरुष भी जाग उठे हैं। हरिजन शब्द हमको गाँधी से प्राप्त हुआ था। जिन्हें अछूत मानता आया था हिन्दू समाज, उसकी आँख खोलने के लिए गाँधी ने कहा कि ये तो हरिजन है। ईश्वर के निकट के जन हैं। उस गाँधी को कट्टर हिन्दू समाज ने इसके लिए माफ नहीं किया। उस समाज से रुष्ट होकर उसके नेता डॉ. अम्बेडकर ने उन्हें हिन्दू से अलग नवबौद्ध बन जाने की सलाह दी। किन्तु प्रगट हरिजनों की हित चिन्ता में विलायत के प्रधानमन्त्री रेम्जे मैकडानेल्ड ने जो साम्प्रदायिक फरमान (कम्यूनल अवार्ड) दिया, उसमें हिन्दू से उन्हें पृथक निर्वाचन के 'अधिकार' दिये गये थे। गाँधी ने इसके विरोध में आमरण उपवास की घोषणा की और अवार्ड अन्त में रद्द हुआ। उन्होंने कहा है कि हिन्दू समाज को अपने इस पाप के लिए प्रायश्चित करना है, गहरा चिन्तन और आत्मशोधन करना है। गाँधी ने हिन्दुओं में उसी प्रेरणा को जगाया था और स्वराज्य प्राप्त होने पर काँग्रेस नेताओं को सलाह दी थी कि वे एक हरिजन बहन को भारत के अध्यक्ष के आसन पर विराजमान करें।

परम्परागत भावना

बौद्ध, मुस्लिम या ईसाई बन जाने, या बना दिए जाने से हरिजनों का प्रश्न हल नहीं हो जाता है। समाज की मानसिकता में अमुक वर्ग या वर्गों के प्रति जो गहरे तिरस्कार की भावना परम्परागत भाव से भरी चली आ रही हैं, उसको सर्वथा निर्मूल होना है। तो वह इन ऊपरी उपायों से नहीं हो पाएगी। यहाँ तक कि आरक्षण जैसे उपाय भी राजकर्ताओं के चित्त को तनिक सन्तोष देने से आगे, रोग के मूल को नहीं छू पाएगा। उसके लिए समूल क्रान्ति की आवश्यकता है, समूची दृष्टि के परिवर्तन की, मूल्य के परिवर्तन की। प्रश्न की ऊपरी छेड़छाड़ से वह काम नहीं होगा। जिनको हम परिगणित वर्ग या जाति कहते हैं, हरिजन कहते हैं, वे समाज के सर्वहारा हैं। वे हैं जिन्हें प्रोलोतारियत कहना होगा। वे जमीन हैं जिस पर हमारी व्यवस्था का तन्त्र खड़ा है। उनके नाम पर साम्यवादी

क्रान्ति रूस में हुई, चीन में हुई, और आधी दुनिया में हो गई। लेकिन प्रोलोतारियत की डिक्टेटरशिप, पोलैण्ड के उदाहरण से पता चल रहा है कि, स्वयं प्रोलोतारियत से दूर होती चली गयी। उसकी बजाय वह डिक्टेटरशिप ब्यूरोक्रेटिक होती चली आ रही है।

मुझे प्रतीत होता है कि यहाँ दलितों के प्रश्न का हार्द है। हरिजन गिरिजन या वन्यजन वे हैं जिनके पास केवल हाथ का श्रम है। अगर वे समाज में आज नीचे हैं तो इसीलिए कि धन उनके पास नहीं है। केवल श्रम है। और हम ऐसी सभ्यता पर गर्व मानते हुए जी रहे हैं जहाँ अर्थ ही श्रेय है क्योंकि वह श्रम को खरीद सकता है। श्रम अश्रेयस है, मूल्यहीन है। कारण, मूल्य केवल मुद्रा का है।

मूल्य मुद्रा का

मूल्य मुद्रा का है न? इसीलिए पैसा दिखाया जा रहा है और हरिजन को अपने हरिजन होने पर लज्जित और अपमानित किया जा रहा है। क्या इस लज्जा और ग्लानि से वे सिर्फ धर्म का नाम बदलने से बच जाएँगे? जब तक मान मुद्रा का है ऐसा नहीं होनेवाला है। अपमान की जगह वे सर्वहारा जन सम्मान के भागी सब होंगे। जहाँ उत्पादन करनेवाला पुरुष (अथवा स्त्री) शासन करनेवाले से अधिक उपयोगी और महत्वपूर्ण समझा जाएगा। शासन करता है, वह क्या करता है, बाँटता है और इस तरह अपने लिए शासन की सुविधा का निर्माण करता है। इस काम को पोलिटिकल माना जाता है और उसे ऊँचा महत्त्व दिया जाता है। मैं कहना चाहूँगा कि इस सारे खेल के पीछे प्रच्छन्न पोलिटिकल महत्त्वाकांक्षाओं का जाल है और इसलिए उस पर बहुत हो-हल्ला मचाना राजनीति के हाथों खेल जाना है।

एक बात साफ है। राष्ट्र को एकात्मक होना है। बाँटने और फाड़नेवाली वृत्तियाँ और शक्तियाँ नीचे से राष्ट्र की नींव को खोखला कर रही हैं। धर्म की स्वतन्त्रता का अर्थ सम्प्रदायवाद की स्वतन्त्रता नहीं है। धर्मान्तरण की सारी बात कोरी साम्प्रदायिक है। इस्लाम साम्प्रदायिकता से ऊँचा धर्म है। दुख है कि हिन्दू और मुस्लिम दोनों और से उसको साम्प्रदायिक रूप में देखा और समझा जा रहा है। धर्म-निरपेक्ष शब्द ने उस भूल को बढ़ावा दिया है। उसने हिन्दू और मुस्लिम दोनों शब्दों का अवमूल्यन कर डाला है। गीता-कुरान दोनों की विश्व के साहित्य की श्रेष्ठतम ग्रन्थों में गणना है और रहेगी। ऐसे ही बाइबिल, जिन्दावेस्ता और जपुजी आदि सबका सम्मान करना सीखना होगा। धर्म-निरपेक्षता नहीं, इसको सर्वधर्मिता कहेंगे। सच्चा सेक्युलरिज्म यह होगा। गाँधी ने देश को, हिन्दू को

और मुस्लिम को यही सिखाना चाहा था। हर दिन प्रार्थना में सबके साथ मिलकर गाया जाता था—''ईश्वर अल्लाह तेरे नाम।'' किसी के मुँह में से ईश्वर छीन कर वहाँ अल्लाह रख देने से क्या किसी धर्म को, या अल्लाह की महिमा बढ़ जाएगी? इन सब भ्रान्त धारणाओं को निरस्त करना होगा और दृष्टि वह अपनानी होगी जो सिर्फ निर्धन होने के कारण से किसी को दीन-हीन मानने से इन्कार कर देगी, क्योंकि जिसके पास श्रम का धन है वह असली धनिक है। वह ईश्वर के और प्रकृति के अधिक निकट है। अन्यथा तो मुद्रा, धन, श्रम के शोषण में से फलित भी माना जा सकता है।

यहाँ फिर याद दिलाने, और याद करने की आवश्यकता है कि राज्य सक्रिय हो सकता है राज्यकर्ताओं और राज्य नेताओं के बल पर। पर राष्ट्र की बुनियाद में वे सर्वहारा वर्ग हैं जिनको दीन-हीन मानकर उनकी 'गरीबी' दूर करने का नेताजन दम भरा करते हैं। क्या यह सच नहीं कि समाज का माना गया तथाकथित वह उच्चवर्ग ही है जो उनकी पीठ पर चढ़ बैठकर उन्हें हठात दीन-हीन बनाये रख रहा है। आवश्यकता है कि वह राष्ट्र जगे जिसको दुनिया दीन मानने के धोखे में पड़ी है। तब हम देखेंगे कि राज्यकर्त्ता का दम्भ टूटता है। राज्य संस्था को धन बल की वास्तविकता प्राप्त होती है। राज्य को राष्ट्र का सम्बल और राष्ट्र का आधार मिलता है।

□

साम्प्रदायिक बनाम राजनीतिक धारणा

सामूहिक धर्म परिवर्तन के समाचारों से हिन्दू समाज जाग उठा है। धार्मिक और सामाजिक दोनों स्तरों पर इस चुनौती से सामना करने के यत्न किए जा रहे हैं। धर्म गुरुओं ने मिलकर और खुलकर घोषणा की है कि सब मन्दिर बिना भेदभाव के सबके लिए खुले रहेंगे। सामाजिक तल पर एकता सम्मेलन हुए हैं और एक विराट हिन्दू समाज के अभियान की भी स्थापना की गयी है। कहीं-कहीं हिन्दू मत के पक्ष में स्फुट और सामुदायिक धर्म परिवर्तन की घटनाओं की सूचनाएँ भी मिली हैं।

हिन्दू धर्म की विशेषता

एक तरह से यह शुभ है। लेकिन यहाँ सावधानी की आवश्यकता है। इस्लाम की तरह हिन्दू कोई गठित धर्म नहीं है। साम्प्रदायिक अभिनिवेश और आवेश की दृष्टि से यह हिन्दू शब्द की मर्यादा और त्रुटि भी प्रतीत हो सकती है। लेकिन मूल में यही उसकी विशेषता है। विकास के वर्तमान युग में हिन्दू संस्कृति की उस विशिष्टता पर खिन्न होने की आवश्यकता नहीं है। प्रत्युत उस पर औचित्यपूर्वक गर्व और गौरव भी माना जा सकता है। पान इस्लामिक भावना के समक्ष किसी पान हिन्दू भावना को स्थापित नहीं किया जा सकता है। हिन्दू शुरू से ही समावेशी संस्कृति रही है। उसका निर्माण ही समन्वय में से हुआ है। यह समन्वय निरन्तर गतिशील और विकासशील रहा है। इसी कारण अनेकानेक देवता उसमें स्वीकृत होते चले गये हैं। नाना मत-दर्शन हैं। विविध मन्दिर एवं उपासना विधियाँ हैं। अनेकानेक मत पन्थ हैं। यह समावेशिता उस की प्रकृति और शक्ति है। धर्म परिवर्तन के विचार के लिए वहाँ अवकाश नहीं है। कारण इस या उस मताग्रह का वहाँ प्रश्न ही नहीं है। वह उन धर्मों से भिन्न है जो किसी एक अवतार या नबी या ग्रन्थ या सिद्धान्त पर निर्भर हो रहते हैं।

प्रश्न हो सकता है कि फिर क्या है जो हिन्दू शब्द को एकता दे सकता

है, उसको परिभाषा देता है। मैं मानता हूँ कि इस प्रश्न का उत्तर बहुत सरल है भी नहीं। कारण कि एकता के नारे की उसे आवश्यकता ही नहीं रही है। अद्वैत दर्शन उसे पर्याप्त है। उसके अनन्तर सब प्रकार का द्वैत उसके लिए मान्य एवं सम्मान्य है। सब एक है ईश्वर में। ईश तत्त्व सर्वज्ञ प्राप्त है। घट-घटवासी है वह परमेश्वर, इसलिए वहाँ एकता के लिए प्रत्येकता के आदर के सूत्र के अतिरिक्त और किसी साधन और सहारे की आवश्यकता नहीं है। अर्थात अनेकता के अस्वीकार में से नहीं प्रत्युत उस अनेकता के स-सम्मान स्वीकार में से सच्ची एकता फलित होगी। बाहरी प्रयत्नों से एकरूपता लायी जा सकती है। एकात्मता तो आन्तरिक और भावात्मक ही हो सकती है।

संस्कृतियाँ उठी हैं और विलुप्त होती चली गयी हैं। शायद माना जा सकता है कि एकमात्र भारत की संस्कृति ही इस ऊँच-नीच के इतिहास में से सहस्त्रों वर्षों से अविच्छिन्न रहती चली आयी है। उसकी तिथि निश्चित नहीं है। इंजील और कुरान के ग्रन्थ अमुक समय पर अवतरित हुए और अमुक सन्त द्वारा। जिन पर हिन्दू सभ्यता का आधार है वे ग्रन्थ अनैतिहासिक हैं। उनके रचयिता निर्विशिष्ट हैं। इसलिए ईश्वर की सत्ता को अस्वीकार करने वाले को यहाँ नास्तिक नहीं माना गया। नास्तिक माना ही गया तो उसको जो वेदों को नहीं मानता। वेद क्या है? उन पूर्वजों और ऋषियों के उद्‌गार हैं जो जीवन के विस्मय और उल्लास में उनके कण्ठ से प्रस्फुरित हो उठे। उनमें समग्र प्रकृति का स्वीकार है और कहीं भी नकार का स्वर नहीं है। न आग्रह है अथवा प्रतिपादन की ध्वनि है। बस मुक्त अभिव्यंजना है अनुभूति की।

राष्ट्र की भावना

भारत अँग्रेज के आने से पहले किसी राजनैतिक धारणा के अन्तर्गत आने वाला भूखण्ड न था। राजे-महाराजे बहुतेरे होते गये। केवल अशोक और अकबर का साम्राज्य रहा हो सकता है जिसमें वर्तमान भारत का अधिकांश आ जाता है अन्यथा राजनैतिक इकाई का रूप उसे कभी नहीं मिला, आवश्यकता ही नहीं हुई। मातृभू भारतवर्ष की धारणा भारत को प्राप्त हुई उन सन्तों, ऋषियों से। शासन की एकता से भारत की उस एकता का कतई सम्बन्ध न था। राज्यों की सीमा रेखाएँ अदलती-बदलती गयीं। फैलती-सिमटती रहीं और वे राजे आपस में लड़ते-मरते भी रहे। पर इससे भारतवर्ष की धारणा में अन्तर नहीं आया। बाहर से जो भी आया और अधिक तो आक्रान्ता के रूप में आये। वे यहीं रचते-बसते चले गये। भारतभूमि ने उन सबको स्वीकार किया जिन्होंने भारत भू को स्वीकार किया है। इस्लाम आया चाहे दरवेशों या चाहे आक्रमणकारियों के रूप में। वे भी शनैः शनैः

औरों की भाँति यहाँ की भूमि में सिंचने लग गया है! लेकिन अँग्रेज के समय से एक नयी चीज का यहाँ की हवा में प्रवेश हुआ, वह था राजनीतिक राष्ट्रवाद और उपनिवेशवाद। अँग्रेजों को यहाँ बसना न था, सिर्फ लूटना और चूसना था। उसे साम्राज्यवाद के लिए यहाँ सम्प्रदायवाद पनपाना आवश्यक था।

वही इतिहास अब जी रहा है। धर्म के आधार पर भारत का भूखण्ड कट कर पाकिस्तान को गया। धर्म का आधार राष्ट्रीयता के लिए सच्चा होता तो बंगला देश के निर्माण की आवश्यकता न होती, लेकिन वह जुनून जारी है।

इस स्थल पर मुझे प्रतीत होता है कि पुनर्विचार की आवश्यकता है जैसे धर्म, सम्प्रदाय, राष्ट्र और सेक्यूलरिजम (धर्मनिरपेक्षता) की।

धर्म तो एक है। सम्प्रदाय अनेक हैं। सम्प्रदाय धर्म को शरीर देता है, किन्तु आत्मा के अभाव में शरीर को शव माना जाता है। धर्म की आत्मा से निरपेक्ष होकर शरीर क्या विचारणीय हो सकता है। अर्थात् धर्म-निरपेक्षता के शब्दार्थ को पकड़ कर चलने से केवल साम्प्रदायिकता का इलाज सच्ची धार्मिकता से अतिरिक्त कहीं और नहीं मिल सकता। केवल लौकिकता जिसको सेक्यूलरिजम माना जा सकता है। साम्प्रदायिकता को महत्त्व दिये बिना न रहे। नितान्त लौकिक राजनीति का यही दुष्फल और दुर्भाग्य रहा है। नीति धर्म अथवा धर्मनीति इस राजनीति का लगाव क्रमशः छूटता चला गया है। गाँधी राजनीति में थे किन्तु धार्मिक थे। इसलिए उनके निकट सेक्यूलरिजम का अर्थ सर्व-धर्म सम-भावना से आगे मानो सर्वधर्मिता ही रह जाता है। किसी भाषा की ओर से लीजिए, आत्मा में सब धर्म एक हैं, किन्तु गाँधी की नहीं आ पाया। पाकिस्तान उसने स्वीकार किया और एक तरह सदा के लिए भारत के भाग्य में उसके साम्प्रदायिक की जड़-बेल बो दी।

रोग का नया लक्षण

साम्प्रदायिकता के जहर से यदि राष्ट्र को मुक्त होना है तो राष्ट्र की निरी राजनैतिक धारणा से हमें ऊँचे उठना और गहरे जाना होगा। अधिकार मूलक यह राजनीति है जो तरह-तरह के नामों पर पृथकवाद उपजा रही और बढ़ावा दे रही है। ताजा आवाज है—उदाहरणस्वरूप नये खालिस्तान राष्ट्र की। वह तो लक्षण है उस गहरे रोग का जो राष्ट्र के सारे शरीर में व्याप्त गया दीखता है। किसी भी बहाने हर गुट का अपना पृथक स्वार्थ है और उसे अपना अलग अधिकार चाहिए।

अवश्य एक वह भाव भी है और उसकी मनुष्य के लिए गहरी अपील भी है। यहाँ से अपने स्वत्व के अधिकार के विसर्जन की प्रेरणा प्राप्त होती है। उस बलिदानी प्रेरणा का आज के नितान्त लौकिक राजनैतिक वातावरण में अभाव दिखाई पड़ता है। आर्थिक और साम्प्रदायिक भाव है और उसके तले नैतिक और

धार्मिक भाव सर्वथा मूर्च्छित हुआ पड़ा है। गाँधी ने एक बार वही भाव जगाया था और लोग कुरबानी के रास्ते पर चल पड़े थे। सुख-सुविधा संसार उन्हें तुच्छ लग आया था और भारत मुद्रा की भाषा में दीन-हीन होने पर भी प्राणों की भाषा में दुनिया की निगाहों में केन्द्र बन गया था। आत्मगौरव से वह अपने को प्रशस्त अनुभव करता था और दुनिया उसकी महानता को स्वीकारती थी।

हिन्दू मुस्लिम प्रश्न आज कटीला है। उसके समाधान के लिए क्या हम धर्म के नाम पर होने वाली साम्प्रदायिक प्रवृत्तियों को मान्यता देते रहेंगे? क्या भारत की नागरिकता एकजुट होगी न और कटीबटी रहेगी? अल्पमत और बहुमत के वाद और विवाद की जगह क्या लोकतन्त्र में रहती ही चली जाएगी?

मैं मानता हूँ कि आज की राजनीति को संस्कार की आवश्यकता है। दल प्रधान हो गया है इतना कि राष्ट्र गौण पड़ गया है। राष्ट्र को महज राजनीतिक मानने का यह दुष्परिणाम घटित हुआ है। राष्ट्र के विचार को समय है कि गहराई में विस्तृति मिले जिससे अपने बीच दहकता हुआ, उफनता हुआ पृथकवाद बुझे और बैठे और भीतर से एकात्मभाव उठता हुआ आये। यह अभीष्ट सत्ता-सम्पदा को महत्त्व दिया जाने से न होगा। होगा तो उस गहरे धर्मभाव के उदय में से होगा जिसमें चाहा नहीं जाता, सिर्फ अपने को होमा जाता है।

□

गाँधी और धर्मनिरपेक्षता

स्वराज्य आने के समय धर्म के आधार पर भारत में से कटकर अलग पाकिस्तान बना तो शेष भारत की संविधान सभा ने अपने गणतन्त्र के सम्बन्ध में निर्णय की घोषणा की कि वह सेक्यूलर अथवा धर्मनिरपेक्ष होगा। इस निर्णय से स्पष्ट हो जाता है कि स्वतन्त्र भारत धर्मों में किसी प्रकार का भेदभाव नहीं बरतेगा। दूसरे शब्दों में उसकी धर्मनिरपेक्षता का अर्थ सर्वधर्म समभाव होगा।

धर्म अथवा धर्मों के प्रति भारतीय गणतन्त्र का यह संकल्प आश्वस्त करता है कि सब धर्मानुयाइयों को पूरी धार्मिक स्वतन्त्रता होगी, सुरक्षा मिलेगी और सम्मान प्राप्त होगा। राज्य का अपना नागरिक-धर्म होगा और उस नाते राष्ट्रवासियों की एक नागरिकता होगी, अन्तर नहीं होगा।

सर्व-धर्म समभाव का विचार यों तो सर्वथा उचित और ग्राह्य है पर उसमें आप धर्मों के प्रति समभाव से तटस्थ भी रह सकते हैं। किन्तु गाँधी उस तरह तटस्थ न थे। धर्म तो उनका प्राण था, श्वास था। उनका दावा रहा कि होश सँभालने के बाद दिन-रात, सोते-जागते रामनाम के जप का तार उनके भीतर से कभी टूटा नहीं। जीते जी सुबह शाम भगवान की प्रार्थना में कभी नागा नहीं हुआ। एक बार कार्य की व्यस्तता में अवकाश नहीं मिल सका तो इसके लिए उन्होंने विलाप किया, प्रायश्चित किया, कि मैं कैसे अपने प्रभु की प्रार्थना में चूक गया। सब धर्मों के प्रति समभाव से आगे उनकी साधना ममभाव के स्तर तक उठती चली गयी। इस तरह उनके अपने निकट सेक्यूलरिजम का आशय मानो सर्वधर्मिता ही हो जाता था।

राज्य तो धर्म के विषय में निरपेक्ष हो रह सकता है। उसका आगे अधिकार नहीं। राज्य के दायित्व की यह मर्यादा है। अर्थात् राज्य का अपना स्वधर्म ऐहिक और लौकिक विषयों से ऊँचे और गहरे जाने की उसे अनुमति नहीं देता। राज्य का काम लोगों के नित्य नैमित्तिक गुजर-बसर की देखभाल रखना है। उन्हें रक्षा देना है और समाज की जीवन-यात्रा को व्यवस्थित और सुगम बनाना है। इस

कामकाजी कर्त्तव्य से आगे राज्य की क्षमता नहीं है, उसकी पहुँच नहीं है। सांस्कृतिक, नैतिक, आत्मिक आदि जीवन के स्तर उसके अधिकार से बाहर और ऊँचे हैं। वहाँ शासन का हस्तक्षेप अनुचित है।

मैं मानता हूँ कि राज्य की धर्मनिरपेक्षता के अन्तर्गत ये सब मर्यादाएँ महात्मा गाँधी के ध्यान में थीं। राज्य का जो एक सर्वग्राही और सर्वग्रासी—टोटेलिटेरियन रूप क्रमशः बनता जा रहा है, वह उन्हें मान्य न था। राज्य को उनके मत से फैलना और फूलना नहीं था, किन्तु, क्रमशः संक्षिप्त होते जाना था। शासन वह श्रेष्ठ है जिसे कम-से-कम शासन करना हो। राज्य वह उत्तम है जो कार्मिक से उत्तरोत्तर नैतिक होता जाए। सच्चा स्वराज रूपहीन होगा। कहीं एक जगह बड़े आकार-प्रकार में अधिष्ठित होने की उसे आवश्यकता नहीं होगी। प्रत्युत वह हर मनुष्य के अपने पास पहुँचा होगा और उसके अन्तर में प्रतिष्ठित होगा। राज के तन्त्र के सम्बन्ध में कुछ इस प्रकार का आदर्श उनके चित्त में था जिसको उन्होंने रामराज्य की संज्ञा दी।

मनुष्य शरीर ही नहीं है, आत्मा भी है, और आत्मा ही नहीं है, शरीर भी है। इस तरह व्यक्ति को दो तलों पर एक साथ जीना पड़ता है। व्यवहार में शरीर की आवश्यकताओं की सुव्यवस्था की दृष्टि से राज्य संस्था का उदय और विकास हुआ। वह विकास अब मानो अपने चरम पर आ गया है। उद्योग भीमातिभीम होते गये हैं और मशीनें धड़ाधड़ उत्पन्न कर रही हैं। माल आवश्यकता से कहीं अधिक बनता है और खपत के लिए कृत्रिम आवश्यकताएँ उत्पन्न की जाती हैं। उत्पादन अकूत है, पर अभाव उससे ज्यादा है। विपुलता और विपन्नता दोनों कैसे एक साथ निभ सकती है? किन्तु निभ रही है। मानो सम्पन्नता ही विपन्नता को उपजाती और विपन्नता सम्पन्नता को थामती हो।

आज की स्थिति की यह विडम्बना कैसे बनने में आयी? सोचने पर पता चलेगा कि विचार में पूरे नहीं अधूरे आदमी को लेने के कारण यह अघट घटित हुआ है। अध्यात्मचेता आत्मा के विचार को लेकर शरीर से अलग और दूर चला गया है। उधर व्यवस्थापक राजनेता सर्वेसर्वा होकर आत्मा की ओर से उदासीन और विमुख होता चला गया है।

गाँधी की जीवन-दृष्टि दो ध्रुवों के बीच द्वन्द्वग्रस्त और विभक्त मनुष्य को मानकर सन्तुष्ट न हो सकी। उनकी चेष्टा स्वयं में अविभक्त होने की रही। धर्म उनके लिए इस नितान्त अखण्डता को पाने का मार्ग था। द्वैत में से मनुष्य को जीना होता है। किन्तु यह जीना होगा अद्वैत की निष्ठा के साथ। इसमें से देखा गया कि मुक्ति पथ का वह यात्री गाँधी अनजाने राजनीति के संघर्ष में आ उतरा है। संघर्ष में से ही मुक्ति प्राप्ति करनी होगी। दूसरी गति नहीं है। अन्यत्व है

तब तक विग्रह भी है। ममत्व की व्याप्ति से क्रमशः इस अन्यत्व के भाव को समाप्त करना होगा। और गाँधी की सम्पूर्ण जीवन-यात्रा, उनकी सम्पूर्ण धर्म-नीति और रणनीति इसी संकल्प-साधना में से अपना स्वरूप प्राप्त करती गयी है।

दैहिक आवश्यकताओं को सब कुछ मानकर राज्य व्यस्त रह सकता है। अर्थात् आर्थिक विचार उसका सर्वस्व ही कहा जा सकता है, पर मनुष्य अर्थ पर समाप्त नहीं है। भाव के वश सब छोड़-छाड़ देने वाले लोगों के उदाहरण कम नहीं हैं। वैराग्य के अधीन राजपाट त्याग देने की कथाओं से भारतीय साहित्य भरा पड़ा है। स्वतन्त्र और स्वायत्त अर्थशास्त्र आज भले बना डाला गया हो, आर्थिक उस प्रकार नैतिक से स्वतन्त्र है नहीं। मनुष्य पर दोनों खिंचाव काम करते हैं।

गाँधी ने कहा और माना कि आर्थिक को नैतिक के अधीन और अनुकूल रहना होगा। आर्थिक नैतिक पर प्रधान होगा, तो साम्प्रदायिक भी धार्मिक के ऊपर आ जाएगा। इसलिए वह सदा चेतावनी देते रहे कि हरेक अपने-अपने धर्म के प्रति सच्चा बने। मुसलमान सच्चा मुसलमान और हिन्दू सच्चा हिन्दू होकर अनायास सही और सच्चा नागरिक हो जाएगा। ऐसे सहज भाव से ये दोनों बच्चे पड़ोसी और सहयोगी बनेंगे। धर्म फाड़ता नहीं है, जोड़ता है, जो चीज फटाव लाती है, वह धर्म का दर्प है। धर्म और दर्प तो परस्पर विपरीत हैं। अर्थात ऐसा अभिमान साम्प्रदायिक अभिनिवेश में से उपजता और साम्प्रदायिक वैमनस्य उपजाता है। धर्म का कोई लौकिक स्वार्थ है नहीं। सम्प्रदायों के वाद ही उन स्वार्थों का निर्माण करके आपसी संघर्ष पैदा करते है।

इसकी पुष्टि में हम स्वराज के पहले के इतिहास को याद कर सकते हैं। गाँधी के नेतृत्व में देश ने उठ-जाग कर परदेसी राजदर्प को चुनौती दी और अपनी मुक्ति के संकल्प में अपार कष्ट सहे, भरपूर बलिदान दिया। स्वराज्य के रूप में फल आता दीखा तो मालूम हुआ कि भारत दो हैं। हिन्दू भारत के साथ मुस्लिम भारत भी है। यह एक भारत में दो राष्ट्र मान लिए जाने की स्थिति ब्रिटिश साम्राज्य के स्वार्थ ने पैदा की थी। हिन्दू भारत के प्रतिनिधित्व के लिए अँग्रेज के सामने काँग्रेस के अधिकृत नेता जवाहरलाल नेहरू थे तो इस्लामी पक्ष के मुस्लिम लीग के अधिपति जनाब मोहम्मद अली जिन्ना थे। सब जानते हैं कि ये दोनों राजनेता थे, धर्म से उनका वास्ता न था। गाँधी को इसमें किनारे रखा गया। धार्मिक होने से वह किसी स्वार्थ के लिए संगत ही न थे। देश के नेतृत्व को उन्होंने सलाह दी थी कि उसे अँग्रेज से बात नहीं करनी है। कह देना है कि आप यहाँ से जाइए। घर के दो भाईयों में फैसला करने के लिए तीसरे बनकर बीच में न बैठिए। लेकिन वह नहीं हुआ। अँग्रेज को बीच में लेकर दोनों ओर से विभाजन स्वीकार कर लिया गया और माना गया कि यह धर्म के कारण हुआ है। धर्म-विचार तो गाँधी के साथ था। इससे गाँधी ने मार्ग निकाला कि राज्य ही तो दो हुए हैं, मन तो

दो नहीं हो गये। पर आज सच यह है कि मानसिकता में ही दरार पड़ गयी है और हिन्दू-मुस्लिम प्रश्न भारत में बराबर चहकता ही रहता है। टकराहटें होती हैं और अगर उनको ऊपर से पुलिस की लाठी बन्दूक से बिठा भी दिया जाता है तो मन की सुलग और दुगुनी होती है।

पाकिस्तान बन गया तो बन गया। वह तथ्य बदल नहीं सकता। बदलने की आवश्यकता भी नहीं है। लेकिन उस बँटवारे के बाद भी साम्प्रदायिक प्रश्न बना ही रह जाता है, तो उसका उपचार मैं मानता हूँ उस अर्थ से सेक्यूलरिजम के पास नहीं है, जो धर्म को गौण करके सम्प्रदाय को महत्त्व देता है। वह तो साम्प्रदायिकता की आग को और हवा दे निकलेगा। इलाज के तौर पर सेक्यूलर का गाँधी वाला भावार्थ ही आज के दिन काम आ सकता है जो अलग-अलग सम्प्रदायों को महत्त्व देता ही नहीं है, क्योंकि महत्त्व देता है वह उस धर्म को जहाँ आत्मा की एकता के आधार पर शरीरों की भिन्नता बाधा उपस्थित नहीं करती, बल्कि उल्टे एक पवित्रता प्राप्त करती है। यदि ऐसा हो तो गौ की रक्षा मुस्लिम अपना धर्म मानने लग सकता है और मुस्लिम की नमाज में बाधा पहुँचाना हिन्दू को अधर्म प्रतीत हो सकता है।

किन्तु मुझे भय है कि निरी राजनीति में से यह दृष्टि नहीं आ सकती। वहाँ तो जमीन है अधिकार-चेतना की। वहाँ तो प्रतियोगिता का भाव है और समझ लिया जाता है कि मुठभेड़ और हार-जीत में से ही फैसला हो पाएगा। ऊपरी दमन इस मानसिकता को गला और धुला तो पाता नहीं बल्कि और पैना कर जाता है।

धर्म-निरपेक्ष राज्य होगा, मनुष्य न हो पाएगा। राज्य तो एक तन्त्र-यन्त्र है। जीवन पूरी तरह यान्त्रिक हो न सकेगा। गाँधी इसलिए राज्य के अंग नहीं बने। काँग्रेस जनों को भी चलते-चलते उन्होंने सलाह दी कि वे राज्य के पदों की तरफ न देखें, लोकसेवा में ही अपना स्थान मानें। राष्ट्र नीचे से स्वस्थ-सबल होकर उठेगा तो राज्य अपने आप बलिष्ठ और समर्थ बनेगा।

मेरी मान्यता है कि राज्य की क्षमता की वे सीमा मानते थे। उनका सपना विश्व की एकता का था।

मानव जाति को उस ओर बढ़ना है और उसमें मनुष्य के लिए सबसे बड़ा सहारा धर्मभावना का ही होने वाला है। जिस सेक्यूलरिजम का वे समर्थन कर सकते थे वह धर्म के प्रति तटस्थता का नहीं था, वरन सब धर्मों के प्रति आदर सम्मान का था। आज के दिन तो गाँधी की उस दृष्टि की और भी विशेष संगति और प्रासंगिकता है।

□

दलों में बँटती हुई आज की राजनीति

भारतीय विमान के अपहरण के सिलसिले में पहली चिन्ता तो चलो समाप्त हुई कि विमान और उसके सब यात्री सकुशल लौट आये हैं और अपहर्त्ता इस समय पाकिस्तान में बन्दी हैं। पाकिस्तानी अधिकारियों को धन्यवाद दिया गया है भारत सरकार की ओर से, और जिस कुशलता से उन अधिकारियों ने छापामारों के दल को वश में किया है, उसकी प्रशंसा हर किसी के मन में है। हम इसके लिए पाकिस्तान को बधाई देते हैं। पाकिस्तान ने कहा है कि यदि भारत स्वीकार करे तो उन बन्दियों को न्याय के समक्ष लाकर उसे दंड दे सकते हैं।

वह तो होगा और आशा करना चाहिए कि इस घोर अन्तरराष्ट्रीय अपराध के लिए अपराधियों को उपयुक्त दण्ड मिलेगा। यदि इस प्रकार का आतंकवाद चलने दिया गया तो कहीं कोई शासन व्यवस्था सुरक्षित नहीं समझी जा सकेगी।

लेकिन बड़ी और गहरी चिन्ता यह है कि अपहर्त्ता खालिस्तान की माँग और आन्दोलन के समर्थक थे और ये भी कि उस आन्दोलन के नेताओं की ओर से इस कृत्य के अपवाद में किसी प्रकार का वक्तव्य नहीं आया। सन्त भिण्डरवाला लाला जगत नारायण की हत्या के षडयन्त्र में सम्मिलित होने के सन्देह में गिरफ्तार किये गये हैं और अपहरणकर्त्ताओं की उनकी बेशर्त और तत्काल रिहाई की माँग थी। रिहाई की यह माँग सम्मिलित खालसा दल की भी है और निर्णय घोषित हुआ है कि यदि माँग पूरी नहीं हुई तो अमुक तिथि से व्यापक असहयोग आन्दोलन शुरू किया जाएगा जिसमें कर-बन्दी भी शामिल है।

पचास एक बरस पहले पंजाब ने देश को भगत सिंह दिया था। बंगाल के बटुकेश्वर दत्त के साथ मिलकर भारत की स्वतन्त्रता की माँग में उसने वायसराय की दिल्ली के असेम्बली हाल में बम का धमाका इसलिए किया था कि बहरी बर्तानी सरकार सुने, सोचे और समझे। अब भगतसिंह की जगह उसी पंजाब से गजेन्द्र सिंह हैं कि भारत के यान को उड़ाकर पाकिस्तान के लाहौर ले जाते हैं कि उन्हें सिक्खों को अलग राज्य खालिस्तान मिले। इन कुछेक वर्षों में पंजाब

की मानसिकता में यह घोर परिवर्तन क्यों और कैसे आ गया?

खालिस्तान की ही सिर्फ बात नहीं है। भारत राष्ट्र की भावना ही प्रकार-प्रकार के जातिवाद, पन्थवाद, सम्प्रदायवाद और प्रदेशवाद आदि में बिखरी जा रही है। विशेषकर यह स्वयंवाद की वासना उत्कट है। सीमान्तप्रान्तों में देश की मानसिकता में इस निरन्तर ह्रास के कारण के शोध के लिए तनिक गहरे जाना होगा।

कहा जाता है कि भारतवर्ष को एक राष्ट्रत्व की धारणा बर्तानिया की, उस पर अधीष्टित एकछत्र सत्ता ने दी। पहले भारतवर्ष तो राष्ट्र नया राष्ट्र के रूप में एक न था।

उल्टे मैं मानता हूँ कि भारत के पास लगभग अनादि परम्परा से अपनी एकता और अखण्डता की भावना रही। यही नहीं, प्रत्युत वह सतत विकासशील भी थी, उसमें समावेश की क्षमता थी। उसे नीचे किसी राजसत्ता के आधार की आवश्यकता न थी। अनेकानेक राजा-महाराजा यहाँ होते रहें। वे आपस में लड़ते-भिड़ते भी रहें। उनके अपने राज्यों की सीमाएँ भी फलस्वरूप फैलती-सिकुड़ती रहीं, लेकिन उससे भारत राष्ट्र की अखण्डता में कोई अन्तर नहीं आया। कारण, राष्ट्र राज्य पर अवलम्बित न था। राष्ट्र की धारणा यहाँ सांस्कृतिक रही। उसे किसी टक्कर में आने या उपाकार टूटने का खतरा ही न था। आक्रान्ता बन कर तो आए भी वे यहाँ रहे तो इसी भूमि के संस्कारों में पच गये। ये संस्कृति किसी मत विशेष में बँधी न थी।

सब प्रकार की पूजा-अर्चना की, मत-मान्यता की, उसमें स्वीकृति थी और इस प्रकार भारत देश अनन्त नानात्व को लेकर सहजभाव से एक बना रह सका।

राष्ट्र की संज्ञा को राजनीतिक स्वरूप मिला यहाँ अँग्रेज के आगमन से। भारतवर्ष विस्तार में लगभग योरोप के बराबर था। योरोप कभी आपस की लड़ाइयों से पार पा सका ही नहीं। इसी सदी के दो महायुद्ध हुए तो योरोप के देशों के बीच में। इस आपस में सतत् टकराते रहनेवाली राष्ट्र की धारणा से आगे उनका विचार और व्यवहार जा सका ही नहीं। आज भी जो विश्व में तनाव है, वह उसी राष्ट्र की राज्यगत प्रतिबद्धता के कारण यही कि राज्यतन्त्र और राजव्यवस्था को यहाँ अतिमता नहीं दी गयी।

भारतवर्ष की भावना प्राप्त हुई इस भूखण्ड को सन्तों और ऋषियों से। सेनानियों और विजेताओं से नहीं जो अपनी जीत से स्वयं घिर कर बैठ जाते हैं और इस तरह अपने सीमान्त पर सदा ही वैमनस्य और युद्ध की आवश्यकता जगाए रखते हैं। भारतवर्ष को अपनी एकता प्राप्त हुई नितान्त बीतरागी, अपरिग्रही, सन्त पुरुषों से, तो वह खण्डित होने के भय से भी बची रही।

अँग्रेजी साम्राज्य की पराधीनता से मुक्ति पाने का युद्ध लड़ा गया यहाँ गाँधी

के नेतृत्व में और उनके अहिंसक शस्त्रों से। यह अनोखी बात थी और इतिहास में कहीं इसका उदाहरण नहीं मिलता। भारत के स्वतन्त्रता युद्ध की अपनी इस निराली प्रकृति के कारण कहा जा सकता है कि वह युद्ध सत्ता के लिए न था, प्रत्युत आत्मा के लिए। भारतीय राजसत्ता नहीं, भारतीय आत्म-सत्ता। यही कारण था कि गाँधी उस स्वराज्य तन्त्र के स्वयं अंग नहीं बने। इतना ही नहीं बल्कि काँग्रेस संस्था को भी सलाह दी कि वे सत्ता तन्त्र के फेर में न पड़ें। हजारों हजार गाँवों में फैले हुए भारत की सेवा में लगे।

राज्य दिल्ली में रह गया, गाँव-गाँव न पहुँचा, तो सच्चा स्वराज्य कैसे हो सकेगा?

लेकिन वह नहीं हुआ। भारत बँटा और बचे-खुचे भारत की सत्ता दिल्ली में राज्य जमाकर बैठी। तब से अब तक कुछ ऐसा भारत रहा है कि राष्ट्र वही है जो राज्य है। यदि राज्य ही राष्ट्र है तो भारत राज्यों का संघ ही तो है। यहाँ से राष्ट्र की केन्द्रीय भावना मन्द होती चली गयी। राज्यों के स्वतन्त्र स्वायत्त होते जाने की वासना को सहारा मिला। वह चीज, वह तत्त्व क्रमशः बीच में से गायब होता चला गया जो मिलाता है, और उसको बढ़ावा मिलता गया जो फाड़ता है।

कोई दो अपने अलग-अलग स्वार्थों पर अड़कर मिल नहीं सकते, अड़ ही सकते हैं। लड़ाई का अन्त होगा हार-जीत में। और ऐसे यदि तत्काल के लिए समाधान मिला भी तो शत्रुता के बीज गहरे जाएँगे और युद्ध की बेल सदा हरी रहेगी।

किन्तु स्वार्थों के साथ और पार एक परमार्थ भी है। उसमें स्वार्थ की हानि नहीं है। उस टकराते स्वार्थों की परस्परता में सन्धि और सिद्धि है। परमार्थ की यह दृष्टि राज की नीति को सहसा प्राप्त नहीं होती। इसलिए यदि जीवन-नीति के तौर पर राजनीति ही मान्यता हो जाती है तो जुटाव की जगह बिखराव की शक्तियों को उभार मिलता ही चला जाएगा।

स्वराज्य के बाद से इस भूमि पर यदि दुर्घटना घटित हुई है। सच पूछिये कि स्वराज्य मिलने के प्रकार में ही यह विष प्रवेश पा गया था। हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य को आधार-भूत मानकर उसको बुनियादी दो-राष्ट्र मानकर, दोनों ओर अपना-अपना स्वराज्य स्वीकार कर लिया गया था। वहाँ से मानो राष्ट्रजीवन पर राज्य की नीति ही छाती चली गयी। पाकिस्तान का इतिहास समक्ष है। उसे रह-रहकर तानाशाही में त्राण मिला है। भारत का लोकतन्त्र आत्मबलिदान से प्राप्त हुआ। पुण्य जब तक काँग्रेस के पास रहा तब तक कुछ स्थिरता रही दिखी। किन्तु राज्य से जुड़ते ही बलिदान की जगह दल का स्वार्थ ने ले ली। पुण्य क्षीण हुआ और विघटन के कारण बढ़ते चले गये।

आज दिन है, हर गुट को अपनी-अपनी पड़ी है। राजनीति दलों में बँट गई है और ऐसा मालूम होता है कि राष्ट्रनीति जैसे किसी चीज के लिए स्थान नहीं है। राजकर्त्ता दल की नीति ही सब है और राष्ट्र का भाग्य तभी सुरक्षित है जब वह उस दलनीति के अधीन रहेगा।

स्पष्ट है कि राज्य शक्ति का होता है। शक्ति अपने में से प्रतिशक्ति को उत्पन्न कर देती है। अर्थात नीचे से हर कोई शक्ति जुटाकर चुनौती देता हुआ ऊपर उठता है और अपने लिए पृथक अधिकार की माँग करता है। आप दबा सकते हैं तो दबाइए अन्यथा अशान्ति और अव्यवस्था ही धमकी के साथ वह अपना भरपूर दबाव राज्य पर लाएगा।

लोकतन्त्र में इस प्रकार के दबावों के लिए पूरा अवकाश है। फर्क यह है कि हिंसात्मक रुख न अख्तियार कर ले। अगर उन दबावों के मूल में अहिंसा का दबाव है ही नहीं, तो उनको ऊपर से कितना वैधानिक रूप दिया जाए, हिंसाभिमुख हुए बिना रह नहीं सकती। अगर ऊपर की सरकारी और वैध हिंसा के सामने नीचे फटती और फूटती हुई हिंसा आ पड़ी होती है, तो लोकतन्त्र के पास क्या उपाय है? कोई उपाय नहीं है सिर्फ इसके कि वह तन्त्र उत्तर में उतना ही निर्भय बने जितना कि कोई तानाशाही तन्त्र हो सकता है।

संक्षेप और सार यह है कि यदि राज्य की और राजनीति की प्रधानता है तो लोकतन्त्र का लबादा होने की आवश्यकता नहीं रह जानी चाहिए। तब जाने-अनजाने राज्य को खुलकर शक्ति का और डण्डे का राज्य बनना होगा। यह दूसरी बात है कि ऐसे राष्ट्र को फिर कहीं भी गृहयुद्ध का सामना करना न पड़ जाए। लेकिन अगर डण्डा शक्ति ही मैदान में रह जाती है तो लोकतन्त्र के पास जीने का कोई उपाय ही नहीं रह जाता है।

चारों तरफ अधिकारों की माँग है। अधिकार के सृष्टि के मूल में कर्त्तव्य होता है। यह एकदम भुला डाला गया। मनुष्य के पास अन्तिम कर्त्तव्य स्वार्थ विसर्जन है। गीता उसी को यज्ञ का नाम देती है। राजनीति ने उस यज्ञ में जीवन-नीति के मानो मुख को ही बन्द कर दिया है। उस नीति के आवरण को हटाना होगा। उसे मुख्य रूप से व्यवहार में सार्थक करना होगा। तब और तभी अपने-अपने कर्त्तव्य भाव को लेकर जो घमासान-सा राष्ट्रजीवन में जग उठा है उसका शासन हो सकेगा। अवसर है उनके लिए सोचने का, जो अब तक दलों में कट-फट नहीं गये हैं। और मैं मानता हूँ कि देश का 50 प्रतिशत भाग अब भी है जो राजनीति में लिप्त नहीं है उसे चेतना है और सम्भलना है।

□

दो ही विकल्प : अहिंसा या न्यूट्रॉन बम

ढाई हजार से भी ज्यादा वर्ष पहले एक राजकुमार ने जन्म लिया, जिसे महावीर नाम से प्रसिद्धि प्राप्त हुई। महावीरता के लिए उसने क्या जीता था? कितनी बड़ी उसकी सेना थी? कितना फैला राज्य था? क्या शस्त्रास्त्र थे?...नहीं, इस तरह का कुछ भी परिग्रह उसके पास न था। जन्म से राज पाया, विवाह से परिवार बना, लेकिन यह सब उसने त्याग दिया। त्याग के मार्ग पर सर्वथा निर्ग्रन्थ और अकिंचन अपने को बना लिया। वृत्ति भिक्षा की ली और अधिकांश तो अपनी तपस्या में वह निराहार रहा। इन सब पुरुषार्थ के लिए हमें उस पुरुष को इस अर्थ में 'महावीर' कहना पड़ता है कि कायोत्सर्ग की इस साधना में उसके समतुल्य कोई दूसरा ठहरेगा नहीं। उसने जीता तो अपने को जीता। अपने साथ का यह युद्ध अत्यन्त विकट है। उसमें से कैवल्य की सिद्धि होती है। अर्थात जो मिलावट है, सब कट-छँट जाती है। शेष रहता है केवल शुद्ध आत्मचैतन्य। इसी उपलब्धि को मोक्ष कहना होता है।

जीवन-मरण का चक्र

इस तीर्थ-पुरुष ने संसार में प्रवेश तो किया। पर पाया कि सामने यहाँ से वहाँ तक शून्य में लिखा एक प्रश्न है। प्रश्न कि यह सब क्या है? जीवन और मरण का चक्र क्यों है? आदमी आता है और जाता है, जो है मरणशील है—काल की इस अनादि-अनंत प्रक्रिया में वह क्या है, जो सत् है और शाश्वत है?

इस प्रश्न ने उस राजपुत्र को इतना विकल कर दिया कि सब उसके लिए निस्सार हो गया। इसका उत्तर पाने के लिए निकल पड़ा वह-वह सब छोड़कर जो बन्धन रचता है, जो रोकता है और सीमा लाता है, जो व्यवधान बनता है जीवन की मुक्तता में, जो हमें सत्य से दूर और असत् में प्रवृत्त रखता है।

और घोर तपश्चरण एवं गहन आत्ममन्थन में से उसने प्राप्त किया कि समस्त सृष्टि के चक्र को थामनेवाला तत्व है—प्रेम। प्रेम जिसमें कामना नहीं, अहिंसा

है। उसमें से उत्तरोत्तर विकासमान परस्परता उपलब्ध होती है। इस पारस्पर्य की परमसिद्धि है कैवल्य में, अखण्ड अद्वैत में। जीवन में खण्ड नहीं है और अभाव अथवा दुर्भाव के लिए कहीं अवकाश नहीं है। जो है प्रणम्य है; और हमारे साथ लगा अहंकार ही है, जिसे परास्त और क्षय करना है। जीवन अतः युद्ध है और वह अपने साथ लगे असत के साथ है। अन्यथा जीवन मात्र प्रेम है। प्रेम अखिल के प्रति। संक्षेप में, जीवन है अखण्ड सद्‌भाव।

महावीर तो अन्तिम, चौबीसवें तीर्थंकर थे। किन्तु इस सार्वभौम अहिंसा तत्त्व का आविष्कार हो गया था हजारों वर्ष पहले इस भारतवर्ष में, जब मानव-सभ्यता अपने आरम्भिक चरण में ही थी।

आज वह सभ्यता अपने चरम पर है। इस विकास में कुछ-एक शताब्दी पहले मनुष्य की मेधा ने विज्ञान का आविष्कार किया और आज उसकी उपलब्धियों का पार नहीं है। मनुष्य पर से उसने सीमा उठा दी है। अब वह धरती से बँधा प्राणी नहीं है। व्योम उसके वश में है और धरती मात्र उपग्रह उसके लिए रह गयी है। उसके यान ग्रहों पर और नक्षत्रों के निकट पहुँच रहे हैं। विज्ञान के बल पर मनुष्य अब ब्रह्माण्ड का है और ब्रह्माण्ड उसका है।

किन्तु?

किन्तु सब जीतकर वह अपने से दूर रहा है। अपने से अन्य को सहना उसे मुश्किल हो रहा है। उसका प्रभाव बढ़ा है, लेकिन यदि बराबर में दूसरे का प्रभाव बढ़ रहा है तो यह उसे सह्य नहीं है। सभ्यता के शीर्ष पर आकर उसे अनुभव हो रहा है कि अपनी मुक्ति के लिए दूसरे का होना खतरा है। इसलिए संहार आवश्यक है।

और संहार के एक से एक विकट उपकरण तैयार हो रहे हैं। विश्वव्यापी योजनाएँ बन रही हैं। अरबों-खरबों धन व्यय हो रहा है युद्ध-सामग्री के निर्माण में। मानव-जाति के राजनेता जन आपस में इन घातक तैयारियों में कुछ रोक-टोक लाना चाहते हैं, पर परस्परता में भय और संशय का बीज ऐसा गहरा गड़ गया है कि कुछ उपाय कारगर नहीं होता। बातचीत चलती है और टूटती है। फिर-फिर चलाने की कोशिश की जाती है और हर बार उसे टूटना पड़ता है। इस बीच संहार की तैयारियाँ जारी रहती हैं और अणु बम के अम्बार दोनों ओर इतने लग गये हैं कि बारम्बार समूची मानव-जाति स्वाहा हो सकती है।

दूसरे विश्वयुद्ध की याद अभी ताजा है। उपसंहार हुआ था उसका हिरोशिमा और नागासाकी पर पड़े परमाणु-बमों से। अब तो उनकी अपेक्षा सैंकड़ों-सैंकड़ों गुनी घातक शक्ति वाले बम तैयार हैं। इन नाभिकीय शस्त्रों की पंक्ति में सबसे नये और सबसे दारुण शस्त्र का नाम है 'न्यूट्रॉन बम'।

इस शस्त्र की एक बड़ी विशेषता है। यों तक कह सकते हैं कि उसे गहरा विवेक प्राप्त है। वह जड़ वस्तु को प्राय: नहीं छूता, सम्पदा ज्यों की त्यों बची रह जाती है। हानि करता है यह बम तो केवल जीवन की ही। बस, चेतन उसकी मार से नहीं बचेगा। अचेतन और जड़ को यह परम वैज्ञानिक शस्त्र नहीं छुएगा। नहीं, उसकी क्षति नहीं होने देगा।

आज वैज्ञानिक सभ्यता इस बिन्दु तक आ गयी है कि जीवन ही के साथ उसकी शत्रुता है। शेष जड़ जगत में उसके लिए कुछ अनिष्ट नहीं है। उस क्षेत्र में तो उसकी गति अबाध है। केवल मनुष्य के भीतर का चैतन्य उसके लिए समस्या उत्पन्न करता है। केवल उसी से उसे भय है। उस चैतन्य के कारण मनुष्य पर विज्ञान का काबू हो नहीं पाता। सभ्यता में विकसित हुआ शासन-तन्त्र मनुष्य को काबू में रखना चाहता है। शासन का वह तंत्र इस-उस नाम पर सब कहीं अधिकाधिक केन्द्रित होता जा रहा है। अर्थात मनुष्य को अपने अधीन और वशवर्ती रखने के लिए अनिवार्य है। इसके लिए दमन और दण्ड के उपकरणों की पूरी व्यवस्था रखनी होगी। मनुष्य स्वतन्त्र न होगा, न राष्ट्र स्वतन्त्र हो पाएगा। सबको आतंक की छाया में रहना होगा और अन्तिम रूप से उस आतंक को जीवित रखने का उपाय है—युद्ध।

महावीर को हुए हो गए ढाई हजार वर्ष। उससे पहले भी हुए हैं अनेकानेक आप्त पुरुष। वे सब इतिहास में डूब गये हैं। उन्होंने की होगी अहिंसा की बात। लेकिन अब युग वैज्ञानिक है। आज अहिंसा इसलिए असिद्ध है कि वह अवैज्ञानिक है। आदमी के पास अपना स्वत्व है और उसकी रक्षा उसका प्रथम अधिकार है। अत: संघर्ष होगा, युद्ध होगा और संहार होगा। केवल, संहार में इतना विचार रखना होगा कि सभ्यता के दौर में हमने जो भौतिक उपलब्धियाँ प्राप्त की हैं उनकी हानि न हो। और बड़ी साधना के बाद अन्त में आकर विज्ञान ने एक ऐसा विवेकशाली उत्तमोत्तम शस्त्र न्यूट्रॉन बम के रूप में निर्माण कर दिखाया है कि जो उन उपलब्धियों को सुरक्षित रहने देगा। केवल मनुष्य के पास जीने का कोई अवसर नहीं छोड़ेगा।

आदर्शवादी पुरुष थे वे जिन्होंने प्रेम की 'आदर्श शक्ति' को खोजा और सिद्ध किया। लेकिन तोप के और बम के मुँह से निकलनेवाली शक्ति का अनुमान उन्हें न रहा होगा। क्या यह 'यथार्थ शक्ति' प्रेम में से पैदा हो सकती थी? उस शक्ति की सृष्टि सम्भव है केवल भय से, घृणा से, द्वेष से। महावीर पुरातन हैं, उनके अधुनातन अवतरण गाँधी भी बीत गये। अहिंसा उनके साथ रही और चली भी गयी। 'माइट' के समक्ष 'राइट' का युद्ध होगा कभी और इन पुरुषों ने उसमें महावीरता भी प्राप्त की होगी। लेकिन शक्ति से अलग सत्य जैसा आज कुछ

है ही नहीं। और 'माइट' का प्रतीक प्रस्तुत है आज 'न्यूट्रॉन बम' और हम देख सकते हैं कि उस बम की शक्ति निरी अन्धी भी नहीं है। उसमें अपने लक्ष्य की पहचान है। अर्थात वह केवल सभ्यता के शत्रु मनुष्य का नाश करेगा। और सभ्यता के प्रतीक मशीन का नाश नहीं होने देगा।

किन्तु काल अनन्त है। सभ्यताएँ उठी हैं और गिरी हैं। 'न्यूट्रॉनिक' सभ्यता भी शायद पाएगी कि 'चिति' का विनाश पूरी तरह कभी सम्भव नहीं है; आत्मा अविनाशी है, शरीर ही मरेगा, आत्मा फिर-फिर नये-नये रूपों में प्रकट होगी।

हथियारों की होड़

न्यूट्रॉन-बम से सामयिक कुछ काम निकल सकता होगा। आखिर युद्ध का भी कुछ उपयोग होगा। विश्व की व्यवस्था चलानेवाले राजनेतागण नादान तो हैं नहीं। शायद राजनीति का काम दोनों ओर तैयार होते हुए शस्त्रास्त्रों से तनिक सिद्ध भी होता होगा। वे कहते हैं कि इन्हीं के भय के कारण संहार रुका हुआ है। उनका उपयोग है और वह 'डेटेरेण्ट' है। शस्त्रों की होड़ के पीछे यही तर्क है कि उनकी संतुल्यता विस्फोट को बचाए रखे हुये हैं!

और भय-जनित आतंक-नीति के अवलम्बन का यह लाभ संसार को मिल रहा है कि उस होड़ में अभी वह साँस ले पा रहा है। किन्तु महावीर ने जब अहिंसा की बात कही तो कहा कि वहाँ भय के लिए कोई स्थान नहीं है। भय में से बनी सुरक्षा और भय में से निकली वीरता केवल भ्रम है। वीरता दूसरे को हराने में नहीं है, अपने को जीतने में है।

अपनी विजय, यानी मृत्यु के भय से मुक्ति। यह निर्भीकता प्राप्त होती है है तो डरानेवाले शस्त्रास्त्रों की आवश्यकता निश्शेष हो जाती है। विश्वास रखना चाहिए कि महावीर जब अमर हैं, तब शस्त्र केवल मरणशील हैं।

□

लोक, तन्त्र और संवेदना

इस 30 जनवरी को गाँधीजी को भारत के भाल से पोंछकर हटा दिया गया। आज पूरे 34 वर्ष होते हैं और इस बात को, और यह जिम्मेदारी एक हिन्दू भाई ने अपने ऊपर ली, गोडसे उन महाशय का नाम था। और शायद वो मानता था कि भारत राष्ट्र का राज्य गाँधी के चलाये चलता है। गाँधी ने तो राज्य में कोई पद सम्भाला नहीं। इतना ही नहीं, उन्होंने इस कटे-फटे स्वराज्य का स्वागत भी नहीं किया। सच में राष्ट्र और राजनीति के नेता के रूप में गाँधी को देखना उनकी और उनमें बापू को न देखने की और न समझने के बराबर है। उस राज नेतृत्व के लिए तो बापू ने जवाहरलाल नेहरू को ऊपर कर दिया था। दूसरे उतने ही प्रतापी और प्रतिभाशाली राजनेता नेहरू के सामने जिन्ना थे। इन दोनों की राजनीतियों के बीच देश का बँटवारा हो गया। लेकिन गोडसे ने और उन जैसी मानसिकता रखने वाले दूसरे लोगों ने कसूरवार गाँधी को माना। कारण यही कि भारत की स्वतन्त्रता के युद्ध के सर्वोपरि सेनानी को उन्होंने राजनीति के चश्मे से देखा। इस चश्मे में से महात्मा कैसे दिखाई दे सकता था? और बापू को कैसे पहचाना जा सकता था?

आज देश के पास प्रखर राजनीतिज्ञ व्यक्तित्वों की कमी नहीं है। श्रीमती इन्दिरा गाँधी पिता से कम नहीं, कुछ अधिक ही कुशल राजनीतिज्ञ समझी जा सकती हैं। उनकी क्षमता, योग्यता दल पर निर्भर नहीं है। नेहरू का व्यक्तित्व अप्रतिम अवश्य माना जा सकता है, लेकिन शासक नेहरू दल-संगठन के प्रति उतने निरपेक्ष और मनमाने न थे। कहा जा सकता है कि तब शासन कांग्रेस पार्टी का था उनकी तुलना में श्रीमती इन्दिरा गाँधी का शासन दल संगठन पर स्थगित नहीं है। दल सर्वथा उनके वशवर्ती है।

स्वराज्य के बाद से राजनीति मानो एक खुला खेल बन गयी है। स्वराज्य से पहले राजनीति उतनी मुक्त न थी, कुछ मर्यादाएँ थीं। कारण, उस विशाल काँग्रेस परिवार के ऊपर बापू थे, वो राष्ट्र के मानो अन्तःकरण थे। इसलिए राजनीति

मानवनीति से छिटककर कुछ बहुत दूर नहीं जा पाती थी। महत्त्व लोगों के मन में सत्ता और सम्पदा के प्रति मानो उतना नहीं रह गया था, जितना तप-त्याग और बलिदान का महत्त्व हो चला था। यों तो गाँधी राष्ट्र-सत्ता के शीर्ष पर थे और अपने समय में चीफ मिनिस्टर, प्राइम मिनिस्टर या काँग्रेसाध्यक्ष कौन बने? ये उनके संकेत पर निर्भर था। महत्त्वाकांक्षाएँ तब लोगों के चित्त में न रह गयी थी, ऐसा तो नहीं है। नेहरू-पटेल की अस्मिताएँ आपस में अन्त तक घट नहीं सकीं यानि काँग्रेस परिवार में व्यक्तित्वों में द्वन्द्व और रगड़ था। प्रतिद्वन्द्वक नहीं होती होगी, यह कृपया न समझें, पर बापू के रहते अन्त में निभाव हो जाया करता था। यह क्षमता बापू में इसलिए थी कि उनके अपने चित्त में कोई महत्त्वाकांक्षा थी ही नहीं—लौकिक नहीं, नैतिक नहीं, आध्यात्मिक भी नहीं। वैधानिक अर्थ में वो नेता नहीं बने, न निदेशक, न ही शिक्षक, या गुरु बने। वो प्रार्थना के पुरुष रहे और पेशा अपना जुलाहे का लिखाया। वर्णों में शूद्र वर्ण को अपनाया। हाथ से चमड़े के जूते सीये और पखाना साफ किया। दीनहीन के समकक्ष बनने से भी आगे सेवक बनने की उनकी अभिलाषा रही। जिसे अन्तिम मनुष्य कहा जाए उसके पास भी सम्भव है कहने को कुछ कुटिया हो तो गाँधी के पास वो तक न थी। बैंक में एक पैसा नहीं छोड़ा। पिता थे और बच्चों के लिए पिता कुछ न कुछ तो छोड़ जाने की चिन्ता करता ही है। संन्यासी समझ में आता है। ब्रह्मचारी समझ में आता है, लेकिन इन में से कुछ न थे। गृहस्थी थी, और परिवार में बेटे थे, बहुएँ थीं और पोते-पोती थे, लेकिन किसी के लिए भी उन्होंने एक कानी-कौड़ी न छोड़ी। झोपड़ी तक बनाकर नहीं गये।

यह था बापू का बापूपन। उनके लिए कोई न रह गया जो सगा न हो। कुछ को सगा मानकर और कुछ को गैर मानने का अवकाश ही उन्होंने अपने को नहीं दिया। सगे बड़े बेटे हरिलाल गाँधी बहक गये तो उन्होंने एलान कर दिया कि मेरे नाम पर हरिलाल को कोई किसी प्रकार के धन की सहायता देने की कृपया न सोचे। कस्तूरबा जैसी पतिपरायणा और अनन्य साधिका इतिहास में भला कहाँ मिलेगी? पुराणों में जिन महिमामयी महिलाओं के आख्यान मिलते हैं उनमें कस्तूरबा का तप-त्याग क्या किसी से कम गिना जा सकता है। लेकिन बापू अजब पिता थे, अजब पति थे। बा के बक्से में चार रुपये क्या पा गये, बापू ने प्रायश्चित स्वरूप उपवास ठान लिया। पत्नी की सफाई का उस पति पर कुछ असर नहीं रहा। रो-रोकर उसने कहा कि मुझे क्या करना था? मुझे उन रुपयों का, कभी सफर में तुम्हें फल न मिले तो यह रुपये काम आ जाने को थे; लेकिन नहीं। बापू ने कहा कि यह चोरी है। ईश्वर क्या मर गया है? या तेरा विश्वास मर गया है? उससे चोरी करके पैसा सहेजती है?

राजनीति में ऐसा आदमी कैसे परमशक्तिशाली बन सका, इसका भेद आसानी से समझ नहीं आएगा। अपना राज्य लोकतन्त्र कहलाता है और चुनाव के आधार पर उस तन्त्र का निर्माण होता है। जनता का और जन-जन का वो तन्त्र है, किन्तु आम चुनावों का अनुभव तो अब सभी को है। क्या उसके लिए करोड़ों-करोड़ों की आवश्यकता होती है, किसी की कल्पना काम नहीं करती कि इससे बचाव कैसे हो सकता है? सुझाया जा रहा है कि उम्मीदवार को या पार्टी को खर्च करने के अधिकार की जगह राज्य स्वयं खर्च उठाएँ। अर्थात भारी से भारी खर्च के बगैर चुनाव हो नहीं सकता और बगैर चुनाव के राज्य का तन्त्र लोकतान्त्रिक नहीं हो सकता।

ये समस्या सामने मुँह फाड़े खड़ी है। गाँधी का कहना था कि पाई-पाई पहले उस भूख और भूखे की है जो बद्दुआ देती हुई जी रही है या जी रहे हैं। लोकतन्त्र का असल प्रभु वो माना जाना चाहिए। हम जैसे अपने को शिक्षित समझने वाले लोग तो मात्र उस प्रभु के दास हो सकते हैं। दूसरा और कोई औचित्य शासन या शासक के पास नहीं हो सकता। भोग-विलास अगर वो अपने आसपास जुटाता है तो लोकतन्त्र का नाम लेने की आवश्यकता ही क्या है। क्या राजे-महाराजे सदा से ऐसे नहीं होते आये हैं? उन शाही और सामन्ती जमाने को ही लौटा कर लाना है तो जनतन्त्र, प्रजातन्त्र, लोकतन्त्र जैसी बातों का आडम्बर बाँधने की क्या जरूरत रह जाती है। परिश्रम प्रजा करती है, धन श्रम से पैदा होता है। पसीना बहाकर उत्पादन किया जाता है। शासक को याद रखना है कि उस कमाई का यदि उसके द्वारा अपव्यय होता है तो वो शासक नहीं शोषक ही है।

सिद्धान्त की किताबों में यह सब मिल जाएगा। आदर्श के रूप में सबको स्वीकार्य है। मार्क्स ने 'कैपिटल' नाम की किताब लिखी और 'कैपिटेलिस्ट' की जगह 'सोशलिस्ट' समाज व्यवस्था की बात उठायी। कल्पना थी कि इस विचार से हुई क्रान्ति के परिणाम के अनुसार शासन से श्रेणी-मुक्त-समाज प्राप्त होगा। इस परिणाम से विचारकों के मन में भी इस प्रकार के आदर्श के लिए स्थान हो सकता है। पर मार्क्स और दूसरे चिन्तकजन आदर्शवादी होकर रह जाते हैं। आदर्श की क्रान्ति आदि की प्रक्रिया को इसे धरती पर उतारा गया है अथवा उतारा जाता है या उतारा जाएगा, तो हाथ मात्र यही शब्दाडम्बर लगता है, फलित में विडम्बना घटित होकर रह जाती है। इतिहास में क्रान्तियाँ नहीं हुईं, ऐसा तो नहीं है, पर फलमय दुनिया को तानाशाह तो मिला, आदर्श समाज व्यवस्था जैसी कोई चीज तो तानाशाह के पास तो क्या दूर तक दिखायी न दी। कारण, क्रान्तिकारी अपने क्रान्ति के कर्त्ता और नेता भर होते थे। तनिक भी बापू वे नहीं होते। संवेदना उनकी सहज नहीं रहती मानो बौद्धिक हो जाती है। स्नेह उनमें स्निग्ध न रहकर

दारुण हो आता है। अपनी कल्पना के वशीभूत होकर मार्ग में लाखों करोड़ों का वे बलिदान माँग सकते हैं, और सह सकते रहे हैं, बलिदान अपना दे नहीं सकते। इस प्रकार देखा जाता है कि राजनीतिक नेता, विजेता इतिहास में अधिकांश अपयश का भागी होता है। सम्राट तो रोम में सीजर था और उनके अधीन मामूली से सरदार की निगहबानी में ईसा को सूली दी गई थी। बात इतनी नगण्य थी कि रोमन सरदारों को तो पता तक भी न चला होगा। पर कहाँ हैं आज वो सीज़र, जबकि शायद आधी से ज्यादा दुनिया ईसा को भगवान नहीं तो भगवान का अवतार मानती है।

राजनीति में केवल बापू बनने से काम नहीं चलता। आप परिवार में बाप हैं तो कमाई आपका पहला धर्म है। बच्चों को पालिए, पढ़ाइए और उनके लिए सुरक्षित एवं खुशहाली का सारा इन्तजाम कीजिए। राजनीति में आकर जिसने जरा भी कोई ओहदा पाया है, तो आसानी से और बड़ी खूबी से अपने आसपास यह सब इन्तजाम कर लेता है। लोग कहते रहे इसे भ्रष्टाचार पर यह सीधी समझदारी और शिष्टता का आचार है। राजनीति क्या वो व्यर्थ ही नहीं है जो इस प्रकार के अवसर पर चूक जाती है। गनीमत है कि बापू को गये चौंतीस साल हो गये। यह कम नहीं है जो इस प्रकार के अवसर पर चूक जाती है। उन्हें भूल जाने के लिए काफी है। नई पीढ़ी के लिए क्या ये जरूरी है कि उनके जन्म से पहले जो हुआ और हो गया उसे याद रखें। समय जैसे-जैसे बीतेगा उन्हें भुलाए रखने का सुभीता बढ़ता ही जाएगा। विशेषकर राजनीति के लिए उस अवसर के आने की आवश्यकता इसलिए नहीं होगी कि वो कह सकता है कि गाँधी जयन्ती मनायी तो जाती है। दो दिन की छुट्टी होती है, राजघाट पर प्रार्थना होती है और देखिएगा कि वह किस कदर खूबसूरत है, लेकिन राजघाट की बात ही निराली है। गाँधी महात्मा थे, महात्मा उन्हें रहने दीजिए! राजनीति के झमेले में उन्हें खींच ले आने की धृष्टता हम राजनीतिक जन भला कैसे कर सकते हैं?

बेशक राजकाज अलग चीज है। अहिंसा महात्माओं के लिए है, और रहेगी। पड़ोस में जिया साहब अमेरिका से क्या-क्या खतरनाक हथियार प्राप्त कर रहे हैं। महात्मा ने हमें स्वराज्य दिलाया तो इसलिए तो नहीं कि हम लापरवाह रहे और भारत की सुरक्षा की चौकसी सबकी पूरी न रखें। फिर उस भारत को खुशहाल और दौलतमन्द भी हमें बनाना है। गरीबी मिटानी है तो हमारा तरीका वो नहीं हो सकता जो महात्माओं का हो सकता है। गाँधी बैठ गये थे सेवाग्राम की कुटिया में जाकर और पास वही पवनार में विनोबा बैठे रह सकते हैं। हमको तो गरीबी दूर करने के व्यवहारिक कार्यक्रमों को हाथ में लेना है और वह व्यवस्था की जा रही है कि योजना आयोग हैं और पाँचसूत्री कार्यक्रम भी हैं। एक पहला था

अब दूसरा नया है बैंकों से ऋण की सुविधा गाँव-गाँव पहुँचाने की कोशिश की जा रही हैं। आँकड़े देखिए तो मालूम होगा कि खुशहाली दिन-प्रतिदिन देश की कितने परसेंट बढ़ती जा रही है। आयात की निस्बत किस कदर तेजी से और प्रतिवर्ष कितनी निर्यात बढ़ती दर हैं। विज्ञान की तरक्की में अपने देश को अब तीसरे नहीं तो चौथे नम्बर पर गिना ही जा सकता है : इत्यादि, इत्यादि, इत्यादि।

फिर भी बापू की याद आती है। अभागे है हम कि याद करते हैं। पर क्या करें, याद तो आती ही है। मैं दिल्ली में रहता हूँ। पाँच सितारें होटल कम यहाँ नहीं हैं, और कहीं निकलता हूँ तो आसपास की जगमग दीखे बिना नहीं रहती। सुनता हूँ कि होटल कई-कई और बन रहे हैं। जिनके लिए पाँच सितारे कम ही समझें जाएँगे। इन सन् '82 में ही एशियाई के खेल होंगे और हजारों-हजार करोड़ रुपया उसमें लगेगा और खूब धूम-धाम होगी। इस सबके बीच क्यों याद आना चाहिए? वो गाँधी जो कंगाली सिखाता था, पर याद आता है, गाँधी इसलिए कि वो देश का गौरव था। देश अनुभव करता था कि उस पर किसी की छत्रछाया है। रत्नों का जड़ा छत्र नहीं, स्वस्ति का और आश्वस्ति का छत्र। बापू गये और भला आदमी गौडसे अपने तमंचे की मदद से उन्हें हमसे छिन ले गया। काश! कि हमें दूसरा बापू प्राप्त हो सकेगा!

□

राष्ट्र की एकता और अखण्डता जन के त्याग और संकल्प से

असम और पंजाब दोनों जगह स्थिति विस्फोटक बनी हुई है। कोई नहीं चाहता होगा कि नौबत यह आये। दोनों ही जगह बातचीत चली थी, लेकिन वह टूटी। आखिर सवाल टकराव की हालत पहुँचा और सड़कों पर आ बिखरा। पंजाब की हिंसा पर जाँच समिति सरकार ने बिठाई और आशा है कि बातचीत फिर शुरू होगी। असम के सम्बन्ध में भी अब यह सम्भावना है।

यहाँ यह तय करना नहीं है कि अगर जोर-जबर के हाथ में बात पहुँच गयी तो इसमें पहल किसकी तरफ से हुई। सरकार की अपनी सीमाएँ हैं। उस पर स्थिति-रक्षा का दायित्व है। जिम्मेदारी को निबाहने के लिए जरूरत पड़ने पर उसे पुलिस और फौज के साधन भी सौंपे गये हैं। अगर विधि व्यवस्था का प्रश्न आ उठता है तो सरकार के पास कहने को हो जाता है कि हम जान-माल का नुकसान नहीं होने दे सकते हैं। हालात को उस तह तक पहुँचने से बचाने में चूँकेंगे तो हम कैसी सरकार हैं। शान्ति भंग नहीं होने दी जा सकती।

इसलिए आन्दोलन के नेताओं पर दुगनी जिम्मेदारी आ जाती है। सरकार का बल सेना हो सकती है। लोक नेताओं का बल जनता है, जनमत है। दूसरा बल अगर लोक नेता अपने हाथ में लेते हैं तो पक्ष उनका घपले में पड़ जाता है। सरकार का पक्ष इस अर्थ में तो मजबूत हो जाता है कि वे कह सकते हैं कि आन्दोलनकर्ता बदअमनी चाहते हैं, और फैलाते हैं।

आन्दोलन-विकास की प्रक्रिया मानो आवश्यक ही है। समय आगे बढ़ता है। वर्तमान को भविष्य की ओर बढ़ते और उठते जाना है। इसलिए कोई स्थिति हलचल से शुरू नहीं हो सकती। स्थिति के गर्भ में ही गति के निमित्त समाये रहते हैं। लोकनेता उसी का प्रतीक होता है। वह भविष्य का आह्वान है। इसलिए वह अपने पक्ष में उन साधनों का उपयोग नहीं कर सकता तो केवल वर्तमान

की रक्षा भले कर सके भविष्य के निर्माण में किसी तरह सहायक नहीं हो सकता, और जबरदस्ती कर हिंसा का बल रचनात्मक हो नहीं सकता। इसलिए जिन्हें मानव के भवितव्य की रचना करनी है। वे उस बल को कभी हाथ में नहीं लेंगे। ऐसा करना वर्तमान को पीछे अतीत में धकेलना जैसा हो जाएगा, और यह तो अपने में ही गलत है। समय पीछे जा नहीं सकता उसके आगे ही जाना है।

गाँधी फिल्म को जो मान्यता मिली है। इतिहास में अब तक किसी दूसरे चित्र को नहीं मिली है। एटनवरो ने उस पर मिले अनुपम सम्मान को लेते समय ठीक ही कहा कि यह सम्मान सब गाँधी का है। मुझे और फिल्म को मिल रहा है तो उनके कारण।

क्या था ऐसा गाँधी में। वह प्रबल से प्रबल आन्दोलनकारी थे। लेकिन आन्दोलन के काबू में नहीं थे। पूरी तरह आन्दोलन को अपने काबू में रखना चाहते थे। चौरीचौरा की हिंसा हुई और आन्दोलन की रास को उन्होंने पीछे खींच लिया। काँग्रेस का या देश का कोई आदमी अपने नेता के इस कदम को मान नहीं सकता, पर मजाल कि कोई कुछ कर सके। हो जितनी भी ज्यादती हो शासन की तरफ से, आन्दोलन की तरफ से, तो सिर्फ अपना बलिदान ही हो सकेगा। जरा भी जोर जबरदस्ती होने नहीं दी जाएगी।

यह एक नई ताकत थी जिसका नमूना उन्होंने दुनिया के आजमाइश के लिए पेश किया। जोर-जबरदस्ती को अपनाते हम अवश्य आये हैं पर उसका नतीजा क्या निकला, विध्वंस हुआ है। अगर इतिहास में रचना होती गयी है, विकास होता गया है, मनुष्य उठा है, और उसकी संस्कृति उठी है! सभ्यता इस बिन्दु तक आयी है कि दुनिया को हम अब 'एक' अनुभव कर रहे हैं। संचार और आदान-प्रदान के साधनों ने इस ध्रुव से उस ध्रुव को मिलाकर रख दिया है। तो हिंसा के कारण नहीं उस हिंसा के बावजूद ऊपर लड़नेवाले लड़ते रहे। नीचे काम वाले काम करते रहे। मनुष्य की यह रचनात्मक और सृजनात्मक वृत्ति है जो इतिहास को बनाती गयी, और लोक नेता इसी का प्रतिनिधि है। सरकारें दमन और दण्ड को अपनाएगी। यह लोक प्रतिनिधि दण्ड और दमन के वशीभूत नहीं होगा। यदि उत्तर में इस तरह के साधनों को स्वयं अपनाएँगे भी नहीं। यह नई नीति गाँधी ने आज के और आगे के लोक नेताओं के समक्ष उपस्थित की है। और मैं मानता हूँ कि अगर इस नीति से चूककर वे किसी अनीति को अपनाएँगे तो जाने-अनजाने सरकारी ताकतों को मजबूत करने में वे योग देंगे। और हम जानते हैं कि आज की विश्व की राजनीति में जो भयंकर ध्रुवीकरण घटित हो गया है। दो महाशक्तियाँ परस्पर भयभीत और दर्पदीप्त, युद्धोरत होकर आमने-सामने खड़ी हैं। वह शक्ति से, जनता से अलग सर्वथा राज्य संस्थाओं में केन्द्रित

होते जाने के कारण है।

युद्ध कोई नहीं चाहता फिर भी वह होते हैं। लोग मरना नहीं चाहते फिर भी मरते और मारे जाते हैं? यह इसीलिए कि लोग, जो ताकत उनकी अपनी है, उसे भूल बैठे हैं और अपनी रचनात्मकता को बिसारकर टकराव और संघर्ष में ही सार्थकता देखने लग गये हैं।

गाँधी का भारतीय स्वतन्त्रता का आन्दोलन शुरू हुआ था असहयोग से। जनता सहयोग न दे तो राज्य चलेगा कैसे? इसलिए राज्य की ज्यादतियों का सारा जवाब असहयोग में जाता है। सिर्फ करना इतना है कि ऊपर से आयी ज्यादतियों को सह लेना है। अपनी ओर से जरा भी ज्यादती नहीं होने देना है। इस नीति से आखिर साम्राज्य धराशायी हुआ।

इस नीति की विशेषता यह है कि दुनिया न्याय और अन्याय के पक्षों को स्पष्ट देख पाती है। असल सवाल घपले में नहीं पड़ता। हिंसा सिर्फ एक तरफ हो जाती है और विश्वभर के जनमत के निकट साफ हो जाता है कि किसका पक्ष है जो न्याय पर है। गाँधी नीति को पूरी दुनिया की सहानुभूति प्राप्त हुई है और नैतिक सम्बल तमाम शस्त्र बल से प्रबल सिद्ध हुआ।

मैं मानता हूँ कि असम का विदेशी और पंजाब की 'अकाली' दोनों आन्दोलन इस नीति से चूके हैं। सरकार की नीति के समर्थन का तो प्रश्न ही इसलिए नहीं उठता कि उसके लिए अपनी और अपने वर्तमान की सुरक्षा ही अन्तिम मूल्य है। लेकिन लोक नेता को तो उस भाषा में नहीं सोचना है उसके आगे बढ़ने का प्रश्न है। मैं मानता हूँ कि देश की एकता और अखण्डता के प्रश्न के बारे में राजनेता प्रमाद भी कर सकता है। लोक नेता के लिए वह अवकाश नहीं है। और यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि राष्ट्र की अखण्डता और एकता शस्त्र बल से और राजबल से ही सुरक्षित रह जानी वाली चीज नहीं है। प्रत्युत उसके लिए देश त्यागी जनभावना और जन संकल्प के आधार की आवश्यकता है। एक दूसरे को घटाने-हराने और निस्तेज कर देनेवाली प्रतिस्पर्धी और प्रतियोगी राजनीति ने राष्ट्र की उस क्षणता को क्षीण कर डाला है। क्षेत्रवाद यदि उभर रहा है और निरन्तर बल पकड़ता जा रहा है तो अदूरदर्शी राजनीति के कारण। मैं मानता हूँ कि अगर जनता की ओर से नैतिक से अतिरिक्त कोई दूसरा प्रबल प्रयोग होता है तो विघटन की शक्तियाँ जोर पकड़ेंगी और जो विभाजन हो चुका सो तो हो चुका, लेकिन आगे उसकी लगातार प्रक्रिया को रोका नहीं जा सकेगा।

□

राजनेता ठिठके और असमर्थ क्यों हैं ?

शब्द वह माध्यम है जिस पर सारी परस्परता टिकी है। शब्द पूरी तरह सार्थक होता है साहित्य में। अर्थात वहाँ अपना अर्थ मात्र देकर शब्द चुक नहीं जाता, अर्थ के अतिरिक्त भी बहुत-कुछ देता प्रतीत होता है। साहित्य में वह सूचक होता, सांकेतिक बनता और मानो महत् आशय का प्रतीक ही हो रहता है। भाषा वहाँ भाव में अपनी सीमा खो देती है। साहित्य की भाषा केवल विचार तक नहीं रहती, भाव में लीनता पाकर मानो जीवन को जा छूती है। साहित्य का शब्द अमर बनता है तो इसी कारण।

पर साहित्य के शब्द से मेरी तृप्ति समाप्त हो गयी है। वह शब्द वर्तमान को लाँघ जाता है। भविष्य के प्रति उसकी लगन इतनी अधिक होती है। दिन थे, मैं वर्तमान में इतनी सहजता से रह लेता था कि चाहना, सोचना सब भविष्य के लिए हो जाता था। वह हालत अब नहीं है। इसमें साहित्य का शब्द छूट गया है। वर्तमान मुझे बेचैन करता है। बेचैनी वो भी हो सकती है जो सपने में रमा ले जाए। वह मुझे मंजूर नहीं है। मेरे लिए सम्भव भी आज नहीं है। वर्तमान लाँघते नहीं बनता। जी होता है उससे जूझा जाए।

जूझनेवाला शब्द साहित्य से उतरकर पत्रकारिता का हो जाएगा। भावात्मक वह नहीं रहेगा। सिमटकर उसे तत्काल उपयोगी और सार्थक होना होगा। आशय उसका अन्तर्व्याप्त नहीं रहेगा, बल्कि इंगित स्पष्ट होगा। बिन्दुहीनता (प्वाइण्टलैस-नैस) वहाँ नहीं निभेगी। बल्कि प्रतीत होता है कि यदि सार्थक से आगे शब्द वहाँ सकर्मक भी हो सके तो और अच्छा।

गीता की अहिंसा

एक शब्द पर मैं अटका रह जाता हूँ। वह शब्द है—अहिंसा। धर्म-शास्त्र, नीतिशास्त्र में उसकी जगह ठीक है। लेकिन उसके बाहर खुले कामकाज के मैदान में, कुरुक्षेत्र में, क्या वह कुछ तात्त्विक, भावशील, आदर्शात्मक और असंगत ही नहीं हो जाता?

कुरुक्षेत्र युद्धक्षेत्र है। लेकिन गीता के हिसाब से उससे कोई अलग धर्म-क्षेत्र भी नहीं है। युद्ध के लिए सन्नद्ध कौरवों की सेना समक्ष देख कर अर्जुन में अहिंसा का और वैराग्य का भाव उठा। किसके लिए हिंसा? राज्य के लिए? छी:! अर्जुन ने प्रकृतवाद हाँकना शुरू किया। कृष्ण उसके रथ के सारथी ही थे। हमने तो यही सुना-जाना है कि रथी प्रधान और सारथी अधीन होता है। लेकिन कृष्ण को हीन या उच्च कोई पद नहीं छूता था। उन्होंने अर्जुन को समझाया और गीता जैसा धर्म-ग्रन्थ भारत के द्वारा मानव-जाति को प्राप्त हुआ।

गीता में से जैसे युद्ध की हिंसा में से हिंसात्मकता खींचकर अलग कर दी जाती है। कहिए कि उसे अहिंसात्मक बना डाला जाता है। निर्वेद, जनासक्त, स्थितप्रज्ञ, विगतज्वर इत्यादि की कक्षा तक ऐसे उठा दिया जाता है कि गाँधी को उसमें से अपने लिए शुद्ध अहिंसा प्राप्त होती लगती है।

हिंसा के बिना क्या चल सकता है? नहीं, एकदम नहीं चल सकता। उसके अभाव में एक क्षण नहीं जीया जा सकता। कौन दावा कर सकता है कि उसके होने मात्र से किसी को कष्ट नहीं पहुँच रहा होगा? साँस लेने तक में क्या सूक्ष्म जीवों की हिंसा नहीं होती?

हिंसा की इस अपरिहार्यता के कारण अहिंसा का प्रश्न एकदम फालतू-सा लग जाता है। पर गाँधी से सत्य के साथ इस अहिंसा शब्द की टेक पकड़कर अपना वह राजनीतिक-नेतृत्व निर्माण किया जिसकी उपमा इतिहास में नहीं मिलेगी। उस नेतृत्व की सत्ता अखण्ड रही और यह अहिंसा का ही विचार था, जिसने भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस पर से अपनी प्रभुता को वापस खींचने के लिए उन्हें विवश किया। काँग्रेस फिर भी बार-बार उस महात्मा की शरण गयी और गाँधीजी ने शरण आई काँग्रेस को निराश तो नहीं किया, लेकिन राजनीतिक नेतृत्व को अपनाने से सर्वथा इनकार कर दिया।

राजनीतिक सत्ता

राजनीतिक सत्ता असली सत्ता नहीं है। वह सामयिक है, अस्थिर है। जहाँ से राज को अपनी सत्ता मिलती है, वह जन-सत्ता है, जन-जन की आत्म-सत्ता है। इस दर्शन को समस्त राजनीति-शास्त्र स्वीकार करता है। सब तन्त्र उसे मानते हैं। तन्त्र लोकतान्त्रिक हो, साम्यवादी हो या अपने बीच मोनार्की का अवकाश रखने वाला हो। लेकिन फिर आत्म-सत्ता को राजसिक, सामरिक, सशस्त्र होने की आवश्यकता क्यों होनी चाहिए? आत्मा का विरोध होगा तो किससे? क्या कोई आत्म या परमात्म से बाहर भी है?

इसलिए राजनीति की मर्यादा है। एक-सीमा तक ही मानव-नीति का पालन

उससे हो सकेगा। उस सीमा के आगे राजधर्म से ओछा सिद्ध होने को बाध्य होगा। आज की समस्या है कि राष्ट्र जहाँ है राज्यान्तर्गत है। यथार्थ यही है। जबकि आदर्श यह है कि राज्य राष्ट्र के अन्तर्गत ही नहीं प्रत्युत उसके हाथ का साधन और उपकरण होगा। यह मिथ्यात्व आज की समूची समाज-व्यवस्था और विश्व-व्यवस्था में व्यापा हुआ है।

राज्य दमन, दण्ड और सुरक्षा के उपकरणों की आवश्यकता से मुक्त नहीं हो सकता। उसके पास पुलिस होगी, फौज भी होगी और उनके काम के लिए अस्त्र-शस्त्र भी होंगे, किन्तु यह सैन्य बल ही राज्य का असल बल नहीं है। आधारभूत बल उसका लोकबल है। वह बल जो कि नागरिकों की श्रद्धा और समर्पण से उसको प्राप्त होता है। यह बल अहिंसक ही हो सकता है। यदि प्रजाजन के इस बल में हिंसा का मिश्रण हो गया तो राज्य की क्षमता में उससे क्षति आ जाएगी और अराजकता का सहारा मिलेगा।

गाँधी के राजनीति के क्षेत्र में अनिवार्य रूप से हिंसा के प्रवेश का यही गहरा आशय था कि राजनीति सर्वथा रचनात्मक बनना सीखें। रचनात्मक का आशय कि नाम के लिए विरोध पक्ष लोकतन्त्र में भले रहे। रचनात्मक से अलग वैर-विरोध की भाषा में सोचने तक के लिए उसके पास अवकाश नहीं है। पार्लियामेन्ट्री या सोशलिस्ट या प्रेसिडेंशियल या मोनार्किक किसी डेमाक्रेसी में आपसी उखाड़-पछाड़ के भाव के लिए गुंजाइश नहीं हो सकती। हार-जीत के शब्द रह सकते हैं। इस शर्त के साथ कि उनका डंक खींचकर अलग कर दिया जाए।

मुझे प्रतीत होता है कि जिस राज्य के पास इस अहिंसक राष्ट्र-बल का समर्थन होगा और कितनी मात्रा में होगा उस मात्रा तक वह राज्य अपने शस्त्र-सैन्य के आभरण को निःशंकता के साथ उत्तरोत्तर कम करता जा सकेगा।

चरम शस्त्र सन्नद्धता

महाशक्तियों में इस आज की चरम शस्त्र-सन्नद्धता को कम करने की आवश्यकता का विचार चला करता है। महाशक्तियों के नेताओं में ही नहीं, बल्कि विश्व या मानवजाति के भविष्य की भाषा में सोचने वाले प्रत्येक व्यक्ति के मन में यह चिन्ता है, और चिन्तन चलता है। फिर क्यों उस तरफ कदम बढ़ाना किसी के लिए सम्भव नहीं हो पाता? लोग तो लड़ाई चाह नहीं सकते। किसको मरना पसन्द हो सकता है? लाखों-लाख आदमी जिससे एक क्षण में स्वाहा हो जाएँ, उस परमाणु विस्फोट को कौन चाह सकता है? स्वयं राजनेता नहीं चाहते। फिर क्यों वे ठिठके और असमर्थ बने रह जाते हैं?

कारण एक और सिर्फ एक ही हो सकता है, और वह यह कि लोकहित

और राजहित एक नहीं हो पाये हैं, वे दो हैं। राज्य का राष्ट्र से कुछ अपना एक अलग ही हित बन उठा है। राज्य के और जनता या मानव जाति के हितों में यह अलगाव कैसे दूर हो? यह आज का महाप्रश्न है। हमारी व्यवस्था की पूरी रचना कुछ इस प्रकार की है कि राज्यों के हित परस्पर टकराने को विवश हैं। एक की 'प्रॉसपेरिटी' (समृद्धि) दूसरे की पॉवरटी (गरीबी) पर निर्भर हो गयी है! व्यापार, व्यवसाय, उद्योग, उत्पादन, अर्थरचना, मुद्राविनिमय, अन्तरराष्ट्रीय बैंकिंग आदि का स्वरूप पारस्परिक हितों में सामंजस्य उत्पन्न होने ही नहीं देता। उनमें स्पर्धा-प्रतियोगिता और वैमनस्य को उत्तरोत्तर उत्कट ही बनाता चला जाता है।

ठीक इसी जगह, इसी बिन्दु पर, गाँधी की और उनकी अहिंसा की संगति है। अन्यथा महाविध्वंस के अतिरिक्त दूसरी गति नहीं है। सभ्यता के आधार में ही स्वार्थ का पोषण के विचार की हिंसा है। हम हर दूसरे को अपने प्रयोजन के लिए मानना चाहते हैं, अपने को सब अन्यान्य के लिए मानने को तैयार नहीं हैं। अहिंसा के द्वारा, गाँधी सभ्यता के मूलाधार में ही परिवर्तन क्या क्रान्ति चाहते थे। चाहते थे नहीं कहता हूँ चाहते हैं। क्योंकि गाँधी मर नहीं गये, जीवित है और विचारशील समुदाय के लिए बहुत तीव्रता से जीवित है।

□

धर्म है वहाँ साम्प्रदायिकता नहीं रह सकती

शरीर की हम सब विध चिन्ता रखते हैं। उसे सजाते हैं, सँवारते हैं और पोषक आहार देते रहते हैं, लेकिन उसी को एक दिन मसान में जाकर जला आते हैं। तो क्यों? क्योंकि आत्महीन शरीर सिर्फ सड़ाँध फैला सकता है।

हिन्दुत्व का अपना कोई अलग शरीर नहीं है। जिसको जो शरीर प्राप्त हो हिन्दुत्व की दृष्टि से उसके लिए वही बस शुभ है। जो देव चाहे मानो जिसमें आस्था हो वही सिद्धान्त रखो। मूर्ति कोई पूजो और उपासना की पद्धति भी जो चाहे पा लो। इसमें हिन्दुत्व को कोई आग्रह नहीं है, इसलिए हिन्दू प्रकृति सदा अनाक्रामक रही। आक्रमण उस पर होते रहे, उसकी ओर से प्रत्याक्रमण भी नहीं हुआ।

यह कुछ बन्धुओं के लिए गहरी चिन्ता का कारण हो सकता है। पर चिन्ता की नहीं, इस बिन्दु पर चिन्तन की आवश्यकता है।

आक्रमण शरीर पर ही तो होगा, और शरीर मर्त्य है। आक्रमण आत्मा पर तो पड़ता नहीं, उसको वह छू तक नहीं सकता। इसलिए यदि आत्म-निष्ठा हो और आक्रमण को सत्भावपूर्वक झेल लिया जाए तो उलटे इससे आक्रामक का पराभव होता और उसे संस्कार मिलता है। आक्रमण और आक्रामक के प्रति यही सच्चा और गहरा उत्तर सिद्ध होता है।

हिन्दुत्व की आन को लेकर राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ एक लम्बे अर्से से भारतीय भूमि पर काम कर रहा है। उसका विस्तार होता गया है और उसका पृष्ठ बल पाकर भारतीय जनता पार्टी ही शायद वामपक्ष को छोड़कर एकमात्र वह विपक्षी दल है जिसकी कुछ सम्भावनाएँ मानी जाती हैं। सत्ता पक्ष का कहना है कि संघ साम्प्रदायिक है। संघ का दावा है कि उनकी संस्था सांस्कृतिक है और असाम्प्रदायिक है। यह दावा संघ के लिए सिद्ध करना शेष है।

हिन्दू होकर असाम्प्रदायिक क्या रहा नहीं जा सकता है? धर्म-निरपेक्षता क्या धर्मविहीनता है? इस प्रकार का तर्क संघ की ओर से यदि दिया जाए तो

इसमें कोई असंगति नहीं देखी जा सकेगी।

मुस्लिम यदि जनाब मुहम्मद अली जिन्ना थे तो मौलाना अबुल कलाम आजाद भी थे। इस्लाम मानने के कारण ही कोई साम्प्रदायिक नहीं हो जाता।

आस्था और मताग्रह

किन्तु इसी जगह व्यक्ति की कसौटी भी है। धर्म की आस्था और धर्म का मतादेश में दो अलग चीजें हैं। आस्था मुक्ति देती है, वह मत को पार कर जाती है। मताग्रह बन्धन डालता और सहानुभूति को संकीर्ण करता है। यह मताग्रह है जो मनोवृत्ति को साम्प्रदायिकता का रंग देता है और अपने गिरोह को अलग-थलग और विशिष्ट रखने और उसके वर्चस्व का विस्तार करने की प्रेरणा देता रहता है। संस्कारशीलता इसमें से गायब हो जाती है और आदमी कट्टर पड़कर दूसरों को ललकार देने पर उतारू हो जाता है।

हिन्दू नाथूराम गोडसे थे और हिन्दू मोहनदास गाँधी भी थे। हिन्दुत्व की रक्षा की प्रेरणा में गोडसे के लिए गाँधी के प्राण लेना जरूरी हो गया। ठीक उसी हिन्दुत्व की रक्षा में गाँधी के लिए अपने प्राणों को होम देना आवश्यक हुआ। अपने आसपास हर सुरक्षा की व्यवस्था का उन्होंने निषेध कर दिया। मानो अपनी हत्या के लिए सुविधा की। कहा कि ईश्वर के अतिरिक्त कोई मेरा रक्षक नहीं है। गोडसे की स्फूर्ति के स्रोत रहे श्री विनायक दामोदर सावरकर : सन् 23 की मुझे अपनी याद है, सावरकरजी की सन् 1857 की क्रान्ति की पुस्तक तब कहीं से हाथ आ गयी थी। पुस्तक जब्त थी और अत्यन्त दुर्लभ थी। हम दो-तीन व्यक्तियों ने मिलकर रातोंरात उसकी प्रतिलिपि कर डाली। कितना उत्साह मिलता था उस पुस्तक के पाठ से, सावरकरजी हुतात्मा ही थे। उनके शौर्य की गाथा किसको चकित न कर देगी? किन्तु हिन्दुत्व उनका और गोडसे का अलग था, गाँधी का अलग। कहा जा सकता है कि पहला हिन्दुत्व साम्प्रदायिक था और राष्ट्रीय था, तो गाँधी का हिन्दुत्व सर्वथा सार्वभौम था। गाँधी के हिन्दुत्व पर रेखाएँ न थीं जो उस सीमा देतीं। वह उन्हें खोलता, विशद और विराट करता चला गया। गीता उन्हें भीतर से पवित्र और उत्तीर्ण करती गयी। उस कारण आग्रह उनसे मत का छूट गया, एकमात्र सत्य का रह गया, जो अखण्ड है, सर्वातंर्गत है। इसलिए उनके आग्रह में से प्रहार नहीं निकल सका। हर प्रकार का अस्वीकार ही मानो प्रबल प्रतिकार बन गया।

विभाजन की राजनीति

विभाजन हुआ देश का और दो अलग सरकारें बनीं। हिसाब के कुछ देना-पावना

निकला। पचपन करोड़ पाकिस्तान को देना आया। विभाजन सद्भाव से तो हुआ न था। उस पर दोनों और बैर-विद्वेष की आग फूट निकली थी। अपनी सरकार ऐसी हालत में देना चुकाए तो क्या यह अपने पैरों पर कुल्हाड़ी मारना ही न होगा? राजनीति इसको स्वीकार नहीं कर सकती। गाँधी जिस नीति को अपने लिए मानते थे, वह थी धर्मनीति। सरकार उनके आशीर्वाद से बनी थी। इसलिए उपवास ठानकर उन्होंने अपनी सरकार को विवश कर दिया कि कर्तव्य-धर्म से न डिगे और पाकिस्तान का पावना चुका।

क्या यह हद ही न थी? मानो सारा देश ही इस पर स्तब्ध रह गया। उस समय गोडसे ने गाँधी की हत्या को ही अपने अन्त:करण की ओर से धर्म माना और परिणाम में फाँसी को अपनाया।

यहाँ उस भेद की कुंजी है जो धर्म और साम्प्रदायिकता के बीच गहरी खायी डालती है। अर्थात धर्म है वहाँ साम्प्रदायिकता रह नहीं सकती और साम्प्रदायिकता हो वहाँ धर्म का प्रश्न ही नहीं है। साम्प्रदायिकता दूसरे शब्दों में सदा धर्म-निरपेक्ष है, और धर्म सदा सम्प्रदाय-निरपेक्ष। यों भी कह सकते हैं कि सम्प्रदायवाद का इलाज उस अध्यात्म में है जो सब धर्मों का सार है।

साम्प्रदायिकता के प्रश्न पर काँग्रेस और गाँधी के विचार एक-से माने जाते हैं। परिणाम उनका एक-सा भले दीखता हो पर मूल में उनमें आकाश-पाताल का अन्तर है। एक में धर्म की निरपेक्षता है, दूसरे में धर्म की ही अपेक्षा है। लगभग उतना ही अन्तर है जितना अपेक्षा और उपेक्षा में हो सकता है।

मैं मानता हूँ कि राजनीति की अधीनता में चलने वाली कर्मनीति को स्वप्रतिष्ठित और धर्मनीति से सर्वथा निरपेक्ष मान लेने का परिणाम साम्प्रदायिकता को और पृथकतावादिता को बढ़ाते जानेवाला ही हो सकेगा।

सम्प्रदाय मत को मनुष्य से अधिक महत्व दे जाता है। मत की रक्षा में मनुष्य की हत्या तक जायज़ हो जाती है। यह धर्म का दोष नहीं है। धर्म के नाम पर मतवाद का नारा देकर ऊँचा उठा देने वाले उन संसारियों का दोष है जो धर्म को अपने नेतृत्व के लिए सीढ़ी बनाए रखना चाहते हैं। सम्प्रदाय का नेता सम्प्रदाय की संख्या के महत्त्व को बढ़ा-चढ़ाकर पेश करता और उसके नाम पर दावे प्रस्तुत करता है, तो वोटों को गिनती के माप के कारण राजनीति उस दबाव के नीचे अवकाश देने को विवश हो जाती है। यह राजनीतिक दुर्बलता देश को बहुत महँगी पड़ रही है।

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ

ऊपर राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ की बात आयी थी। उसको अपने हिन्दुत्व के बारे

में स्पष्ट बन जाना है। हिन्दुत्व को यदि वह नहीं अपना सकता जो सार्वभौम है, गठनात्मक से अधिक आत्मिक है, तो संघ भारत राष्ट्र को एकात्मता देने में सहायक नहीं हो सकता; प्रत्युत उसकी सारी रचनात्मक प्रवृत्ति, जिसका श्रेय अवश्य अनिवार्यतया उसे दिया जाना चाहिए, राष्ट्र की एकात्मता के निर्माण में अन्ततः बाधक ही बनेगी। क्या देश हठात् एक नहीं हो आया था जब गाँधी के नेतृत्व में अँग्रेजी साम्राज्य से उसने असहयोग ठाना था? अली बन्धु और शंकराचार्य एक ही मामले में एक ही कानून की धारा के नीचे साथ-साथ बन्दी बनाए गये थे। वह करिश्मा तब करिश्मा नहीं लगा था। मानो सबके लिए यह एक सहज-सी बात थी।

मैं नहीं मान पाता हूँ कि देश को बाहरी खतरा है। पड़ोसी देश इतने सक्षम नहीं हैं। खतरा है तो अन्दर से है। अन्दर की फूट और कमजोरी ही अगर बाहर के लिए आह्वान हो जाए तो बात दूसरी है। राजनीतिक नेतृत्व अपने-आप में स्थिर नहीं होता। न राष्ट्र को स्थिरता दे सकता है। वहाँ तो उठा-पटक लगी ही रहेगी। लोकतन्त्र में सत्ता-पक्ष और विरोध-पक्ष सन्तुलन बनाए रखते हैं, ऐसा माना जाता है। विरोधपक्ष के रहते सत्ता-पक्ष सीमा से आगे हाकिमाना नहीं बन सकता। ज्यादती होने पर सत्ता-पक्ष का नैतिक बल टूटता है तो अगले निर्वाचन में राष्ट्र विरोध-पक्ष को शासन का दायित्व सौंप सकता है। लोकतन्त्र की इस धारणा में मान लिया जाता है कि प्रबुद्ध राष्ट्र जैसा कुछ है, वह जाग्रत है, और वयस्क मताधिकार की राह से शासनतन्त्र पर वह अपना अंकुश रखता और रख सकता है।

राष्ट्र नीचे अगर है नहीं, अगर भावना की एकात्मता उसके पास नहीं है, कुल मिलाकर संकल्प की दृढ़ता और दिशा नहीं है, तो राजनीतिक दलवादों के बीच इस देश का भविष्य डगमगाया ही रहने वाला है।

विश्व-व्यवस्था में उत्कट ध्रुवीकरण नजर आता है। आमने-सामने प्रतिद्वन्द्विता में खड़ी दो महाशक्तियाँ एक-दूसरे को ललकार ही रही हैं, और भारत की गुटनिरपेक्षता आज के दिन उतनी मुक्त नहीं है। सच यह है कि गुटनिरपेक्षता अब तो शब्द ही है, अस्तित्व उसका नहीं है। स्वाधीन-भारत से आशा की जानी चाहिए कि इस प्रतियोगिता का अंग वह नहीं बन जाएगा, बल्कि उसके उपचार के रूप में दुनिया के आगे खड़ा हो सकेगा। क्या यह सम्भव है? हाँ, सम्भव हो सकता है, अगर देश की बुनियाद वह हिन्दुत्व हो जिसके प्रतीक महात्मा गाँधी थे।

□

साम्प्रदायिकता की समस्या और राजनीति

पुणे, शोलापुर, कोल्हापुर, अहमदाबाद के बाद अलीगढ़, बड़ौदा और कन्याकुमारी। साम्प्रदायिकता का यह रोग भारतदेश के शरीर में कुछ गहरा बैठ गया मालूम होता है। दंगों के रूप में रोग यह जब-तब फुटता ही रहता है। उपचार के लिए बताया जाता है—सेक्युलेरिज्म, धर्म-निरपेक्षता। लेकिन यह इलाज कारगर होता नहीं दीखता। उल्टे लगता ऐसा है कि धर्म की निरपेक्षता के आधार पर राजनीति ज्यादा आसानी से दिमाग को पकड़ लेती है। और अपने-अपने पथ मतवाद के आग्रहों को उभारकर नये-नये उत्पात रच चलती है।

धर्म मेल-मिलाप बढ़ाता है। फिर धर्म के नाम पर उपद्रव होता है तो क्यों? इसके उत्तर के लिए प्रश्न की गहराई में जाना होगा। गहराई तत्त्व की और इतिहास की होगी।

हिन्दू के साथ साम्प्रदायिकता असंगत और बेमेल है। हिन्दू उस अर्थ में कोई एक पन्थ या मतवाद तो है नहीं। हिन्दू के अन्तर्गत जैन वैसे ही आ जाता है, जैसे शैव, या शाक्त! किन्तु जैन पन्थ अलग है और उसका अपना एक विशिष्ट तत्त्ववाद भी है। हिन्दू के अन्तर्गत सैकड़ों ही जाति—उपजातियाँ हैं इसलिए यों भी उसका एक सम्प्रदाय नहीं हो सकता, पर इस्लाम के साथ यह बात नहीं है। उसकी अपनी एक निश्चित जमात है। पिछले दिनों तो उसे अलग कौम ही मान लिया गया। उस आधार पर भारत का विभाजन हुआ और काँग्रेस के धर्मनिरपेक्ष जन इसमें भागी हुये। सिर्फ गाँधी अलग और विरुद्ध रहे, लेकिन वह तो काँग्रेस के चार आना सदस्य भी नहीं थे।

एक गाँधी ही धर्म के आधार पर अलग राष्ट्र मानने की विवशता से मुक्त रह सकें, तो इस कारण कि वह धार्मिक थे। धार्मिक थे अर्थात राजनीतिक नहीं थे। दूसरी ओर मुस्लिम लीग के वाहिद नेता कायदे आजम जिन्ना सौ फीसदी राजनीतिक थे। उनके समक्ष इन्डियन नेशनल काँग्रेस के नेता जवाहरलाल नेहरू आदि भी सौ फीसदी राजनीतिक थे। उनके समय इंडियन नेशनल काँग्रेस के नेता

जवाहरलाल नेहरू आदि भी यों सौ टंच राजनीतिक थे। राजनीतिक अर्थात धर्म-निरपेक्ष।

धर्म और सम्प्रदाय

धर्म को लेकर सम्प्रदाय खड़ा हो जाया करता है। पर इस साम्प्रदायिक को एक ओर इकट्ठा रखने वाला होता है, मत। मतवाद आत्मिक या आन्तरिक की जगह शारीरिक और लौकिक हो जाता है और उसके आसपास दुनियादारी इकट्ठी होने लगती है। उसमें आग्रह उपजता है जो आपसी रगड़-झगड़ उत्पन्न करता है।

साम्प्रदायिकता भारत में प्रमुखत: हिन्दू बनाम मुस्लिम वाली समझी जाती है, पर हिन्दू में तो हिन्दू के रूप में किसी के मुकाबले खड़े होने की जरूरत ही नहीं हुई। हिन्दू शब्द की यह कमजोरी मानी जाती है। राजनीतिक दृष्टि से चाहे हो भी यह कमजोरी, पर ठीक यही उसकी शक्ति और महिमा भी है। अर्थात उस शब्द पर कोई बाहरी सीमा नहीं लादी जा सकती। उसमें नए-नए देवता शामिल होते गये हैं। प्रकार-प्रकार की उपासनाएँ हैं। तरह-तरह के मठ-मन्दिर है। हिन्दू धर्म की यह विशेषता रहने दी गई होती, तो मस्जिद, गिरिजा भी उसमें उसी तरह स्थान पा सकते थे। इंजील और कुरान भी मान्य ग्रन्थों की गिनती में आ सकते थे। पर वह क्रम रुक गया।

प्रक्रिया वह चल रही थी। आपसी टंटों-झगड़ों के नीचे भी हठात एक सम्मिश्रण पनपता जा रहा था। मुसलमांन आया अगर बाहर से तो उस देश की धरती में रच-पचकर यहाँ का हो चला था। आपसी व्यवहार में से मिली-जुली संस्कृति और भाषा उग रही थी। यह सब अनिवार्य या और नैसर्गिक था। लेकिन बींच में भंग आ गया।

वह भंग आया बहुत कुछ अँग्रेज के कारण। 1857 की क्रान्ति में राजनीतिक स्तर पर हिन्दू-मुस्लिम भेद-भाव जैसे रह ही नहीं गया था। लेकिन फिर अँग्रेज के लिए जरूरी हुआ कि यह भेदभाव रचे और उपजाए। उसको तो इस देश और धरती को अपना मानना था नहीं। देश उसका बाहर था और यहाँ से खींचकर उसे अपने को और अपने देश को धन-दौलत से भर लेना था। वहाँ से इस भेद को सींचा गया और आखिर वह दिन आया कि मुस्लिम को खुद सूझने लगा कि अल्पमत होकर वह अगर हिन्दुस्तान में खैरियत से है तो अँग्रेज की बदौलत। उसमें डर डाल दिया गया कि अँग्रेज चला जाएगा तो उसका क्या होगा। चुनाँचे मुस्लिम लीग और नेशनल काँग्रेस में सीधी बात असम्भव हो

गयी। अँग्रेज का मुंसिफ के रूप में मानना जरूरी हो गया। बँटवारा हुआ और उसका निर्णायक अँग्रेज बना!

मतभेद अनिवार्य है

मतभेद तो होते हैं और हुआ करेंगे। तेज होने पर उन पर लड़ाई भी छिड़ सकती है, लेकिन लड़ाई का अन्त आता है, और अन्त अक्सर सुलह से होता है, जिसको हार कहते हैं वह भी सुलह का ही रूप हुआ करता है। कभी ऐसा तो हो नहीं सकता कि कोई पक्ष पूरा का पूरा नेस्तनाबूद कर दिया जाए। आखिर दुनिया बहुत कुछ एक है और विज्ञान और उद्योग की राह से आपस में सब मुल्क निकट आ गये हैं और राष्ट्रसंघ जैसी संस्था मानव जाति के पास हो सकी है तो यहाँ तक आने में मानवजाति को कितनी लड़ाइयाँ लड़नी पड़ी हैं।

पर यह मौका नहीं मिला। अँग्रेज था और उसका आसरा था। गाँधी ने कहा कि अँग्रेज को जाने दो। फिर आपस में तुम उलझोगे तो आखिर में सुलझ भी लोगे। तीसरे के भरोसे रहने से तुम लोग दो होगे, तो सदा-सदा के लिए दो ही बने रहोगे।

खयाल था कि मुंस्लिम होमलैण्ड के तौर पर पाकिस्तान बन जाएगा तो चलो एक झटके से समस्या सदा को हल हो जाएगी। पर क्या समस्या तनिक भी हल हुई है? क्या वह गहरी और कायमी ही नहीं होती चली गयी है?

मैं मानता हूँ कि साम्प्रदायिकता की इस गम्भीरतम समस्या का अन्त राज की नीति में से नहीं पाया जा सकेगा। राज की नीति क्या? यही न कि अल्पमत को सुरक्षा मिले। आवश्यक हो तो विशेष अधिकार भी मिले और बहुमत को किसी पर हावी न होने दिया जाए। अल्पमत के अधिकार, बहुमत के केवल कर्तव्य। इसी प्रकार सामाजिक न्याय की रक्षा होगी और सन्तुलन कायम रहेगा। राजनीति जो चल रही है और अल्पमत को सदा यह कहते रहना पड़ता है कि हम असुरक्षित है। सुरक्षा अधिक अर्थात आरक्षण चाहिए। अल्पमत बनाम बहुमत का वातावरण चहका रहता है। इस वातावरण में हर समुदाय की तबीयत मचलती है कि वह भी अपने को एक अल्पमत के रूप में क्यों न खड़ा करे? लोकतन्त्र है और वयस्क मताधिकार है। अपनी वोट एक और इकट्ठी रखो और इस आधार पर कसकर सौदा करो और सत्ता में अपना दखल रखो, और हर फिरके और हर जाति में दुनियासाज नेतृत्व खड़ा हो रहा है, जो इस पैंतरे का खयाल रखता है और उस बुनियाद पर अपनी-अपनी राजनीतिक सत्ता का निर्माण करता है। जिस लोकतन्त्र की व्यवस्था के नीचे आज हम जी रहे हैं। उसका असली चरित्र और स्वरूप कुछ यह है इसमें सिर्फ हिन्दू है जिसका अपना कोई संगठित समुदाय

नहीं है, फिर भी वह बहुमत माना जाता है, और सदा घाटे में रहता है। हरिजन है, अनुसूचित वर्ग और जातियाँ हैं। सब ये अल्पमत हैं, आरक्षित हैं, पिछड़े हुए हैं, इसलिए उन्हें मात्रा से अधिक दो। सत्ता अगर वोटों से बनती है तो वोटों का लेखा-जोखा सही रखना सबसे कुशल राजनीति है।

पृथक भाव में वृद्धि

भारत में इस परिस्थिति में हम देख रहे हैं कि तरह-तरह के नामों पर पृथकभाव बढ़ता ही जा रहा है। इस अलहदगी को हमने एक समय उचित और वैध ठहराया था। 'सेपरेट इलेक्टोरेट' का प्रावधान किया था। अब भी आरक्षित निर्वाचन क्षेत्र है। जोर है जातीयता पर, साम्प्रदायिकता पर। धर्मनिरपेक्ष सारी राजनीति अन्दर ही अन्दर उस भेदभाव और पृथकभाव को बढ़ावा देती है। बढ़ावा देती है और सत्ता पाकर फिर उसी से अपने को हैरान सत्ता पाकर फिर उसी से अपने को हैरान और परेशान भी अनुभव करती है।

आवश्यकता है अब उस तत्व की जो इस अलहदगी की चेतना को कम करें। कम क्या घुलाकर समाप्त कर दें। यह काम राज की नीति के बस का नहीं। यह काम सांस्कृतिक है और केवल उनके बल का है जो सत्ता को सामने रखकर नहीं जीते हैं। हम भूल गये हैं सेवा की राजनीति को। उसी के बल पर हमने स्वराज पाया था। स्वराज आते-आते राजनीति के सिर फिर गये और सेवा से मुँह मोड़ सत्ता को उन्होंने अपना लेना चाहा, तो सत्ता मिली, पर दो टूक होकर मिली। दो टुकड़े चलो हो गये, लेकिन वही सत्ता की राजनीति चलती चली जाएगी तो भारत और भी टुकड़े-टुकड़े हो रहे तो इसमें विस्मय नहीं है।

□

पहले उसे समझो जो जगत का धारक है

रामनवमी और महावीर जयन्ती की तिथियाँ इतनी निकट रहीं कि जगह-जगह इनके उत्सव एक साथ मनाए गए। भगवान राम ने दुष्टों का दमन किया और दण्ड के रूप में रावण का वध किया। भगवान महावीर का बल अहिंसा पर इतना रहा कि सूक्ष्म जीव की रक्षा को आवश्यक माना गया। राम सतत् प्रवृत्त रहे, तीर्थंकर वर्धमान महावीर कहलाये तो मन के अन्दर के युद्ध की जय के कारण। वहाँ शस्त्र को स्थान न था। उस युद्ध के लिए तप-त्याग की आवश्यकता थी। युद्ध में रावण के पराभव के बाद राम ने राज्य सँभाला और मुकुट धारण किया। महावीर सर्वथा अकिंचन होकर कैवल्य की ओर बढ़ते गये।

हाँ, अन्तर है। लेकिन अन्तर नहीं है। कारण, दोनों का सन्देश एक है और वो सन्देश यह है कि जगत का धन, वैभव, राजपाट वे चीजें नहीं हैं जो मनुष्य की अभीष्ट हों। मनुष्य का गन्तव्य और प्राप्तव्य कुछ और है।

इस कुछ और का स्थान प्रस्तुत मानव जीवन में से मानो गायब हुआ जा रहा है। जो है, जहाँ है, जीते जी उसे जितना ही समेट लेना, बटोर लेना है। आगे के बारे में लोग जो भी कहें, पर उसका ठीकठाक नहीं है। मृत्यु के बाद की कथा कोई स्वयं कहने नहीं आया। वह सब काल्पनिक है, विश्वसनीय नहीं है।

इसलिए संसार को ही आदि और अन्त समझकर हमारी प्रवृत्तियाँ चल रही हैं और राजनीति का बोलबाला है। जो यहाँ की बात के आगे वहाँ की भी बात करता और सोचता है, वह 'धर्म' अपवाद सा बना जा रहा है।

महापुरुषों की जयन्तियाँ

फिर भी धर्म प्रवर्तक महापुरुषों की जयन्तियाँ धूमधाम से मनायी जाती हैं और उनमें शामिल होकर धन्यता अनुभव करने वाले लोगों की संख्या कम होती नहीं दीखती।

यह विरोधाभास क्यों? धर्म में रुचि कम नहीं है, उधर कर्म के प्रति भी रस और आग्रह कम नहीं है। लेकिन कर्म के क्षेत्र में धर्म की जगह नहीं मानी जाती और धर्म का अपना ही एक अलग कर्मकाण्ड होता है। जागतिक और लौकिक प्रश्नों का उससे कोई वास्ता नहीं है। किन्तु जीवन तो अखण्ड है। सामाजिक जीवन में भी नहीं हो सकता कि धार्मिक और कार्मिक दोनों आयाम न हों, लेकिन यह दोनों यदि अलग-अलग रह जाएँ तो मानना चाहिए कि जीवन को एकीकरण प्राप्त नहीं हुआ है। एक शब्द का इधर काफी प्रचलन हुआ है, वो शब्द है 'एलीएनेशन'। अर्थात् आदमी अपने से अलग हुआ जा रहा है। अब मनुष्य समाज में फटाव व छितराव बढ़ रहा है। बढ़ता हुआ यह अलगाव भारत राष्ट्र में ही नहीं, सब जगह समस्या उत्पन्न कर रहा है।

भगवान राम के चरित्र को हम श्रद्धापूर्वक स्वीकार करते हैं, प्रश्न नहीं करते। पर आधुनिक राजनीतिक मानस प्रश्न उठा सकता है कि तुम्हारे यह राजकुमार राम कैसे क्षत्रिय पुत्र हैं कि परिवार की स्त्रियों के षड्यन्त्र के सहज शिकार बन जाते हैं। स्त्रैण पिता के आदेश पर चुपचाप अपना अधिकार छोड़ वनवास के लिए निकल पड़ते हैं। इस पोच दब्बूपन के लिए ही क्या हम उनको प्रशंसा और पूजा का पात्र मानें?

निश्चय ही वनगमन के लिए उद्यत राम में अपने किसी अधिकार की चेतना नहीं थी। अधिकार उन्हें केवल अपने कर्तव्य में ही दिखता रहा होगा। अधिकार की आज की छीन-झपट और दावेदारी के बीच केवल कर्तव्य और धर्म की बात ऊपर से अच्छी-अच्छी लगने पर भी भीतर से निरर्थक लग आती है, तो इसमें आज की मानसिकता को दोष नहीं दिया जा सकता। दोष इसलिए नहीं दिया जा सकता कि जिस ठोस आर्थिक और वैज्ञानिक आधार पर हम जी रहे और हमारा समाज जी रहा है, उसमें भावुकता के लिए स्थान नहीं है। भावुक पिछड़ जाता है। हमें आगे बढ़ना है, और कर्म तत्परता को लेकर ही आगे बढ़ा जा सकता है। इस कर्म-तत्परता में उन सब तत्वों का विचार असंगत हो जाता है जो कर्म को मन्द करते प्रतीत होते हैं। नैतिक मूल्य सिवाय इसके और करते ही क्या हैं? साध्य की सिद्धि हो तो सब साधन का समर्थन क्या इसी में फलीभूत हो जाता है।

इसी प्रकार भगवान महावीर राज्य के दायित्व से किनारा लेकर वन की ओर मुँह करते हैं। उनको तो पिता के आदेश का भी बहाना नहीं है। राज्य के पद से क्या बहुत से जनों का बहुत कुछ उपकार नहीं किया जा सकता? क्या अनेकों का दुख निवारण नहीं किया जा सकता था? उस सब शक्य सुकृत से मुँह मोड़ना आखिर किस लिए, क्या यह सामने फैला संसार सिर्फ इसलिए है

कि इसको पीठ दे दी जाए, या इसके प्रति हमारा कोई दायित्व भी है।

इत्यादि प्रश्न कर्म की व्यग्रता में उठाये जा सकते हैं। और मान लिया जा सकता है कि धर्म से कर्म की हानि ही होती है। यों धर्म-पुरुष श्रद्धा के पात्र हैं; क्योंकि आदर्श की साधना में उन्होंने अपने को नहीं बचाया। सब कष्ट सहे, मगर वे डिगे नहीं। अन्त में कुछ वह प्राप्त किया जिसे मोक्ष कहा जा सकता है। पर हम यथार्थ में रहनेवाले प्राणी उसी को किनारा देकर 'आदर्श' की साधना में लग जाने वाले पुरुषों का अनुगमन कैसे कर सकते हैं? आदर्श का हमारी श्रद्धा में स्थान है, पर यथार्थ यथार्थ है और हमें रहना उसी में है, जूझना उसी से है।

रामराज्य का मूल

पर राम 14 वर्ष के वनवास के अनन्तर यदि राजपद पर आये तो ही क्या यह सम्भव न हुआ कि प्रजा के मनोभाव को देखकर उन्होंने सीता को निवार्सित कर दिया। यह क्षमता क्या उन राम में हो सकती थी जो अधिकार के लिए लड़ते और उस राह शासन के आसन पर आ डटे होते। 14 वर्ष के वनवास के अनुभव ने राजन्यता के दर्प को राम में पूरी तरह समाप्त ही न कर दिया होगा। तभी तो सम्भव हुआ कि ''राम-राज्य'' आज तक सब प्रकार के राज्य-व्यवस्थाओं के लिए, चाहे वे हों डेमोक्रेटिक या सोशलिस्ट या मोर्नाकिस्ट, आदर्श उदाहरण बना हुआ है। भारत के अनन्य नेता महात्मा गाँधी ने जो किया भारत पर राम-राज्य उतार लाने के स्वप्न के प्रयत्न में ही किया। इस राम-राज्य की टेक पार्लियामेन्ट्री डेमोक्रेसी का समर्थन करते समय भी उनसे नहीं छूटी थी।

भगवान महावीर की तपस्या पूर्ण हुई, आत्मानुसंधान सार्थक हुआ, तो संसार के प्रति समझी जानेवाली उनकी विमुखता एक साथ सम्मुखता में परिवर्तित हो गई। तब आत्मलाभ में जो उन्होंने पाया था सब संसार के प्रति लुटा दिया। वही है जैन धर्म अर्थात विजय का धर्म।

''कर्म'' के सम्बन्ध में परम धर्म ग्रन्थ गीता मानो हमारे व्यामोह को दूर कर देता है। अर्जुन मूढ़ हो बैठा था। सामने से ललकार पाकर क्या उसमें भय हुआ था, नहीं, तनिक भी नहीं। पर एक प्रश्न का दंश मन में हो उठा था कि यह सब किसलिए 'युद्ध किसलिए' राज्य तो राज्य किस लिए और यह ठीक है कि विचार कर्म के स्रोत को मानो सुखा देता है। कर्म की प्रेरणा कहाँ से आती है, काम्य की वासना में से ही तो, और विचार पार्थ को डस लेता है। तब गीता मुखरित होती है। परिणाम होता है कि अर्जुन अपना गांडीव लेकर उठ खड़ा होता है। यह कर्मोदयता अर्जुन में किस विधि जगाई जाती है? आश्चर्य होता है इस पर कि कर्म चेष्टा उसमें जागती है 'अकर्म' की शिक्षा द्वारा। तुम अपने को कर्त्ता

मानते हो यही भ्रम है। भ्रम यह टूट जाए तो कर्म अखण्ड और उत्तीर्ण बनता है।

एक ही सन्देश

मैं मानता हूँ कि भगवान राम, भगवान महावीर, भगवान कृष्ण सबका एक ही सन्देश है और वह यह कि पहले उसको समझो जो जगत को धारण करता है। एक साथ जो उसे थाम रहा और चला रहा है। वह धर्म, उस धर्म का बोध प्राप्त करो। फिर धर्मपूर्वक जो भी कर्म होगा वह न तुम्हारे लिए, न किसी के लिए बन्धन उपजाएगा। सबके लिए वह मुक्तिकारक होगा।

मुझे प्रतीत होता है कि यदि धार्मिक पर्वों को हमें अधिक प्रासंगिक और उपयोगी बनाना हो, तो धूमधाम से ही हम सन्तुष्ट न हो जाएँगे, बल्कि उन सन्त पुरुषों से आज की हमारी कर्म-प्रक्रिया के लिए जो आदेश और सन्देश प्राप्त हों उसको जीवन व्यवहार में उतारने का प्रयास करेंगे।

□

अर्थ के साथ नैतिकता का भी योग आवश्यक

हाल में ही घटे कुछ प्रसंग हैं जिनसे आज की राजनीति की दशा और दिशा का संकेत मिलता है। कुछ मननशीलों का विचार है कि वे खतरे की घण्टी साबित हो सकते हैं।

राजनीति में आज जो भी स्थिरता है वह श्रीमती इन्दिरा गाँधी के व्यक्तित्व और नेतृत्व के कारण। विरोध अव्यवस्थित और ढीला है। काँग्रेस (इ) पार्टी इन्दिरा जी से अलग विशेष महत्व नहीं रखती। वह उनसे बाहर नहीं है, और आदेश आवश्यक नहीं है, उनकी ओर का संकेत ही दल के अन्तरंग अनुशासन के लिए काफी होता है। यह स्थिति किसी अपेक्षा में शोचनीय भी हो सकती है, लेकिन उससे राष्ट्र को और राज्य को एक स्थिरता मिलती है जो इस देश की पहली आवश्यकता है।

किन्तु इधर मेनका और अन्तुले प्रकरणों ने स्थिति में कुछ अन्तर ला दिया है। मानो शक्ति के व्यूह में हल्की दरार पड़ गयी है। मेनका गाँधी सामने हैं, पर वह स्वयं नहीं है। संजय के साथ राजनीति में उभरे कुछ असन्तुष्ट युवजनों का एक वर्ग है जो राजीव गाँधी के द्वारा संजय के चित्र व स्मृति को अस्तमान देखकर असन्तुष्ट ही नहीं, बल्कि अपने को वंचित अनुभव करते हैं। अकबर अहमद एकाकी नहीं हैं। यह लखनऊ काँग्रेस से स्पष्ट हो जाता है। इस सिलसिले में और भी कई जगह खुली बैठकें की जाने की घोषणा है और तनिक सन्तोष की बात है, कि यह भी समाचार है, कि मेनका गाँधी उनमें सम्मिलित नहीं होंगी।

उत्तराधिकार का प्रश्न

उत्तराधिकार का प्रश्न सभी परिवारों में आता है। पर सम्पत्ति का उत्तराधिकार। विवाद हो तो उसके लिए अदालत है। उसमें कोई राजनीतिक पहलू नहीं होता। बात आपसी और पारिवारिक होती है। यदि इस काण्ड ने राजनीतिक अनुपात ग्रहण कर लिया तो क्या यह माना जाए कि यह उत्तराधिकार गत और जीवित

भाइयों के बीच, निरापारिवारिक न था, कुछ अधिक था। लोकतन्त्र में राजकीय उत्तराधिकार तो होता नहीं, क्योंकि राजा ही नहीं होता। फिर यदि विवाद यह रूप पकड़ लेता है तो मन में आ सकता है कि अगर पुराने राजघराने खत्म हुए, तो क्या नया कोई राजघराना पैदा हो रहा है।

इन्दिराजी का नेतृत्व उनका अर्जित ही माना जाएगा। शुरू में अनुमान हो सकता है कि इन्दिरा नहीं, नेहरू की पुत्री प्रधानमन्त्री बनी हैं। पर यह मान्यता कसौटी पर परखी गयी। देश ने एक बार उन्हें आसन से अपदस्थ करके भी देख लिया, लेकिन अन्त में पाया गया कि उनके व्यक्तित्व की तुलना में, योग्यता और राजनीतिक निपुणता में कोई दूसरा नहीं ठहरता। उनकी इस शक्ति की बुनियाद को स्वयं परिवार की ओर से क्षति पहुँचे, तो इसे राजनीतिक दुर्घटना ही कहा जाएगा।

किन्तु परिवार से बड़ा और अधिक प्रश्न पार्टी का है। काँग्रेस पार्टी यदि उनके हाथ का खिलौना बनी रहती है तो स्वयं पार्टी की अनन्य नेता इन्दिरा गाँधी का इसमें हित नहीं है। पार्टी को नीचे से समर्थ और व्यक्तित्व-सम्पन्न बनाये रखने का दायित्व कर्त्तव्य रूप में उसकी नेता पर आ जाता है, यदि उन्हें प्रधानमन्त्रित्व का आधार व्यापक और लोकतान्त्रिक रखना अभीष्ट हो। इन्दिराजी खुलकर स्वीकार करती हैं, और इसमें वह पूरी तरह सही हैं, कि भारत-जैसे विशाल देश में लोकतान्त्रिक व्यवस्था ही काम कर सकती है। केन्द्रित या सैनिक शासन दूसरी जगह फैल जाए, भारत की न प्रकृति, न आकार-प्रकार के वह अनुकूल हो सकता है।

किन्तु, मेनका के द्वारा यदि परिवार की ओर से, तो अन्तुले के कारनामों के जरिए मानों पार्टी की तरफ से, उनकी शक्ति के आधार में छिद्र पैदा किया जा सकता है।

अन्तुले की कार्रवाइयाँ

अन्तुले महाशय अपने को अहमनीय मानते लगते हैं। मुख्यमन्त्री के 'आसन' से उन्हें हटना पड़ा, बम्बई हाईकोर्ट के निर्णय के बाद। हटाया पार्टी नेतृत्व ने ही था, लेकिन प्रतीत होता है कि इससे उनका अपना भरोसा नहीं टूटा। उनकी गतिविधियों में विशेष अन्तर नहीं आया। उनके बाद महाराष्ट्र के नये मुख्यमन्त्री उनसे स्वाधीन हों, यह उन्हें रुचिकर न हो सका। कार्रवाइयाँ जारी रहीं और महाराष्ट्र की राजनीति इतनी डाँवाडोल हो गयी कि काँग्रेस की उच्चकमान को श्री अन्तुले और उनके समर्थक तत्त्वों को चेतावनी देना आवश्यक मानना पड़ा है।

स्पष्ट है कि इन और ऐसे अवसरों का लाभ विशेष पक्ष उठाना चाहेगा। भारतीय जनता पार्टी और संघ ने लखनऊ काँग्रेस के पीछे तनिक भी अपना हाथ होने से इन्कार किया है, लेकिन दमित महत्त्वाकांक्षा व्यक्ति को किसी भी हद तक ले जा सकती है। अचरज न होगा उनके स्वभाव को देखते हुए यदि अन्तुले भीतर-ही-भीतर अकबर अहमद अथवा दूसरे उस प्रकार के तत्वों को उभारने में अपनी योग्यताओं का योग देना चाहें। किन्तु उन्हें ध्यान रहना चाहिए कि जिस वृक्ष पर वह बैठे है उसी की जड़ में कुल्हाड़ी मारना कोई बड़ी दूरदर्शिता या बुद्धिमानी नहीं है।

कुल मिलाकर संकेत शुभ नहीं हैं। राजनीति अपने धरातल से खिसकती हुई नीचे-से-नीचे आती जा रही है। सेवा की राजनीति का तो शायद समय गया। पराये राज में कदाचित वह अनिवार्य रही। तब सत्ता के प्रत्यक्ष लोभ के लिए प्रेरणा में स्थान न था। पर पराये राज के हटने और हाथ में अपने राज के आ जाने के साथ ही सेवा का स्थान सत्ता ने ले लिया। राजनीतिक-मानस के लिए यह सब अस्वाभाविक भी न था। काँग्रेस के नेता तपे और परखे जन थे। इसलिए कुछ काल राजनीति भरसक रचनात्मक रही। पर ज्यों-ज्यों समय बीता मूल्यों में अन्तर आता गया। प्रगट होता गया कि सत्ता बनाने और बचाने के लिए नैतिक मूल्य साधक नहीं बाधक ही होते हैं। निर्वाचन की पद्धति लोकतन्त्र की रीढ़ है, उसके द्वारा राजव्यवस्था जन-सामान्य के नैतिक बल से संपुष्ट बनती है। पर आवश्यक शर्त यह है कि जन-सामान्य के मानस में नैतिक मूल्यों की आस्था बनी रहने दी जाए। स्वराज के बाद राजनीति का बोलबाला रहा और धर्मनीति अपदस्थ हो गयी। कर्म-ज्वर आया, कामना और महत्वाकांक्षा की ओर से। उसके द्वारा जिस कर्म-नीति का प्रतिपादन और प्रचलन हुआ, उसका स्वरूप अब से तनिक नैतिक के विरोध में आर्थिक था। आर्थिक पक्ष अप्रधान नहीं है और राजकर्मी पर दायित्व आता है कि वे आर्थिक सुव्यवस्था पर पहला ध्यान दें। कोई भूखा न रह पाये, न बेरोजगार, न निराश्रित। लेकिन आर्थिक योजनाएँ इस परिणाम तक सब तक कैसे पहुँच सकती हैं कि जब तक सामान्य व्यवहार में नैतिक मानमूल्य की सुरक्षा का ध्यान न हो? किन्तु जीवन दृष्टि के ही नितान्त आर्थिक बन जाने के अनन्तर अर्थ के साथ नैतिकता का योग क्षीण और समाप्त ही होता चला गया।

जनता राज की भूमिका

हम याद कर सकते हैं श्रीमती इन्दिरा गाँधी के पराभव का समय, जब जयप्रकाश नारायण भ्रष्टाचार की बात को लेकर आन्दोलन में उठ खड़े हुए थे, पर विकल्प में जो जनता राज प्राप्त हुआ, वह क्या जीवन-दृष्टि में तनिक भी अन्तर ला सका?

मानो राजनीति और राजसत्ता तब भी सबसे अभीष्ट वस्तु बनी रह गयी। यदि मूल में राजसत्ता से ऊपर कोई और अभीष्टतर तत्त्व रह ही नहीं जाता तो लोकतान्त्रिक वयस्क मताधिकार के आधार पर निर्वाचन की पद्धति प्रवीणों के हाथ हथकण्डा मात्र रह जाती है। तब पैसे की बन आती है और छोटे-छोटे गुट, नेताओं और जातीय सरगनों और सरपंचों की। ऐसे लोकतंत्रात्मक व्यवस्था, जो सबसे विश्वसनीय होनी चाहिए थी, अपना ही विद्रूप बन जाती और दुर्गन्ध फैलाने लगती है। ऊपर जिन संकेतों की बात कही उनसे लगता है कि कहीं हम मर्यादित, विधि-सम्मत राजव्यवस्था से नंगी शक्ति के राज की ओर तो उल्टे नहीं चले जा रहे हैं? आशा है, विचारशील जन ध्यान देंगे और नीचे की ओर खिसकती राजनीति को कुछ संस्कार और अंकुश देने का उपाय निकल सकेगा। इस आवश्यकता पर राजनीतिक दल-नेताओं का ध्यान जाना और जरूरी है, विशेषकर पदस्थ दल का।

□

प्रार्थनापूर्ण हृदय ही बिखराव का उपचार

"जो मनुष्य प्रार्थनापूर्ण हृदय के बिना सांसारिक कर्म करेगा वह स्वयं दुखी होगा और संसार को भी दुखी करेगा।"

गाँधीजी के इन शब्दों ने मुझे चौंका दिया। इन शब्दों में मानो सांसारिक कर्म-नीति का समूचा आदर्श मन्त्र समा जाता है। 'प्रार्थनापूर्ण हृदय' और 'सांसारिक कर्म' इन दोनों में कोई मेल नहीं दिखता होगा। पर यह वाक्य कहता है कि यदि वह योग नहीं है तो कर्म सब तरफ दुख उपजाएगा। दुःख अपने लिए और सबके लिये।

सबसे दायित्वपूर्ण सांसारिक कर्म की संज्ञा है, राजकरण। उसका व्यापक प्रभाव पड़ता है, लाखों के सुख-दुख से उसका सम्बन्ध रहता है। राजनीतिक यानि सत्ता के लिए संघर्ष करने वालों, नहीं तो सत्ता पर पहुँचे हुए जनों द्वारा हुआ कर्म। काम अधिकांश वह शासनिक-प्रशासनिक हुआ करता है। जोड़-तोड़ की युक्ति रहती है उसके पीछे उठाने-गिराने की। क्या ऐसा काम प्रार्थनापूर्ण हृदय लेकर हो भी सकता है? और ठीक इसी जगह मानो चुनौती और चेतावनी है समूची राजनीति को और राजनीतिक पुरुषों को।

जनता की ओर से चुने जाकर उनके दुःख-दर्द को दूर करने का दायित्व सँभालकर वे ऊपर अधिकार के पदों पर पहुँचते हैं। निश्चय ही वे वहाँ जाकर जो भी करते हैं जनहित की दृष्टि से ही करते हैं। वह दल में बंटे होते हैं, लेकिन प्रत्येक दल सौगन्ध खाता रहता है कि उसे लोकहित ही अभीष्ट है। कोई कारण नहीं कि इसमें शंका की जाए। लेकिन काम की कसौटी, जैसा ऊपर के सम्बोधन में बताया है, है हृदतभाव। क्या योजना बनाते समय और उन योजनाओं को कार्यरूप में परिणत करने के समय हृदय उनका प्रार्थनापूर्ण रहता है? यदि नहीं तो हितकर काम भी हित नहीं करेंगा, दुःख काटने की जगह, दुःख बढ़ाएगा।

अब प्रत्येक अपने से पूछ सकता है। कसौटी कठिन है। इतनी कठिन है कि यदि उसका पालन किया जाए तो समूची राजनीति को ही नया संस्कार मिल

आएगा। सत्ता की वह रहेगी नहीं, सेवा की राजनीति हो आएगी। ऐसा होते ही देखा यह जाएगा कि दल यदि रहते भी हैं तो वे परस्पर पूरक हो आते हैं। उनमें आपसी मनभेद समाप्त हो जाता है—मतभेद सौम्य रहता है, कटु नहीं बनता। न किसी की स्वतन्त्रता पर सीमा ही लाता है। इस अहिंसक राजनीति का दूरगामी परिणाम यह भी आ सकता है कि देश का शासन स्वावलम्बी और मित्तव्ययी होता जाये। तब शान-शौकत का प्रदर्शन समाप्त हो चुका होगा, नेता और जनता के बीच का अन्तर मिट जाएगा। नागरिक शासित अनुभव करने के बजाय शासन में अपने को सम्भागी अनुभव करेगा। इस प्रकार आधार में नागरिक बल में विश्वास हो जाने पर सैन्य बल बढ़ाते जाने की आवश्यकता राज्य के लिए कदाचित इतनी न रहेगी। कारण, समय पर 60-70 करोड़ पूरे भारतवासी देश की सुरक्षा के लिए उद्यत मिलेंगे। लोकतन्त्र में सैन्य बल का स्थान अन्त में नागरिक बल से दोयम ही होता है। ऐसा होते ही हम पाएँगे कि राज्य और राष्ट्र दो नहीं हैं। स्वराज्य राजनगरी दिल्ली में सिमटा हुआ नहीं है, न प्रादेशिक राज्यों की राजधानियों में। वह फैलकर गाँव-गाँव में पहुँच रहा है। कोई खास अलग राजन्य वर्ग नहीं है, जो अपने को सुविधा में पाता हो, यानि उससे अलग दूसरा सामान्य वर्ग जो दुविधा में ही जीने को शेष रह जाता है।

यह बातें स्वप्न जैसी लग सकती हैं, लेकिन राजनीतिक जन अपने हृदय को प्रार्थनापूर्ण बना लेते हैं, तो देखते-देखते यह सब कुछ घटित घटना में दीख आ सकता है।

तब बहुत परिवर्तन आ जाएगा हमारी रीति नीतियों में, हमारे रहन-सहन में। अर्थ रचना और समाज व्यवस्था के साथ कृषि और उद्योग क्षेत्रों के आपसी सम्बन्धों में और सन्तुलन में।

पहली बात तो प्रार्थनापूर्ण हृदय से यह होगी कि हम हर दूसरे से काम निकालने के बजाय उसके काम आने की भाषा में सोचने लगेंगे। ऐसा होने पर नेता यह सह न सकेगा कि जनता से वह बढ़-चढ़कर स्टाइल में रहे। अपनी विशिष्टता उसे अखरेगी और सामान्य से सामान्यतर बनते जाने के सिवा उसे सन्तोष न होगा। इसका प्रभाव चारों ओर पड़ेगा। समाज-जीवन के मूल्य बदलेंगे और मालूम होगा कि समाज में जो मान्य है, वह सेवक हैं, और जो अब तक अमान्य माने जाते रहे हैं वे सेव्य हैं। दबाव फिर ऊपर का नीचे पर नहीं पड़ेगा, बल्कि नीचे का उभार ऊपर को सम्भालेगा। 'बैकवर्ड' 'शेड्यूल्ड' शब्द उड़ जाएँगे और समाज का उच्चावभाव नष्ट होगा। प्रार्थना के सहारे के बिना समाज में से श्रेणियाँ मिटने वाली हैं नहीं। बल्कि प्रशासन की सुविधा के लिए वे और आवश्यक बनती जाएँगी।

हम डेमोक्रेसी को अब तक राजनीतिक भाषा में समझते आये हैं। ऐसे निर्वाचन की पद्धति हमारे लिए पर्याप्त बनी रह जाती है। शिकायत रहती है कि क्या यह पार्टीसिपेटिव डेमोक्रेसी है? लोकराज की राजकीय धारणा हमेशा ही अपर्याप्त बनी रहेगी। हम देखेंगे कि उस राह राजा-प्रजा का अन्तर मिटता नहीं है, कम तक नहीं होता है। आदर्श को संविधान के शब्दों में बिठाया तो गया है, लेकिन वहाँ से वह व्यवहार में उतर पाता नहीं, कभी उतरेगा भी नहीं। पद पाकर शासक-मनोवृत्ति हठात घर बना ही लेती है और उत्तर में दमित अनुभव करने के कारण सामान्यजन की मनोवृत्ति या तो विद्रोह की अन्यथा दीनता और दासता की बनी रह जाती है। दैन्य और दास्य के भाव को ऊपर से दान-दिलासा देकर आप दूर नहीं कर सकते। न शासक के दर्प के आसन के नीचे से भड़के विद्रोह की धार को कुण्ठित किया जा सकता है। दमन और दण्ड के उपचारों से धार वह तीखी ही बनती है।

भारत में हम देख रहे हैं कि अवस्था अस्थिर है। केन्द्र के शासन का नैतिक प्रभाव क्रमशः क्षीण हो रहा है। शासनस्थ दल स्वयं अपने में सुगठित नहीं है। गनीमत है कि ऊपर इन्दिराजी का व्यक्तित्व है और उस कारण स्थिति सम्भली-सी दिखती है। लेकिन नीचे प्रार्थना की जगह सब के दिलों में स्पर्धा है, पदाकांक्षा है, और मालूम होता है कि नीचे से उगते हुए तनाव कभी भी सत्ता के लिए बड़ी उलझन उपस्थित कर सकते हैं। नयी-नयी अस्मिताएँ खड़ी हो रही हैं और सब अपनी-अपनी स्वाधीनता चाहती है। 'देश पंजाब' की माँग को क्या कहिएगा? इसी तरह पूरब, उत्तर, दक्षिण से भी इसी तरह की माँगें उठीं तो क्या उन्हें अस्वाभाविक माना जाएगा? जनतंत्र के राजनीतिक आशय को पकड़े रखें तो इन उगते हुए दावों का निराकरण कैसे किया जा सकेगा? जिस जागरण को राजनीतिक कहा जाए उसका यह स्वाभाविक परिणाम है। स्वराज्य का अर्थ क्या अपना-अपना स्वयं राज्य नहीं है? स्वराज्य के बाद इस देश पर जो राजनीति का प्राधान्य छा गया उसका यही कुछ परिणाम होने को था। भारत राष्ट्र की इकाई की धारणा सांस्कृतिक थी, उसे सम्भालने के लिए किसी केन्द्रित राजकीय एकाधिकार की आवश्यकता न थी। नीचे से उस भावात्मक और सांस्कृतिक एकता की जमीन को जैसे खिसक जाने दिया गया है और भारत राष्ट्र का बिखराव के भय का कारण उपस्थित कर रहा है। प्रार्थना की मनोवृत्ति गायब है और एक का अहम दूसरे के अहम को चमका दे रहा है। प्रार्थनापूर्ण हृदय से राजनीतिक कामकाज चलाने की कला को यदि हम सर्वथा भूले रहें तो इस बिखराहट का उपाय कभी मिलने वाला नहीं है। शस्त्र की शक्ति काम दे सकती है। शत्रु के समक्ष, दूसरे राष्ट्र सामने हो। लेकिन अन्तरंग बिखराव को रोकने में दमनकारी शक्ति विशेष

सार्थक नहीं होगी। इन और ऐसे प्रश्नों के निराकरण में जो शक्ति समर्थ सिद्ध हो सकती है उसका स्वरूप नैतिक है। इसमें अपने व्यक्तित्व को, अपनी अहमता को उठाना नहीं—नीचे लाना पड़ता है। शासन के पद से यह हो पाना मुश्किल है। दुख यह है कि वैसा कोई नैतिक पक्ष देश के पास अब है नहीं। कोई व्यक्ति नहीं है, जो सबको मान्य हो और इसलिए मान्य हो कि वह निस्व है, स्वयं में शून्य है, अकिंचन है, और पूरी तरह सत्य का और भगवान का है। सत्ताधिकार से मण्डित व्यक्ति सामने के पक्ष में प्रतिसत्ता की आकांक्षा को मजबूत करता है। चक्रवर्ती सम्राट की कल्पना कभी की इतिहास में खो चुकी है। अब उसे वहाँ से उठाकर जीवन्त बनाना सम्भव नहीं हो सकेगा। शस्त्र का बल विश्व के मान में ऐसे सन्तुलन पर आ गया है कि उसे आसानी से प्रयोग में नहीं लाया जा सकता। वह यदि वैश्विक सन्तुलन में अन्तर ला बैठा तो महाविस्फोट हो जाएगा।

अर्थात देश के अन्तरंग मामलों में राजकीय उपकरणों के बल का उपयोग सार्थक सिद्ध नहीं होनेवाला है। समझौतों की राजनीति भी देश को एकत्र नहीं रख सकेंगी। कूटनीतिक सौंदों से नहीं चलेगा।

वही रुख फटाव पैदा कर रहा है। उस रूख को बदलने की जरूरत है। अधिकार, अधिकार, अधिकार । यही है जिसकी चारों तरफ धूम है। कर्तव्य की कहीं सुध है नहीं। अधिकार तक पहुँच कर क्या-क्या नहीं कर डाला गया। उन तमाशों की खबर हर रोज अखबार देते ही रहते हैं। गरीबी का सवाल है, लेकिन करोड़ों-अरबों के घोटाले हैं। इस वातावरण में कोई भी गुट बनाकर उठ खड़े होने के चाव को रोक नहीं सकता और बड़ी आसानी से वह नयी समस्या और नया सिर दर्द पैदा कर सकती है। प्रधानमन्त्रित्व के बल पर इन्दिरा गाँधी उन सबसे नहीं निपट सकेंगी।

आवश्यकता है बदले वातावरण की। एक नयी सौम्य और रचनात्मक राजनीति की। कहिये कि आवश्यकता है कर्म को धर्म के स्पर्श की। राजनेता आसन से न उतरे, पर आसन के दर्प से उतर कर हृदय में यदि वह प्रार्थना के भाव को स्थान मिलने देगा तो हवा बदलेगी। हो सकता है कि हवा के फेर बदल से अलग टूटने का भाव स्वयं टूटें और फिर एक बार आपस में जुड़कर भारत राष्ट्र ऊँचा उठाने की समवेत भावना जन-जन में दहक उठे।

□

प्रश्न यह है कि यह जहर पैदा क्यों होता है ?

अमृतसर में जो हुआ उससे घोर और जघन्य कृत्य की कल्पना नहीं की जा सकती। तिसपर देखिये कि दावा आता है खालसा दल की तरफ से कि यह हमने किया है। दावे में गर्व है कि हम कितने धर्म के पक्के हैं। ऊपर से धमकी है कि अगर अमृतसर में बीड़ी-सिगरेट की बिक्री बन्द न हुई तो ऐसा होगा और बार-बार होगा।

सरकार सचेत है और परिणामस्वरूप जो आग भड़की उसे दबाने में काफी हद तक कामयाब हुई है। मान लिया जा सकता है कि अगर कार्रवाई से कुछ मौते होंगी, कुछेक दर्जन घायल होंगे तो भी अन्त में ऐसी वारदातें नहीं होने दी जाएँगी....। इत्यादि।

पर प्रश्न यह है कि वह जुनून, वह जहर, क्यों पैदा होता है? नाम धर्म का हो, खालिस्तान का हो, या देश पंजाब का हो। ये तो ठिकाने हैं जिनके नाम पर जहर जमा होता और फूटता है। सवाल है कि यह बनता क्यों है, उपजता क्यों है? और जिन कारणों से, और जिस जमीन में से उस जहर की उपज बनती है, क्या उसकी तरफ ध्यान दिया जा रहा है? क्या उस विषय में कुछ किया जा रहा है।

सरकार की तरफ से कानूनी कार्रवाई हो सकती है। केन्द्र का गृह मन्त्रालय और राज्य सरकार की पुलिस ऊपर घटनाओं से निपट भी सकती है। पर अगर अन्दर प्रवाह जारी रहा तो सिर्फ ऊपर से उसके विस्फोट को रोक देने से क्या बीमारी उल्टे नासूर बनने की तरफ न बढ़ चलेगी? यानी सरकारी और ऊपरी उपचार वह चाहिए जिससे अन्दर जहर बनने की सम्भावना ही समाप्त हो।

गऊओं के दो कटे सिर मन्दिरों के आगे टाँग दिए गये। इस कृत्य की निन्दा और भर्त्सना सब ओर से हुई। सदन ने सर्वसम्मति से इसकी अपील की है कि इस तरह के कुकृत्य करनेवालों से आगाह रहें और उन्हें किसी प्रकार का सहारा न मिलने दें। दल खालसा को बाहरी देशों का समर्थन और बल है, ऐसा अनुमान

है, पर ऐसे दुष्कर्म के द्वारा आखिर में क्या हासिल किया चाहते हैं?

धार्मिक विद्वेष में से क्या खालिस्तान या देश पंजाब बनने में मदद मिल जानेवाली है? स्पष्ट है कि उन असामाजिक तत्त्वों के पास कोई दूरदर्शिता नहीं है और वे जो चाहते हैं अपनी राह में अपने कृत्यों से खुद ही रुकावटें पैदा कर रहे हैं।

सदन में तरह-तरह की बातें हुई हैं। निन्दा सबने की है और उपचार के लिए तरह-तरह के सुझाव दिये हैं। पर गृहमन्त्री जैल सिंह का मानना है कि इलाज सही राजनीतिक होगा, शारीरिक दण्ड के वश में वह रोग नहीं आ पाएगा। राजनीतिक, अर्थात उन तत्वों का महत्व शून्यवत बना दिया जाए, यहाँ तक कि किसी की सहानुभूति उनके साथ न रह जाए। देखना है कि यह उपाय कहाँ तक सार्थक होता है।

लेकिन दुष्कर्मियों के मन में था, और है, कि अपने कृत्यों के द्वारा उन्होंने वाहवाही पायी है। इसका दबाव पड़ेगा और उनके हक में कुछ-न-कुछ परिणाम आएगा।

मैं मानता हूँ कि यहाँ एक भारी भूल होती रही है। हम एक लम्बे काल से साध्य की सिद्धि के लिए सब तरह के साधनों को अवकाश देते आये हैं। युद्ध में और प्रेम में सब जायज है और राजनीति का नाम ही आपसी स्पर्धा-प्रतिस्पर्धा में उलझी शक्तियाँ के द्वन्द्व-युद्ध का है। इस झमेले में उचित-अनुचित कुछ नहीं रहता। नैतिक-अनैतिक का विचार यहाँ संगत नहीं। सफलता मिलनी चाहिए। साधन सफलता के साथ स्वयं समर्थन पा जाते हैं।

इस नीति पर हम काम चलाते आये हैं। गाँधी ने पहली बार प्रश्न उठाया कि साध्य साधन से अलग नहीं है। गलत साधन सही साध्य तक पहुँचा ही नहीं सकते। वे साध्य को ही गलत बना देंगे। गाँधी की इस बात पर स्वयं गाँधी के जमाने में राजनीतिकों ने दुर्लक्ष्य किया। विभाजन हिंसा के, आतंक के बल पर स्वीकृत हुआ और परिणाम में महा भयंकर हिंसा का भोग देश के दोनों भागों को भोगना पड़ा, इतना ही नहीं, साम्प्रदायिकता को उस कारण हमेशा के लिए समर्थन प्राप्त हो गया। भारत देश ने धर्म-निरपेक्षता, अर्थात 'सेक्युलरिज्म', के सिद्धान्त को अपने पक्ष में सुरक्षित रखा अवश्य और उस आधार पर कश्मीर अब भी उसका अंग है। लेकिन साम्प्रदायिक मनोवृत्ति जो एक बार स्वीकृत हुई तो फिर राष्ट्र के शरीर में वह गहरे-से-गहरी उतरती ही चली गयी। योजक मनोभाव जिसको 'सेक्युलरिजम' कहा जाता है, हाथ से छूटा और विघटक, अर्थात साम्प्रदायिक मनोवृत्ति राजकारण के क्षेत्र में एक बार सार्थक हुई तो फिर उसका फैसला बाद में रोका नहीं जा सका। तब आधार धर्म का था, अब भी वही आधार लिया जा

रहा है। लेकिन अनुभव से सिद्ध है कि साम्प्रदायिकता के मूल में धर्म नहीं रहता, उस बहाने सामुदायिक स्वार्थ रहता है।

राष्ट्र में तरह-तरह के समुदाय हैं और रहेंगे। एक को दूसरे के विमुख बनाने या डालने से किसी समुदाय के स्वार्थ की सिद्धि यदि होने दी जाती है तो किसी भी विधि फिर राष्ट्र को एकात्मता प्राप्त नहीं हो सकती।

लोकतन्त्र में यह स्वीकृति गर्भित है कि यथार्थगत हिंसा का अधिकार, और उसके उपकरण, लोक ने अपनी ओर से सरकार को सौंप दिये हैं। विधि-व्यवस्था की सुरक्षा के लिए सरकार के पास पुलिस रहेगी, फौज रहेगी और लाठी-बन्दूक रहेगी। उसके अतिरिक्त आपस में हिंसा का व्यवहार सर्वथा निषिद्ध होगा। अब हो सकता है कि कुछ अपराधी वृत्ति के लोग स्वार्थबद्ध कानून का उल्लंघन कर बैठे। उसके लिए अदालतें हैं। लेकिन इस वर्ग को, और उनके कामों को राजनीतिक रूप देना और सरकार की ओर से उसके राजनीतिक बनाव को मान लेना उचित न होगा। तरह-तरह के गुटों द्वारा अपनी बात मनवाने के लिए हिंसक कृत्यों का दबाव लाया जा सकता है। वह राजनीति निर्विय होगी, और सरकार कमजोर समझी जाएगी, जो उन दवाबों के नीचे झुकेगी।

प्रतीत होता है कि साम्प्रदायिक दबावों के नीचे, परस्पर सद्भाव की रक्षा के नाते, सरकार झुक जाती रही है। मसलहत उसमें मानी जा सकती है, लेकिन परिणाम उसका शुभ नहीं आता। हिन्दू, मुस्लिम, सिख इसलिए नहीं है कि अपने-अपने धर्म के नाम पर वे आपस में विद्वेष और वैमनस्य फैलाएँ और संघर्ष की सामग्री पैदा करें। अगर ऐसा होता है तो सरकार का फर्ज साफ है। झुककर किसी की अहमन्यता को बढ़ावा नहीं दिया जा सकता। हिंसा को यह सन्तोष किसी भी हालत में नहीं मिलना चाहिए कि उससे कार्यसिद्धि होती है। अगर तनाव और विद्वेष सरकार के काबू के बाहर की हद तक पहुँच जाता है तो ऐसी सरकार को इस्तीफा दे देना चाहिए। मामला पंजाब का है और पंजाब की सरकार समर्थ होनी चाहिए कि ऐसे काण्डों से भली प्रकार निपट ले। लेकिन अगर प्रश्न को राजनीतिक मानकर सरकार उन तत्त्वों को दबाने में जानबूझ कर असमर्थ बनती है तो अपनी सरकारी कर्त्तव्य से च्युत होती है।

पंजाब की राजनीति बेहद उलझी है। वह देश का सीमान्त प्रदेश है और पाकिस्तान से लगा है। पाकिस्तान से उसकी लम्बी-सीमा है। खालिस्तान-समर्थकों को वहाँ प्रश्रय मिल रहा है। दिल्ली के शाही इमाम 'देश पंजाब' के विचार को आशीर्वाद· और समर्थन देने वहाँ पहुँचे थे। यह स्थितियाँ भयावह हैं। इसके बीच स्पष्ट नीति की आवश्यकता है। सिख धर्म गऊ को अवध्य, यहाँ तक कि माता मानने में हिन्दू के साथ हैं। लेकिन अगर उसी मत के नशे में से गऊ के कटे

सिरों को मन्दिरों के सामने डालने का कृत्य सम्भव बन सकता है तो गहरी चिन्ता की बात है। साम्प्रदायिकता को तनिक भी समर्थन नीचे से मिलता है, तो यह उदाहरण है कि वह किस मात्रा तक निवैला बन जा सकता है।

धर्म यदि साध्य है तो साधन भी उसके लिए धर्म ही है। अधर्म साधन नहीं हो सकता। बीड़ी-सिगरेट की बिक्री को बन्द करने जैसी निहायत ही अदना-सी बात को लेकर यह काण्ड रच डाला गया है, तो समझ में आ सकता है कि धर्म से भला उसका कितना सम्बन्ध रहा होगा।

यह और ऐसे असामाजिक विघटन और विध्वंसक तत्त्वों को राजनीति की या धर्म की शरण किसी भी हालत में नहीं मिलनी चाहिए। वह नीति नहीं है, मसलहत नहीं है, जो इस सम्बन्ध में समझौते की वृत्ति अपनाने की बात सुझाती या असल में लाती है।

□

विज्ञान अक्षम और असमर्थ क्यों रह जाता है?

क्या हम सही राह पर हैं। यह प्रश्न राष्ट्र नहीं विश्व के समक्ष है।

उन्नति की जिस दिशा में हम बढ़ते चले आये हैं, पाते हैं कि उधर आगे राह बन्द है। उन्नति अवश्य उन्नति थी। प्रमाण उसके उजागर हैं। उसने हमारी अपनी दुनिया को छोटा कर दिया और हमें सारे ब्रह्माण्ड के प्रति खोल दिया। अपने-अपने राष्ट्र को लेकर हम व्यस्त रह सकते हैं। समस्या उत्पन्न होने पर और नहीं तो आपस में लड़कर उसे निपटा ले सकते हैं। पर राष्ट्र अब उस तरह लड़ पड़ने की स्वतन्त्रता और अवकाश खो बैठे हैं। छोटी-मोटी मुठभेड़ अवश्य हो जाए पर कुल मिलाकर शक्ति-सन्तुलन जो विश्व को थामे हैं उसमें विचलन नहीं आने दिया जा सकता। आया तो प्रलय ही आ जाएगी।

अर्थात सन्तुलन के काँटे पर हम तुले खड़े हैं। अपने आप में भले यह सुखद स्थिति न हो पर उसकी चेतना तो और संकट की यह चेतना उन्नति ने हमें दी है। अन्यथा वैज्ञानिक युग से पहले अपने-अपने छोटे घरोंदों में बन्द होकर हम मग्न रह सकते थे। सम्भव था कि एक दूसरे से परिचय की आवश्यकता भी अनुभव न करें। वैज्ञानिक उत्कर्ष का ही परिणाम है कि परस्परता का इतना विस्तार हुआ। यह पारस्परीय सर्वथा अनिवार्य बन गया। कोई देश अपने में समृद्ध है तो मतलब यही कि वह देश एक उद्योग प्रधान है। जो माल वह बनाता है खपत के लिए ही। दूसरे देश मौजूद हैं यानि एक की समृद्धि दूसरे पर निर्भर है। भले ही उसका मतलब यह हो जाता है कि कुछ की अमीरी बहुतों की गरीबी पर निर्भर है। भले यह विरोधाभास दिखे विपरीतता नजर आये। लेकिन परस्परता का बोध दोनों ओर अनिवार्य बनता है। आगे आपस की विषमता के सुझाव के लिए उत्तर-दक्षिण सम्मेलन होते ही हैं। हैव्स और हैव्सनाट्स के सम्मिलित विचार के लिए अवसर निकाले जाते हैं। अब तक परिणाम विशेष नहीं आया। यह दूसरी बात है, पर चेतना निरन्तर गहरी होती चली जा रही है कि दुनिया एक है और परस्पर की अवलम्बिता पर टिकी है।

रूपान्तरण सम्भव

मैं मानता हूँ कि यही बोध है जो गहरा जाए तो राजनीति का सर्वथा रूपान्तरण भी कर सकता है। विश्व की कर्मनीति में एक साथ मौलिक और नैतिक परिवर्तन ला सकता है।

क्या कारण है कि वह नहीं हो पाता? क्या कारण है कि वैज्ञानिक विचार विश्व को इस बोध के तट तक लाकर वहीं छिटका रह जाता है। परस्परावलम्बिता को सबके निकट सर्वथा प्रत्यक्ष कर देने के अनन्तर उनमें असंगत और संगत वह क्यों बन रहता है, परस्पर हित विरोध के आगे हितैक्य की भूमिका तक पहुँचने में अक्षम और असमर्थ क्यों रह जाता है?

यह प्रश्न क्या वैज्ञानिक बुद्धि अपने निकट प्रस्तुत नहीं पाती? इस प्रश्न का सामना लेकर कम से कम वह अपनी मर्यादा का अनुभव तो कर ही सकती है।

राह आगे बन्द है। क्योंकि गली के मुहाने पर अणु बम बैठा है। अणु बम कहाँ से और क्यों आया?

विजय उससे मिली। हिरोशिमा, नागासाकी पर बम का गिरना था कि युद्ध समाप्त हुआ। मित्र देशों की जीत हो गयी। शत्रु देशों का पराभव हुआ।

पर विज्ञान पर बपौती तो किसी की है नहीं। उसकी युक्ति छिपी नहीं रह सकी। न मित्रों की मित्रता ही बनी रह सकी। स्वार्थ, मित्रता में ही शत्रुता के बीज पा लिए गये और अब यह स्थिति है कि आमने-सामने महाशक्तियाँ हैं, और खैरियत इसी में समझी जाती है कि दोनों में सन्तुलन बना रहे। इसके लिए दोनों को अपने-अपने अणु बमों के और वैसे दूसरे शस्त्रों के भण्डार को निरन्तर बढ़ाते ही जाना पड़ता है। विज्ञान दोनों की इसमें सहायता करता है, लेकिन इससे आगे दोनों की प्रासंगिक प्रतिद्वंद्विता को पाटने के विषय में वह कुछ भी कर पाने में असमर्थ है।

ठीक इसी बिन्दु पर हमारी औद्योगिक और वैज्ञानिक उन्नति आकर टिक गई है और अभी साँस ले रही है। पर कब तक!

गति तो जीवन की शर्त है। लेकिन आगे जो है उसमें बढ़ते चला जाए तो महाविध्वंस के अतिरिक्त कुछ नहीं। साहस के बिना दूसरा विकल्प नहीं।

पुनर्विचार आवश्यक

यहाँ मुझे प्रतीत होता है कि विज्ञान को अपने सम्बन्ध में पुर्नविचार करना होगा। विज्ञान के सम्बन्ध में मनुष्य का पुर्नविचार होगा।

विज्ञान की विशेष में से शुरुआत हुई थी। धर्म की आद्रता को उसने चुनौती दी थी। धर्म को निस्तेज और निर्जीव बना देने की उपलब्धि का श्रेय अधिकारपूर्वक

नहीं रह सकता। उसे सत्य को पाना है। इसलिए उसने सारे जीवन को छुआ और शनैः शनैः उसकी परिधि बन गया। समाजशास्त्र के पारंगत-मनीषी-विद्वान मार्क्स को कहना पड़ा कि धर्म अफीम है। धर्म के हाथ से मनुष्य का रहा सहा नेतृत्व छिनता चला गया। बागडोर नितान्त वैज्ञानिक चिन्तन ने सम्भाली और अब यह 20वीं शताब्दि अपनी समाप्ति के निकट आ गयी है।

विज्ञान का प्रयोग सर्वथा सार्थक हुआ उसने आदमी की आँख खोली। वह अपने में बन्द हो नहीं सकता। खुल आया है वह अनन्त के प्रति। उसने अवसर दिया कि अनन्त के मध्य वह अहम की स्थिति को समझे। समझे कि एक अपने में नहीं है अनेकानेक के मध्य है। उसका स्वयं अनन्य नहीं है। जो है अन्योन्याश्रित है।

इस परम अनुभव के तट पर ला-देकर विज्ञान अपने को कृतार्थ मान ले सकता है। द्वैत बोध का यह चरम है। किन्तु द्वैत से आगे विज्ञान की गति है नहीं। अद्वैत में वह सर्वथा असंगत है। अर्थात वहाँ जानने की जानने वाले से अलग कुछ नहीं रहता। विज्ञान जानता है कि वह जानता है, यहीं उसकी मर्यादा आ जाती है। आदमी उसके सहारे अपने को रखना ही चाहे, अपने को खो देने की तैयारी उसमें से नहीं आ सकती। विसर्जन, समर्पण, बलिदान, उत्सर्ग आदि की प्रेरणाएँ वहाँ से आ नहीं सकतीं। यह क्षेत्र ही उसकी क्षमता से परे का है। गणनात्मक से अलग गुणात्मक एक क्षेत्र है और ज्ञान इस अनुभूति के क्षेत्र में मानो मात्र दम्भ बन रहता है। यहाँ होने से अलग होकर जानना कुछ है ही नहीं।

दिशाहीन और निरुद्देश्य

प्रतीत होता है कि जिस मनुष्य ने अपने लिए विज्ञान की सृष्टि की थी और अपने को उसे सौंप दिया था वह 20वीं सदी के अन्त तक आते-आते विज्ञान की समस्त उपलब्धियों पर आरूढ़ होने के अनन्तर अब अपने को विमूढ़ पाकर अपनी हार मान सकता है और प्रार्थना में जुट सकता है। यह अपने में उसकी जीत होगी। दो हैं और दो एक हैं। उस एक में दो की अस्वीकृति नहीं है। दोनों की परस्पर ऐक्य के सन्दर्भ में स्वीकृति ही नहीं बल्कि सत्कृति है।

शब्द यह अटपटे, गूढ़ और तार्किक से लगते होंगे, पर प्रतिद्वंद्विता में आमने-सामने डटे दो पक्षों में द्वैत बोध ऊपर और भीतर ऐक्य बोध की अनुभूति कैसे पहुँचे? हितों में एकता कैसे दिखे? बल प्रयोग के अतिरिक्त समाधान के विकल्प की युक्ति कैसे मिले? यह प्रश्न अत्यन्त प्रत्यक्ष, तात्कालिक है पर हमसे दूर हो चुका है। तो अब?

□

इतिहास उलटकर लौटाया नहीं जा सकता

तथाकथित वैज्ञानिक विचार के क्षेत्र से बाहर हो जाने पर मनुष्य के पास अपने संकट से पार होने का दूसरा उपाय क्या रह जाता है, क्या कोई 'अविज्ञान आएगा', विज्ञान से विद्रोह ठाना जाएगा, और इस प्रकार के विकल्प अपनाए जा रहे हैं। वर्तमान सभ्यता से ऊब उठे लोगों ने मर्यादाओं को धता बता दी है और सभ्यता का उत्तर सभ्यताहीनता से देना चाहा है। ये तो युवजन हैं जिनमें स्पष्ट प्रतिक्रिया देखी जा सकती है, किन्तु कतिपय मनीषीजन भी हैं, जो औद्योगिक और यान्त्रिक उपयोगवादी सभ्यता के अपरूप से उलटकर इतिहास को दो हजार वर्ष पूर्व लौटा ले जाना चाहते हैं।

नहीं। उस सबसे नहीं चलेगा। वापिस लौटना नहीं होगा। समय पीछे जा नहीं सकता।

लेकिन विज्ञान द्वारा उत्पन्न मशीन को मनुष्य का भाग्य विधाता होने से बचाया जा सकता है। मशीन पर मर्यादा डाली जा सकती है। उसे मनुष्य के हित में और वश में नियुक्त अवश्य किया जा सकता है।

अभी तो ऐसा प्रतीत होता है कि मशीन का तर्क मनुष्य को चलाएगा। मनुष्य लाभ चाहता था। मशीन ने उसका उपाय रचकर रख दिया। लाभ, और लाभ, और लाभ। लेकिन मनुष्य अब आकर देख रहा है कि लाभ की सीमा है, लाँघने पर वही अलाभ बन गया है। राष्ट्रों में द्वेष और वैमनस्य उसी लाभ बढ़ाते जाने की वृत्ति में से उत्पन्न हो गया हुआ फल है। विकसित, विकास-मान और विकासहीन देशों की श्रेणियाँ बन आयी हैं। विकसित माने जाने वाले राष्ट्रों में होड़ है कि शेष दोनों श्रेणियों की मण्डी को कौन अधिक हथिया पाता है? प्रभाव, आर्थिक और राजनीतिक, कौन पहले फैलकर दुनिया के ज्यादा भाग को घेर लेता है। इन्हीं विकसित राष्ट्रवादों के आमने-सामने तने दो गुटों को लेकर आज की संकटग्रस्त स्थिति बन आयी है।

इसलिए एक नये प्रकार के राष्ट्र और राष्ट्रवाद की भूमिका की सृष्टि करनी

होगी। समय पीछे नहीं जाएगा। हमें दुनिया की और मानव जाति की एकता तक बढ़ते ही जाना होगा। गाँव में अपने को सिमटाकर आदमी नहीं बैठ सकेगा। उसे मानवजाति की इकाई के रूप में अपने को अनुभव करना है। हो सकता है कि मानव एकता की व्यवस्था, 'विलेज रिपब्लिक' जैसी धारणा पर खड़ी हो, लेकिन बूँद को तब अपने में प्राप्त होगा सागर की विराटता का भी अनुभव। उसे अनुभूति होगी नगण्यता की नहीं, वरन अपनी अस्मिता की, मुक्तता और अनन्यता की।

राष्ट्र का स्वरूप यदि राजनीतिक हो रहता है तो उसके विकास में से हठात उदय हुए बिना न रहेगा, पुरातन साम्राज्यवाद या अधुनातन विस्तार और प्रभाववाद का। क्यों? क्योंकि राजकीय मनोभाव के मूल में स्पर्धा और महत्त्वाकांक्षा गर्भित हुई रहती है।

ऊपर राज के तन्त्र ही से क्या राष्ट्र की एकता बनती है, लेकिन हमारे देखते-देखते भौगोलिक राष्ट्र टूटे और बने हैं। उनकी सीमाएँ फैली और सिकुड़ी हैं। जिस आन्तरिक कारण से यह बनना-टूटना हुआ करता है, घटना-बढ़ना होता है, वह तत्व है जो राष्ट्र को तोड़ता या बनाता है। जर्मनी एक नहीं था। बिस्मार्क ने एक नया भाव दिया, और जर्मनी एक हुआ। वह भाव अपनी आन्तरिक शक्ति से फैला-बढ़ा और पोलैण्ड उसमें समा गया। आज पोलैण्ड तो क्या जर्मनी टुकड़े हुआ पड़ा है। यूरोप को एक देखने का स्वप्न सम्राटों ने लिया। नेपोलियन ने, कैंसर ने, हिटलर ने लिया। पर भाव की एकता सेना के बल से सम्पन्न नहीं हुआ करती। राजशक्ति इस विकास में सहायक नहीं होती। वह स्थिति को सम्भालने भर के लिये है। गति भीतर से आती है।

भारत का उदाहरण लें। सैंकड़ों वर्षों के इतिहास में उसे एक किसने रखा, वह कोई सम्राट तो न था। राजा-महाराजा बहुतेरे हुये, बादशाह हुये, पर भारत की एकता उनके बूते तो बनी बिगड़ी नहीं। भले उन कारणों से भौगोलिक सीमाएँ जरा इधर-उधर होती रही हैं। पर उस कारण राष्ट्रभाव में कमी नहीं आयी।

न वह राष्ट्रीयता सामुदायिक आर्थिक लाभ-हानि पर निर्भर थी। भारत में एक साथ अनेक सिक्के चलते रह सके। उनकी अनेकता या राजाओं की अनेकता भारत की एकता का कुछ बना-बिगाड़ नहीं पायी। कारण, उस एकता की बुनियाद गहरी थी। गहरी थी, इसलिए ऊपर सीमा के तौर पर नक्शे पर डाल दी गयी। रेखाएँ उसके लिए इतना महत्त्व नहीं रख पायीं। भारत उस कारण सिमटा रह गया, यह नहीं कह सकते। सुदूर दक्षिण-पूर्व तक उसका प्रभाव फैला था। जो आज तक धुला नहीं है। प्रभाव वह उत्तर-पश्चिम की ओर भी गया। प्रमाण इतिहास और पुरातत्व में मौजूद हैं। लेकिन उस प्रभाव के विस्तार में तलवार का

सवाल कभी नहीं आया। प्रभाव वह ऊपर से आक्रामक नहीं था, क्योंकि भीतर से द्रावक था।

पृथकताओं की विशिष्टता

देश कई-कई हैं और अलग हैं। उनकी राजनीतिक आर्थिक संरचना अलग है। रीति-नीति अलग है, सिक्का अलग है। हाँ, यह अलगताएँ हैं, लेकिन क्यों आवश्यक है कि यह अन्तर प्रतिद्वन्द्विता और युद्ध का कारण बने। पृथकताएँ ही विशिष्टताएँ बनकर एक को दूसरे के पास आने और जाने में बड़ी आसानी से सहायक बनायी जा सकती हैं। संस्कृति किसी अनेकता को कम नहीं करती। प्रत्येकता के सत्कार द्वारा ही मानो वह अपने को विस्तृत और प्रशस्त करने का मार्ग पा जाती है।

यही चीज है जो विज्ञान के हाथ नहीं आ सकती। विज्ञान एक को दूसरे से अलग करके परखता और परिभाषा देता है। यहाँ दूसरे में अपने को देखने की बात आती है। अस्तित्ववाद के एक प्रकाण्ड प्रवर्तक को कहना पड़ा : "दि अदर इज हैल" (अन्य का होना ही मुसीबत है) लेकिन इधर के मनीषी ने पाया कि अन्य भी मैं हूँ। अन्यान्य की ओर से स्वत्व को खतरा नहीं है, बल्कि उधर ही उसकी पूर्णता है, मुक्ति है। अन्यता को तोड़कर, उसे किनारा देकर, स्वत्व का विस्तार भ्रम है। स्व की सच्ची प्रशस्ति, विस्तृति, बल्कि मुक्ति का मार्ग अन्य में से, सब अन्यान्य में होकर ही जाता है। सब ब्रह्म है और मैं ब्रह्म हूँ। इत्यादि धारणाएँ मात्र किसी कल्पित आदर्शवाद की उड़ानें नहीं हैं, बल्कि अनुभूत यथार्थताएँ हैं।

विज्ञान पराजित

इन बुनियादों पर जीवन रचना आरम्भ की जा सकती। समय है कि जब विज्ञान हार गया है, तब विश्वास उठे और स्थितियों को हाथ में लेने का साहस दिखाए। विश्वास कहा जाता है पहाड़ों को हिला सकता है। लेकिन जो विश्वास वह कर सकता है वह आत्मा से पहले परमात्मा का है, और वहीं से प्रार्थना के द्वारा उसे अपने भीतर पाया जा सकता है।

शस्त्र शक्ति का पार नहीं और उसके कारण सर्वत्र भय का संचार है। यह नयी शक्ति आत्मशक्ति होगी और सबके आश्वासन का निमित्त बनेगी।

यूरोप के कई देशों में काफी बड़े पैमाने पर युद्धामरणों के खिलाफ शान्त प्रदर्शन हुए हैं। वे संकेत हैं कि भीतर बेचैनी है। बेहद बेचैनी, गहरी बेचैनी। यह मानव-बेचैनी अगर अहिंसा का प्रण बाँधकर संगठित होती है तो सरकारें

उस का सामना लेने से बचेंगी, बल्कि उसका सहारा पाकर वे स्वयं अपने शस्त्र-संचार से क्रमशः हलका होने का अवसर और साहस जुटा सकेंगी। श्री रीगन और श्री ब्रजनेव मिलने वाले हैं। उन्हें अपने देशवासियों का अवलम्बन और भरोसा हो तो उनकी भेंटवार्ता अवश्य बहुत अंश तक सार्थक और सफल हो सकती है। आखिर क्या जन बल ही सरकारों का असल बल नहीं?

□

युद्ध और शान्ति का प्रश्न और नहीं टल सकता

''युद्ध और शान्ति'' नाम और विषय है ऋषि टाल्स्टाय की उस अमर रचना का, जिसको सब इस युग का महानतम साहित्यिक कृतित्व मानते हैं। पर तब युद्ध और शान्ति का प्रश्न तात्त्विक भी समझ लिया जा सकता था। अब वह तात्कालिक है। उसको विचार पर टाला नहीं जा सकता। उस सम्बन्ध में कुछ तत्काल करना आवश्यक है।

उस दिन इसलिए राजदूत और राजनयिक इकट्ठे हुए थे इस विषय पर चर्चा करने के लिए। विचार के नहीं व्यवहार के लोग इस सम्बन्ध में चिन्तित हैं, और राजनेताजन निरन्तर प्रयत्न में हैं कि कुछ हो जिससे युद्ध की नौबत न आये। नि:शस्त्रीकरण, शस्त्र-सीमान्तीकरण, शस्त्र-स्वीकरण पर बातें करते हैं वे लोग जो राष्ट्र व्यवस्थाओं के कर्ताधर्ता होने की हैसियत से सुरक्षा के नाते अपने साथ-साथ शस्त्र निर्माण के वेग को निरन्तर बढ़ाते जाने के लिए अपने को विवश भी पाते हैं।

स्थिति की गम्भीरता पर ज्यादा कहने की आवश्यकता नहीं है। दूसरे महायुद्ध में एक करोड़ उनहत्तर लाख सैनिक और तीन करोड़ तैंतालीस लाख नागरिक मारे गये थे। उसके बाद अनेक राष्ट्रों के बीच लगभग 60 घोषित युद्ध हुये। दुनिया के शस्त्रागर में 'इण्टर-कान्टिनैन्टल-बैलिस्टिक-मिसाइल' से भी बढ़कर हथियारों का निर्माण हो चुका है। अन्तरिक्ष से आक्रमण की योजनाएँ बन रही हैं। ऐसे रसायनों का निर्माण हुआ है जिनका कोई उपचार नहीं। साइनाइड से भी खतरनाक 'वाटुलेनस टामिन' के 6 औंस भारत जैसे देश को जीवनहीन बना देने को काफी है। तीस सैकेण्ड में मनुष्य को नि:स्पन्द कर देनेवाली स्नायुगैस का 50 हजार टन का भण्डार तो सिर्फ एक ही देश के पास है। निमोनिया, टाईफाइड और फेफड़े से सूजन पैदाकर देने वाला ''पौलोमैंट्री एन्थैन्स'' उत्पन्न करनेवाले जहर तो पहले ही बन चुके हैं। कितने-कितने करोड़ डालर प्रतिदिन युद्ध सामग्री पैदा करने में खर्च किया जा रहा है इसका हिसाब नहीं है।

बेबस क्यों हैं?

यह हाल है और सब व्यग्र हैं। सब भरपूर कोशिश में भी हैं कि युद्ध के बादल छँटें और कुछ उपाय युद्ध की समाप्ति का निकले। पर बेबस हैं और कुछ करते-धरते बन पाता नहीं है किसी से।

ऐसी क्या विवशताएँ हमने अपने बीच पैदा कर ली हैं? उल्लघंन क्या लाचारी है? क्यों हम निरुपाय हैं?

प्रतीत होता है कि कहीं किसी मूल नियम का हमसे भंग हुआ है। आखिर यह ब्रह्माँड टिका है, सब ग्रह-तारा-नक्षत्र एक नियम की मर्यादा में स्थित और अवस्थित रहकर निरन्तर चक्र में परिभ्रमण कर रहे हैं, तो कुछ तो है जो इस नियति को धारण कर रहा है। मनुष्य से कुछ कहीं त्रुटि हुयी दिखती है।

ब्रह्माँड के बीच शायद बुद्धि लेकर मनुष्य ही अवतरित हुआ। या कहो कि ऊपर से अवतरित नहीं, नीचे से विकसित हुआ है। बुद्धि ने उसे अन्य प्राणियों की तुलना में विशिष्ट और किंचित स्वतन्त्र बनाया। अपेक्षा थी कि वह प्रकृति की अधीनता से तनिक मुक्त हुआ है, तो संस्कृति की रचना करेगा। प्रकृति की ओर से यह सुविधा मानो उसे स्वयं आत्मसंस्कार के हेतु से दी गयी थी, पर अपने को मिली बुद्धि को उसने मानो अपने हाथ का अस्त्र बना लिया और उसको लेकर अब विधाता के सामने वह उसी को ललकार दे उठा है।

जानने से बचने का अवसर न था उसे कि वह मर्त्य है, आयु सीमित है उसकी, जन्म और मृत्यु के दिनों के बीच तक। वह बुद्धिपूर्वक यह पहचान कर नम्र भी हो सकता था। महाकाल को स्वीकार कर प्रकृति में अन्तर्भूत नियमों का आविष्कार करके तद्नुकूल वर्तन भी कर सकता था। किन्तु बुद्धि को मिली अनुसंधान और आविष्कार करने की क्षमता ने उसे अपनी मर्यादा के सम्बन्ध में बेभान बना दिया है। प्राणि-जगत परस्पर घात-प्रतिघात के नियम पर रहता दीखता है। पर मनुष्य को बुद्धि मिली थी कि उसके सहारे वह जीवन के इस जंगली पद्धति से ऊँचे उठेगा! लेकिन अपने को मिली बुद्धि को उसने परस्पर घात-प्रतिघात की वृत्ति और क्षमता को तीक्ष्ण बनाते जाने के ही काम में लिया। जानवर लड़ते हैं, पर इस लड़ाई को युद्ध का रूप देने का काम मनुष्य ने ही किया।

मनुष्य की आवश्यकताएँ

मनुष्य निस्सन्देह कुछ अतिरिक्त आवश्यकताएँ लेकर पैदा होता है। जानवर की अपेक्षा वह देह से हीन है। चीरफाड़ करके अपना खाना जुटाना उसके लिए पर्याप्त नहीं हुआ। शरीर रक्षा को उसे वस्त्र चाहिए और सुरक्षा के लिए घर। जंगल से

उसे समाज की आवश्यकता हुई। इन आवश्यकताओं ने उसे उद्यम के लिए प्रेरित किया। किन्तु शरीर की आवश्यकताओं के साथ कुछ गहरी भी आवश्यकताएँ उसमें निहित थीं और जिनमें से ज्ञान की, धर्म की, संस्कृति की सृष्टि हुई। जिज्ञासा और अभीप्सा लेकर वह जन्मा था, पर अपनी बौद्धिक क्षमता को उसने क्रमश: शरीर के प्रति अपित कर दिया। विज्ञान की सृष्टि हुई और उसमें से यन्त्र आए और मालूम हुआ कि मनुष्य उनके योग और उपयोग से उत्तरोत्तर विस्तृत और विशाल होता जा रहा है। उसकी आवश्यकताएँ इस प्रक्रिया में गुणानुगुणित होती चली गयीं। मालूम हुआ कि जरूरतें जितनी बढ़ती हैं उसके उद्यम में उतनी ही वृद्धि होती है। इस वासना और वेग में बड़े-बड़े उद्योग खड़े हुये। विज्ञान और यान्त्रिकी के सहारे उत्पादन की सीमा न रही। उपभोग की साधन सामग्री निरन्तर बढ़ती चली गयी और मनुष्य भूलने लगा कि उपभोग से अतिरिक्त भी क्या कोई जीवन का उद्देश्य है।

मैं मानता हूँ कि ठीक यह जगह है जहाँ से मानव यात्रा ने गलत मोड़ ले लिया। जिसको 'इकॉनामिक' कहा जाता है। वह नीति हठात औंधी पड़ती चली गयी है। मानो पदार्थ मनुष्य के लिए नहीं, मनुष्य पदार्थ के लिए होने लग गया। अर्थनीति धर्मनीति को लीलने लग गयी। अर्थ के लिए रहना अर्थात स्वार्थ के लिए रहना। स्वार्थों में तो टकराव होना अनिवार्य ही है, और सिद्धान्त बना कि सहयोग नहीं, स्पर्धा है कि जो जीवन को चलाती और गति देती है। 'सोसाइटी कांपिटीटिव' होती गयी।

राष्ट्रों के शरीर में अब यह अस्मिता, और स्पर्धा, प्रतिस्पर्धा की वासना इस तरह रचकर व्याप गई है कि लाख चाहने पर भी उस कारण उत्पन्न हुयी बेबसी से बाहर निकलना राष्ट्रों के लिए कठिन ही नहीं असम्भव प्रतीत होता है।

फाकलैण्ड द्वीपों की ही बात लीजिए। इंग्लैण्ड अगर उत्तरी ध्रुव के पास है तो फाकलैण्ड दक्षिणी ध्रुव के। बीच में इतना जबरदस्त फासला है लेकिन एक दिन इंग्लैण्ड ने पुरुषार्थ के मद में वहाँ अपना आधिपत्य और उपनिवेश स्थापित किया था। फाकलैण्ड के निकट का प्रदेश अर्जेन्टीना है। वह फाकलैण्ड को प्रकृत रूप से अपना अंग मानना चाहता है। पर नहीं, वह हो नहीं सकता और इस बात पर सामने युद्ध ठना हुआ है।

इंग्लैण्ड का कहना है कि अर्जेन्टीना ने हिंसा से फाकलैण्ड पर अपना कब्जा किया। यह कैसे बर्दाश्त किया जाएगा? इसलिए बड़ी हिंसा से उसे खत्म करना होगा।

यह चक्र युद्ध शान्त हो नहीं सकता, अगर आदमी पर अधिकार और हुकूमत की भूख सवार रहती ही चली गयी। आदमी को अपने भीतर पड़ी इस भूख को पहचानना होगा कि यह उसमें पशुता का अवशिष्ट ही है। मनुष्य है तो मनुष्यता के नाते अपने में उसे अमानुषता को जीतना ही होगा। यदि वह अपने भीतर बसी वैदेहिक पशुता को जीतने को चलता है, तब वह पाएगा कि अपने बुद्धियोग से धन-वैभव की महामहिम सभ्यता का जो वितान अपने चारों ओर उसने तैयार किया है, अपनी आँखों के सामने शनैः शनैः उसे गिर जाने और मिट जाने देना होगा। पहचान लेना होगा कि ऊपर से भव्य और दिव्य दिखने वाली सभ्यता मूल में आदमखोर है, दानवी है क्योंकि जहाँ मनुष्य की मनुष्यता का स्रोत है उसको ही यह चबा डालती है। मनुष्य को बताती है कि वह आत्मा नहीं, निरा शरीर है। शरीर के अतिरिक्त जो कुछ मानमून लिया जाता है वह निरा वहम है, पाखण्ड है। मानो उस सभ्यता का परिज्ञान मनुष्य को सिखाता है कि आँखें खोलो और देखो कि बाकी सब हवाई है, आर्थिक ही वास्तविक है, नैतिक आत्मिक वगैरह जो भी है निरा अवास्तविक और भावात्मक है, वह तो परिणाम है भौतिक का, अर्थात मनुष्य का एकमात्र पुरुषार्थ भौतिक उत्कर्ष में है।

युद्ध है पर अगर उसको राक्षसी नहीं, जीवन का सच्चा युद्ध होना है तो वह मानव में गर्भित दो प्रवृत्तियों के बीच होगा, या जो यह कि मनुष्य स्वार्थ के लिए दूसरे की घात करे या परमार्थ के लिए दूसरे के हित में अपना अर्पण और उपसर्ग दे।

आदमी अन्तिम विश्लेषण में दो तत्वों का युग्म है। एक वह कि जो हर दूसरे से उसे अलग करता है, वह स्वत्व। दूसरा कि जो शेष से उसे योग में लाता है, यह आत्मक्य। स्व और स्वयं को जितना फैलाते-फुलाते हैं उतना आत्म क्षीण होता है। अर्थात उससे पृथकता बढ़ती और एकता कटती है। हमारी प्रवृत्तियाँ अधिकांश स्वयं और स्वत्व को केन्द्र मानकर उसी के विस्तार में लगी हैं। इस विस्तार में उन्नति और उत्कर्ष का बोध होता है और वह नितान्त भ्रामक भी नहीं है। लेकिन इस विस्तार के साथ-साथ यदि अनुभूति भी सघन होती जाए कि राष्ट्र और राष्ट्रमण्डल की व्याप्ति तक पहुँच गयी मानव चेतना सार्थक तभी समझी जा सकती है जब वह अन्य में स्वयं का प्रतिबिम्ब देखने की क्षमता भी अर्जित कर सके। इसमें से दूसरा हमारे मार्ग में बाधा नहीं बनेगा बल्कि उसका अस्तित्व हमारे समक्ष प्रश्न प्रस्तुत करेगा कि उसमें से ही हम अपनी मुक्ति का मार्ग कैसे प्रशस्त करें। अभी तो अन्य की समाप्ति में हमें मुक्ति दिखती है। यह दृष्टि हिंसा

की है। अहिंसा की दृष्टि हमें दिखाएगी कि अन्य 'से' नहीं, अन्य 'में' अपनी मुक्ति प्राप्त करनी है। अनेकता में, यहाँ तक कि विमुखता में एकता जीने की कला का नाम ही है, अहिंसा। अनेकता में इस एकता की अनुभूति का अभ्यास भारत देश ने साधा था और उसी के बल पर सब इतिहास के ऊँच-नीच में से वह अखण्ड भी बना रह सका था। यह तो आजकल की राजनीति का प्रधानता के कारण बना प्रवाद है कि राष्ट्र की एकता राज्याश्रित ही हो सकती है। इसी भ्रम में कुछ आदर्शवादीजन सार्वभौम एक सरकार के नीचे ही मानव एकता का स्वप्न देखते हैं। प्रतिस्पर्धा में आमने-सामने सन्नद्ध महाशक्तियाँ इसी स्वप्न के अधीन मानो विश्व पर अपना आधिपत्य फैला देखना चाहती हैं। वासना और विकार है वह जो इस प्रभुता के फैलाव में मानव का उत्कर्ष देखता है। साम्राज्य की जगह गाँधी ने रामराज्य का विचार दिया था। राम वो जो सब में है, सब के हृदयों में है, रम रहा है। दूसरे शब्दों में रामराज्य, अर्थात एक साथ मार्क्स और गाँधी का शासन-मुक्त-आत्मानुशासित समाज।

□

प्रश्न समाज और राज्य के रिश्ते की धुरी का

हाल में हुए चार राज्यों की विधानसभाओं के चुनाव और कुछ संसद के उपचुनाव ने एक बार फिर यह सत्य उजागर कर दिया है कि राज भले समाज को प्रभावित करता हो, लेकिन राज का निर्माण समाज करता है। समाज के सामने सब राजनीतिक दल प्रार्थी होते हैं कि हममें से जिसको अपनी सेवा के लिए उपयुक्त समझी चुन ली। यह एक तो प्रथा बन गयी है कि ऐसी चुनी हुई व्यवस्था को शासन व हुकूमत कहा जाता है, पर स्पष्ट है कि चुना गया मात्र प्रतिनिधि है, जिसने चुना है शासक वह है।

लोकतन्त्र का आशय सिवा इसके कुछ नहीं है कि अपनी सुव्यवस्था के लिए उचित तन्त्र लोग स्वयं निर्मित व निर्वाचित करें। लोकतन्त्रात्मक यह यन्त्र ठीक काम न करे तो उसमें यथायोग्य अदल-बदल करते रहें। यथायोग्य और यथा-समय।

चुनाव है चारों राज्यों में और मन्त्रिमण्डल का निर्माण भी हो चुका है, पर वातावरण में क्षोभ है। विशेषत: हरियाणा में जो घट रहा है उससे तो लगता है कि लोकतन्त्र दलतन्त्रता के हाथों कहीं एकदम चरमरा तो नहीं उठा हैं। दलों की बद्राबदी के व्यवहार से तो लगता है कि क्या यह प्रयोग भारत में सफल भी हो सकेगा? इस संशय का कारण है यहाँ की भूमि और मनोभूमि। उसकी प्रकृति, उसकी परम्परा, और आयातित 'पालिटी और पोलिटिक्स' की नई धारणाएँ।

'पोलिटी' एक विदेशी शब्द

'पोलिटी' शब्द का पर्याय हिन्दी में नहीं है। मेरा अनुमान है कि भारत की किसी भाषा में नहीं है। कारण, उसका आशय यहाँ के मन के लिए विदेशी रहा है। कह सकते हैं कि बहुत अंशों में यह भाव यहाँ की प्रकृति के लिए अमान्य भी रहा है।

हम समाज, लोक अथवा प्रजा शब्द से परिचित रहे हैं। 'पोलिटी' समाज

का वह रूप है जिसे शक्ति के मूल्य से एकजुट रखा जाता है। अर्थात जिसके केन्द्र में सत्ता-राजन्य और सामान्य इन दो वर्गों में बंटा समाज 'पोलिटी' है।

मानव अपनी व्यवस्था के लिए इतिहास में नाना प्रकार के प्रयोग करता आ रहा है। उस प्रक्रिया में हम लोकतन्त्र के विचार तक आ गये हैं। इस विचार के मूल में मान्यता है कि राज समाज के हाथ का उपकरण है। समाज उस द्वारा व्यवस्थित तो होता है, शासित नहीं। इसीलिए विचारकजन लोकतन्त्र के आदर्श को श्रेणी-शासनमुक्त समाज के रूप में देखने को विवश हैं। शायद आदर्श आदर्श है ही इसलिए कि वह अपनी पूर्णता में अप्राप्य है।

किन्तु उस दिशा में यदि हमको बढ़ना हो, और जाने-अनजाने मानवता उसी दिशा में बढ़ती रही हो, तो क्रमशः सार्वभौमता का भाव शक्ति से नीति के मूल्य की ओर उठते जाना चाहिए। राजशाही अगर अब लोकशाही का रूप ले उठी है तो उसका आशय यही है कि सत्ता सर्वोपरि नहीं है, उस पर मर्यादाएँ हैं। इस मर्यादा का नाम संविधान है। अर्थात एग्जेक्यूटिव यानि सरकार सर्वतन्त्र स्वतन्त्र होती नहीं। उसके ऊपर न्यायपालिका होती है, विधानसभाएँ होती हैं, और सबसे बड़ा अंकुश आधुनिक लोकमत के हाथ का उपकरण प्रेस होता है। यह सब सस्थाएँ सरकार अर्थात शक्ति-तन्त्र को नीति की सीमा में रखती है।

समाज की शक्ति-केन्द्रित या राज-केन्द्रित धारणा भारतीय मानस को स्वीकार्य नहीं हुई। यहाँ का समाज राज्याश्रित या राजसीमित नहीं था। बर्तानी शासन के समय, जबकि माना जाता था कि राष्ट्र के रूप में भारत एक है, 600 से ऊपर राजे-रजवाड़े थे। यह समझना भूल होगी कि भारत एक और एकत्र था तो ब्रिटिश छत्र की छाया के तले। बल्कि सच यह है कि उस छाया ने भारत की एकता को निरा राजनीतिक रूप दे डाला था। निरा कहने का आशय कि साम्प्रदायिक व जातीय पृथक भाव भीतर ही भीतर बर्तानी साम्राज्यवाद के कारण निरन्तर तीव्र ही होते जा रहे थे।

उस साम्राजी सत्ता के हटने की सम्भावना हुई कि तरह-तरह के समुदाय उभरे और अपनी पृथक अस्मिता के लिए अलग आश्रय चाहने लगे। जिन्ना के 'दो राष्ट्र के सिद्धान्त' के आधार पर विभाजन हुआ, लेकिन विभाजन वहीं खत्म नहीं हो गया, वहाँ से शुरू हुआ और अब फिर सारे देश में फैलता जा रहा है।

पोलिटिक्स या राजनीति

पोलिटिक्स का अनुवाद किया जाता है—राजनीति। पर हम जानते हैं कि पोलिटिक्स राज में ही नहीं, सब जगह चलती और चल सकती है। शक्ति और सत्ता का मूल्य मानसिकता में जमने लग जाता है तो सबको अपनी अलग अस्मिता की

सुध होती है। पोलिटी और पोलिटिक्स के विचार ने आकर भारतीय मानसिकता के साथ यही खेल खेल डाला है। देश अखण्ड रह सका था सहस्र वर्षों के इतिहास में। कोई सहारा न था उसे राज की एकता का। एकता बनी रही सिर्फ इस आधार पर कि क्षत्रिय सत्ता के मान-मूल्य को मानकर सार्थक हो सकता था और वैश्य अर्थ के मूल्य को सर्वस्व मानकर फल-फूल सकता था। उन दोनों के लिए समाज में पूरा अवकाश था। राजा होते थे और सेठ होते थे। उनका समाज में स्थान था और भरपूर उपयोगिता थी। लेकिन समाज मूल्य अपरिग्रह था और शीर्ष पर उस मूल्य का प्रतीक वह संन्यासी पुरुष था जिसके पास अपना कहने को कुछ न था। सार्वभौमता इन मूल्यों को प्राप्त थी। इस कारण ही सम्भव हो सका कि समाज अनेकानेक राजाओं और धनाढ्यों को अपने भीतर समाकर भी, राज और धन दोनों सत्ताओं से निरपेक्ष स्वाश्रयी और स्वाधीन रहता चला गया। राजा लड़ते-झगड़ते रहे और अर्थ के क्षेत्र में भी स्पर्धाएँ काम करती रहीं, लेकिन समाज टूटा और बिखरा नहीं। उसकी धुरी सही रही और राष्ट्र शरीर की रीढ़ मजबूत बनी रह सकी।

प्रतीत होता है कि पोलिटी की धारणा के आयात के बाद जीवन नीति पोलिटिक्स से ऐसी छा गयी कि सामाजिक चेतना में से वह तत्व ही गायब होता जा रहा है जो समाज को मूल्य के चारों ओर जुटाये रखता है। विघटन का भाव, बावजूद सरकारी प्रयत्नों के, बल्कि हो सकता है कि उस कारण और भी, घुन की तरह राष्ट्र के शरीर को खाता जा रहा है।

सत्ता पर निगाहें

प्रबुद्ध वर्ग में शायद ही कोई बचा हो कि जिसकी निगाहें सत्ता पर न हों। समूचा देश मानो राज का मुखापेक्षी हो गया है। शिक्षा नीति वहाँ से आती है। गाँधी जी ने रचनात्मक कार्य आरम्भ किये थे। अब उन सब प्रवृत्तियों की नकेल सरकार के हाथ में है, यानि धीरे-धीरे समाज और राज्य की आपसी रिश्ता ही उलटता जा रहा है। 'पावर बिलांग्स टू पीपल्स' सिद्धान्त सूत्र यह कायम है। व्यवस्था का रूप लोकतांत्रिक है। पर यथार्थ सिद्धान्त से टूटा और उल्टा है। सिद्धान्त में राज समाज के प्रति उत्तरदायी है, पर वही समाज आज अशक्त, असहाय अनुभव करता है अपने को। सामाजिक सब व्यवहार, सब कामकाज, अर्थ के माध्यम से सधता है। लेकिन अर्थनीतियाँ कुछ ऐसी हैं कि श्रमिक भूखा रहता है और मालामाल वो दिखता है कि श्रम जिसे छू नहीं गया। सरकार का तन्त्र भारी से भारी पड़ रहा है। उसका सारा बोझ अन्त में उस नागरिक पर पड़ता है जिसके कन्धे पहले ही पिचके हुए हैं। अर्थ मानो अपना सामाजिक अर्थ ही खोए दे रहा है।

श्रम सन्तोष से जीने की विधा पिछड़ गयी है। मालूम होता है कि स्पर्धा ही एक प्रेरणा है और डार्विन का 'सरवाइविल आफ दि फिटेस्ट' का सिद्धान्त ही अन्तिम है। बलवान जिएगा और बलहीन उसका शिकार होता रहेगा।

लेकिन यह सिद्धान्त तभी खोटा और पुराना पड़ गया जब पार्लियामेण्ट की सृष्टि हुई और लोकतन्त्र जैसे शब्द के निर्माण की आवश्यकता हुई। उस समय मानो मनुष्य ने स्वीकार किया कि बाहुबल के ऊपर भी कुछ बल है। बहुमत के बल को सीधे बाहुबल की भाषा देना उसके अभिप्राय को ही खण्डित करना होगा। हाँ, एक तरह वह संख्या बल है, लेकिन यदि मतदाता की ओर से मत मुक्त-भाव से आता है तो बल वह नैतिक हो जाता है। जिस क्षण मानव जाति ने निर्वाचित तन्त्र की बात सोची, गणतन्त्र-प्रजातन्त्र के शब्द निर्मित हुए, मानो तभी उसने अपनी इस नैतिक निष्ठा का उद्घोष कर दिया। अर्थात बाहुबल पीछे छूटा रह गया, मानवता उससे आगे आ गयी।

किन्तु विचार के क्षेत्र में ही यह सच सच रहा। माना गया कि 'सत्यमेव जयते'। किन्तु व्यवहार में इसे झुठलाना ही पड़ता हो तो—तो विचार व्यवहार का यह फर्क हमारी व्यवस्थाओं को कभी स्थिर नहीं रहने देगा। समाज के शरीर में व्याप्त यह मिथ्यावाद, अनिष्ठ परिणाम लाए बिना न रहेगा। आसपास लोकतन्त्र बने हैं और टूटे हैं। यदि उस नाम पर लोकवाद का एक छद्म ही रह जाता है, तो मानों सैन्यवाद और एकतन्त्रवाद के लिए मानो वह निमन्त्रण ही बन जाता है।

निर्वाचन में शायद ही कभी 60 प्रतिशत से ऊपर मतदान होता हो। लोगों को जैसे-तैसे घेरकर लाया जाता है तभी यह 60 प्रतिशत पूरा होता है। सब राजनीतिक दलों की कुल सदस्य संख्या वयस्क आबादी का कितना प्रतिशत होगी, यदि कहें तो कुल इस समूह को पोलिटिकल कह सकते हैं। समाज तो सदा-सदा उससे बहुत व्यापक वृत्त है। समाज का वह व्यापक क्षेत्र परस्पर-द्वन्द्व-स्पर्धा के सिद्धान्त पर सही तौर पर स्वस्थ और व्यवस्थित रखा नहीं जा सकता। उसे तो सहयोग और सद्भावपूर्वक ही जीना है। दलगत स्पर्धाओं के आधार पर चुनाव होते हैं और उनके फलस्वरूप शासन सत्ता का निर्माण होता है, तो मानो प्रतिस्पर्धा और पृथक भावना का जहर सारी हवा में भर जाता है। उसके कीटाणु संक्रामक होते हैं और वह महारोग का स्वरूप प्राप्त करते हैं। कुछ ऐसी ही स्थिति में से हम गुजर रहे हैं।

कुछ पहले एक विवाद चला था पालियर्मेण्ट्री और प्रेसीडेन्शल पद्धति का। वह विवाद अब मद्धिम है। तो भी 'अथारीटेरियन्जिम' शब्द हवा में जीवित है। मुझे प्रतीत होता है कि बड़ा प्रश्न है कि समाज और राज के रिश्ते को सही

धुरी पर कैसे कायम किया जाए? राजनीतिकों और राजनेताओं को अन्तिम मनुष्य के प्रति दायित्वशील कैसे बनाया या पाया जाए? आज तो देखा यह जाता है कि नेता का भार ढोती है जनता। जनता के दुख-दर्द का भार, मंच के भाषण से बाहर, उसे तनिक भी कष्ट नहीं देता। यदि राजनीति का यही हाल रहा तो भारत को जाने किस गम्भीर और संक्रामक संकट का सामना करना पड़े, कहा नहीं जा सकता।

□

अमीर बनने की बेतहाशा दौड़

सरकार का पहला प्रण और पहला दायित्व है प्रजा में कोई भूखा नंगा न रहेगा, न कोई बेकार और बेघर होगा। सरकारें इस दायित्व के प्रति परायण न रहतीं हों सो नहीं। भरसक प्रयत्नशील भी रहती हैं कि दायित्व में त्रुटि न हो। लेकिन बेकारी कहीं घटी पर नहीं दीखती। औद्योगिक देशों में बेरोजगारी बढ़ रही है। कहीं तो यह समस्या आर्थिक से राजनीतिक रूप लेने की धमकी दे उठी है। दीनता और विपन्नता सम्पन्नता के साथ घटती नहीं है, उल्टे बढ़ती देखी जाती है। भारत के बारे में एक जानकार का कहना है कि वो दुनिया में सबसे गरीब देश है। लेकिन दिल्ली आनेवाला कोई न कह सकेगा कि भारत बेहद सम्पन्न देश नहीं है। यहाँ जितना और जो निर्माण हो रहा है किसी को भी अचम्भे में डाल दे सकता है। फिर भी आबादी का बहुत-बहुत बड़ा प्रतिशत यहाँ दीनता की रेखा से नीचे रहता है। कैसे जी पाता है? यही विस्मय है।

सम्पन्नता और विपन्नता का यह सहभाव और सहयोग गहरी चिन्ता और गहरे निदान का विषय होना चाहिए था। पर व्यवस्थापक का उधर उतना ध्यान प्रतीत नहीं होता। राजनीतिक गतिविधि में उस कारण कोई हेर-फेर आता नहीं दिखता। मालूम होता है कि ज्यों-ज्यों एक दिशा में उत्कर्ष का भोग प्राप्त हो रहा है, दूसरी दिशा में मानवता उतनी ही नीचे जा रही है। एक की उन्नति मानो दूसरे की अवनति की शर्त पर ही सम्भव हो पा रही है। इस विरोधाभास के तल में उतरने की आवश्यकता है।

अपेक्षित फल नहीं

गरीबी है और अगर इस गरीबी के पास बैंकों को सुलभ ऋण की सुविधा देने के लिए भेज दिया जाता है तो सीधी सी बात है कि गरीबी का दूर होना शुरू हो जाना चाहिए। बात सचमुच सीधी है, पर फल सीधा वह नहीं आता जो आना चाहिए, तो इसका कारण?

एक गाड़ी नदी के किनारे पहुँची जिसे पार करना था। गाड़ी में सामान्य नहीं बुद्धिमान जन थे। इसलिए उन्होंने नदी की चौड़ाई-गहराई को नापा और औसत निकालकर गाड़ी बढ़ा दी जो डूब गयी। तब से कहावत है : "लेखा ज्यों का त्यों, कुनबा डूबा क्यों?"

हिसाब के और आँकड़ों के बल पर मनुष्य की समस्या को निपटाने का यह तरीका बड़े लोगों द्वारा सदा अपनाया जाता रहा है। आजकल तो उसे अत्यन्त वैज्ञानिक रूप मिल गया है। पर आदमी में एक माँग है जो पैसे से भरती नहीं। बल्कि पैसे से भरने चलो तो वह और उभरती है। इसलिए अक्सर उपकर्त्ता वर्ग में से शिकायत उठती रहती है कि देखो हमने तो भला किया उसकी ही बुराई हमें मिल रही है। अर्थात उपकार देखा गया है कि हठात अपकार में जा बदला है। धनी देश उपकार के भाव से गरीब देशों के प्रति झुकना चाहते हैं और जब देखते हैं कि गरीब देश तो उल्टे गुर्राने को हो रहे हैं तो वे अपने उपकारी मिशन को लेकर लौट पड़ते हैं। यह आज विश्व की समस्या है, लेकिन मूल में वह मनुष्य की समस्या है।

आज गरीबी सबसे डरावनी चीज है। उस डर के मारे सब अमीर बनने की होड़ में लपके जा रहे हैं। बड़ा क्रूर है यह संघर्ष। बस आपाधापी ही है नियम यहाँ। जो बढ़ गया, बढ़ गया। पिछड़ गया, वह राह में ही कुचल गया। सफलता की इस दौड़ में किसी को फुरसत नहीं कि कौन गिरता है, कौन मरता है। और यह संघर्ष समझी जाने वाली सफलता से समाप्त नहीं हो जाता, बल्कि वहाँ वह और भी तीखा और धारदार बन जाता है। सफल और सबल ताकतों की प्रतिस्पर्धा जब समाई से ऊपर आती है तो नाम होता है उसका युद्ध। और इस युद्ध के यज्ञ में हविष्य बनते हैं वे करोड़ों-करोड़ जन जिनको युद्ध से कुछ लेना देना नहीं होता।

वैज्ञानिक समझे जानेवाली पद्धति से मानवीय समस्याओं को निपटाने का अन्तिम परिणाम जो आता है वह होता है प्रतिद्वन्द्वी शक्तियों का चरम ध्रुवीकरण और निरन्तर द्वन्द्व के स्फोट की आशंका।

गरीबी से भयमुक्ति

लेकिन कुछ जन हुए जिन्हें गरीबी का डर हुआ ही नहीं। खूब अमीर घरानों में उन्होंने जन्म पाया और मानो डर लगा उन्हें उस अमीरी से। उनके सामने भी मनुष्य के दुख-त्रास, ताप-सन्ताप की समस्या आयी। तब अमीरी का और सत्ता-सम्पत्ति का सुख-भोग मानो उन्हें काटने लगा। सब छोड़ वे निकल पड़े मनुष्य के इस दुख की समस्या के निदान और समाधान के लिये। इस मार्ग में उन्होंने

अपने को नितान्त असहाय बना डाला। वे जानबूझकर भिखारी बने, उपवास पर उपवास भोगे। जाने क्या-क्या आपदाएँ नहीं उठाईं। और अन्त में मनुष्य ने पहचाना कि ये पुरुष ही थे जिन्होंने मार्ग पाया था। उन्होंने स्वयं मुक्ति सिद्ध की और सबको मुक्ति का मार्ग दिखाया। हजारों-हजारों वर्ष बुद्ध को हुए, महावीर को हुए, और मनुष्य उनको भगवान के रूप में पूजकर सदा वहाँ से धन्यता और प्रकाश प्राप्त करता आ रहा है।

इन लोगों ने तो देने को अपने पास कुछ रहने ही नहीं दिया। बैंकों के पास करोड़ों करोड़ की पूँजी होती है, सरकारी आदेश पर मुफ्त तक बाँटने के लिये। इनके पास कौड़ी तक न थी। हालत अपनी इन्होंने यह बना ली थी कि हाथ पसारें तब उसमें किसी की कृपा का अन्न का कौर आकर पड़े। इतने असहाय, इतने अकिंचन। पर इतिहास ने माना कि यह पुरुष मानवता के सच्चे उद्धारक, नेता, त्राता और मुक्तिदाता हुये।

अर्थात बाहर धन है, लेकिन मनुष्य के भीतर मन भी है। धन की गरीबी चिन्तनीय इसलिए है कि वह मन की गरीबी पैदा करती है। दूर आत्मदैन्य को करना है। धन आसमान से नहीं टपकता। मनुष्य श्रम से उसे पैदा करता है। धन के इस भेद को मार्क्स ने समझा और खोलकर समझाया। तब यकायक क्रान्ति हो आयी मनुष्य के दर्शन में। असहाय और निरुपाय वर्ग, जिसको प्रोरतारियत कहा गया, जग उठा। उसने जारशाही को गिरा दिया। उसमें से अपना एक तानाशाह ऊपर आ गया। कहा जा सकता है कि धन से दीन और दरिद्र वर्ग के आत्मदैन्य को दूर किया मार्क्स ने और उस बल से बाहर सत्ता-सम्पदा की दुनिया में एक क्रान्ति कर दिखायी। हाँ, हुयी क्रान्ति। लेकिन क्रान्ति वह बेहद अधूरी इसलिए रह गयी कि वह सामाजिक न हो पायी और नितान्त राजकीय बन गयी। उस कारण स्वयं उस क्रान्ति ने वंचित मनुष्य के आत्मदैन्य को और गहरा करना आरम्भ कर दिया। प्रोरतारियत के डिक्टेटर में और स्वयं प्रोरतारियत में सहानुभूति का सम्बन्ध उजड़ गया। सम्बन्ध सहानुभूति की जगह आतंक का हो आया। सत्ता-सामर्थ्य मनुष्य के अपने पास से छिनकर मानों कहीं ऊपर पद पर सिमट बैठी और नीचे आत्महीनता की पराधीनता की अनुभूति फैलने लगी।

आन्तरिक क्रान्ति

क्या दिया बुद्ध ने? कल्पना कीजिए कि एक दीन-हीन जन की कुटिया के द्वारे बुद्ध पहुँचते और भिक्षा के लिए हाथ पसार देते हैं। क्या होता होगा तब उस दीन-हीन जन में। क्या दीनता अभाव जन्म-जन्मान्तर के लिए उसके पास से कट न जाता होगा? अपार धन्यता में वह नहा ही न आता होगा। यह आन्तरिक क्रान्ति

यदि मनुष्य में होती है तो मानों वह अपने में दास की जगह स्वयं प्रभु बन आता है। एक प्रकार के आत्म सामर्थ्य से वह भर आता है।

बौद्धिक बन्धु कहेंगे कि क्रान्ति यह भावुक भर रहेगी, वास्तविक न हो पाएगी। वस्तु व्यवहार मुद्रा से चलता है। वहाँ आवश्यकता है मौलिक परिवर्तन और इस मूलभूत परिवर्तन के नाम पर पूँजीवाद की जगह साम्यवाद लाया गया। लेकिन उस से क्या हुआ? पूँजी की जकड़ गयी, तृष्णा टली? सत्ता का दर्प कम हुआ? सिर्फ इतना हुआ कि पूँजीवाद के भूत के सामने साम्यवाद का दूसरा भूत उपजकर आ खड़ा हो गया और दोनों के बीच ललकारें शुरू हो गयीं। इससे अधिक क्या हुआ। क्या सत्ता श्रम के पास आयी? सिक्के में से शोषण की क्षमता का तनिक भी ह्रास हुआ?

मानना होगा कि भले दुनिया बुद्ध को भगवान कहे और उनकी प्रतिमा पर पूजा-अर्चना के फूल चढ़ाए, लेकिन उनका काम अनार्थिक और अवैज्ञानिक है। इमोशनल और सेण्टीमेण्टल है। निरा-निरा सब्जेक्टिव है। समस्याएँ आर्थिक और राजनीतिक हैं और आत्मिक के नाम पर उन्हें किनारा देकर बचा नहीं लिया जा सकता।

लेकिन मुझे कहना है कि राजनीतिक और आर्थिक से पहले समस्याएँ वे मानविक हैं। व्यवस्थापक के लिए उन समस्याओं की ओर बढ़ने और उन्हें छूने से पहले आवश्यक है कि वह इस तत्व को पहचाने। सोचे कि क्यों आवश्यक हुआ बुद्ध और गाँधी के लिए अन्तिम मनुष्य की सहायता के निमित पहले अन्तिम से भी अन्तिम मनुष्य वह स्वयं बनें। यह समझना कठिन नहीं होना चाहिए कि श्रम के पसीने को बूँद बूँद निचोड़कर नाना करों के रास्ते ऊपर राज्य की तिजोरी में धन इकट्ठा किया जाता है। वह धन बड़प्पन देता लगता हो पर असल में वह ऋण भार है। जिसके पास श्रम है और प्रेरणा प्राप्ति के लिए वह मनुष्य आधार है ऊपर के सब वैभव का। यह दृष्टि प्राप्त होने पर फिर आंकिक हिसाब अपना सही उपयोग दे सकेगा। मानव-मूल्य से निरपेक्ष होकर जुटाए गये आँकड़े और उसके आधार पर बनाई गयी योजनाएँ अभीष्ट से उल्टा ही फल देने वाली सिद्ध होंगी।

□

शिष्टता, भ्रष्टता से अलग कुछ चीज नहीं

राजघाट (गाँधी समाधि) ही की तरह नेहरू समाधि (शान्ति वन) का भी अपना आकर्षण है। सवेरे घूमने निकलने वाले लोगों के लिए यह लुभावनी जगह है। साल के बारह महीने नियम से वहाँ आनेवाले लोगों का एक प्रभात मण्डल बन गया है। हर सवेरे जैसे एक मजलिस जमती है और उस चर्चा गोष्ठी में दुनिया का कोई विषय छूटा नहीं रह जाता है।

एक ने कहा, ''राज्य इन्दिरा जी का नहीं है, काँग्रेस का नहीं है, राज्य रिश्वत का है।''

कहा और अपने अनुभव सुनाने शुरू किए।

दूसरे ने सब सुनकर कहा, ''ऊपर से नीचे तक सबकी कीमत है।''

एक बुजुर्ग बोले, ''नहीं ऐसे थोक फैसले नहीं लेने चाहिए। बात उतनी ही कहनी चाहिए जिसका सबूत हो।''

इस पर ले दे मची और बुजुर्ग को स्वीकार करना पड़ा कि हाँ, ''अन्तुले और हरियाणा के बाद जो कहो कम है।''

मण्डली में तरह-तरह के लोग हैं। समझ लीजिए कि वह बात भी है, लोकमत की और लोकमानस की।

भ्रष्टाचार के बारे में बहुत कुछ कहा गया है। लगातार कहा जाता रहा है, और उसको हर कोई मिटा देखना चाहता है, पर भ्रष्टाचार है तो यह कम होने में नहीं आता। पूरी एक समानान्तर इकानोमी चल रही है और दूसरे नम्बर का पैसा शायद पहले नम्बर से आज कुछ ज्यादा ही जोर बाँधे हुये है। राजनीति खर्चीली हुई है और दुनिया का कौन सा काम है जो बिना पैसे के हो पाता है। राजनीतिक काम तो फिर बड़ा काम है।

जिसको भ्रष्टाचार कहा जाता है वह कानूनन अपराध है। जब तक कुछ मामले सामने आते हैं और सजाएँ भी मिलती हैं। पर उस कारण सचमुच इस बेबाकी जरा भी रोकथाम हो पाती हो ऐसा नहीं मालूम होता।

कानून हिसाब में है

मैं समझता हूँ यह हो भी नहीं सकता। आखिर यह आचार अपराध ही तो है, पाप तो नहीं है। पाप-बोध आदमी के मन से धीरे-धीरे निकलता चला गया है। वह था जो भीतर से आदमी को रोकता था। अब कोई सिर्फ बाहरी रुकावट है कानून की। जिसको छकाना ऐसा अनुभव करता है कि उसके लिए मुश्किल नहीं है। लोग मानते हैं कि आर्थिक अपराधों में अगर किसी को सजा मिलती भी है तो शायद यह कि पैसा भरपूर नहीं दिया है। कानून किताब में रहता है। अमल में आना है तो आदमी के जरिए। आदमी आदमी है, और अपने भले बुरे की सोच सकता है। सरकारी कर्मचारी है, अफसर है, पुलिस है या न्याय पर बैठे जन हैं। सब कुटुम्ब कबीले वाले हैं। पैसा किसी को क्यों बुरा लगना चाहिए? अतिरिक्त पैसे से अतिरिक्त सुविधाएँ होती हैं। अगर पैसे के विनियोग से देने लेनेवाले दोनों खुश होते हैं तो इसमें तीसरे का क्या सवाल है। तीसरा पक्ष है जिसे सरकार कहते हैं। तो वह सरकार इतनी बड़ी और गोलमोल सी चीज है। उसका कभी कुछ बिगड़ ही नहीं सकता। दोनों ओर का काम बनता है। तो इसमें क्या हर्ज क्या बिगाड़ सब उसी का तो है जिसका कुछ बिगड़ सकता है नहीं। और एक बात है। वह बात है जीवन के मान की। एक जीवन मान से नीचे रहता है। तो आप आदमी की गिनती में ही नहीं आते हैं। इसलिए ज़ीवन मान को उस तल तक तो उठाये रखना हर समझदार आदमी के लिए आवश्यक है। जहाँ आप भी इन्सान में शुमार हो सके। फिर समाज का शिष्ट वर्गताओं से भी ऊपर है। अर्थात भ्रष्टाचार शिष्टाचार के लिये है। जब तक कानून की गिरफ्त में नहीं आता। तब तक वह शिष्ट वर्ग का आचार है। आप शिष्ट वर्ग में यदि स्थान रखते हैं तो टटोलकर पाइये कि उसके नीचे भ्रष्टता है ही नहीं। अन्तिम विश्लेषण में हाथ आएगा कि शिष्टता भ्रष्टता से अलग कुछ दूर की चीज नहीं है। काफी ऊँचाई पर पहुँचकर भ्रष्ट शब्द अपनी भ्रष्टता खो देता है। अन्तुले साहब को अदालत और बड़ी अदालत कुछ भी कहिए वह उससे भी बड़ी अदालत में जा सकता है। वहाँ की बात को भी अँगूठा दिखा सकते हैं। दल बदलकर अगर कोई मिनिस्टरी पर पहुँचता है तो फिर कौन पूछने जाता है कि सौदा क्या हुआ और मुख्यमन्त्री की क्या यह कुशलता ही न मानी जाएगी कि उसने विपक्षियों को जोड़ा और बहुमत तैयार कर लिया। कुछ दकियानूस हो सकते हैं जो इसमें भ्रष्टता देखें बाकी सब लोग तो इसमें सफलता ही देखेंगे। दीखने के लिए अन्त में सफलता ही तो रह जाती है। भ्रष्टता तो इसमें मानी जाएगी कि आप विफल होकर पिछड़े ही रह गये है। सिद्धि सब साधनों को पवित्र कर देती है।

मूल्यों में यह विपयर्य कैसे और क्यों घटित हो जाता है? मैं मानता हूँ कि मूल्य का प्रश्न नैतिक और आन्तरिक है। आर्थिक क्षेत्र में इस आन्तरिकता की संगति ही नहीं है। दो के बीच में हिसाब को बिठा दीजिए तो कर्त्तव्य वहाँ से गायब हो जाएगा। एक दूसरे में हर कोई अपना लाभ निकालने की सोचेगा और इसका दायित्व कभी अपने पर नहीं लेगा कि अपने लाभ में दूसरे की हानि तो नहीं हो रही है। हो रही है तो हो। हम क्या करके अपना लाभ खो दें। जी नहीं, घर रखिए ऐसी अपनी नैतिकता।

अपराध और पाप

ऊपर अपराध और पाप की बात आयी है। अपराध के इलाज के लिए दण्ड की व्यवस्था की जाती है। बड़े अपराध के लिए बड़ा दण्ड। पर तमाशा यह देखने में आता है कि कानूनों की बँटवारी के साथ अपराधों की गणना भी बढ़ती जाती है। दण्ड की घोरता पर अपराध की घोरता कम नहीं हुई है। इससे पता यह चलता है कि जब तक अन्दर से कोई ऐसी चीज नहीं आती जो मनुष्य को अपराध के मार्ग पर चलने से रोके तब तक वह मार्ग लुभावना ही दीखता रहेगा। उसमें दीखेगा कि नकद लाभ और अगर आपके पास होशियारी है और समझदारी है तो आप दिखते हुए लाभ से नाहक अपने को वंचित रखना नहीं चाहेंगे। आखिर बाहर के डर से तो जो रुका रह जाता है कायर ही तो है। हिम्मत वाला क्यों रुकेगा? और राजनीति हिम्मत का खेल है। सचमुच उसकी प्रशंसा नहीं की जा सकती। जो भाग्य को लेकर नीचे पड़ा है और मैं स्वयं मानता हूँ कि मूल का प्रश्न सर्वथा निरपेक्ष नहीं है। नैतिकता प्राणवन्ता के अभाव का नाम नहीं है। इसलिए नेता जाति के पुरुष के लिए जो सामान्य मनुष्य में प्रशंसा के भाव उदित होते हैं सो सर्वथा उचित और अनिवार्य हैं। सिद्धान्त धरे ही रह जाते हैं और ऊपर किताब में जब तक कोई साहसी और पराक्रमी पुरुष उन्हें खींचकर धरती पर नहीं लाता। इसलिए पहले सप्राणता की आवश्यकता है। उसके आगे महाप्राणता तक उठना है और आप देखेंगे कि महाप्राण व्यक्ति अपराध की रेखा को लाँघ जाता है। नैतिकता उसे रोकती नहीं बल्कि उसे इस रेखा को लाँघ जाने की उल्टी शक्ति देती है। शक्ति आन्तरिक होने से बाहर के विचार की सीमा से आगे जाता है।

क्राइस्ट ने सूली पायी। सुकरात को दण्ड के रूप में जहर दिया गया। गाँधी जेल पर जेल गये। इसीलिए न कि ये सब अपराधी ठहराये गये थे। लेकिन अपराध खुलकर करने की हिम्मत इनमें इसीलिए हो सकी थी कि अपने अन्तःकरण की ओर से किसी प्रकार का अपवाद वे नहीं स्वीकार कर सकते थे। जान से कोई बड़ी चीज थी इनके पास जिसकी रक्षा में अपनी जान खो देना इनके लिए कठिन नहीं था।

वह बड़ी चीज हमारे पास से छिन गई है। स्वीकार हम करते हैं कि सत्य ही जीतता है। सत्यमेव जयते के मन्त्र को राजनीति सहर्ष अपने शीर्ष पर लेती है। लेकिन सत्य की जीत किसी सुविधा को, सफलता को, लाभ को हाथ से नहीं छोड़ सकती। परिणाम यह कि तात्कालिक लाभ से आगे फिर सत्य जीतने को रह नहीं जाता।

संस्था बनाम गुण

हर दल के लिए यहाँ आवश्यक है कि सत्ता पर पहुँचे। साँठगाँठ जो उसके लिए करनी पड़े सब ठीक है। इस खेल में संख्या जीतती है गुण हारता है। लोकतान्त्रिक राजनीति में संख्या के महत्त्व को बहुत बढ़ा डाला है। इसलिए गुण की दृष्टि क्षीण हो गयी है। वयस्क मताधिकार इस आधार पर सही था और सही है कि उससे बनी व्यवस्था मौलिक आवश्यकताओं के दायित्व को सम्भाल लेगी और किसी को बेकार या भूखा नहीं रहने देगी। गुजर-बसर के प्रश्न के लिए गुणात्मक दृष्टि उतनी आवश्यक है भी नहीं, लेकिन लोकतान्त्रिक राज्य व्यवस्था अब तो पूरे जीवन को घेर लेना चाहती है। अर्थात भौतिक आर्थिक से आगे नैतिक, सांस्कृतिक और शैक्षिक आयामों के प्रति भी वह अपनी दावेदारी जतलाना चाहती है। ऐसी अवस्था में गुण के विरोध में केवल संख्या का आधार कैसे पर्याप्त माना जा सकता है?

मेरा विश्वास है कि मूल विपर्यय के मूल में कारण यह संख्या का गुण के ऊपर आ जाना है। संख्या का अपनी जगह महत्व है। पेट सबके समान हैं और उस तल की समस्या के लिए हिसाबी दृष्टि काफी नहीं है, लेकिन पेट सब कुछ नहीं है। पूरे मानव के प्रश्न के लिए उसके साथ गुणात्मक दृष्टि का योग आवश्यक है।

शायद समय आया है कि डेमोक्रेसी के सिद्धान्त को संख्या बनाम गुण की दृष्टि से आमचर्चा हो और उस पर आवश्यक संशोधन लाया जाए।

□

अहिंसा के आगे हिंसा का बल नहीं टिक सकता

फाकलैण्ड द्वीपों पर अर्जेण्टीना की सशस्त्र सेना ने हमला किया और अपना कब्जा जमा लिया। इग्लैण्ड वहाँ अपना अधिकार मानता था और कैसे इस फौजी कार्रवाई को बर्दाश्त कर सकता था। इसलिए प्रत्याक्रमण हुआ। इग्लैण्ड की सेना जीती, आत्म-समर्पण हुआ और अब युद्धविराम है।

लन्दन में इजराइली राजदूत की हत्या हुई। इजराइल फिलीस्तिनियों की इस जुर्रत और हिमाकत को कैसे चुपचाप लेता? उसने लेबेनान पर चढ़ाई की। फिलिस्तिनियों के गढ़ को घेर डाला और अन्त में वहाँ भी एक युद्ध विराम है।

युद्ध का विराम है। लेकिन क्या शान्ति है? अर्जेण्टीना और फिलिस्तिनियों की ओर से साफ संकेत है कि दुश्मनी कायम है और लड़ाई भी एक तरह से स्थगित ही है, बन्द नहीं है, बल्कि आशंका यह है कि बाहरी ताकतों के आह्वान और हस्तक्षेप से स्थिति अत्यन्त विकट न हो जाए। युद्ध जिसे अब तक घरेलू माना जा सकता है फैलकर कहीं दुनिया को न छा ले। स्पष्ट है कि यदि एक पक्ष को अमरीका का सहारा है, तो दूसरा पक्ष रूस की तरफ आशा की नजर से देखता है। अमरीका किसी तरह अपनी जीत मानकर शक्ति सन्तुलन में अपना वर्चस्व बढ़ा ले तो रूस पराजित पक्ष के आह्वान को सुनने और आवश्यक होने पर सहायता को दौड़ जाने को क्यों आनाकानी करेगा।

मतायुद्ध के बीज

अर्थात आपसी छुटपुट युद्ध में आज की परिस्थिति के बीज समाये रहते हैं महायुद्ध के। युद्ध का तरीका सवाल निपटाने का यो तो कारगर है, लेकिन अब तो उस तरीके का इस्तेमाल बेहद भयावह हो गया है। उससे मसला कभी हल नहीं हुआ, शान्ति नहीं आई, युद्ध का अन्त आने और लाने का सपना हमेशा चूर-चूर होता रहा और फिर भी मालूम होता है कि युद्ध का दूसरा विकल्प मानव जाति के पास है।

लोग हैं जो हिंसा से भय खाते हैं। कोई नहीं है जो युद्ध चाहता है। धन-जन का अपार नाश होता है उसमें, सब जानते हैं, लेकिन सिर्फ नकार कभी नहीं चल सकता। अभाव प्रकृति का सह्य नहीं है। हिंसा और युद्ध की गर्जना होती रही है और होती रहेगी। पर उस वर्जन से युद्ध का अन्त नहीं हुआ। हुआ केवल इतना है कि हिंसा और शान्ति के नाम पर कतिपय जन और वर्ग मानव पुरुषार्थ के मूल्य मार्ग से हटे और कटे रह गये हैं। मान सकते हैं कि वे उन्होंने मूल्य का और आदर्श का झण्डा नीचे नहीं होने दिया। पर यथार्थ को देखा जाए तो वे जन मूल्य और आदर्श के अवमूल्यन में इसलिए उल्टे सहायक ही हुए हैं कि उनको उन्होंने दुनिया के कामकाज के लिए असंगत और असमर्थ सिद्ध हो जाने दिया है।

युद्ध और शान्ति अगर ये दो पक्ष हैं तो युद्ध के प्रति जो तत्परता युद्धवासियों की ओर से आती है अर्थात लाखों-लाख जानें युद्ध के लिए कुर्बान हो जाने देने में उन्हें झिझक नहीं होती। तो क्या शान्ति की ओर से इस तत्परता का पासंग भी देखने में आता है। शान्तिवादी शान्ति के लिए उसी तैयारी और हौंसले के साथ लाखों-लाख की संख्या में मरने को उद्धत हो सकते हैं?

युद्ध समाप्त नहीं हुआ है और नहीं होगा। हो इतना भर सकता है कि युद्ध में एक पक्ष हिंसक हथियारों को लेकर सामने आता है तो दूसरा पक्ष अहिंसक हथियारों से उनसे जूझता है।

अहिंसा शास्त्र में युगों-युगों से रहती आई है। पर अपने जमाने में राम ने, श्रीकृष्ण ने और फिर गाँधी ने सिद्ध करके बताया कि हिंसा से कहीं ज्यादा ताकत अहिंसा में है और आमने सामने खुलकर वह युद्ध में है तो हिंसा का बल उसके आगे ठहर नहीं सकता।

राम-कृष्ण की महिमा

गाँधी की बात छोड़ दें तो राम कृष्ण के बारे में लोग स्वीकार नहीं करेंगे कि उन्होंने अहिंसा से काम लिया। लेकिन युद्ध अगर दोनों ओर से हिंसा का ही था तो रावण की और कौरवों की सेना से राम और कृष्ण की सेना की कुछ भी तुलना हो सकती थी। हिंसा के युद्ध में क्या बड़ी ही हिंसा नहीं जीतेगी। पर अगर नहीं जीती तो मानना होगा कि राम और कृष्ण के पक्ष में कोई दूसरी चीज थी जिसने जय दिलाई। राम तो अगर भारतवर्ष के साथ तमाम विश्व में अवतार मानने को तैयार होता तो क्या हिंसा की क्षमता के कारण। सारा जीवन उनका ओत-प्रोत दीखेगा अहिंसा के भाव से। रावण के प्रति भी उनमें शत्रुता की कल्पना नहीं की जा सकती। कृष्ण के बारे में तो स्पष्ट ही है कि महाभारत के युद्ध में

उन्होंने प्रण रखा कि वह शस्त्र नहीं उठाएँगे। शस्त्र और सैन्य शक्ति में उन्हें विश्वास होता तो अपनी सब सेना वो सहर्ष दुर्योधन को क्यों सौंप देते, बल्कि उन्हें विश्वास था कि निरी शक्ति नहीं जीतती, जीतती नीति है। युद्ध में सगे सम्बन्धियों को सामने देखकर अर्जुन ने धर्नुबाण छोड़ दिये। तब गीता का उद्‌बोधन प्राप्त हुआ। क्या था वह उद्‌बोधन! उसी के लिए गीता सर्वमान्य अध्यात्म ग्रन्थ के रूप में मानी जाती है। उसमें स्थितप्रज्ञता, विगतज्वरता आदि के सन्दर्भ ने मानो बाह्य अहिंसा को आन्तरिक अहिंसा में परिणत कर डाला है।

लेकिन राम और कृष्ण के समय विज्ञान का विकास उतना हुआ न था। बाहरी स्थूल हिंसा निभ सकती थी अहिंसा के भाव के साथ। हिंसा की क्षमता तब परस्परता के आर्वत तक सीमित थी। अब हिंसाभाव की संहारक क्षमता निर्वैयक्तिक होकर मानो सारभौम हो गई। अणुशक्ति का उद्‌घाटन हुआ है और इस अणुयुग में शान्ति का आर्विभाव भी। मैं मानता हूँ कि राम और कृष्ण के भाव को आज के औद्योगिक, यान्त्रिक, आणविक युद्ध के अनुकूल बनाकर गाँधी ने प्रस्तुत किया था। अणु की महाशक्ति आखिर निश्चेतन की केन्द्र रूप आत्म की शक्ति को स्फुरित और स्फुटित होने दिया जाए तो जड़ शक्ति उसके सामने निरुपाय बनी रह जाएगी।

अहिंसा अभाव नहीं है, कभी शक्ति के रूप में अहिंसा समक्ष नहीं है, तो जगह घेरने को हिंसा को आना ही होगा। उसमें से बचने का कोई उपाय नहीं। अतः हिंसा के उपकरण और साधन राष्ट्र-राज्यों के पास अटूट इकट्ठे होते जाते हैं।

निरस्त्रीकरण की चर्चाएँ

मानव जाति चाहे तो अपने बीच अहिंसक शक्ति के उत्पादन और उदय का मार्ग अपना सकती है। सरकारें कदाचित इसमें इतनी सहायक न हो सके, पर राज्य क्या मानव भाग्य को रोके रखेंगे? निश्चय ही मानव जाति के भाग्य में आणविक विस्फोटों से स्वाहा हो जाना ही नहीं है। राष्ट्रसंघ में निरस्त्रीकरण की चर्चाएँ चल रही हैं। उसमें संकेत मिलता है कि मनुष्य की माँग क्या है, आवश्यकता क्या है। राज्यों को अपने-अपने निहित स्वार्थ भले बनाए हों पर मानव जाति की आकांक्षा के समक्ष आगे पीछे उन्हें टूटना होगा। गुटनिरपेक्ष शक्तियों का राष्ट्रसंघ में बहुमत है। आशा करनी चाहिए कि उनका दबाव बड़ी शक्तियों को बाध्य करेगा कि वे शस्त्र परिसीमन से आगे बढ़ते हुए निशस्त्रीकरण की ओर बढ़े। कम से कम आणविक अस्त्रों के विषय में तो विश्व को अभयदान देने तक पहुँचेंगे। इस आरम्भ के अनन्तर मैं समझता हूँ कि हिंसा की शक्ति द्वारा खाली किया हुआ

क्षेत्र अपने बीच अहिंसक शक्ति के उद्भव के लिए आह्वान और अवकाश ले और तब समय होगा कि अहिंसा की दिशा में चिन्तन करनेवाली मेधा और मनीषा उठे और कुछ नया दर्शन और कार्यक्रम प्रस्तुत करे। कहने की आवश्यकता नहीं यह काम जनस्तर पर अन्तरराष्ट्रीय सहयोग द्वारा ही सम्पन्न हो सकेगा। शान्ति आन्दोलन अब भी अपने देशों में चल रहे हैं। उनमें परस्पर अनुबन्ध लाना होगा, और यह कार्य गाँधी का देश भारत अपना मान सकता है। मुझे पक्का विश्वास है कि इस प्रकार के कार्यक्रम को इन्दिरा सरकार अपना पूरा बल प्रदान करेंगी, सरकार बड़े पैमाने पर शस्त्रास्त्र खरीद रही हैं, सही, पर यह नहीं मान लेना चाहिए इस विवशता पर हम खुश हैं।

□

निर्वाचकीय प्रणाली अपने आप में पर्याप्त नहीं

ज्ञानी जैलसिंह का राष्ट्रपति के तौर पर निर्वाचन सुनिश्चित ही मानिए। इससे आशा की जाती है कि शासन निर्विघ्न और सुगम होगा। असहमति के अवकाश के लिए थोड़ी बहुत भी सम्भावना न रहेगी। यों तो संविधान की धाराओं के और परम्परा के अनुसार राष्ट्रपति के लिए प्रधानमन्त्री और कैबिनेट में संघर्ष होने का प्रश्न ही नहीं है। फिर भी माना गया कि सुविधा इसी में है कि दल का ही कोई विश्वास पात्र व्यक्ति इस सर्वोच्च आसन पर हो। राष्ट्रपति दल से ऊपर रहता है और ज्ञानी जैलसिंह अनायास, फिर भी सब प्रयास जा-जाकर लोगों को जतला रहे हैं कि अब वह पूरे राष्ट्र के हैं, दल के नहीं। फिर भी कांग्रेस और राष्ट्र की छवि को विश्व के समक्ष चमकाने के लिए अच्छा होता अगर प्रतिपक्ष परस्पर पूरक होते हैं, और देश के लिए यह सौभाग्य की बात नहीं मानी जा सकती कि पूरकता की जगह यहाँ उनमें एक प्रकार की विमुखता बन आई है। विपक्ष के इस सुझाव को कि सब मिल-जुलकर एकमत से राष्ट्रपति के पद पर किसी निष्पक्ष पुरुष को आसीन करें। लेकिन इस सुझाव का मौखिक रूप से सत्कार होने पर भी इसमें चाल देखी गयी है और अन्तिम क्षण पर ज्ञानीजी का नाम यकायक सामने किया गया। गनीमत है कि विपक्ष की ओर से खड़े होने को जस्टिस खन्ना मिल गये हैं और लाज बच गयी। अन्यथा यही प्रतीत होता कि भारतीय लोकतन्त्र में असहमति के उठने तक के लिए अवकाश नहीं है और शासनस्थ दल की ही मनमानी होती है। अब चुनाव होगा और कांग्रेस की विश्वसनीयता पुष्ट और प्रमाणित होगी।

लोकतन्त्रात्मक पद्धति अभी प्रयोग के दौर से गुजर रही है। इस प्रणाली में समाज व्यवस्था और राज्यव्यवस्था क्या होगी। उनका परस्पर सम्बन्ध किस प्रकार का होगा। यह सभी प्रश्न अभी विचार और विकास के अन्तर्गत हैं। लोकतन्त्र शब्द में ही गर्भित है कि धीरे-धीरे उसका राजतन्त्र का स्वरूप कम होते-होते समाप्त हो जाएगा और समाज अथवा लोग अपने को नाना प्रकार के स्वयंसेवी

और स्वशासी संस्थाओं द्वारा सम्भाल लेने के योग्य हो जाएँगे। स्वयं मार्क्स का यह स्वप्न था। यद्यपि इस प्रक्रिया में कुछ बीच के समय के लिए डिक्टेटरशिप की गुंजाइश रहने दी गयी। गाँधी के विचार में किसी डिक्टेटरशीप के अपवाद की अनिवार्यता न थी और उनका मानना था कि लोकतन्त्र को आरम्भ से ही इस रूप में गठित और विकसित किया जा सका है कि केन्द्रीय राज्य का कार्यभार शनैः-शनैः कम होता जाए और एक विकेन्द्रीत, फिर भी मर्यादित और अनुशासित समाज व्यवस्था उदय में आ जाए।

सही दिशा में विकास नहीं

पर देखा जाता है कि डेमोक्रेसी का विकास उस दिशा में नहीं होता। राज्य उत्तरोत्तर अधिक केन्द्रित और व्यापक बनते जाएँ। विकास की इस प्रक्रिया में विभिन्न राष्ट्रवाद एक दूसरे के मुकाबले खड़े होते हैं और प्रत्येक के लिए एक दूसरे की अपनी सुरक्षा बनाने के विचार उनकी प्रधान चिन्ता का विषय बन जाए। हर देश का सुरक्षा और प्रतिरक्षा व्यय अन्धाधुन्ध बढ़ता जाता है और सबको चौकन्ना और युद्ध तत्पर रहना पड़ता है।

यदि राजनीति की गतिविधि ऐसी ही रही तो मुझे प्रतीत होता है कि लोकतन्त्रात्मक राजपद्धति का आगे भविष्य नहीं है। कारण तन्त्र का नाम जो भी हो, जनतन्त्र, दलतन्त्र, या एकतन्त्र। उसको लाजमी तौर पर शस्त्र सैन्य से बढ़कर संगत होते जाना होगा, और इस सिलसिले में केन्द्रीय आधिपत्य को ज्यादा से ज्यादा मजबूत और संगठित होना होगा। असहमति की गुंजाइश को जड़ से खत्म करने की आवश्यकता अधिपति को प्रतीत होगी। प्राइमिनिस्टर या प्रेसीडेन्ट यों निर्वाचित हो पर अनुभव करेगा कि उसे अपनी जगह पर एप्सैल्यूट बनते जाना जरूरी हो रहा है।

राष्ट्र संघ में और विश्व के राजनीतिक एवं कूटनीतिक मैदान में रूस के मुकाबले अमरीका को नीचा देखना पड़ता है तो क्या इसी कारण नहीं कि वहाँ का जब शासक वर्ग उतना एप्सैल्यूट नहीं है। निर्वाचन की राजनीति थोड़ी बहुत अस्थिर अवश्य रहेगी। उस अस्थिरता में स्थिरता लाने के लिए कुछेक व्यवस्थाओं में 'जैसे इंग्लैण्ड और जापान' अपने बीच राजसंस्था को कायम रहने दिया है। राजा वहाँ क्या करता है, करता कुछ भी नहीं। फिर भी बेहद खर्च करके वहाँ इस राज संस्था के आडम्बर को बनाए रखना उनके लिए क्यों आवश्यक है? अस्थिरता में स्थिरता रखने के लिए इलेक्टिड पालिटिक्स में दलों की बदाबदी से ऊपर कुछ ध्रुव केन्द्र नहीं रहता तो व्यवस्था डगमगाई रहती है। इंग्लैण्ड जापान दोनों जगह अपने राजा को चुनने के विषय में कोई नहीं सोचता वह पैत्रिक

उत्तराधिकार से बनता और इसी में कुशल समझी जाती है। अर्थात बलाबल के परीक्षण से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। उसका काम सन्तुलन है। जिसे एक प्रकार का नैतिक दायित्व कहा जा सकता है।

ध्रुव बिन्दू की आवश्यकता

इंग्लैण्ड में क्राम्वेद से राजा के मुकाबले पालिर्यामेण्ट बहुत ऊपर हो आया है, पर राजा को नाबूत नहीं किया जाता है। रूस में राजशाही की ओर नीचे से डेमाक्रेटिक ताकतों ने और वहाँ कायापलट कर डाली गयी। क्रान्ति हुई लेकिन लेनिन और स्टालिन को एप्सैल्यूट मौनार्क बनना पड़ा। लेनिन और उनके उत्तराधिकारियों को असाधारण महिमा से मण्डित करके रखना व्यवस्था को इसलिए जरूरी हुआ। अस्थिरता ही जाती न रहे प्रत्युत कुछ ध्रुव बिन्दु ऐसे हो जिसके सन्दर्भ से स्थिरता बनी रहे। चुनाव वहाँ होते हैं पर बहुमत से नहीं लगभग सर्वमत से वही वह आदमी शासक बनता है जो बनता आया है, या जिसे वह नामांकित करता है।

संक्षेप में निर्वाचकीय राजनीति जो डेमोक्रेसी का आधार अपने आप में पर्याप्त नहीं है। आवश्यक है कि हर देश के पास कुछ धूरी हो जो नैतिक ध्रुवता का लाभ समाज को दे सके। पार्टियों के उलट-पलट के बीच राष्ट्र के पास कुछ स्थिर रीढ़ भी चाहिए। उसके अभाव में डेमोक्रेसी चल नहीं पायी थी। देखा जाएगा कि वो उल्टे अपने बीच सैनिक अधिशासक की माँग कर उठें।

लोकतन्त्र को यदि अपनी सही दिशा में विकसित होना है तो उसे लाठी और पैसे की ताकत से किसी बड़ी ताकत को अपने बीच में पैदा करके दिखाना होगा। लाठी और पैसे का बल सदा था और सदा रहेगा। लेकिन उसे समाज में समाए रहना होगा। जिस समाज के ऊपर यह ताकतें आ जाएँगी उसका लोकतान्त्रिक रूप टिका नहीं रह सकेगा। राज्य का खर्च बढ़ रहा है। नौकरशाही फैल रही है। लोगों का भरोसा एक दूसरे पर से उठ रहा है। भरोसा पैसे का और लाठी का बढ़ता जा रहा है। आए दिन हिंसक घटनाओं की सूचनाएँ मिलती हैं। बधाई देनी चाहिए उत्तर प्रदेश के मुख्य मन्त्री को कि उन्होंने अपनी जिम्मेदारी मानी और अपने पद से त्यागपत्र दिया। पुलिस और प्रशासन की कड़ाई के बल पर जिस लोकतन्त्र को जीना पड़ता है तो वे देखें कि यह ताकत व्यवस्था को और जर्जर कर रही है। परस्पर पूरकता का भाव वातावरण से सर्वथा लुप्त हो जाता है तो निश्चय मानिए कि यह प्रतिद्वन्द्विता ऊपर से उतर कर गाँव-गाँव में और जात-जात में फैले बिना न रहेगी। साम्प्रदायिकता अगर पहले हिन्दू-मुस्लिम तक सीमित थी तो अब नये-नये अल्प में खड़े हो रहे हैं और उनमें विद्वेष और वैमनस्य फैल रहा है।

भारत की ही यह बात नहीं विश्व युद्धाविमुख है। सभ्यता पूरी की पूरी बहकी जा रही है। उधर की ओर जिधर सर्वनाश है। लोकतन्त्र का विचार असल में देखा जाए तो उसका इनकार है, लेकिन दुर्भाग्य है कि उस विचार को स्वीकार करते हुए भी, हम यथार्थ से उठते जा रहे हैं। निरस्त्रीकरण राष्ट्रसंघ की चर्चाओं में आ जाए तो बात ही क्या है, पर नहीं वैसा आनेवाला नहीं है वो। गम्भीरता से अपनी सारी व्यवस्था के बारे में उसके लिए सोचना होगा। खोजना होगा कि प्रशासनिक शक्ति से अलग क्या कोई अनुशासनात्मक नैतिक शक्ति भी हो सकती है जो समाज को नियम के साथ सांत्वना और स्वास्थ्य दे। जिस शक्ति से चीजें चलाई जा रहीं हैं, उसमें नैतिक आयाम का अभाव है और वह आश्वस्ति और अस्वास्थ्य का भाव पैदा कर रही है।

□

राष्ट्रपति का पद केवल अलंकरण नहीं है

राष्ट्रपति के निर्वाचन की औपचारिक विधि मात्र शेष है। यों सब जानते हैं कि नये राष्ट्रपति कौन आ रहे हैं, वे क्या हैं इसके बारे में कोई भ्रम नहीं रहने दिया गया है।

यह गलत है कि राष्ट्रपति सिर्फ मोहर लगाने के लिए है। ऐसा होता तो रबर स्टाम्प प्रेसीडेण्ट उपहास और अपमान शब्द का न बनता। राष्ट्रपति के रहते भारतीय राजव्यवस्था पर एकच्छत्रता का आरोप नहीं लाया जा सकता। अर्थात संविधान के जरिये राष्ट्रपति के होते तन्त्र लोकतन्त्र रहता है सर्वथा दलतन्त्र नहीं बन जाता। राष्ट्रपति दल का नहीं राष्ट्र का होता है और मात्र उसकी उपस्थिति तन्त्र को दलतन्त्र होने के अपवाद से बचाए रखती है।

प्रस्तुत राष्ट्रपति का नाम दल द्वारा सुझाया गया। तथ्य इतना ही नहीं है। उनसे कार्यकारी सरकार को अनुकूलता प्राप्त होगी, यह तो स्थिति में ही गर्भित है। पर उनसे दल इससे अधिक का भी विश्वास कर सकता है। लोगों के मन में है कि अनुकूलता के आगे कदाचित वहाँ से दल के हितों की अधीनता भी प्राप्त की जा सकती है। यदि ऐसा हो तो मानो भारत एकच्छत्रता के नीचे आ जाता है।

यह असत्य और भ्रम ही है कि राष्ट्रपति का पद केवल अलंकरण है, और असल में उसका विशेष महत्व नहीं है। किन्तु क्या निवर्तमान राष्ट्रपति श्री नीलम संजीव रेड्डी ही न थे, जिन्होंने मोरारजी देसाई और बाबू जगजीवन राम को अमान्य करके श्री चरण सिंह को सरकार बनाने का अवसर दिया और फिर उनकी सलाह पर संसद को भंग करने का निर्णय लिया। उसी के परिणाम स्वरूप आम निर्वाचन में भारी बहुमत से श्रीमती इन्दिरा गाँधी का दल वापस शासन पर आया। इस सारी प्रक्रिया में राष्ट्रपति का योग वह धुरी रहा जिसके सन्दर्भ से संकट बना भी और टला भी रहा।

लघु निर्वाचन के संकेत

अभी लघु निर्वाचन होकर चुका है। उससे राजनीतिक दलों को संकेत प्राप्त हुए हैं। अब से तीसरे वर्ष लोकसभा का आम चुनाव आनेवाला है। यदि उस चुनाव का परिणाम दलों के विषय में स्पष्ट नहीं रहा तो इस संकट-ग्रस्त राजनीतिक स्थिति के निपटारे का सारा दारोमदार राष्ट्रपति पर ही आकर टिकेगा। इसलिए राष्ट्रपति के निर्वाचन को महत्वहीन नहीं माना जा रहा है और दोनों पक्ष साग्रह और सचेष्ट हैं।

एकच्छत्रता शब्द में कुछ नकारात्मक ध्वनि पड़ गई है। मानों वह मूल से दूषित हो, पर उसके कुछ लाभ भी हैं। मैं मानता हूँ कि चलती हुई राजनीतिक गतिविधि में एकतन्त्रीय शासन ही अधिक सक्षम और कारगर सिद्ध हो सकता है। प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरागांधी का इस निर्वाचन के दौर के दरमियान में कहना रहा है कि विरोध पक्ष, हम देश के लिए जो कुछ करना चाहते हैं, वह करने नहीं देता। सर्वसम्मत राष्ट्रपति की बातों के पीछे उसका हमें विफल करते रहने की यह मंशा थी, और सचमुच यदि असहमति को बल नहीं पकड़ने दिया जाता तो एकच्छत्र शासन अपनी मूल्यवान योजनाओं को निर्विघ्न पूरा कर दिखाने का दावा कर सकता है। दावे पर दायित्व आना है और अगर दायित्व न निभे तो जनता का मोह भंग होगा, और राष्ट्र इसको गिराकर के अपने लिए नई सरकार को चुनने के लिए स्वतन्त्र होगा। इससे पहले बहुदलीय शासन के लिए अवसर है कि शासक दल अपनी विफलता का सब दोष विपक्ष के माथे डाले और इस प्रकार आत्म समर्थन प्राप्त करता जाए।

संक्षेप में आगामी ढाई-तीन वर्ष का काल कांग्रेस (ई) सरकार के लिए परीक्षा का होगा। श्री जैलसिंह के राष्ट्रपति रहते उसके लिए इधर-उधर दोष डालने का अवसर कम से कम होगा, और अगर स्थितियाँ नहीं सँभली तो सन् 1985 में राष्ट्र के लिए अवसर होगा कि वह अपने भाग्य को अपने हाथ में ले और बागडोर अन्यत्र सौंपे।

हिंसा पर चिन्ता

स्थितियाँ चिन्तनीय हैं। सबसे अधिक चिन्ता का विषय है, हिंसा के प्रभाव और प्रयोग का विस्तार। स्वयं प्रधानमन्त्री ने इस विषय में अपनी गहरी चिन्ता व्यक्त की है। विशेषकर अन्तरराष्ट्रीय क्षेत्र में शस्त्रों की होड़ और आणविक बमों के निर्माण की ओर उनका संकेत रहा है। लेकिन अन्तरराष्ट्रीय सम्बन्धों में सुरक्षा के निमित्त सशस्त्र तैयारियों से अधिक चिन्ता का विषय स्वयं राष्ट्र के भीतर पनपने

वाली हिंसा होनी चाहिए। राष्ट्रों के आपसी सम्बन्धों के नियमन के लिए हमारे पास राष्ट्रसंघ के अतिरिक्त दूसरा उपाय नहीं है। राष्ट्रसंघ के पास न अपनी सैनिक सत्ता है? न उसकी उतनी नैतिक सत्ता ही बन पायी है। अर्थात राष्ट्रों के विवाद में या संघर्ष की रोकथाम में राष्ट्रसंघ वह विशेष कारगर नहीं हो पाता है। अन्तरराष्ट्रीय क्षेत्र की यह निरुपायता है। किन्तु राष्ट्र के भीतर होने वाली हिंसात्मक घटनाओं के बारे में तो यह असमर्थता नहीं है। वहाँ सरकारें हैं और उनके रहते निरन्तर हिंसक काण्ड खासे बड़े पैमाने पर होते रहे तो यह बड़े ही परिताप का विषय है। आज 7 जुलाई के दैनिक अखबार में ही कई ऐसी खबरें हैं जो चिन्ता में डाल देती हैं। काँग्रेस (ई) के भीतर दो पक्षों के बीच कानपुर में हाथापाई हो गयी। बिहार में विपक्ष के बहुत से सदस्यों को सभा भवन से बलपूर्वक निकाल बाहर किया गया। दिल्ली में दो सम्प्रदायों में संघर्ष भड़क उठा। कर्नाटक की काँग्रेस का झगड़ा तूल पकड़ रहा है। आज के एक अंग्रेजी दैनिक का सम्पादकीय अग्रलेख बिहार को 'लॉ-चेस' स्टेट घोषित कर रहा है। जगह-जगह विधि-व्यवस्था के भंग की खबरें आती रहती हैं। डाकुओं का प्रश्न वर्तमान ही नहीं है, निरन्तर वर्धमान। उत्तर प्रदेश के मुख्यमन्त्री इस प्रश्न को निपटाने की असमर्थता पर त्यागपत्र दे बैठे हैं। शायद अपने से त्यागपत्र देकर उन्होंने संकेत दिया कि यह प्रश्न विधि-व्यवस्था की मशीनरी के वश में आनेवाला नहीं, शायद गहरा निदान माँगता है।

धरती में गहरी जड़े

आए दिन लोग मिलते हैं जो मानते हैं कि इमरजेंसी का समय अच्छा था तब शासन तो था। शासन का कुछ भय था। लोग ऐसा वैसा करने से डरते थे। कर्मचारी ड्यूटी में चूक न करने का ध्यान रखते थे। अब शिथिलता और भ्रष्टाचार है और सब ओर ढील है। और सब दोष एक दूसरे पर डालते हैं। मैं मानता हूँ कि हिंसा का प्रश्न गहरा है। जब हिंसा धरती के ऊपर आती है तो हम उसे पहचानते हैं और इलाज की सोचते हैं। उससे पहले सरकार या तो उसे पहचानती ही नहीं है या उसके इलाज में अपने को असमर्थ पाती है। सच यह है कि ऊपर फूटने वाले हिंसा की जड़ें धरती के नीचे होती है। एक हिंसा समाज के शरीर में व्याप्त है। इसलिए अनायास वह समाज और कानून का समर्थन पा जाया करती है। इसे शोषण कहते हैं और जब तक यह शोषण बर्दाश्त किया जाता रहता है, शान्ति समझी जाती है। इसी सूक्ष्म हिंसा को श्रेणी युद्ध की प्रगट हिंसा से समाप्त करना, मार्क्स ने क्षम्य ही नहीं, आवश्यक बताया। उस विचार के आधार पर दुनिया के एक बड़े भाग पर राज्य क्रान्ति भी हुई, पर मालूम हुआ कि अगर शोषण को

एकच्छत्रता के बल पर नेस्तनाबूद किया जा सकता है तो यह प्रगति का ही कदम है। यह अवान्तर बात है कि इस पद्धति से हिंसा का मूल्य प्रतिष्ठित ही हुआ, हिंसा का उपयोग खत्म नहीं हुआ। लेकिन नये राष्ट्रपति के आने और कांग्रेस (ई) दल की क्रियाशीलता के लिए सब मार्गों के निर्विघ्न खुल जाने के बाद यह आशा की जानी चाहिए कि शिथिलता नष्ट होगी, भ्रष्टाचार कम होगा और एडमिनि-स्ट्रेशन मजबूत बनेगा। दल के अन्दर उनके संघर्ष समाप्त होंगे। यह सब कैसे होगा यह दल की अध्यक्ष और सरकार की प्रधानमन्त्री की हैसियत से श्रीमती इन्दिरा गाँधी सोचें और जानें। लेकिन राष्ट्रपति के इस निर्वाचन के बाद देश को पूरा हक आता है कि वह सुव्यवस्था की आशा करें। विपक्ष पर आक्षेप-विक्षेप फेंकने की आवश्यकता, काँग्रेस दल और उसके नेता के लिए, आगे नहीं रह जानी चाहिए। मैं मानता हूँ कि यदि विपक्ष के दल इसी बीच शासन दल को काम करने का अपनी ओर से सही-सही अवसर दें और इस प्रकार राजनीतिक वातावरण में रचनात्मकता का प्रवेश होने दें तो कांग्रेस (ई) दल अपने आकार-प्रकार में आ जाएगा, और उसकी खरी-खरी कसौटी भी हो जाएगी।

□

गाँधीवाद : कर्मवाद से कर्मयोग तक

दैनन्दिन बातों की चर्चा से यहाँ कुछ अलग बात करनी है।

एक विचारपूर्ण लेख में ये पंक्तियाँ पढ़ने को मिलीं।

''गाँधीजी ने तिलक से कर्म का दर्शन और 'जनभाषा' के माध्यम का सिद्धान्त ग्रहण किया। परन्तु इसमें उन्होंने अपनी ओर से 'अहिंसा' और 'अपरिग्रह' को जोड़ा और धर्मक्षेत्र-कुरुक्षेत्र में सिपाही को 'सत्याग्रही' रूप में खड़ा किया। इस प्रकार एक नये राजनीतिक दर्शन का जन्म हुआ जिसका स्वभाव तिलक के कर्मवीर से मूलतः भिन्न था। गाँधीवाद किस्मतवाला था, सेहरा उसी के सिर बँधा, यह और बात है, परन्तु यह बेहद स्पष्ट, स्वयं सिद्धान्त-आश्रितता की बात करता हुआ व्यक्ति-आश्रित राजनीति का पोषण करता रहा। जब खुदीराम बोस की फाँसी के विरोध का प्रस्ताव काँग्रेस अधिवेशन में लाया गया, तो गाँधीजी ने इसका विरोध किया, क्योंकि वह 'हिंसावादी' था। उस क्षण पं. मोतीलाल नेहरू जैसे 'नरम' भी मारे क्रोध के पैर पटकते सभा से उठकर चल दिये। तब गाँधीजी रोने की आवाज़ में बोलने लगे और मोतीलाल को मनाने के लिए प्रस्ताव पास हो जाए, इस पर भी तैयार हो गये। अन्त में प्रस्ताव इतने नाटक के बाद जहाँ का तहाँ रह गया। यह प्रसंग सिन्ध के प्रसिद्ध नेता चोइकराम गिडवानी क़े संस्मरणों के आधार पर है, जिसे उन्होंने सन् 48 में हिन्दी और अँग्रेजी के मुख्य पत्रों में निकलवाया था। श्री गिडवानी उक्त प्रस्ताव के समर्थकों में से थे और गाँधीजी का उन्होंने खुला विरोध किया था।''

श्री गिडवानी के संस्मरण के उल्लेख में व्यंग्य को बचाया जा सकता था। उससे लेखक के आशय की गम्भीरता में संशय हो सकता था। किन्तु प्रसंग यह विचारणीय है। राजनीतिक हत्या का समर्थन काँग्रेस के द्वारा हो सकता था, गाँधीजी के लिए वह असम्भव था। मैं समझता हूँ कि राजनीतिक क्षेत्र में ऐसी हत्याओं को राष्ट्रीय आन्दोलन की ओर से समर्थन मिलता गया, उसी का दुष्ट परिणाम हम आज तक भोग रहे हैं। किन्तु ध्यान देने की बात इस प्रसंग में यह है कि

गाँधी ने काँग्रेस पर अपना आग्रह लादना नहीं चाहा। और अनुमति ली कि उनका विरोध रहते काँग्रेस चाहे तो खुदीराम बोस के कृत के समर्थन का प्रस्ताव पास कर सकती है। इस नम्रता और शालीनता का ही प्रभाव था कि अन्त में वह प्रस्ताव आया-गया हो गया।

परन्तु विचार का मुख्य बिन्दु दूसरा है। लेखक का मानना है कि कर्मवीरता का आदर्श तिलक ने प्रस्तुत किया। कर्म तत्परता जगाने का श्रेय गाँधी को भले मिलता हो—अहिंसा, अपरिग्रह का आग्रह जोड़ देने से कर्मवीरता में क्षति आयी है अर्थात गाँधीवाद ने कर्मवाद की हत्या की है।

गाँधी के लेखे गाँधीवाद जैसी कोई चीज तो है नहीं। क्या गाँधी में कभी कोई कर्म की त्रुटि देखी गयी। उल्टे कर्म निरन्तरता, पृथकता वहाँ देखी जाती है। हाँ, कर्मवाद वह नहीं है, क्योंकि कर्म भोग है।

इस अन्तर को गहराई से पहचानने की आवश्यकता है। कर्मवादी कर्म-प्रपंच रचता है। कर्मयोगी कर्म-मुक्ति देता है। खुदीराम बोस और दूसरे ऐसे क्रान्तिकारी कर्म-तत्पर व्यक्ति का कर्म क्या अनासक्त था? कर्मवाद में इस अनासक्ति के विशेषण को अनावश्यक मान लिया जाता है। गाँधी के लिए वह अनावश्यक नहीं था। तिलक के लिए अनावश्यक रहा हो भी सकता है। अहिंसा, अपरिग्रह वाली बात अन्त में इस अनासक्ति से जुड़ जाती है। कर्म सब बाहर के प्रति होता है। परिणाम सब इस पर निर्भर है कि वह कितने भीतर से आया है। फलासक्ति है तो आशय है कि वह कर्म अहम से मुक्त नहीं है। तब उसका परिणाम भी उसी सीमा में रह जाएगा। वह कर्म विराटता प्राप्त नहीं कर सकेगा।

यह कर्मयोग का सिद्धान्त ही कृष्ण की गीता द्वारा प्रतिपादित और पुष्ट हुआ है। धनुर्धर अर्जुन सामने कौरवों की सेना देखकर सोच उठते हैं कि यह सब तो सगे-सम्बन्धी हैं। इनको युद्ध में मारकर राज्य पाकर भी क्या करूँगा? और वह धनुष-बाण हाथ से गिरा लेता है। ऐसे समय गीता का उपदेश उसे जगाता है। कर्म के प्रति उसमें प्रतिक्रिया, गीता सुनकर वह युद्ध के लिए उद्यत और तत्पर हो जाता है। गीता का वह उपदेश क्या है? वह है कि तू अपने को कर्त्ता मानने वाला कौन है? कर्म कर और कर्तृत्व छोड़, कर्म को अकर्म और विकर्म बनाकर। प्रमाद नहीं, आवेश नहीं, ज्वर नहीं। कर्म में सहजभाव और समभाव। प्राप्त कर्म से बचना नहीं है, पर कर्म वह आविष्ट न हो सकेगा, न आसक्त। गीता का यह कर्म-दर्शन सहस्र-सहस्र वर्षों से लोगों को कर्म के सन्दर्भ से सजग करता आ रहा है। गीता के आरम्भ में ही कर्मवादी अर्जुन की हार होती है। क्या वह अद्‌भुत पराक्रमी शूरवीर और कर्मवीर न था, और अब तक उसके कर्म की प्रेरणा कृतित्व के भार से मुक्त न हो सकी थी। इसलिए सामने बन्धु-बान्धवजन की हत्या जैसी बात आयी तो उसे परांगमुख हो जाना पड़ा। गीता द्वारा उसका कर्मवाद, कर्मयोग

में परिणत हो गया। और तब उसके परांगमुखता का अवकाश भी नहीं रह गया था।

गीता के पूर्व और गीता के बाद के अर्जुन में गुणात्मक परिवर्तन होता है। गाँधी का इस गुणात्मक और चारित्रिक पक्ष को गौण नहीं माना जा सकता है। कर्मवाद का सिद्धान्त इस पक्ष को सर्वथा असंगत ठहरा देता है। प्रेरणा जितने गहरे में से आएगी परिणाम उतना ही दूरगामी होता है। प्रत्यंचा को जितना अपनी ओर खींचा जाएगा तीर उतना ही दूर जाएगा।

गाँधी ने देश को यही समग्र जीवन-दर्शन और तत्व-दर्शन दिया। अद्‌भुत जागरण देश में गाँधी के द्वारा हुआ, लेकिन यह भी देखा गया कि उसने जब-जब ज्वर और ज्वार का रूप लिया तभी तब गाँधी ने उस पर ठण्डे छींटे डाले। गाँधी को तो स्वराज्य के बाद लगभग असंगत मानकर छोड़ दिया गया। उसी का परिणाम कर्मज्वर का ताप और उत्ताप उबलने के बिन्दु पर आ गया है और सब ओर वर्ग, प्रदेश, भाषा, जाति, सम्प्रदाय आदि के नाम पर बेहद ले-दे मची है और देश मानो टूट रहा है। असम जो पहले एक था और अब पाँच राज्यों में बँटा हुआ है। और सबने अपने को भारत से स्वतन्त्र मानना और देखना चाहते हैं। राजनीति कर्मवाद से आक्रान्त है और दल-बदल और दलों के अन्तर्गत विग्रह, वैमनस्य की बहार है। पैसे से काम होता है और काम लाठी से भी होता है। कामधाम के क्षेत्र में इसलिए इन दोनों का खूब बोलबाला है। कर्मण्यता की यह सभ्यता है और यन्त्रों के योग से उस कर्मण्यता ने हद पार कर ली है। उत्पादन धड़ाधड़ हो रहा है और धन-दौलत तेजी से बढ़ रही है, लेकिन दुःख त्रास उससे भी वेग से बढ़ता दिख रहा है।

मैं मानता हूँ कि वस्तुपक्ष और आत्मपक्ष जीवन में इन दोनों को अलग और समानान्तर बनाये रखने का ही यह दुष्परिणाम है। गाँधी में यह दो दो नहीं थे। विज्ञान अलग और आध्यात्म अलग नहीं था। समाज के लिए व्यक्ति और व्यक्ति के लिए समाज आवश्यक था। दोनों में पक्ष-विपक्ष का प्रश्न नहीं था। संख्या के लिए गुण की तिलांजलि नहीं दी जा सकती थी और गुण को लेकर व्यक्तित्व आत्मोन्मुख मूढ़ नहीं होने दिया जा सकता था। उसके लिए आवश्यक था कि सेवा द्वारा वह अपने को समाज के मूल में रचा-पचा डाले।

मुझे प्रतीत होता है कि आज कर्मवाद के प्रवाद के कारण वेग विवेक से मुक्त हो गया है। और आपाधापी के बीच में राह बना ले जाना ही कर्मकौशल बन उठा है। मुझे आशा है कि लेख के लेखक और उनके सामने विचार रखने वाले बन्धु कर्मवाद के खतरे और कर्मयोग के आवश्यकता को पहचानेंगे और तिलक के लिए गाँधी को पूरक के रूप में देख सकेंगे।

□

गाँधी आज राष्ट्रीय नहीं सार्वभौमिक हैं

कुछ ही पहले सरला बहन संसार से विदा हुईं। अब समाचार है कि मीरा बहन वियना (ऑस्ट्रिया) के पास में गाँव में शान्ति पा गयी हैं। वे आसपास एक भारतीय महिला के रूप में जानी मानी जाती थी। सरला और मीरा दोनों बर्तानी महिलाएँ थीं, लेकिन दोनों महात्मा गाँधी के आकर्षण में खींची भारत आयीं और दोनों ने ही गाँधी की याद में और उनके काम में अपना जीवन गला दिया। रचनात्मक कामों के अलावा भारत की स्वतन्त्रता की लड़ाई में भी उन्होंने योग दिया और ब्रिटिश सरकार के हाथों जेल पायी।

यह सोचने की बात है कि क्या इन दोनों के पास अपना राष्ट्र न था। फिर क्यों स्वदेश छोड़कर एक विदेश के स्वराज्य के लिए खप जाने को वे तैयार हुईं और इसमें उन्होंने अपने जीवन की धन्यता मानी।

स्वराज का आन्दोलन

इतने मात्र से सिद्ध हो जाना चाहिए कि गाँधी के नेतृत्व में चलनेवाला स्वराज का आन्दोलन मात्र राष्ट्रीय न था। इण्डियन नेशनल काँग्रेस के लिए वह केवल राष्ट्रीय रहा होगा। पर दुनिया के लिए वह उससे कुछ अधिक था। राष्ट्रीय से आगे वह मानवीय था और राष्ट्र की स्वतन्त्रता से अधिक वह मानव मात्र की स्वतन्त्रता का आन्दोलन था। अन्यथा यह सम्भव नहीं होना चाहिए था कि सरला, मीरा के अतिरिक्त और बहुत से देश-विदेश के नर-नारी गाँधी आन्दोलन से प्रभावित ही नहीं, बल्कि उसमें सम्मिलित थे और उसके प्रति समर्पित हो गये होते।

मीरा बहन भारत आईं क्योंकि उनमें गहरी अध्यात्म की प्यास थी। उसको पहचानकर रोमा रोलाँ ने कहा कि गाँधी के पास जाओ। वह आपके क्राइस्ट हैं। अब तक वह मिस स्लेड थीं। भारत आकर वह मीरा बनी और यहीं की हो गयीं। सरला और मीरा के निधन से अब गाँधी की याद जब ताजा होती है।

तब यह भी विचार होता है कि क्रमशः गाँधी यहाँ से उठते ही चले जा रहे हैं।

हाँ, आज भारत को देखकर ऐसा ही लगता है। इस दुर्घटना का कारण यह है कि जो मनुष्यमात्र का था उसको हमने राष्ट्रपिता कह-कहकर मानो राजनीतिक राष्ट्र से घेरकर जकड़ डाला है। ऐसे मानो हमने जतला देना चाहा कि वह सामयिक राजनीति को भी बदलना चाहते है। स्वराज्य से हीन भारत के लिए गाँधी अतीव आवश्यक और उपयोगी थे। लेकिन स्वराज्य प्राप्त भारत की समस्याएँ कुछ दूसरी ही है। गाँधी को अतीत में से लाकर आज की समस्याओं में फिट करने की कोशिश करना गाँधी के साथ अन्याय करना होगा। उन समस्याओं से जूझना हमको है। हम चाहें तो गाँधी से प्रेरणा अवश्य प्राप्त कर सकते हैं। लेकिन आज की परिस्थितियों पर गाँधी को ज्यों को त्यों उतारने की धृष्टता कभी नहीं करनी चाहिए। गाँधीवादी माना जाता है कि यही मूर्खता करना चाहता है, पर उसे जानना चाहिए कि गाँधी अपने समय और अब समय उनसे कहीं आगे आ गया है।

इस प्रकार राजकीय राजनीतिक क्षेत्र भारत गाँधी से वंचित और विहीन है तो उसे इसमें सोच-विचार की कोई आवश्यकता नहीं प्रतीत होती, बल्कि अपने सम्बन्ध में वह आसानी के साथ मग्न और तुष्ठ बना रह सकता है। आशय कि पूरे आत्मसमर्थन के साथ साम्प्रदायिक राजनीति गाँधी से अर्थात मानवनीति से विच्छिन और विमुख बन रह सकती है।

राजनीतिक आश्चर्य

एक आश्चर्य घटित हुआ कि गाँधी के द्वारा और गाँधी के समय में। वह आश्चर्य यह है कि राजनीति मानवनीति के ध्रुव नियमों के वश में आयी और संचालित होती गयी। किन्तु यह इतना असम्मान्य था कि सहा नहीं जा सका। स्वराज्य देहली पर आया और भीतर आँगन में उसे आना ही था कि गाँधी को गोलीमार कर हटा दिया गया।

राजनेताओं को दोष देने की आवश्यकता नहीं है। वे मनुष्य की और विश्व की जिम्मेदारी ओढ़कर नेता नहीं बनते। वे अपने-अपने राष्ट्र के नेता होते हैं और राज्य के द्वारा राष्ट्र को सम्भाल रखने का दायित्व अपनाकर किन्ही ध्रुव सिद्धान्तों की शरण में ज़ा बैठने का अवसर उनके लिए नहीं है। तत्काल की समस्याओं से उन्हें निबटना है और ये कैसे हो सकता है कि पड़ौसी पाकिस्तान दनादन हथियारों से लैस हो रहा हो। अणुबम बनाने की जुगत कर रहा हो। तब भारत देश और उसका नेता असावधानी में सोया रह जाए। हाँ, ऐसा नहीं हो सकता है। राष्ट्र नेता अपराधी होगा। अगर वह इस जगह चूके। इन्दिराजी आज भारत

की एकच्छत्र अधिकृत नेता है। किन्तु वह नेहरू ही नहीं है, गाँधी भी है। अर्थात गाँधी के प्रति आदर सम्मान में वे किसी से कम नहीं हो सकती है। लेकिन गाँधीवादी को उसके आग्रह में क्षमापूर्वक अपने से तटस्थ रख सकते हैं।

गाँधी महात्मा थे। अर्थात राष्ट्रों के साथ अन्तरराष्ट्रीय भी थे। क्या साबरमती और क्या सेवाग्राम दोनों आश्रमों में आप अन्तरराष्ट्रीयता का दर्शन पा सकते थे। वहाँ सचमुच लग आता था कि विश्व एक कुटुम्ब है। रंगरूप के देश-विदेश के भेद ऊपरी है। सब परस्पर आत्मिय है और हो सकते हैं। एक अचरज आँखों के सामने सम्पन्न हो रहा था। ऐसे एक व्यक्तित्व में से और उसके आसपास सार्वभौमता प्रगट हो रही थी।

गाँधी से मिल सकने वाले लाभ से यह भारत देश इसलिए वंचित रहा है कि उसने उनका केवल राष्ट्रीय रूप जानना और जतलाना चाहा है। इसलिए उसे उस महात्मा की सम्भावनाओं के जगने और जगाने से डर तक लग सकता है। उसे लग सकता है कि क्या सेना को समाप्त कर देना होगा? शस्त्रास्त्रों को छोड़ देना होगा? कल-कारखाने बन्द कर देने होंगे? गाँधी के नाम पर राजनीतिज्ञ के दिमाग में यह भूत जाग उठते हैं और वह घबरा जाता है। गाँधीवादी नाम का आदमी इस डर को बढ़ावा दे सकता है। नेता को निडर नहीं बना सकता है। मैं मानता हूँ कि यदि राजनेता को गाँधी की ओर से निडर एक बार बनाया जा सके तो शायद वह राजनेता स्वंय अनुभव कर आयेगा कि उसकी नीतियाँ दूरदर्शिता से मुक्त और देश के भविष्य की दृष्टि से उन पर पुर्नविचार किया जा सकता है। किन्तु गाँधीवादी या विपक्ष, दायित्व सम्पन्न नेता को शायद भय और असुरक्षा में रखने में विश्वास करता है। परिणामस्वरूप उसके चित् पर बाहर के भय के साथ भीतरी भय भी जुड़ जाता है। और इस प्रकार राजनीति अस्थिर और उत्कट ही बनती चली जाती है।

निरस्त्रीकरण की माँग

गाँधी को और गाँधी की अहिंसा को हम एकक्षण के लिए अमुक देश की राजनीति के लिए असंगत ठहरा सकते हैं। भारत का नेतृत्व उसे असंगत मानता हो तो यह असम्भव नहीं है। लेकिन वही भारत जब राष्ट्रसंघ में निरस्त्रीकरण का प्रस्ताव लाने में अगुहाही करता है, तो मानो स्वीकार करता है तो गाँधी को भले हम घर में अव्यवहार्य मानते हो, लेकिन दुनिया के लिए आज वहीं सम्भावना है। भारत के राष्ट्रसंघ के इस रूख के भीतर गाँधी की इस सम्भावना का स्वीकार है तो और देशों में नेताओं और मनीषियों में भी ठीक यही अनुभूति है।

निरस्त्रीकरण की माँग विश्व के अन्तःकरण में से उठी और वह सब ओर

व्याप्त है। लेकिन वह माँग पूरी कैसे हो, राष्ट्रसंघ समर्थ नहीं है। आखिर वह शक्तियों के तात्कालिक समीकरण पर बना है और उसकी अपनी निरपेक्ष कोई शक्ति है नहीं। अभिप्राय: यह कि निरस्त्रीकरण कृत कम से कम आणविक शस्त्रों के भय से मुक्त संसार को पाने के लिए आरम्भ अन्तत: किसी राष्ट्र घटक से ही तो करना होगा। इस दृष्टि से देखा जाए तो गाँधी विश्व के लिए एकमात्र सम्भावना है। तब राष्ट्रनीति के लिए भी वह विश्वसनीय मार्गदर्शक माने जा सकते हैं।

आज दुनिया में किसी व्यक्ति को सार्वभौमता प्राप्त नहीं है। सब नेता अपने-अपने देश के। दूसरे शब्दों में अपने देश को जितने मान्य हैं दूसरे देश के लिए उतने अमान्य भी ठहर सकते हैं। कारण, उनकी सत्ता राजनीतिक है। बल भी है, आतंक भी है। उस सत्ता का नैतिक स्वरूप नहीं है। अर्थात श्रद्धा का और आत्मीयता का भाव वह नहीं जगाती। अपने सिवा शेष को वह आश्वस्ति का भाव नहीं पहुँचाती हैं। यह नि:संशय कहा जा सकता है कि जीवित गाँधी किसी को आतंकित नहीं करेगा। भारत के अपार हित में ही यह होगा कि राष्ट्रसंघ में निरस्त्रीकरण के प्रस्ताव को लाने का दायित्व स्वीकार करने के बाद, वह गाँधी को सिद्धान्त की समाधि में से निकालकर व्यवहार के खुले मैदान में लाने में वह योग दें। अर्थात यह प्रतीति प्रत्यक्ष बनाने में सहायक हो कि विश्व एक है और समूची मानव जाति एक कुटुम्ब है।

☐

आज की बड़ी आवश्यकता मानवनिष्ठता की

श्रीमती इन्दिरा गाँधी की नौ दिन की अमरीका यात्रा और वहाँ राष्ट्रपति श्री रीगन के साथ उनकी चर्चा का परिणाम होगा तो कुछ शुभ ही होगा। इसके बाद इन्दिराजी सोवियत नेता ब्रेझनेव से भी बात करने वाली है। भारत के साथ अमरीका के सम्बन्ध संशयास्पद रहे हैं।

प्रगति ही मुख्य विषय

आज अमरीका और रूस के समक्ष मुख्य विषय शान्ति का या युद्ध से बचने का है। क्या इस दिशा में भारत की ओर से इन्दिराजी किसी भी तरह कुछ मदद उनकी कर सकती हैं? भारतवर्ष को दो महाशक्तियों की प्रतिस्पर्धा के बीच झूलते हुए मानव के भविष्य और भाग्य की रक्षा में आगे बढ़कर कुछ दायित्वपूर्ण योग भी देना है।

दो महाशक्तियों के अतिरिक्त तीसरी कोई शक्ति आज है नहीं। संयुक्त राष्ट्र निर्वीर्य है, निःसाधन है। निर्गुट आन्दोलन भी अब दुर्बल है। यदि आशा हो सकती थी या हो सकती है तो उसी ओर से है। बड़े सशस्त्र-सज्जित देशों की बहुतायत एकत्र होकर तीसरी एक तटस्थ शक्ति का निर्माण कर दिखाएँ, यह क्यों सम्भव नहीं है? वह तीसरी शक्ति केवल निर्गुट कहलाने से सन्तुष्ट न होगी वरन इतना प्रभाव अर्जित करेगी कि महाशक्तियों की आपसी मुठभेड़ और टक्कर में आने ही न दे और साबित कर दिखाएँ कि युद्ध पर शान्ति की जीत होगी। कारण, युद्ध में बड़े राष्ट्रों को अपना हित दिख सकता है, किन्तु मानव का हित शान्ति में है। युद्ध संहार करता है, मनुष्य को रचना करनी है। किन्तु आज तो बड़े राष्ट्रों के समक्ष हर छोटा देश प्रार्थी बना हुआ है। अस्तित्त्व-रक्षा के लिए उसे शस्त्र चाहिए, और प्राणरक्षा के लिए संरक्षण चाहिए। किसी देश की अर्थव्यवस्था स्वाश्रयी नहीं है। आर्थिक और राजनीतिक सुरक्षा के सम्बन्ध में उसे पर-मुखापेक्षी रहना पड़ता है। स्वयं भारत भी इस स्थिति से उत्तीर्ण नहीं है।

इसीलिए इस भारत देश से ये अपेक्षा नहीं जाग पाती है कि वह महाशक्तियों के बीच किसी प्रकार की सन्धि स्थापित करने में समर्थ हो सकेगा, अथवा उनकी आक्रामक या विस्तारवादी नीतियों के लिए किसी भी प्रकार अवरोधक सिद्ध हो सकेगा।

यह प्रश्न है जिसको आज का जलता हुआ प्रश्न कहा जा सकता है। युद्ध की तैयारियाँ सब ओर हो रही हैं। अब उसकी सुलग भी जहाँ-तहाँ जारी है। लेबनान में क्या हो रहा है? ईरान-इराक लड़ने से बाज आने को तैयार नहीं हैं। फाकलैण्ड द्वीपों का निर्णय युद्ध से हुआ है, और इसलिए वहाँ की राख में युद्ध की चिन्गारी छिपी-ढकी रही है, यह नहीं कहा जा सकता है। युद्ध का यह क्रम कैसे रुकेगा? कहाँ रुकेगा?

यह प्रश्न है जिस पर लोगों को रुकना है और सोचना है। राजनीति में जो मुट्ठी भर जन है और जिनमें से चुने हुए कतिपय पुरुष राजनेतृत्व का बोझ सम्भाले हुए हैं, उनके समक्ष यह प्रश्न कुछ ओट में भी रह सकता है। कारण, उनके आगे दूसरे तात्कालिक सवाल हैं। अपने-अपने राष्ट्र के सवाल हैं। राजनेताओं को उनसे बचने का कोई अवसर नहीं है। अपार मानवजाति किन्तु उन प्रश्नों में उलझी हुई नहीं है। वे कृत्रिम है और उनकी जिम्मेवारी मनुष्य पर नहीं आती हैं। मनुष्य तो मानो खिलौना है, उन व्यवस्थापकों के शब्दों में जिन्होंने यह परिस्थिति उत्पन्न की है।

व्यवस्था की विवशता

हमारी समस्याओं ने हमारे बीच विवशता उत्पन्न कर दी है कि रह-रहकर हमें युद्ध के मुँह में झुकना पड़ता है। व्यवस्था, भले किसी की 'कैपिटलिस्ट' और दूसरे की 'सोशलिस्ट' कही और मानी जाए। पर हर जगह दावे हैं कि हम 'डेमोक्रेटिक' है, पाकिस्तान जैसे कुछ एक देश ही होंगे जो 'मार्शल लॉ' के अधीन है अन्यथा सभी कहीं माना जाता है कि नाम के राजा रहते भी मूल में व्यवस्था जनतान्त्रिक ही हैं। लोकतन्त्र, प्रजातन्त्र, गणतन्त्र, जनतन्त्र कुछ भी कहो सब में यही स्वीकृति कि तन्त्र जन के प्रति उत्तरदायी है।

किन्तु ऐसा है नहीं। ऐसा इसलिए नहीं है कि जन मरना नहीं चाहता है, मारना भी नहीं चाहता है। किन्तु तन्त्र बरबस कुछ उस नीति पर चल पड़ता है जिसका परिणाम अन्त में संघर्ष और युद्ध होता है। तन्त्र निश्चय ही निर्वाचन के द्वारा बनता है और इसलिए भाषा के पास कोई उपाय नहीं रह जाता कि जिस जनतन्त्र, लोकतन्त्र आदि-आदि न कहा जाए। दोनों में यदि दिशा की विमुखता हो पड़े तो गहरी चिन्ता की बात हो जाती है। यह जगह है जहाँ समस्या का

मूल है। हमारी अर्थव्यवस्था, समाज व्यवस्था, राजव्यवस्था आदि का चिन्तन मानव निरपेक्ष होता गया है। अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, राजशास्त्र आदि जैसे स्वयं प्रमाण बन गये हैं। इस प्रक्रिया में यदि वे मानव निरपेक्ष भी हो जाए तो चिन्तक को कोई त्रुटि नहीं प्रतीत होती। उस निरपेक्ष और तथाकथित वैज्ञानिक चिन्तन का ही परिणाम आया है कि मनुष्य को अन्तिम साध्य मानकर हम आरम्भ करते हैं। पर पाते हैं कि मनुष्य अन्त में मात्र अंक और साधन भर रह गया है।

एक शब्द चला था 'आइडियोलोजी'। आशय की कोई एक परिपूर्ण विचार होता या हो सकता है जिसके अन्तर्गत मानव स्वयं खप जाएँ, व्यक्ति स्वयं उस व्यक्ति के बारे में सोचना अनावश्यक हो जाये। 'आइडियोलोजी' का वह जमाना बीत गया है। घिस-घिसकर अब वह शब्द अपनी आब और साख खो बैठा है। अमेरिका और रूस प्रतिद्वन्दिता में आमने-सामने हो सकते हैं, पर अब यह भूल कोई नहीं करता है कि उनके द्वारा 'पूँजीवाद' और 'समाजवाद' आमने-सामने हैं। राजनीति शब्द या वाद से नहीं चलती है, चलती है वह व्यवहार से, जिसमें कूटनीति के हाथों सिर्फ भाषा का मनमाना उपयोग होता है, उस पर अटका नहीं जाता है।

मानवनिष्ठता

मैं मानता हूँ कि आज की बड़ी आवश्यकता है मानवनिष्ठता की। यदि उस निष्ठा का ध्यान रक्खा जाता है तो सभी वाद परस्परपूरक हो जाते हैं, कोई किसी को काटता नहीं है। धर्म को 'वाद' में बँधने दिया कि धर्म वहाँ से उड़ जाता है, खाली 'वाद' बाद में रह जाता है। धर्म के क्षेत्र में यह विषय उजागर हो गया है। पर ऐहिक (सेक्युलर) विचार के क्षेत्र में मानों ये वादप्रियता और वादवादिता अब भी फैशन में है। वादों के सहारे जीवित मनुष्यों के प्रश्नों को लिया जाता है और माना जाता है कि हम वैज्ञानिक प्रक्रिया में भावात्मकता (इमोशनलाइजेशज्न) कहता है कि बीच में अन्तराय बनने की कोई आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार मानवनिष्ठता से स्वतन्त्रता और निरपेक्ष राजनीति चल पड़ती है और मानव भाग्य को सँभालने और सुधारने के नाम पर उसे खतरे में डाल देती है।

भारत का अपना इतिहास है, अपना अस्तित्व है, अपनी गौरव-गरिमा है। उसका मार्ग भी अपना हो सकता है। पूँजीवाद, समाजवाद जैसे शब्दों पर निर्भर और आधारित उसे नहीं बनना है। अब भी भारत की आत्मा के नकली प्रतिनिधि बनकर पश्चिम के देशों में स्वामी लोग जाते हैं और सहज ही अनेकानेक अनुयायी भी छा जाते हैं। अर्थात भारत के पास एक समग्र जीवन-दर्शन की थाती रही है।

पाकिस्तान अब भी इस्लाम की दुहाई का सहारा ले सकता है, पर भारत का धर्म मानव धर्म और इसमें सब 'वाद' समा जाते हैं। एक समय था कि हिन्दू-मुस्लिम शब्दों को बेहद महत्त्व मिला और उस आधार पर विभाजन होने दिया गया, पर वह समय क्या बीत नहीं गया, भारत में अनेकता है, विविधता है, पर उस कारण अनैक्य होने का अवकाश नहीं है। देश को एक और अखण्ड रखना है। उसे यदि इतनी शक्तिशाली बनने देना है कि वह युद्ध तत्पर देशों को ठिठक रहने को मजबूर कर दें, तो राजनेतृत्व के लिए आवश्यक होगा कि वह मानवनिष्ठा को अपनाएँ और उसके प्रकाश में स्वयं को परिष्कृत होने दे।

इन्दिराजी रीगन से मिलेंगी और ब्रेझनेत से मिलेगी, लेकिन आशा करनी चाहिए कि वह विशाल भारत की ऐतिहासिक थाती, सांस्कृतिक विरासत के अकूत विश्वास के साथ विश्व की कूटनीतिक चुनौतियों का मानवनिष्ठता के बरक्स गरिमापूर्ण निराकरण प्रस्तुत कर सकती है।

□

धन की संस्था पर पुनर्विचार चाहिए

समाजवादी विचार धन के विचार से आरम्भ होता है। समाज हित में यह उचित भी है। धन समाज के शरीर का रक्त है। मानव शरीर के लिए हृदय, कहते हैं, उसका काम रक्त के प्रवाह को शुद्ध, सतत और सन्तुलित रखने का माना जाता है। इसलिए जिसे समाज के शरीर के स्वास्थ्य की चिन्ता हो तो उसे धन रूपी रक्तप्रवाह और रक्तचाप का निरन्तर ध्यान रखना आवश्यक है।

धन के सम्बन्ध में बहुत कहा सुना जाता रहा है। विचारको ने इस संस्था के विषय में विचार भी भरपूर किया है। मार्क्स ने इस सम्बन्ध में गहरा अन्वेषण और विश्लेषण किया। किताब ही लिखी 'कैपिटल' और वहाँ से 'केप्टिलिज्म' शब्द का आरम्भ हुआ। उसके उत्तर में सुझाया गया समाधान का शब्द 'सोशलिज़्म।' अर्थात धन अथवा पूँजी का सामाजिक स्वास्थ्य के हित में सही विनियोग और उपयोग हो तो आवश्यक है उसका स्वरूप और अधिकार व्यक्ति के पास से हटे हैं और समाज के पास पहुँचें।

आशय और आग्रह समाजवादी विचार का प्रथमत: यह रहा कि धन-सम्पत्ति पर से व्यक्ति का अधिकार हटें। शुरू में सामाजिक भावना रखनेवाले कुछ प्रगतिशील मनस्वी व्यक्तियों ने धन पर से अपने व्यक्तिगत अधिकार का त्याग किया और सामुदायिक सम्मिलित जीवन का परीक्षण आरम्भ किया। वहाँ मिल-जुलकर रहते थे और किसी के कुछ अलग अधिकार नहीं माने जाते थे। किन्तु यह प्रयोग भावात्मक माने गए और सुझाया गया कि समाज परिवर्तन और समाज क्रान्ति के लिए विचार भावुक भर हो यह काफी नहीं है। उस विचार को वैज्ञानिक होना चाहिए। परिणामस्वरूप केवल समाजवाद को वैज्ञानिक समाजवाद होना पड़ा और उस विचार के स्वरूप ने बल पाकर क्रान्ति कर दिखायी। आपस में मिल-बाँटकर सम्पत्ति का उपयोग सम्मिलित भाव से किया जाए, यह पर्याप्त माना गया। तर्क बुद्धि के लिए यह समस्या शेष रह ही गई कि सम्पत्ति के 'स्वत्व' को कहाँ बिठाया जाए।

शरीर में प्रवाही रक्त का स्वत्व कहाँ है? उसके अधिष्ठान का केन्द्र कहीं नहीं है। हृदय को उस प्रवाह का केन्द्र माना जाए तो वह तो अपने पास रक्त का एक कण भी रोककर नहीं रख सकता है। अर्थात मानव के स्वास्थ्य की दृष्टि से यह प्रश्न सर्वथा असंगत है। रक्त पर स्वत्वाधिकार किसका हो? प्रश्न वह स्वयं नहीं है और यदि शरीर के अंगोपांगों में यह प्रश्न उठ खड़ा हो तो केवल वितण्डा का कारण ही हो सकता है। दूसरे शब्दों में यह अकल्पनीय हैं। किन्तु समाज के सन्दर्भ में व्यक्ति अपने से उसको अलग मानकर विचार करने का सामर्थ्य रखता है। इस प्रकार के विचार को तटस्थ और वैज्ञानिक मान लिया गया है। एक बार व्यक्ति और समाज के अस्तित्व को अलग मान लेने की सुविधा हुई कि प्रश्न उठ खड़ा होता है कि कौन पहले और कौन दूसरा। कौन किसके लिये। वे दो हैं तो कौन प्रधान और कौन गौण। कैपिटलिज्म व्यक्ति के पास अधिकार का अधिकार है। प्रतिक्रिया स्वरूप इसके उत्तर में आये सोशलिज्म में वह अधिकार छिनकर कहीं अन्यत्र बैठने के लिए खाली हो जाता है। भावात्मक समाजवाद में इस खाली डोलते हुए सम्पत्ति के स्वत्व को प्रश्न भर नहीं सका, इसका उत्तर दे नहीं सका। समाज अर्थात क्या? समाज का हक मानकर अन्त में वह हक पहुँचा किस हाथ में? प्रश्न इस तरह खुला का खुला रह जाता है। मार्क्स के वैज्ञानिक विचार ने इस प्रश्न का खुद मुँह अर्थ भरकर बन्द कर दिया है। इस विचार ने कहा कि समाज मूर्त्त होता है राज्य में। राज्य अगर किसी एक का नहीं, सबका है। प्रातिनिधिक है, डेमोक्रेटिक है। तो राज्य में आया अधिकार एक साथ क्या सबका नहीं हो जाता है? सब अधिकार राज्य में रहेगा। तो यह कैपिटलिज़्म से बनी और खरीदी हुई बुराइयों और बीमारियों का पूरा इलाज और उत्तर हो जाएँ।

धन सामाजिक सामर्थ्य द्योतक है। इस पद्धति में कभी किसी युग में अन्तर नहीं रहा। किन्तु अन्तर उत्पन्न किया समाजवादी विचार ने। अपने धन की सामाजिक सामर्थ्य को राज्य की सामर्थ्य में परिणत कर दिया। परिणामतः समाज राज्य के नीचे आ गया। समाज में उसे संचालित होने की बजाय राज्य इस विचार के सहारे मानो उतरे समाज का परिचालक होने का दावेदार बन उठा। एक व्यंग्य ही कहिये कि यों घटित हुआ कि समाजवादी विचार असामाजिक हो जाए।

धन को अर्थ की संज्ञा ठीक ही मिली। एक तरह जीवन का वहीं अर्थ और उसके बिना जीवन अर्थहीन और व्यर्थ है। इसीलिए सबकी सब चेष्टाएँ उसी को पाने में लगी हुई है। सब उसे खींचकर अपने तले अधिकाधिक मात्रा में बटोर रखना चाहते हैं। पूँजी के इस मोह से न कैपिटलिज्म मुक्त हो सका और न वैज्ञानिक सोशलिज्म जिसको कम्युनिज्म कहा जाता है। रक्त को शरीर में प्रवाही

बने रहने देना है और यदि कहीं शरीर के प्रयोजन के लिए ही कुछ क्षण के लिए एकत्र होना भी है तो फिर उसे शरीर की धमनियों में अपनी प्रवाह-यात्रा पर चल देना है। अर्थात उस सम्बन्ध में स्वत्वभाव को कहीं किसी के लिए अवकाश भी नहीं है। इस जीवन के यथार्थ को दोनों ध्यान रखना भूल जाते हैं कि जब एक व्यक्ति की स्वतन्त्रता और दूसरा समाज के प्रति व्यक्ति के दायित्व की बात को लेकर आमने-सामने परस्पर प्रतिवाद में वे खड़े होते हैं।

भारत के मनीषियों ने कहा, 'अपरिग्रह'। माना गया है कि अपरिग्रह से स्वत्व का प्रश्न हल नहीं होता बल्कि एक अपना निरतत्व भाव खड़ा करके व्यक्ति को समाज से तपे मुनि, त्यागी, तपस्वी आदि के नाम पर अलग खड़ा होने की सुभीता दे देता है। उस आर्ष परम्परा में इस बौद्धिक और आत्मिक युग में हुए गाँधी ने रहकर अतिरिक्त रहकर अपने जीवन में पूरी तरह इसे अपनाया और अर्थ विचार के विचारकों के समक्ष अपनी ओर से समाधान के तौर पर शब्द दिया "ट्रस्टीशिप" उसका कुछ है नहीं। फिर भी उपयोग के लिए उसे मान लेना सहायक और आवश्यक होता है। कैपिटलिस्ट की जगह कभी समाज को बिठा देने भर से कुछ अन्तर नहीं आ जाएगा। अन्तर मानव की मानसिकता में लाना होगा। हरेक को अपने लिए मात्र आवश्यक भर लेना है। अधिक लेना, सामाजिक चोरी। आवश्यकता से अतिरिक्त जो है समाज की थाती है। इसलिए यद्यपि धन संचित होगा कि फिर समभाव से समाज में वितरित होगा। अर्थात मण्डियाँ होंगी, बाजार होंगे। उससे ही आदान-प्रदान, योग-विनियोग की राह से, धन का प्रवाह सबकी आवश्यकताओं की यथावश्यक पूर्ति में समर्थ हो सकेगा। सिद्धान्त रूप से स्वत्व के प्रश्न को किसी प्रकार बीच में आने देना सामाजिक असमानता और अस्वास्थ्य उत्पन्न करने का कारण हो जाना चाहिए।

मैं मानता हूँ कि अपरिग्रह के आदर्श की अवमानना से धन की सामाजिक उपयोगिता और सामर्थ्य में कमी आयी है। वहाँ विपर्यय घटित हुआ है। समाजवादी विचार में व्यक्ति और संस्था दोनों में स्वत्ववाद का प्रवेश कर दिया है और इस प्रकार परस्पर सम्बन्धों में मालिक-मजदूर, ऊँच-नीच, बड़ा-छोटा आदि आकार-प्रकार की विषमताएँ उत्पन्न की। वर्गभेद और शैलीभेद को बाँटने का दावा लेकर उपजे राजनीतिक वाद-विवाद में वर्ग-श्रेणियों को उलटे मजबूत बनाया है। पहले यदि भेद और अन्तर था तो सहानुभूति के भाव के प्रवाह के लिए भी अवकाश था और अब मानो श्रेणी-हित और वर्ग-हित में अलग-अलग बँध-बँट गये हैं और उनमें परस्पर विरोध-विग्रह ही सम्भव हो सकता है।

मैं मानता हूँ कि कार्ल मार्क्स के अनन्तर अब फिर धन की संस्था के सम्बन्ध में पुनर्विचार करने की आवश्यकता है। अपने समय में उस विचार ने कुछ काम

किया था। मानो एक कदम प्रगति ने आगे लिया था, लेकिन उसने अगति उत्पन्न की और वह असमाजिक तत्वों के लिए सहारा बनता देखा जाता है। गाँधी के ट्रस्टीशिप से वैज्ञानिक मानस को सन्तोष नहीं होगा और नहीं हो सकता है। उसमें फिर उसे भावात्मकता का दोष दिखाई दे। लेकिन विज्ञान स्वयं मूल निश्चयात्मकता की स्वीकृति तक आ गया है। सब-कुछ आंकिक सुनिश्चितता में परिवतर्तित नहीं किया जा सकता है। जीवन को भाव-शून्य नहीं बनाया जा सकता है। मनुष्य अंक नहीं है और देखा जाता है कि यदि भीतर भाव से भर आता है तो बाहर के वस्तु-वैभव के प्रति वह उतना ही तटस्थ और उदासीन बन सकता है। अधिकार की वासना अभाव के बोध में से उपजती है और इस अभावबोध को तीव्र ही करती जाती है। सत्ता और सम्पत्ति का अधिकार—यह अधिकार पाते जाइए, बढ़ाते जाएँ, पर अन्त में पाइएगा कि आकांक्षा भरी नहीं है। गड्ढा खाली का खाली है। आवश्यकता भीतरी भराव की है, बाहरी भराव की नहीं है। और मैं मानता हूँ कि स्वतत्ववादी अर्थ विचार में बाहर तो विपुलता पैदा की मालूम होता है पर भीतर मानों कंगालियत भर दी है।

□

वर्तमान जीवन व जगत की चरम निराशा का आखिर समाधान क्या है ?

तथाकथित वैज्ञानिक विचार के क्षेत्र से बाहर हो जाने पर मनुष्य के पास अपने संकट से पार होने का दूसरा उपाय क्या रह जाता है, क्या कोई 'अविज्ञान' आएगा ? विज्ञान से विद्रोह ठाना जाएगा और इस प्रकार के प्रतिक्रियात्मक विकल्प अपनाए जा रहे हैं उन लोगों द्वारा, जो वर्तमान सभ्यता से ऊब गये हैं। उसने मर्यादाओं को धता बता दी है और सभ्यता का उत्तर सभ्यताहीनता से देना चाहा है। ये तो युवजन हैं जिनमें स्पष्ट प्रतिक्रिया देखी जा सकती है। किन्तु कतिपय मनीषीजन भी हैं जो औद्योगिक और यान्त्रिक सभ्यता के अपरूप से उलटकर इतिहास को दो हजार वर्ष पूर्व लौटा ले जाना चाहते हैं।

नहीं! उस सब से काम नहीं चलेगा। वापस लौटना नहीं होगा। समय पीछे नहीं जा सकता।

लेकिन विज्ञान द्वारा उत्पन्न मशीन को मनुष्य पर हावी होने से बचाया भी जा सकता है और मशीन पर मर्यादा डाली जा सकती है। उसे मनुष्य के हित में और वश में नियुक्त अवश्य किया जा सकता है।

अभी तो ऐसा प्रतीत होता है कि मशीन ही तर्क से मनुष्य को चलाएगा। मनुष्य लाभ चाहता है। मशीन ने उसका उपाय रचकर रख दिया है। लाभ और लाभ और लाभ। लेकिन लाभ चाहने वाला मनुष्य अब आकर देख रहा है कि लाभ कि स्वयं सीमा है। उसे लाँघने पर वही अलाभ बन गया है। राष्ट्रों में द्वेष और वैमनस्य उसी लाभ बढ़ाते जाने की वृत्ति में से उत्पन्न हो गया हुआ फल है कि विकसित, विकासमान और विकासहीन देशों की श्रेणियाँ बन आयी हैं। विकसित माने जानेवाले राष्ट्रों में होड़ है कि शेष दोनों श्रेणियों की मण्डी को कौन अधिक हथिया पाता है, प्रभाव आर्थिक और राजनीतिक किसका पहले फैलकर दुनिया के ज्यादा भाग को घेर लेता है। इन्हीं विकसित राष्ट्रवादों के आमने-सामने दो गुटों को लेकर आज की संकटग्रस्त स्थिति बन आयी हैं।

इसलिए एक नये प्रकार के राष्ट्र और राष्ट्रवाद की भूमिका की सृष्टि करनी होगी। समय पीछे नहीं जाएगा। उसे दुनिया की और मानवजाति की एकता तक बढ़ते ही जाना होगा। गाँव में अपने को सिमटाकर आदमी विवश नहीं बैठ सकेंगे। उसे मानव जाति की इकाई के रूप में अपने को अनुभव करना है। हो सकता है कि मानव एकता की व्यवस्था, 'विलिज रिपब्लिक' जैसी धारणा पर खड़ी हो। लेकिन बूँद को तब अपने में प्राप्त होगा सागर की विराटता का भी अनुभव। उसे अनुभूति होगी नगण्यता की नहीं, वरन अपनी अस्मिता की, मुक्तता और अनन्यता की।

राष्ट्र और राष्ट्रवाद यदि राजनीतिक रहते हैं तो उनसे जन्म होता है पुरातन साम्राज्य और साम्राज्यवाद का, और अधुनातन विस्तार और प्रभाववाद का। क्यों ऐसा होता है? क्योंकि राजकीय मनोभाव के मूल में स्पर्धा और महत्त्वाकांक्षा गर्भित हुई रहती है।

ऊपर राज्य के तन्त्र की एकता मात्र से क्या राष्ट्र की एकता बनी रह सकती है? लेकिन हमारे देखते-देखते भौगोलिक राष्ट्र टूटते और बनते हैं। उनकी सीमाएँ फैलती और सिकुड़ती हैं। जिस आन्तरिक कारण से यह बनना-टूटना हुआ करता है, घटना-बढ़ना होता है वह तत्त्व है जो राष्ट्र को तोड़ता या बनाता है। जर्मनी एक नहीं था। बिस्मार्क ने एक नया भाव दिया और जर्मनी एक हुआ। वह भाव अपनी आन्तरिक शक्ति से फैला—बढ़ा और पोलैण्ड उसमें समा गया। आज पोलैण्ड तो क्या जर्मनी टुकड़े हुआ पड़ा है। यूरोप को एक देखने का स्वप्न सम्राटों ने लिया। नेपोलियन ने, कैसर ने, हिटलर ने लिया। पर भाव की एकता सेना के बल से सम्पन्न नहीं हुआ करती। राजशक्ति इस विकास में सहायक नहीं होती। वह स्थिति को सम्भालने के लिए है, गति भीतर से आती है।

भारत को उदाहरण में लें। सैंकड़ों वर्षों के इतिहास में उसे एक किसने रखा, वह कोई सम्राट तो न था। राजा-महाराजा हुए, बादशाह भी हुए, पर भारत की एकता उनके बूते तो बनी बिगड़ी कभी नहीं। भले उन कारणों से भौगोलिक सीमाएँ जरा इधर-उधर होती रही हैं। पर उस कारण राष्ट्रभाव में कमी नहीं आई।

न, वह राष्ट्रीयता सामुदायिक, आर्थिक लाभ-जाति पर निर्भर थी। भारत में एक साथ उनके सिक्के चलते रह सके। उनकी अनेकता या राजाओं की अनेकता भारत की एकता का कुछ बना बिगाड़ नहीं पाई। कारण, उस एकता की बुनियाद कहीं गहरी थी। गहरी थी, इसलिए ऊपर सीमा के तौर पर नक्शे पर डाल दी गयी रेखाएँ उसके लिए इतना महत्त्व नहीं रख पायीं। भारत उस कारण सिमटा रह गया, यह नहीं कह सकते। सुदूर दक्षिण-पूर्व तक उसका प्रभाव फैला था। जो आज तक धुला नहीं है। प्रभाव वह उत्तर-पश्चिम की ओर भी गया। प्रमाण

उसके इतिहास और पुरातत्व में हैं, लेकिन उस प्रभाव के विस्तार में तलवार का सवाल कभी नहीं आया। प्रभाव वह ऊपर से आक्रामक नहीं था, क्योंकि भीतर से द्रावक था। देश कई हैं और अलग हैं। उनकी राजनीतिक आर्थिक संरचना अलग हैं, संस्कृति अलग है, सिक्का अलग है। हाँ, यह अलगताएँ हैं, लेकिन क्यों आवश्यक हैं? क्योंकि वह प्रतिद्वन्द्विता और युद्ध का कारण बने। अपनी विषमताएँ ही अपनी-अपनी विशिष्टता बनाकर एक को दूसरे के पास आने और जाने में बड़ी आसानी से सहायक बनाई जा सकती हैं। संस्कृति किसी अनेकता को कम नहीं करती। प्रत्येकता के सत्कार द्वारा ही मानो वह अपने को विस्तृत और प्रशस्त करने का मार्ग पा जाती है।

यही चीज है जो विज्ञान के हाथ नहीं आ सकी। विज्ञान एक को दूसरे से अलग करके परखता और परिभाषा देता है। यहाँ दूसरे को अपने में देखने की बात आती है। अस्तित्ववाद के एक प्रकाण्ड प्रवर्तक को कहना पड़ा : "दि अदर इज हैल"। अन्य का होना ही मुसीबत है। लेकिन इधर के मनीषी ने पाया कि अन्य भी मैं हूँ। अन्यान्य की ओर से स्वत्व को खतरा नहीं है। बल्कि उसमें उसकी पूर्णता है, मुक्ति है। अन्यता को तोड़कर, उसे किनारा देकर, स्वत्व का विस्तार मिथ्या है। स्व की सच्ची प्रशस्ति, विस्तृति, बल्कि मुक्ति का मार्ग अन्य में से, सब अन्यान्य में होकर ही जाता है। ब्रह्म है और मैं ब्रह्म हूँ इत्यादि धारणाएँ मात्र किसी कल्पित आदर्शवाद की उड़ानें नहीं हैं, बल्कि अनुभवजन्य यथार्थताएँ हैं।

मैं मानता हूँ कि इन बुनियादों पर जीवन-रचना आरम्भ की जा सकती है। इसमें आज की किसी भी यथार्थता का अस्वीकार करने की आवश्यकता न होगी। किन्तु स्वीकार से आरम्भ करके हम देखेंगे कि शनैः-शनैः वह सब अतिरिक्त आवरण इस सभ्यता के शरीर पर से झरता जाता है जो उन बुनियादी सिद्धान्तों के अनुकूल अपने को ढाल नहीं पाता।

गाँधी के पास से एक शब्द आया था—अहिंसा। कल्पना मिली थी, अहिंसक समाज की। राजनीति के क्षेत्र में उनकी अहिंसक प्रक्रिया को काम करते भारत ने देखा था। अहिंसा थी, पर बर्तानी साम्राज्य के लिये। उसमें अजब चुनौती भी थी। उस प्रक्रिया में से हुँकार आ सकी 'क्वीट इण्डिया'। पुकार हुई : "करो या मरो।" यह सब कुछ हुआ और देखा देश के प्राणों में गम्भीर हलचल मची। लेकिन सब जानते हैं कि उन्होंने किसी को खत्म करने की भाषा के लिए कभी अनुमति नहीं दी। जमींदार रहेंगे, राजा रहेंगे, पूँजीपति रहेंगे। नहीं—कोई लिक्विटेड नहीं किया जाएगा। सब रहेंगे लेकिन इन्सान बनकर रहेंगे। विशेषकर राजा, जमींदार, पूँजीपति जो बन गये हैं वे तो फंक्शनल भर हैं। उन शब्दों से लड़ने

में क्या रखा है? कैपिटलिस्ट को तोड़ दो, कमीसार को खड़ा कर दो। तो इतने भर से मत समझ लेना कि अन्तर आ गया है। यह सब 'अहिंसा' राजनीतिक मानस की समझ न आई। वर्णाश्रम तक को न तोड़ने की बात गाँधी ने की, वह सुधारक हिन्दू मानस की समझ में न आयी। 'कम्युनल अवार्ड' में बाबा अम्बेडकर ने अपने पिछड़े जाति भाइयों का उद्धार देखा। पर गाँधी ने उपवास ठानकर उस तथाकथित उद्धार के मार्ग को रोक दिया। लेकिन पूँजीपति को अपनी निर्धनता, जमींदार को अपनी भूमिहीनता और राजा को अपनी अकिचिंनता से जो उन्होंने उत्तर दिया वह राष्ट्र के अनन्य नेता की ओर से आकर ऐसा चोट देनेवाला था कि किसी का दर्प फिर टिक नहीं सकता था।

विवाद भाषाओं का है। सार पर निगाह रखें तो ऊपर होनेवाले राजनीतिक विवादों का बड़ा भार व्यर्थ होकर झर जाएगा। विवाद व्यर्थ, उसी तरह भय संशय भी व्यर्थ। अहिंसक प्रक्रिया में से यह सब अतिरिक्त व्यर्थताएँ मन पर से झर जाती हैं। परिस्थिति को बदलने के लिए भी परिस्थिति को एक बार स्वीकार कर लेने से सहायता ही मिलती है। बाहर से तोड़ने की कोशिश से उस स्थिति का भोग पाने वाले में उसको रखने की जिद चढ़ती है। अर्थात उस राह स्वयं उस परिवर्तन की राह में कठिनाई बढ़ती है। ''देश पराधीन है।'' गाँधी ने कहा, ''पर तुम्हें आधीन रख ही कोई कैसे सकता है? उस अधीनता को अस्वीकार करते हो तो इसी क्षण तुम स्वाधीन बन जाते हो। और शब्द दिया उन्होंने : असहयोग। उस शब्द का आना था कि देश अद्‌भुत उत्साह से उमड़ पड़ा।''

जीवन की यही अहिंसक नीति और कर्म की अहिंसक प्रक्रिया बड़े पैमाने पर उपयोग में लाई गयी नहीं है। लाई गयी जहाँ उसने चमत्कार भी दिखाया है। तब गाँधी के समय से अब स्थिति बदली है। वह बहुत आगे आयी है। ब्रिटिश साम्राज्य का शेर अब मेमना बना बैठा है। फाकलैण्ड्स की सुरक्षा करते उससे नहीं बन रही है। उपनिवेश छोड़िए, स्वयं अपने देश में कदाचित वह आत्मनिर्भर नहीं है। अब अन्तरराष्ट्रीय राजनीति ऐसी सघन बनी है कि देश का प्रश्न सिर्फ उसका अपना नहीं रह गया है।

अर्थात अहिंसक प्रक्रिया के लिए आज बड़े क्षेत्र की ओर से आह्वान है। कोई आवश्यकता नहीं है कि गाँधी होने के कारण या भारत के प्रधानमन्त्री होने के कारण उसका आरम्भ इन्दिरा गाँधी से हो। यों भी वह सम्भव नहीं है। क्योंकि अहिंसा निर्बल का नहीं, प्रबल का शस्त्र है। इसे अपने बल के लिए बाहरी शस्त्रों की आवश्यकता नहीं होती। उसका सारा भरोसा आत्म के और परमात्म के ऊपर होता है। वह बल संसार में से समाप्त नहीं है। उसके धनी और विश्वासीजन संसार में जहाँ-तहाँ छितरे हैं। चेष्टा का आरम्भ कहीं से भी हो सकता है।

लेकिन समय है कि जब विज्ञान हार गया है, तब विश्वास उठे और स्थितियों को हाथ में लेने का साहस दिखाए। विश्वास कहा जाता है पहाड़ों को हिला सकता है। लेकिन जो विश्वास वह कर सकता है वह आत्मा से पहले परमात्मा का है और वहीं से प्रार्थना के द्वारा उसे अपने भीतर पाया जा सकता है।

शस्त्र शक्ति का पार नहीं और उसके कारण सर्वत्र भय का संचार है। यह नहीं शक्ति आत्मशक्ति होगी और सबके आश्वासन का निमित्त बनेगी।

□

बिहार प्रेस विधेयक लोकतन्त्र की कसौटी

बिहार प्रेस विधेयक क्या कानून का रूप लेगा? संकेत स्पष्ट नहीं है। कहा गया था कि विधेयक लाने से पहले बिहार सरकार ने केन्द्र से मशविरा कर लिया था। श्री साठे का नाम इस सम्बन्ध में आया, पर उन्होंने इन्कार किया, यद्यपि इन्कार का स्वर मध्यम रहा। गृहमन्त्री ने सदन में कहा था कि तमिलनाडु और उड़ीसा के ऐसे विधेयकों को स्वीकृति मिल चुकी है और कानूनी कोई बाधा नहीं है। किन्तु इस बार विधेयक के एक अंश के बारे में उन्होंने संशय प्रकट किया है कि वह केन्द्र के 1974 के विधेयक से मेल नहीं खाता, बल्कि उल्टे जाता है, इसलिए गृहमन्त्री ने स्पष्ट किया कि विधेयक पर मुख्यता से कानूनी पाबन्दियों के दृष्टिकोण से जाँच की जा रही हैं कि किस सिफारिश के साथ उसे आगे राष्ट्रपति के पास भेजा जाए।

कुल मिलाकर प्रतीत होता है कि तनिक हेर-फेर के साथ विधेयक को राष्ट्रपति की स्वीकृति मिल ही जाएगी।

किन्तु यह अनिष्ट होगा, अनिष्ट राष्ट्र के हित में ही नहीं, स्वयं सरकार के हित में भी अनिष्ट होगा। आशा के विरुद्ध भी मैं आशा करना चाहता हूँ कि श्रीमती इन्दिरा गाँधी और उनकी सरकार यह खतरा मोल नहीं लेगी। तमिलनाडु, उड़ीसा और बिहार राज्यों की सरकारें जनमत से भयभीत होने को अपने लिए कारण मान सकती हैं, और सुरक्षा की चिन्ता में अपने लिए इस प्रकार की अतिरिक्त कानूनी ताकत का सहारा लेना आवश्यक अनुभव कर सकती है, पर केन्द्र की सरकार भी क्या अपने को दुर्बल और भयभीत स्वीकार करेगी? नहीं, इसकी आवश्यकता नहीं होनी चाहिए। इन्दिराजी के पास अपने दल की प्रभुता है, साथ सारे राष्ट्र की मान्यता भी है। असहमति वे झेल सकती है। जनमत का भय मानने का उनके लिए कोई अवकाश है नहीं। निर्वाचन में भारी बहुमत ने उन्हें शासन का दायित्व सौंपा है। मात्र एक वे हैं जिनकी छवि राष्ट्र-व्यापी है और जिनका नेतृत्व की दृष्टि से अभी अनन्य माना जा सकता है। विपक्ष की ओर से आनेवाले

नाना विरोधों और अपराधों के समक्ष वे अपना यह विश्वास और प्रण प्रकट करती रही हैं कि भारत जैसे बड़े देश का शासन लोकतन्त्रात्मक ही हो सकता है, और वह हर हाल में शासन के इस रूप की रक्षा करेंगी।

जनमानस में खलबली

मैं मानता हूँ कि भारतीय लोकतन्त्र के लिए यह कसौटी की घड़ी है और बिहार प्रेस बिल उस कसौटी का बिन्दु है। देश की स्थिति अशान्त है, और तो और, स्वयं पुलिस की ओर से हाल में बम्बई और महाराष्ट्र में बड़े पैमाने पर विद्रोह का विस्फोट हुआ है। उसका शासन-दमन कदाचित सम्भव हो सकेगा? लेकिन वह सूचक है इसका कि राष्ट्र के प्राणों के भीतर क्या धधक रहा है! बिहार प्रेस बिल ने जनमानस में खासी खलबली मचा दी है। विशेषकर पत्रकारिता के क्षेत्र में बेहद ही बेचैनी है। देशभर के पत्रकारों ने एकजुट होकर विरोध में स्वर उठाया है। कहीं-कहीं प्रदर्शन में उन्होंने लाठियों के प्रहार किये। अनेक उनमें ऐसे हैं जिन्होंने सदा सरकार का समर्थन किया है। हिन्दुस्तान टाइम्स के सम्पादक श्री खुशवन्त सिंह जो इन्दिरा और उनके शासन के प्रबल प्रशंसक माने जाते रहे हैं। राज्यसभा में वह पढ़ने को विवश हुए कि इस विधेयक से अँग्रेजों के जमाने के 'कोलेट एक्ट' जैसी दुर्गन्ध आती है।

प्रश्न इस बिल या उस एक्ट तक सीमित नहीं है। प्रश्न पूरे लोकतन्त्र का है, उसकी प्रकृति का है। प्रश्न इस बात का है कि शासन का मूल बल क्या है? शासन पुलिस बल पर होगा कि जनमत के बल के आधार पर होगा। यदि उसको जनमत से ही अपनी रक्षा खोजनी पड़ती है और सुरक्षा उसे प्रतीत होती है। इस बात में कि पुलिस के हाथ मामूल से ज्यादा और उससे भर और ज्यादा कानून मजबूत किये जाएँ तो मानना होगा कि उसे अपने नीचे का लोकतान्त्रिक (डेमोक्रेटिक) आधार खिसकता प्रतीत होगा। उस नैतिक के अभाव में केवल प्रशासनिक बल प्रशासक के लिए कभी पर्याप्त सिद्ध नहीं हो सकेगा। निश्चय ही शासक के पास शक्ति है, पुलिस की और फौज की। किन्तु यह शक्ति लोकमत ने अपनी स्वेच्छा से उसे सौंपी है। दमन के उन उपकरणों का स्वयं लोकमत के विरोध में उपयोग में लाना, उसके अपने लोकतन्त्रता के दावे को झुठलाना ही होगा।

कानून का दुरुपयोग

प्रश्न होगा कि क्या प्रेस को मनमानी छूट हो? तीनों राज्य सरकारों ने अपनी रक्षा में इसी प्रश्न को उठाया था। जब अपने लिए नये कानून की माँग की थी

यानि कि मौजूदा कानून उनकी रक्षा में असमर्थ है। प्रवर्तमान और अब उस नये कानून के अन्तर्गत पुलिस की क्या ज्यादतियाँ हुई हैं, कहने की आवश्यकता नहीं है। प्रशासन की हाथ में कम ताकत नहीं है, और उसके दुरुपयोग के भी कम नमूने नहीं हैं। ले-देकर राज्य की ज्यादतियों से प्रजा के पास अपनी रक्षा के लिए प्रेस ही अन्तिम उपकरण है। भागलपुर काण्ड प्रकाश में न आता, न अन्तुले काण्ड उजागर हो पाता, अगर प्रेस जागरूक नहीं होता। प्रेस की ज्यादतियों की रोकथाम के लिए प्रेस काउंसिल जैसी संस्थाओं का सहारा लिया जा सकता है। सच यह है कि अश्लील और अपमानजनक लेखक को तो आप अपनी ही मौत मरना है। नेता को उससे डरने की आवश्यकता नहीं है। नेता की छवि इतनी साफ नहीं होनी चाहिए, चरित्र इतना स्पष्ट होना चाहिए कि ओछे वार उनके आगे गिर जाएँ। उनसे बचाव के लिए कृत्रिम सुरक्षा को आप खड़ी करना मानो प्रहारों को अपने पर आमन्त्रित करना होगा। प्रेस का मुँह बन्द करने का बहुत ही अनिष्ट परिणाम यह होगा कि अफवाहों को खुल खेलने का पूरा अवसर मिलेगा और शासन-प्रशासन के पास कोई तरीका न रह जाएगा कि लोकमानस की स्थिति-परिस्थिति का उसे सही परिचय मिलता रहे। उसकी अपनी एजेन्सियाँ जो देगी उन्हीं सूचनाओं पर अवलम्बित रहकर प्रशासन मानो लोकमानस से काटकर अपने को निर्बल और अनुद्यत पाएगा। परिस्थितियों की चुनौती के लिए ऐसे वह सक्षम नहीं बनेगा। लोकमत को अपने पक्ष में सीधे रखने के लिए अभी शासक के पास साधन कम नहीं हैं। दूरदर्शन, आकाशवाणी आदि पर स्वत्वाधिकार उसका अपना है, प्रेस ब्यूरो है। विज्ञापन का पोषण देने की अपार पूँजी उसके पास है। पत्र उसके बिना नहीं रह सकता है, चल नहीं सकता है। इन सबके बाद यदि जनमत उसके लिए ऐसी चीज रह जाती है कि शासक को उससे डरते रहना पड़े तो कहना होगा कि यह भय ही मानो उसकी पर्याप्त आलोचना है। अर्थात उसका नैतिक बल क्षीण हो रहा है। इसीलिए प्रशासनिक बल लगाकर बढ़ाते जाना उसके लिए आवश्यक हो रहा है। मैं मानता हूँ कि लोकतन्त्र स्वयं शासनस्थ दल के हित में है कि वह अपने लिए पूरक के तौर पर विपक्ष को खड़ा रखें। असहमति को पनपने दे और समीक्षा के उपकरणों को दबाये नहीं प्रत्युत उन्हें पूरा अवकाश दें। विमत और विपक्ष के बिना लोकतन्त्र आज असिद्ध है। यहाँ तक कि लोकतन्त्र के स्वास्थ्य के लिए संवैधानिक मान्य है। लोकतन्त्र राजा-प्रजा के बीच उस नाजुक सन्तुलन की स्थिति का नाम है जहाँ कोई पक्ष किसी पर हावी नहीं होता, प्रत्युत राजपक्ष और लोकपक्ष का द्वैत राष्ट्र के अद्वैत को स्थिर रखता है। पार्लियामेण्ट विधायिका है और सरकार की स्थिति उसके अधीन कार्यपालिका लेजिस्लेटिव और एक्युजेटिव के बीच का यह सन्तुलन बिगड़ा कि लोकतन्त्र टूटा।

श्रीहीन विपक्ष

दलों में आज यहाँ भारत में परस्परपूरकता का सम्बन्ध लगभग नष्ट हो चुका है। यह स्थिति चिन्तनीय मानी जानी चाहिए। विपक्ष को श्रीहीन बनाने की चेष्टा शासन दल की रहती है, तो सरकार को जैसे अवरुद्ध आयोग बनाने के प्रयत्न में विपक्ष अपनी सार्थकता देखता है। अर्थात भारत की राजनैतिक स्थिति लोकतान्त्रिक पैमाने पर बहुत सही उतरती है। यह नहीं कहा जा सकता है कि अभी उस दिन लोकसभा के विपक्ष के एकछत्र नेता तो इन्दिरा गाँधी को सम्भावित हिटलर तक कह गये। अतिरंजना उसमें हो सकती है, लेकिन यह सूचक है इस भय का जो विपक्ष में व्याप्त है।

राष्ट्र की ऐसी राजनीतिक मनोदशा में बिहार प्रेस बिल को केन्द्र की सिफारिश पर राष्ट्रपति की ओर से सहमति मिलना अत्यन्त अहितकर होगा। यह अनुभव करने में किसी को कठिनाई नहीं होनी चाहिए।

□

वर्तमान राजनीति की प्रवृत्ति हिंसा की ओर

पैंतीस वर्ष पहले 15 अगस्त की तिथि के उदय के बाद स्वाधीन भारत का प्रादुर्भाव हुआ। बाद में हर वर्ष ऐतिहासिक लालकिले से भारत के प्रधानमन्त्री राष्ट्र को सन्देश और उद्‌बोधन देते आये हैं।

इस बार श्रीमती इन्दिरा गाँधी ने बड़ी भावपूर्ण भाषा में आह्वान किया कि देश ने जिस अपूर्व उत्साह, लगन और बलिदान की भावना से स्वतन्त्रता की लड़ाई लड़ी थी उसी तीव्रता से अब गरीबी के खिलाफ जंग ठाननी है।

राजभोग के पद से उत्सर्ग और बलिदान की बात आना कुछ अटपटा अवश्य लग सकता है। लेकिन यह स्पष्ट है कि बलिदान के बिना कोई राष्ट्रीय यज्ञ सम्पन्न नहीं हो पाएगा। जहाँ तक गरीबी के साथ युद्ध का सम्बन्ध है, इतने बरस से यह युद्ध जोरों से लड़ा जाता रहा पर कहीं कुछ त्रुटि ही रही होगी। बाहरी अमीरी तो खूब पैदा हुई है, लेकिन उस अमीरी के कारण गरीबी हटी नहीं है, बल्कि उतनी ही बढ़ती गयी है।

श्रीमती गाँधी ने तीन बड़े संकटों और खतरों की ओर ध्यान दिलाया। संकट देश के लिए ही नहीं, दुनिया के लिये है। वे हैं—शस्त्रों की बढ़ती हुई होड़, अमीर और गरीब के बीच निरन्तर बढ़ती खाईं और तेल और कोयले जैसी चीजों वाले देशों पर अन्य देशों की ललचायी निगाहें। मैं मानता हूँ कि परमाणु हथियारों की होड़ का परिणाम है कि उस विवशता और प्रतियोगिता जो जगत को अस्थिर बनाए हुए है। विकासशील और विकसित देशों के बीच कूटनीतिक चर्चाएँ कितनी भी क्यों न चलती हों, सच्चा सौहार्द उनमें है नहीं, हो नहीं सकता। कोशिशें हुई हैं, लेकिन पाया गया है कि 'नार्थ' और 'साऊथ' 'हैव्स' और 'हैवनाट्स' (धनाढ्‌य और निर्धन) के बीच संविभाग का भाव आना सम्भवनीय नहीं बना है।

निरस्त्रीकरण

निरस्त्रीकरण की अनिवार्यता अनुभव की जाती है, विशेषकर परमाणु शस्त्रास्त्र के क्षेत्र में। लेकिन उस दिशा के प्रयत्न में फल नहीं आ पाता। प्रयत्न निष्फल होते

हैं तो इसलिए कि सुरक्षा अस्त्रों में ही देखी जाती है। बेहद अस्त्र-सज्ज-महाशक्तियाँ एक-दूसरे को विश्वासपूर्वक बताना चाहती हैं कि सुरक्षा के अतिरिक्त उन तैयारियों का और कोई उद्देश्य नहीं है। युद्ध रुका रहे, सिर्फ इसी के लिए परमाणु आयुधों का निर्माण है, अन्यथा उपयोग उनका नहीं होने वाला है।

पर आतंक और विभीषिका के बादल छाए हुये हैं। और मानवजाति इस प्रतीक्षा में साँस लेते रहने को बाध्य है कि कब क्या न हो जाए।

इन्दिराजी ने देश के लिए अन्दरूनी और बाहरी खतरे की बात कहीं थी। बाहरी खतरे का तो कहीं कोई चिन्ह दीखता नहीं है। लेकिन अन्दरूनी खतरे की जलामतें कम नहीं हैं। जब तब यहाँ हिंसात्मक उपद्रव फूटते ही रहते हैं। अपराध निरन्तर बढ़वारी पर है। भ्रष्टाचार आम हो गया है। पृथकवाद गहरे उतरता जा रहा है। राष्ट्रवाद, क्षेत्रवादों में बिखरता दीख रहा है। यह भयानक लक्षण है और उनकी ओर दुर्लक्ष नहीं किया जा सकता है। मुझे प्रतीत होता है कि राजनीतिक वातावरण दलवाद से इतना संकुचित हो गया है कि उसमें रचनात्मकता का तत्त्व ही शेष नहीं रह गया है। पहली आवश्यकता देश के लिए यह प्रतीत होती है कि शासनस्थ दल अन्यान्य दलों का भय न मानें, और उनको विश्वास में ले। अगर राजनीतिक क्षेत्र मात्र द्वन्द्व का, आपसी बैर-विरोध का ही क्षेत्र रह गया तो देश तीन-तेरह हुए बिना न रहेगा। हमने अपने बीच लोकतन्त्रात्मक शासन-पद्धति को स्वीकार किया है। इसका आशय है कि परस्पर मतभेद हो ही नहीं सकते, प्रत्युत वे उचित और आवश्यक है। लेकिन मत के वे भेद जब मनों में घर करने लग जाते हैं तो समझ लीजिए कि लोकतन्त्र का आधार ही क्षीण पड़ गया है। आज दलों में सौमनस्य तो है ही नहीं, वैमनस्य है। यह कहा जाए तो अतिशयोक्ति न होगी।

कुछ मनीषीजन मानते हैं कि संकट नैतिक है, और यह संकट अमुक देश में सीमित नहीं, विश्व में व्याप्त है। नैतिक मान-मूल्य, यदि वातावरण शक्ति की राजनीति से भर जाता है तो मानो निरर्थक और असंगत ही हो जाते हैं। इसीलिए यह बड़ा प्रश्न है कि राजनीति को, जिसकी प्रकृति ही द्वन्द्वात्मक है, नैतिक विशेषकर अहिंसा के मूल्य के प्रति जाग्रत और प्रतिबद्ध कैसे रखा जाए?

गाँधी का युग

अब सबको गाँधी का युग याद आता है। युवा पीढ़ी ने उस युग को देखा और भोगा तो नहीं, लेकिन सर्वथा उस सम्बन्ध में अपरिचित रहने का अवकाश भी उसके लिए नहीं है। इन्दिराजी ने जिन शब्दों में उस समय की भावना को याद किया उनसे उस युग की याद ताजा हो जाती है। स्वराज आने के समय गाँधी ने राष्ट्रीय काँग्रेस को सलाह दी थी कि वह अपने राजनीतिक रूप को समेटकर

राष्ट्र-निर्माण में लग जाएँ। राज्य-निर्माण का प्रश्न, राष्ट्र-निर्माण के समक्ष गौण है, उसके अधीन है। प्रजा स्वाश्रयी होगी, सचेत और सजग रहेगी, तो शासन का दायित्व जिसको भी तुम दोगे वह जनहित के बाहर और अन्यथा उसका उपयोग कर नहीं सकेगा। अर्थात नीचे से सांस्कृतिक और नैतिक भारत स्थिर और पुष्ठ बना रहता है तो फिर राजनीतिक भारत की समस्याएँ अधिक जटिल और विकट नहीं हो सकेंगी। वे तब केवल व्यवस्था-सम्बन्धी होंगी और हम देखेंगे कि उनको सँभालने में समाज में व्याप्त एक सहयोग भाव अनायास सरकारी प्रयत्नों में बड़ा सहायक हो रहा है।

अब वह जनता की ओर से स्वयंसेवा की सुविधा सरकार के पास नहीं है मानो सब काम अपने बूते पर उसे करना पड़ता है। राजकीय योजनाओं को लोक सौहार्द का सहज सम्बल प्राप्त नहीं है। सरकारी अमला जनता में विश्वास का भाव नहीं जगाता; प्रत्युत प्रतिक्रिया उत्पन्न करता है। इन सब बातों को मन में लेकर मैंने पाया कि 15 अगस्त के धूमधाम और उल्लास के दिन मैं दिल्ली में नहीं हूँ। गाँधी की अहिंसा की याद में दूर चला गया।

अहिंसा तो थी—सदा से पर राजनीतिक सरगर्मियों के बीच उसका प्रवेश सन्निवेश का प्रयोग एकदम नया था। राजनीतिक मानसे स्वयं गाँधी के जमाने में उसका अर्थ और महत्त्व समझ नहीं आया था। राष्ट्र के प्राणों में जब वेग का ज्वार उठा था, लगता था कि अब तो अँग्रेज को यहाँ से अपनी प्रभुता समेटकर चले ही जाना होगा, तब गाँधी ने अपना आन्दोलन सिर्फ चौरीचोरा जैसी तुच्छ घटना के कारण वापस खींच लिया था। उस पर सभी, दंग रह गये थे। लेकिन मैं मानता हूँ कि उस अहिंसा के मूल्य को तिलाँजलि देने के कारण ही आज राजनीति का वह हाल हो गया है जो कि है। दोष राजनीतिक का नहीं देष यदि है तो उस अहिंसावादी का है जो उसकी सामर्थ्य को निजी और सार्वजनिक जीवन में प्रकट कर सका ही नहीं। अहिंसा के साथ सत्य के आचरण और आग्रह से बड़ी कोई दूसरी शक्ति है नहीं, हो सकती नहीं।

धर्म आज असंगत है कर्मजगत के लिये। लेकिन कर्म मात्र प्रपंच की रचना ही कर पाएगा यदि वह धर्मभाव से अनुप्राणित नहीं होगा, और मुझे अब भी उस अहिंसा की तलाश है, जो दयाभाव में रुक नहीं जाती है, जो युद्ध से भय नहीं खाती है, किन्तु युद्ध को सदाग्रही और स्निग्ध बनाए रखकर उसको धर्मयुद्ध की कक्षा तक पहुँचाती है। तमाम राजनीति हिंसा में झुकी जा रही है। मानव जाति की पुकार है 'त्राहि माम'। आशा हो सकती है 'अहिंसा' से, पर पराक्रमी अहिंसा से।

□

औद्यागिक विकास से सामाजिक असमानता बढ़ी

क्या इसे वापस लौटना होगा? मालूम ऐसा ही होता है। मानी गयी उन्नति के लिए आगे राह बन्द है। औद्योगिक देशों के विकासोत्कर्ष का क्रम सर्वथा रुका नहीं तो मन्द तो हो ही गया है। बेरोजागारी वहाँ वेग से बढ़ रही है। प्रतिरक्षा का सवाल उन देशों के लिए पहले हो गया है और विकास का उसके अधीन बन गया है। प्रतिरक्षा का व्यय सब देशों में कुल बजट का बहुत बड़ा भाग खा जाता है। विकास की योजनाओं को बढ़ाने के लिए फिर विशेष अवकाश नहीं रह जाता। तैयारियाँ सामरिक, उत्पादन सामरिक, मानसिकता सामरिक।

उन्नति ने उत्पादन के वेग को बढ़ाया है। लेकिन औद्योगिक विकास के इस उत्कर्ष के साथ एक तो सामाजिक असमानता बढ़ी है, और दूसरे इससे हर देश के लिए अन्दर और बाहर के खतरे बढ़े हैं।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि उन्नति की प्रचलित धारणा के अधीन मानव सम्बन्धों में और उनके आधार पर खड़ी हुई सब संस्थाओं में परस्पर विघटन और प्रतिस्पर्धा की वृत्ति बढ़ती गयी है। सहयोग और सद्भाव उसी मात्रा में क्षीण और लुप्त हुआ है। वृहद मानव-समाज के अवयवों में स्नेह-तत्त्व के सूख जाने से घर्षण और ताप बढ़ा है। यही एकत्र होकर आज दो महाशक्तियों की प्रतिस्पर्धा के रूप में तमाम विश्व में तनाव, संशय और भय पैदा करने का कारण बना हुआ है।

आर्मामेण्ट! आर्मामेण्ट!! आर्मामेण्ट!!! सब देशों की यही पुकार और यही माँग है। यद्यपि वही सब देश राष्ट्रसंघ में संयुक्त होकर डिस्आर्मामेण्ट (निरस्त्रीकरण) की माँग और आवाज को ऊँचा उठाते पाये जाते हैं। शस्त्रीकरण सभी अपने लिए आवश्यक मानते हैं, लेकिन उसी से डर कर निरस्त्रीकरण को उससे भी आवश्यक मानते है।

यह विरोधाभास

इस विरोधाभास के कटने का क्या कोई उपाय है? जाहिर कोई उपाय नहीं दीखता। दुनिया एक विषम चक्र में फँसी प्रतीत होती है। कारण गहरा है। सबको चिन्ता है सुरक्षा की। सुरक्षा एक-दूसरे से। अस्त्र-निर्माण की होड़ लगी है तो इसलिए नहीं कि कोई किसी पर आक्रमण करना, वरन केवल इसलिए कि हर कोई अपने बचाव में सक्षम बने रहना चाहता है। सब मानते हैं कि परमाणु-अस्त्रों का उपयोग डेटरेण्ट है। अन्यथा नहीं तो उनका होना खतरनाक है। फिर भी उसके निर्माण में कमी नहीं आती है।

बात यह है कि विश्वास बन गया है कि सुरक्षा मात्र अस्त्र में है। सशस्त्र हम नहीं होंगे तो आक्रान्ता को अवसर होगा, लालच होगा आक्रमण का। इस भ्रम में एक-दूसरे के प्रति संशय पाला और भय बढ़ाया जा रहा है।

जिस सुरक्षा के लिए यह सब होता है, वह अपने-आप में क्या चीज है? मनुष्य मर्त्य है। यहाँ सदा रहना किसी को है नहीं। फिर भी कुछ नाम है जिनको हम अमर मानते हैं। मानते हैं कि काल को इन्होंने जीता। पता चलेगा कि अमर जो हुये हैं, शाहदत के रास्ते हुये हैं। अर्थात मृत्यु से वे बचे नहीं हैं, बल्कि उससे किसी बड़े सत्य को लेकर आगे बढ़कर स्वयं मृत्यु को अपनाने में वे झिझके नहीं, क्षण को भी ठिठके नहीं। इस बात को व्यक्ति के सम्बन्ध में हम खुशी से स्वीकार लेते हैं कि आत्म-बलिदान अमरता देता है। किन्तु आगे समाज और राष्ट्र के बारे में हम नहीं मान पाते कि वह मार्ग और सिद्धान्त अपनाया जा सकता है।

डिप्लोमेसी की नटचातुरी

'आर्मामेण्ट' अर्थात हिंसा का भरोसा। हमारे पास हिंसा की अधिक शक्ति होती कि सामनेवाला अपने आप दबकर बैठा रहेगा। यह तर्क सांत्वना देता है, पर क्या निश्शंकता भी दे सकता है? बीच में शंका बनी रहती है तो सम्बन्ध परस्पर सुधर कैसे सकेंगे? आज अन्तरराष्ट्रीय क्षेत्र में आपसी सम्बन्धों के सुधार की बड़ी चर्चा है। 'डिप्लोमेसी' की इस नटचातुरी की अधीनता से कोई मुक्त नहीं है। परिणाम कि जिस शान्ति की आवश्यकता है, मानव के सृजनात्मक अभिक्रम के खुलने के लिए, वह शान्ति, युद्ध की मुट्ठी में जा पहुँचती है।

हिंसा में भरोसा आदमी को एकदम व्यावहारिक मालूम होता है। आसपास वह काम देता दीखता है। लट्ठबन्द एक दादा सारे मोहल्ले को आतंकित रख सकता है। इसलिए सेठ ऐसे ही किसी लट्ठबन्द को द्वार पर बिठाकर घर में नींद लेने की युक्ति रचता है। लाठी के नीचे जो सुरक्षा खोजी जाती है वह सुरक्षा है क्या?

फिर भी किसी और उपाय में सुरक्षा दीखती नहीं है।

सुरक्षा का सेठ से भी कहीं ज्यादा बड़ा इन्तजाम रखना पड़ता है पद पर बैठे नेता को। जन-नेता था, इसी से न उसे पद पर पहुँचना पड़ा। लेकिन उसी जन से अब उसे रक्षा की आवश्यकता होती है। इस तरह हम देखते हैं कि प्रजा की रक्षा का दावा लेकर, उसी प्रजा के भरोसे राजा बने व्यक्ति को बाद में शंका और भय में जीना पड़ता है।

मरकर अमरता

स्वराज पूरा नहीं, अभी प्रयोगात्मक ही आया था। साम्प्रदायिक आवेश का रूप दोनों ओर खूँखार था। सारी सरकार गाँधी की रक्षा को उद्यत थी। गाँधी के अनुयायी बल्लभभाई गृहमन्त्री थे। स्थिति भारी खतरे की थी। गाँधी ने कहा कि, भाई रक्षक जो भगवान है वह मर नहीं गया है। ठीक कि इससे गोड़से को अवसर मिला और उसके हाथ गाँधी काल पा गये। लेकिन क्या उसी राह वह सदा के लिए अमर नहीं बन गये?

आशय कि सुरक्षा का विचार जीवन-मोह में से बनता है। इस विचार ने दुनिया को ग्रस लिया है। तभी परमाणु बमों का इतना ढेर लग गया है कि बार-बार उससे मानवजाति को पीढ़ी-दर-पीढ़ी सर्वथा नष्ट किया जा सके। जवाहरलाल ने कहा था, 'खतरे में ही जीयो।' गाँधी ने कहा था, 'अहिंसा में जीयो अर्थात खतरा तुम्हारे लिए रह ही न जाए।' अहिंसा निरपवाद प्रेम का नाम है। प्रेम में मृत्यु भी प्रिय हो जाती है। भय उसमें रहता नहीं। मैं मानता हूँ कि हिंसा का भरोसा टूटेगा और आदमी में अहिंसा का भरोसा जम सकेगा, तो 'डिस्आर्ममेण्ट' का भी आरम्भ हो चलेगा। बातों में से 'डिस्आर्ममेण्ट' नहीं आएगा। यह आएगा तो श्रद्धा में से ही, और याद रखना चाहिए कि गाँधी ने स्वतन्त्र भारत के लिए क्या कहा था, कहा था कि स्वतन्त्र भारत दुनिया के भले के लिए अपनी कुर्बानी देने से पीछे नहीं हटेगा। हिंसा कुर्बानी लेती है। अहिंसा खुशी से कुर्बानी देती है। और मैं मानता हूँ कि ऐसे प्रसन्न, सहर्ष बलिदान से बड़ा शक्ति का स्रोत दूसरा है नहीं।

□

जरूरत है नयी अर्थ-व्यवस्था के विचार की

धन पर ब्याज उगता है। उसके इस गुण के अवगुण को कुछ द्रष्टाओं ने पहचाना। भारत के कवियों ने निर्देश किया कि समाज का सर्वोत्तम पुरुष संन्यासी होगा और पैसे को छुएगा भी नहीं । समाज का नीतिदाता, शिक्षक, ब्राह्मण निर्धनता को अपनी शोभा मानेगा। आदर्श अपरिग्रही होगा, संग्रही नहीं। इस भाँति भारत के नीतिकारों और स्मृतिकारों ने धन को एक मर्यादा दी। क्राइस्ट ने सिक्कों का धन्धा करनेवाले लोगों की फड़ों को मन्दिर के आँगन में से खींच फेंका और निकाल बाहर किया। हजरत मुहम्मद ने सूद को हराम करार दिया और एक ऐसी ताकत पैदा की कि दुनिया चकित रह गयी। मार्क्स ने पूँजी के इस दुर्गुण को पहचानकर निर्णय दिया कि व्यक्ति और वर्ग के हाथों से लेकर उसे राज्य के हाथों देना ठीक रहेगा। राज्य का अपना स्वार्थ कोई होता नहीं, पूरे समाज का वह प्रतिनिधि और संरक्षक है। इस उपाय से धन से हो सकने वाले अन्याय से समाज को मुक्ति मिलेगी। इधर आकर गाँधी ने फिर सुझाया कि असली मूल्य श्रम है और श्रम से बचकर सिर्फ पैसे-से-पैसा बनाने की हिकमत पर जीना सामाजिक चोरी और पाप है।

ये सभी द्रष्टाजन अपनी जगह सही थे। लेकिन धन से धन बनाने की युक्ति मनुष्य के काम आती रही और उसे संस्था का रूप मिलता गया। निश्चय ही उसकी उपयोगिता थी और महाजन समाज का एक लाभकारी और आवश्यक अंग था। किन्तु क्रमशः इस संस्था का विकास होता गया और आज उसने बढ़-फैलकर 'इण्टरनेशनल बैंकिंग, का स्वरूप से लिया है।

जमाना बढ़ा है और उसके साथ निरन्तर 'उन्नति' होती गयी है। व्यापार फैला है और उसका पैमाना बड़े-से-बड़ा होता चला गया है। देशों के बीच व्यापार होता है और उनके देने-पावने का निपटान बैंकों के द्वारा किया जाता है। देशों के परस्पर विनिमय की दरें उठती-गिरती रहती हैं। आयात-निर्यात के अनुपात से कुछ देश धनी हो जाते हैं, कुछ तुलना में निर्धन बने रह जाते हैं। उनके आपसी देने-पावने के तलपट 'बैलेंस ऑफ पेमेण्ट' के हिसाब से उनके सम्बन्ध स्थिर

होते हैं। वे सम्बन्ध ऋणग्रस्त और ऋणदाता के बनते हैं और यह विषमता मानव जगत की स्थिति को निरन्तर तनाव से भरी और अस्थिर रखती है। किन्तु अपेक्षतया इसी को प्रगतिशीलता भी माना जाता है।

बातचीत बनी नहीं

'नार्थ' और 'साउथ' देशों के बीच बातचीत हुई है। पर बात बनी नहीं है। 'नार्थ' अर्थात विकसित देश 'साउथ' विकासमान देश। ये विकसित और विकासमान देश आपस में इस तरह नत्थी हैं कि बिछुड़ भी नहीं सकते हैं, पर समभाव में मिल भी नहीं सकते हैं। परिणाम यह है कि 'इण्टरनेशनल बैंकिंग' के सहारे टिकनेवाला अर्थजगत इस समय बेहद डाँवाडोल है, ऋणदाता देश अपना ऋण वापस कैसे पाएँ, यह समस्या है। ऋणग्रस्त देशों को दिवालिया तो बनने नहीं दिया जा सकता। ऐसे तो ऋणदाता देशों की अर्थव्यवस्था ही ठप्प हो जाएगी। किन्तु ऋणी देश इस लायक हों कि ऋण क्रमशः उनसे वापस मिलने की सम्भावना हो सकती है। इस चक्र में सन्तुलन इस कदर बिगड़ गया है कि धनशाली देश चिन्तित हैं, और उनकी अर्थव्यवस्था स्वयं डगमगा निकली है।

बैंक का धन्धा है कि वह कर्ज देता रहे इस शर्त पर कि सूद समेत वह वापस मिले। अब तो सूद की दरें बरबस ऊँची उठती जा रही हैं। लेकिन फिर भी आवश्यक है कि विकासमान देशों की अर्थव्यवस्था ही सहारा देकर कायम रखा जाए। इसलिए कुछ देशों ने अपने हित में मिल-जुलकर राशि जमा की है कि वह अल्प-ब्याज-ऋण के रूप में तीसरी दुनिया के देशों को सहायता के तौर पर दी जाए। अमरीका के इस राशि को बढ़ाने में असहमत होने पर भी उन सम्पन्न देशों ने निश्चय किया है कि वे इस राशि के सम्वर्धन में योग देंगे। लेकिन शर्त यह होगी कि सहायता प्राप्त देशों में फिर जो माल तैयार होगा उसके निर्यात का लाभ धनराशि में योग देनेवाले को ही यथानुपात मिलेगा।

वैमनस्य का वातावरण

लेकिन इस व्यापारिक स्पर्धा-प्रतिस्पर्धा से आर्थिक विषमता जो भी दूर हुई, या न हुई हो, उस कारण जो राजनीतिक वैषम्य और वैमनस्य का वातावरण उत्पन्न हुआ है, वह तो और भी अधिक चिन्ता का कारण बन गया है। मालूम होता है कि उपयोगी वस्तुओं का निर्माण ठहर सकता है, कम किया जा सकता है, लेकिन सुरक्षा और अपने हितों की रक्षा के लिए शस्त्रास्त्र निर्माण की गति को तो तेज-से-तेज करते ही जाना होगा। यह असुरक्षा की भावना इतनी फैल गयी है कि छोटे-सभी देश शस्त्रास्त्र का आयात करना चाहते हैं। चाहे उसका प्रभाव

उनकी अर्थव्यवस्था पर कितना ही घातक क्यों न पड़ने वाला हो?

इस विषम और विषैले चक्र से विकसित या विकासमान, धनी-निर्धन कोई भी देश छूटा नहीं है। स्थिति ऐसी बन गयी है कि सब अपने में बेबस अनुभव करते हैं। यह भीतरी बेबसी जगत को चलाए तो जा रही है यह स्थिति ऐसी बन गयी है कि सब अपने में भीतरी बेबसी अनुभव करते हैं। कोई भी देश छूटा नहीं है। जगत को चलाये तो जा रही है, पर किस दिशा में और किधर यह स्वयं पता नहीं है उस गति और प्रगति को।

धन के प्रति जिस दृष्टिकोण के अधीन हम बढ़ते चले आये हैं। और बढ़ते ही चले जा रहे हैं उसमें मौलिक परिवर्तन लाना होगा। अन्तरराष्ट्रीय बैंकिंग सिस्टम गहरे दबाव में हैं और लगभग टूटा जा रहा है। जिस आधार पर वह संस्था और वह प्रणाली काम करती है उसमें आदमी-आदमी और देश-देश का सम्बन्ध हार्दिक नहीं रहता, दाता-दयनीय प्रभु और दास का-सा बन जाता है। मानवता में तरेड़ पड़ती है और समूची मानसिकता में जैसे कलुष जा घुलता है।

समाजवादी व्यवस्था

समाजवादी विचार ने इस पूँजी की संस्था को राज्याधीन करके अपने भीतर बैंकिंग के दोष से समाज को कुछ मात्रा तक मुक्ति दी भी हो, लेकिन समाजवादी और अन्य देशों के बीच व्यवहार के लिए फिर वही प्रणाली अवशिष्ट बच जाती है। यों उस विचार में धन की शक्ति ने सामाजिक से राजकीय बनाने का जो उपक्रम किया है वह और भी अनिष्ट सिद्ध हो रहा है, तो यों कहिए कि कुल मिलाकर मुद्रा-शक्ति मनुष्य के लिए साधक और सहायक शक्ति न रहकर निरी-शोषक शक्ति बनी रह गयी है। आज तो अवस्था यह है कि विविध देशों की विविध मुद्राओं के विनिमय के बल पर ही समाज का एक बहुत बड़ा वर्ग मालामाल बना हुआ है और इस पद्धति से शेष में वह असहायता का निमित्त बनता है। मानवता की तनाम उत्पादन क्षमता मानो इस मुद्रा-चक्र के नीचे रचनात्मक की जगह नकारात्मक और ध्वंसात्मक बन जाती है।

सम्पन्न समझे जानेवाले देशों में बेरोजगारी तेजी से बड़ रही है। खपत कम है और उत्पादन-संयन्त्र उन मालिकों को भारी-पर-भारी पड़ते जा रहे हैं। मशीनी उत्पादन के अन्तर्भूत तर्क से ही आवश्यक है कि उसकी गति उत्तरोत्तर बढ़े। लेकिन उसकी गुंजाइश नहीं है। इसलिए औद्योगिक देश भारी चिन्ता में हैं। मशीन है पर उसका चलते जाना दूभर हो गया है। उधर मानवता के एक बड़े वर्ग की ऊर्जा का उपयोग नहीं हो रहा है। उपभोक्ता वह है, उत्पादक है नहीं। इस कारण नागरिक की हैसियत से केवल बेकाम जीने के लिए मजबूर बना यह आदमी समाज

के हित में 'प्लस' की जगह 'माइनस' हो जाता है। जन के सन्दर्भ में धन की संस्था के विषय में फिर जड़-मूल से विचार किए जाने की आवश्यकता है। एक जागतिक अर्थव्यवस्था के विचार की ही आवश्यकता है जिसकी परिधि पर मुद्रा हो, पर केन्द्र में मनुष्य हो। अब तक का अर्थशास्त्र आज की विकसित और विकट परिस्थितियों में अपर्याप्त सिद्ध हो रहा है और जिस जीवन-दर्शन के अधीन मुद्रा का मनुष्य पर आधिपत्य हो आया है, वह ओछा और अधूरा सिद्ध हो रहा है। शायद उसमें हृदय को बाद देकर हिसाब ऊपर आ गया है। तभी व्यक्ति-व्यक्ति नहीं रह गया है मानो हिसाब का अंक और राजनीतिक खेल की गोट बन कर रह गया है।

□

शासन में प्रशासन की अधिकता प्रजातन्त्र की कमजोर कड़ी

सरकार कसौटी पर है। बिहार की राज्य सरकार नहीं, भारत की केन्द्रीय सरकार। बिहार प्रेस बिल राष्ट्रपति की मन्जूरी के लिए ठहरा हुआ है। इस निर्णय से तय हो जाएगा कि हुकूमत किस बल से राज्य करना चाहती है। अफसरी का बल उसके साथ है, जनबल का आधार भी उसके लिए खुला हुआ है। अगर लोकतन्त्रता के वादे को सरकार के हक में बरकरार रहना और सिद्ध होना है तो आशा की जानी चाहिए कि कानूनी और अफसरी ताकत से वह जनबल के आधार को विशिष्ट और विश्वसनीय मानेंगी।

प्रेस बिल अश्लील और गन्दे अखबारी लेखन के खिलाफ है। कौन है जो खिलाफ नहीं होगा? लेकिन उससे बचने और उसकी रोकथाम के लिए बिल में जो अतिरिक्त अधिकार एक्जिक्यूटिव के हाथों में दे दिए गये है, ये यदि कानून बन जाते हैं, तो प्रजा की अभिव्यक्ति को स्वतन्त्रता की बुनियादी अधिकार का लगभग कोई अर्थ नहीं रह जाता है। समझ में यही नहीं आता कि नेता को जनमत से डरने की आवश्यकता क्यों प्रतीत होती है? प्रेस की स्वतन्त्रता वह चीज होनी चाहिए जिसका नेता स्वागत करे। प्रेस दर्पण है जिसमें अपने को यदा-कदा देखकर नेता सँभला रह सकता है। सरकार में भी प्रेस की ओर से अपनी गतिविधि की समीक्षा के लिए स्वागत का भाव रहना चाहिए। लोकतन्त्र के हित में है यह कि प्रजा जाग्रत रहे और परिचित रहे कि उसके लिए क्या कुछ किया जा रहा है। सरकार इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए अपनी ओर से बहुत-बहुत खर्च भी करती है। यह शुभ है और प्रजा को अवसर होना चाहिए कि वह निर्णय कर सके कि उसके लिए क्या कितना हितकर है, और क्या उसके हित के विरुद्ध। जाग्रत प्रजा लोकतान्त्रिक राज्य का बल है। जिस राज्य के लिए वही खतरा बन जाए तो मानना होगा कि उस शासन का लोकतान्त्रिक आधार शिथिल पड़ रहा है।

शासन में प्रशासन की अधिकता उतनी ही मात्रा में प्रजा को निस्तेज करती है। फलतः प्रजातन्त्र की नींव कमजोर होती है। हमें अपने सम्बन्ध में स्पष्ट होना चाहिए। राज्य का एक आदर्श यह है कि जिसको जितना कम राज करना पड़े, वह उतना ही उत्तम राज है। इधर दूसरा आदर्श भी है जिसे 'टोटेलिटेरियन' कहा जा सकता है। यानी कि राज्य प्रजा का सब प्रकार से दायित्व ले और तदनुकूल सारे अधिकार उसके पास हो। उसका क्षेत्र सर्वव्यापी हो और अधिकार सर्वथा उसकी मुट्ठी में केन्द्रित हो। एक प्रकार से भाषा के पूरे अर्थ में यह 'वेलफेयर स्टेट' हो।

इन दोनों आदर्शों के बीच प्रजातन्त्र और लोकतन्त्र वह राज-व्यवस्था है जो स्वीकार करती है कि अधिकार मूलतः सब प्रजा का है। इसलिए केन्द्रित होते जाने से उल्टे शासन प्रणाली को प्रजा के हित में उत्तरोत्तर विकेन्द्रित होते जाना चाहिए। कार्ल मार्क्स ने 'प्रोलेतारियत डिक्टेटरशिप' (सर्वहारा के आधिपत्य) की बात की थी। 'टोटेलटरिलेज्म' का विचार उसी में से आया हुआ है। लेकिन उनकी कल्पना थी कि इस 'डिक्टेटरशिप' की आवश्यकता तो बस बीच के कुछ समय के लिए होगी। आगे तो एक सर्वथा शासन-श्रेणी-विहीन समाज (स्टेटलेस एण्ड क्लासलेस सोसाइटी) की ओर बढ़ना है, क्योंकि वही आदर्श है।

भारत सरकार का तामझाम बढ़ रहा है। उसके अधिकारियों और कर्मचारियों की संख्या स्वराज से पहले से कई-कई गुनी हो गयी है। उसके अधिकार बढ़ रहे हैं। कुल मिलाकर उसका बोझ करदाता और उपभोक्ता पर भारी-से भारी होता जा रहा है। लोकहित (सोशल वेल फेअर) के उसके कार्यक्रम विस्तृत और विशाल रूप लेते गये हैं। यद्यपि उनके अनुपात को प्रतिरक्षा के बढ़ते हुए खर्च के साथ साधे रखना पड़ जाता है, पर सब यों तो ठीक है, लेकिन देखा जाता है कि योजनाओं में विकास के और लोककल्याण के लिए जो राशि निकाली जाती है वह अन्तिम नागरिक तक पहुँचते-पहुँचते शून्यवत हो जाती है। बीच में कहाँ किस-किस तरह छीजती हुई डूब जाती है, इसका लेखा-जोखा नहीं है। यह सब कुछ इस कारण होता है कि भरोसा अफसरी तन्त्र का बढ़ रहा है और नागरिक का टूट रहा है।

मुख्यमन्त्री की छवि

भारत की प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गाँधी राजनीतिक कुशलता और दूरदर्शिता में सिद्ध मानी जाती है। बिहार से जो समाचार मिलते रहते हैं, उनसे वहाँ के मुख्यमन्त्री की छवि विशेष उजली नहीं बनती है। प्रेस बिल के विरोध में शान्त

जन-प्रदर्शनों के प्रति वहाँ जो-कुछ बीता, उसके बारे में कुछ न कहना ही अच्छा है। लेकिन उनके बचाव के लिए इन्दिराजी ने लखनऊ में जो कुछ कह डाला वह उनकी दूरदर्शिता का प्रमाण नहीं देता। देश उस सम्बन्ध में क्षुब्ध है।

बिहार सरकार और उसके बचाव में खड़ी भारत सरकार इस व्यापक क्षोभ को देखी-अनदेखी करेगी तो यह उसके लिए भारी पड़ सकती है। अपने प्रजातन्त्र के बारे में भारत गौरव मान सकता है। आस-पास सत्ता के हस्तान्तरण में जो होता दिखता रहा है, वैसा कुछ-भी अनिष्ट भारत में कभी नहीं हुआ। जनमत ने यदि एकबार श्रीमती इन्दिरा गाँधी को सत्ता से गिरा भी दिया। तो फिर जनमत के ही बल पर उन्हें आसन पर आने में कठिनाई नहीं हुयी।

सत्ता के कारण खून-खराबी की यहाँ कोई सोच भी नहीं सकता। भारत का यह यश टूटनेवाला नहीं है, तो सावधानी की आवश्यकता है। ऊपर का अतिशय दबाव नीचे से उभार को उतनी ही उत्कृष्टता दे सकता है। असामाजिक तत्त्व और हिंसा के भाव से वातावरण भरता जाता मालूम होता है। राष्ट्रभाव क्षीण पड़ रहा है और पृथक-भाव बढ़ रहा है।

इन्दिराजी की राष्ट्रीय छवि कुछ ऐसी है कि अभी तक सब तरह समाहित से प्रतीत होते हैं। इसलिए और भी आवश्यक है कि वह छवि कायम रहे। इस सन्दर्भ में इन्दिराजी को अपने से पूछने की आवश्यकता होनी चाहिए कि क्या कारण है कि स्वतन्त्र भारत के समूचे इतिहास में उन्हीं के राज्यकाल में इमरजेन्सी और प्रेस बिलों की आवश्यकता क्यों हो जाती है? उनके पास चुनाव के द्वारा बड़े भारी बहुमत से सौंपा गया संबल है। फिर क्यों होना चाहिए कि इतने दमनकारी उपायों की रह-रहकर जरूरत उठती रहें? कहीं ऐसा तो नहीं कि काँग्रेस की संस्था अपने सच्चे जनाधार से टूटकर क्रमशः केन्द्रित होती हुई एक हाथ में रह गयी है? काँग्रेस-शासित राज्यों में मुख्यमन्त्री और मन्त्रिमण्डल जनाधार में से उभरे न होकर ऊपर से नियुक्ति पा गये हों और इसलिए शासन और प्रशासन का काम उनके लिए सुगम नहीं रहता हो? रह-रहकर उन्हें बाहरी सहारे की आवश्यकता होती हो?

चुनाव और जनमत

मुझे संशय है कि सत्ता का वह रूप जहाँ राजा और प्रजा के बीच एक-दूसरे का आतंक स्थान पाने लगता है, कितना स्थायी हो सकता है। चुनाव को तो एक-आध बार टाल भी लिया जा सकता है, लेकिन जनमत को ऊपरी और औपचारिक उपाय से साधे रखना आसान नहीं होगा। जनमत से दूर पड़े जाना लोकतान्त्रिक व्यवस्था के लिए चिन्ताजनक होता है।

प्रजा के पास प्रेस के सवा दूसरा उपकरण नहीं है कि वह अपने अभाव-अभियोग अधिकारियों के प्रति प्रकट करती रह सकें। भारत का प्रेस भारत की प्रेस की संस्था को स्वीकार करना होगा कि वह इतनी स्वस्थ नहीं है जितना स्वस्थ होनी चाहिए। उसको रचनात्मक और सभ्य बनाए रखने के लिए स्वयं पत्रकार-जन और उनके विविध संगठन सजग है। यह समूची संस्था सरकार के लिए पूरक सिद्ध हो सकती है। सरकार को ऐसा कोई कारण उपस्थित करने से बचना चाहिए जिससे उनके बीच संवाद और सद्‌भाव की स्थिति में बाधा पड़े। वही माध्यम है जो राजा और प्रजा के बीच योग स्थापित करता है। सरकार के पास अति विपुल साधन है कि जिनसे जनमत को वह अपने पक्ष में साधे रखे। ऐसी स्थिति में समीक्षा के स्वर के लिए अवकाश नहीं छोड़ा गया, तो राजा और प्रजा का योग-सहयोग का तन्त्र कच्चा होकर यदि टूट जाता है तो यह बहुत ही अनिष्ट होगा।

हम राष्ट्र के प्रधानमन्त्री से इस नाजुक विषय पर आशा रखते हैं, विश्वास करते हैं कि दूरदर्शिता से वे काम लेंगी। उस तारतम्य को वह विघटित नहीं होने देंगी जो 'प्रेस' हर प्रजातन्त्र में राजा-प्रजा के बीच स्निग्ध, स्थिर और सन्तुलित बनाए रखता है।

□

और गाँधी हैं कि उसके हिस्से हो नहीं सकते

एक साथी कहाँ-के-कहाँ पहुँच गये हैं। छुटपन में गाँधी के सिपाही हुआ करते थे। अब स्वतन्त्र भारत में समृद्धि है, रौब है, रुतबा है। कृपा कर कभी-कभी मेरे हालचाल लेने पधार जाते हैं। बोले, ''तो सचमुच तुम गाँधी को आज भी प्रासंगिक मानते हो?''

उनके सचमुच में मैंने पाया कि शायद उन्हें संशय है कि मेरी बुद्धि ठीक-ठिकाने है या नहीं।

उस 'सचमुच' का उत्तर मुझे सूझा भी न था और शायद उन्हें आवश्यक भी न था कि वे बोलते गये।

''देखो, तब स्वराज था नहीं। भारत को ऐसे समय गाँधी जैसे सत्पुरुष का नेतृत्व मिला। यह सौभाग्य ही था, लेकिन समय आगे बढ़ गया है। स्वतन्त्र भारत को अब विकसित देशों के मुकाबले खड़ा होना है। ऐसे समय तुम्हीं सोचो, चरखा-खद्दर की बात चलेगी? चल सकती है? क्या हुआ तुम्हारे खादी-ग्रामोद्योग का? हमारी सरकार बराबर उसे अनुदान देती आयी है। पर कब तक? जिसमें अपनी जान ही नहीं है उसे जबरदस्ती एड़ लगाकर चलाए रखा जाए, इससे क्या फायदा है? तुम कहते हो कि उससे अन्तिम मनुष्य को सहारा होता है, खाक सहारा होता है। उल्टे तुम्हारा खादी ग्रामोद्योग उसका शोषण करता है।...खैर, छोड़ों...कहो कैसे हो?...सुनो, इस सड़ियल मकान में कब तक रहे जाओगे? मैं कहता हूँ अप्लाई करो। साहित्यकार-पत्रकार की आवश्यकता है और उसके हित में कुछ तो किया ही जा सकता है। मेरी मान लो, गाँधी की रट छोड़ों।''

उनकी हितेषिता पर मन में गहरे आभार का भाव हुआ, लेकिन साहसपूर्वक कहा कि आप क्या गाँधी को सर्वथा अप्रासांगिक मानेंगे? आपकी राजनीति देखिए, कितनी मैली-कसैली हो गयी है? गाँधी के रहते क्या यह सम्भव था?

''तुम्हारे गाँधी हत्या से गये। यानि कि तब हवा में हिंसा कम तो न थी। तुम यही न कहना चाहते हो कि हिंसा का भाव बढ़ रहा है?''

''तो आप सन्तुष्ट हैं आज की स्थिति से?''

''सन्तोष तो पाप है? अध्यात्म में माना जाता होगा सन्तोष को शुभ। राजनीति असन्तोष की शक्ति से आगे बढ़ती है।''

मैंने साहस किया कहा, ''जनता असन्तुष्ट है। क्या आप और आपकी सरकार अपने वचनों और वायदों से उसे चुप और सन्तुष्ट ही नहीं रखना चाहती?''

''वहीं, उनके असन्तोष के नकार को हम मौका नहीं देना चाहते हैं। असन्तोष को रचनात्मक बना देखना और बना देना चाहते हैं।''

''आप तो सरकार में नहीं हैं...''

''हाँ, नहीं हूँ। इसी से तृप्त समझ सकते हो कि मुझमें उसके पक्षपात का कारण नहीं है। लेकिन गाँधीवाद और गाँधीवादी प्रगति में बाधक बन रहा है। वह सिद्धान्त लिए बैठा है और कुछ सूत्र कि जिनमें प्राण नहीं है। तुम कहते हो कि तुम 'वाद' को नहीं मानते हो और गाँधीवादी नहीं हो। लेकिन उन्हें तुम्हारा सहारा है। कह सकते हो कि नहीं है?''

''गाँधी का सहारा किसको नहीं है। आपके काँग्रेस के नेताओं को नहीं है? कौन दल है कि उनके नाम की दुहाई से बचा है। इसलिए क्या यह और भी आवश्यक नहीं हो जाता कि सच्चे गाँधी और पूरे गाँधी का नये सिरे से आविष्कार किया जाए?''

''सोचिए कि आप उसे प्रासंगिक नहीं मानते। फिर भी आपके समर्थन का शासक दल उस नाम को समय-असमय दुहराता है। यह क्यों? आप नहीं मानते तो न मानें। इसमें किसी की जबर्दस्ती नहीं है। लेकिन फिर हमें ईमानदार नहीं होना चाहिए?...देखिए, एक अहिंसा को लीजिए। जनता को रचनात्मक रखने के लिए आप और सभी अहिंसा को आवश्यक मानेंगे। क्या वह अहिंसा राजनीतिक दलों के लिए भी परस्पर व्यवहार में आवश्यक नहीं है? शासक दल के लिए तो और भी आवश्यक होनी चाहिए। लेकिन नकार का स्वर सब तरफ व्याप्त है, सबमें एक-दूसरे से सामना लेने का इरादा पनप रहा है। सहयोग और सद्भाव टूट रहा है। गाँधी की डिक्शनरी में असहयोग हो सकता है, आज तो सद्भाव की गुंजाइश को ही सब ओर से खत्म किया जा रहा है और कुछ नहीं तो मैं मानता हूँ कि सिर्फ इसी के लिए आज की राजनीति में गाँधी सबसे अधिक प्रासंगिक है।''

''ठीक है, लेकिन...''

''जानता हूँ, आप कहेंगे कि अहिंसा महात्माओं के लिये है...''

''और नहीं तो क्या अपरिग्रहवाली अहिंसा हम-तुम जैसे गिरिस्तियों के

बस की है? राजनीति नागरिकों से बनती है। त्यागी-तपस्वियों के लिए धर्म और अध्यात्म का क्षेत्र खुला पड़ा है। गाँधी ने यही अन्धेर किया था। व्यवहार में उसका दखल होने दिया था। फल हम भोग रहे ही हैं। मैं समझता हूँ कि व्यवहार को और राजनीति को शुद्ध रखने का भरपूर प्रयत्न हुआ है। शासन कुछ हद तक कामयाब भी हुआ है। लेकिन मुश्किल यह है कि गाँधी ने अपने लिए जो पैमाना रखा उसी से हमें नापा जाता है। भला यह कैसे हो सकता है? भारत अब स्वतन्त्र है। उद्योग होंगे और बढ़ेंगे। पैसा बढ़ेगा और उसके संचरण में वेग आएगा। घाटे के बजट होंगे। मुद्रास्फीति होगी। वह सब अनिवार्यतया होगा जो आज हो रहा है। मानव प्रकृति का आखिर क्या कीजिएगा? सरकार नियमन कर सकती है, पर एक सीमा तक। नागरिक अपने निजी स्वार्थ और हित के विचार से पूरी तरह बरी तो हो नहीं सकता। इसलिए बीच में अगर कुछ प्रपंच भी पैदा होता तो भ्रष्टाचार और कालेबाजार आदि का खामखा हल्ला मचाने का क्या लाभ है? पर वही तुम्हारी नैतिकता! तुम लोग नैतिक संकट की बात करते हो, तो अच्छा करते रहो। लेकिन इससे क्या प्रगति रुकनेवाली है। इसलिए कहता हूँ कि गाँधी की तरह-तरह से सजाकर बिठाने को हम भी तैयार हैं। इसमें कभी हमारी तरफ से क्या कमी तुमने देखी? लेकिन आधुनिक राजनीति, कूटनीति, उद्योगनीति और व्यापार नीति में गाँधी को उतार देने की तुम लोगों की जिद ने देश की उन्नति के मार्ग में रोड़ा अटका रखा है, यह तुम लोगों की समझ में क्यों नहीं आता?''

''देखिए, पहले समझ में आने योग्य है यह कि गाँधी को एकदम बाहर रखा जाए। ऐसा आप करते नहीं हैं, करना चाहते नहीं है, और गाँधी है कि उसके हिस्से हो नहीं सकते है। कुछ उसका ले और बाकी छोड़ दें यह हो नहीं सकेगा। जनता के हक में उसे रखे रहें और अपने लिए अनुपयुक्त मानें, यह बनेगा नहीं। राजनीति में से गाँधी गायब भले दीखता हो, पर भारत के अन्तःकरण में से उसकी चाह को उसके प्रभाव को मिटा देना सम्भव नहीं हो पाएगा। उस नाम से शासन और शासक को नापने का लोभ भी जनता से छूट नहीं पाएगा...।''

''जनता तो मूढ है और तुम...''

''देखिए, आपको राष्ट्र का विचार है। वह सन्दर्भ सामान्यतः मेरे निकट अनुपस्थित रहता है। सन्दर्भ में अनायास मनुष्य, अतः विश्व उपस्थित हो जाता है। आपकी बात मैं मान लूँगा कि राष्ट्र के लिए समूचे गाँधी उपयुक्त नहीं ठहर पाएँगे। लेकिन मनुष्य की और विश्व की आज की अवस्था में, आप भी तटस्थ भाव से सोचिएगा तो पाइएगा कि गाँधी और उनकी अहिंसा ही एकमात्र विकल्प है। अन्यथा आणविक शस्त्रास्त्र का विस्फोट समक्ष है ही।''

"हाँ, वह हो सकता है। लेकिन...तुम मकान के लिए अप्लायी करना न भूलना। आगे मैं देख लूँगा।"

कहकर उन्होंने सब पारिवारिकों को आशीर्वाद दिया और हमने माना कि उनकी छत्रछाया हम पर बनी रही तो कोई संकट हम तक आने का साहस न करेगा।

□

जरूरत है बुनियाद में परिवर्तन की

एक मित्र ने अपने चार लड़कों में एक को नालायक ठहरा दिया। विरासत में उसके हिस्से कुछ नहीं आया। सवाल हुआ कि वह क्या करे? आखिर उसने छोटे-से घर में ही एक छोटी-सी फैक्टरी खोल ली। कहते हैं बटोर-बटारकर ढाई हजार रुपये से काम शुरू हुआ। पर देखते-देखते काम ऐसा फला-फूला कि दो-तीन वर्ष के ही अरसे में वह भाई अब लाखों में खेलते हैं।

रहस्य इस अपूर्व सफलता का यह कि फैक्टरी में वह झाड़-फानूस तैयार करता था। क्या उपयोग है उनका? उपयोग हम-आपकी समझ में शायद कुछ नहीं ठहरेगा। दिखावट-सजावट आखिर नकली ही तो चीज है असली तो है नहीं। लेकिन उसी की माँग है। माँग इतनी है कि पूछिए नहीं। फैक्टरी को दो शिफ्ट चलाने पड़ते हैं। पर आर्डर है कि पूरे नहीं होते हैं। सौ की लागत पर हजार से ऊपर का नफा है। पर फानूसों की माँग और खपत की भी इन्तिहा नहीं।

किसी विकसित देश की बात नहीं कर रहा हूँ। बात भारत की है जहाँ दो-तिहाई आबादी दीनता की रेखा से नीचे रहती कहीं जाती है।

यह सलामत है आज की जिन्दगी के रुख की।

राजनीतिक की कैफियत

उधर राजनीति की कैफियत देखिए। राज्यों की विधानसभाओं में और सदन में यों अभद्र व्यवहार के दृश्यों की कमी तो शायद कभी न थी। तू-तू, मैं-मैं आम बात थी। हंगामे जब-तब होते ही रहते थे। नौबत गाली-गलौज की हो आती थी। लेकिन उड़ीसा में दो दिन तक विधानसभा की कार्यवाही सम्भव न हो सकी इतनी गरमागरमी हुई। उधर कश्मीर की सभा में एक ही पार्टी के दो सदस्य हाथों-लातों में एक-दूसरे से निबट रहे थे। ये दोनों हादसे बुधवार के दिन के हैं। अगले ही दिन मध्यप्रदेश में शोरगुल उठा और हंगामे का खात्मा इस तरह हुआ कि विपक्ष के नेता को निकाल बाहर कर दिया गया। जनता के इन प्रतिनिधियों को क्या खबर नहीं है कि इस तरह के लोतान्त्रिक संस्थाओं को उन्हीं लोगों की निगाह में कितने

नीचे गिरा रहे हैं जिनके वे प्रतिनिधि हैं?

यह तो लक्षण है जो ऊपर दिखते हैं। भीतर हालत और भी भयानक है। स्वयं शासक दल में अन्तर्विग्रह का पार नहीं है। शासन चल रहा है क्योंकि चल रहा है। विकल्प है नहीं और राष्ट्र के पास एक ही नेता है। दम है श्रीमती इन्दिरा गाँधी का कि बात सधी हुई भी है। लेकिन राजनीति में घुन लग गया है। इन्दिराजी अमरीका गयी थीं और अभी वह रूस से लौटी हैं। अमरीका के सम्बन्ध अगर बिगाड़ पर थे तो कहा जा सकता है कि वह अब सुधार पर हैं। रूस के साथ भारत की मैत्री की बात को तो कहिए क्या? वह मजबूत थी, अब और मजबूत हो गयी है। लगता है कि सब क्षेत्रों में यह सहयोग बढ़ेगा और भारत के हित में कहीं अधिक कारगर होगा। लेकिन बाहर की सँभाल से कहीं अधिक चिन्ता की चीज होनी चाहिए अन्दर की सँभाल। रूस से रूसियों से, विशेषकर ब्रेझनेव से, इन्दिराजी ने शिकायत की कि वामपक्ष दक्षिण से मिलकर भारत को अस्थिर करने की कोशिश करता रहता है। अस्थिरता का यह प्रयास स्वयं उनके दल की ओर से भी नहीं हो रहा है, यह नहीं कहा जा सकता है।

उद्योग-व्यवसाय से भरपूर जिन्दगी की फानूसी दिशा, और राजनीति की लगातार गिरती हुई यह प्रपंची दशा क्या ये दो अलग चीजें हैं? मुझे ऐसा प्रतीत नहीं होता है। दोनों एक ही गतिविधि के परिणाम और प्रमाण हैं। आज ही का समाचार है कि अमरीका के सीनेट ने 710 करोड़ डालर का बिल सामरिक निर्माण और संरक्षण की योजनाओं के निर्माण व्यय का प्रावधान स्वीकार किया है। यह भी उसी गतिविधि की कड़ी का फल है।

हथियारों की होड़

इन्दिराजी कहती नहीं थकती हैं कि सामरिक शस्त्र-निर्माण कि दौड़ और होड़ खतरनाक बिन्दु तक आ गयी है। तनाव भयावह है। इस ओर तत्काल कुछ किया जाना चाहिए। महाशक्तियों की स्पर्धा के हाथों में ही मनुष्य का भाग्य और भविष्य नहीं है। कहते हुए वह संकेत करती हैं उन स्थलों का भी कि जहाँ स्थिति की भड़क पड़ने की सम्भावना है। भारत, नई दिल्ली में होनेवाले निर्गुट सम्मेलन की अध्यक्षता करने जा रहा है। उसका दावा है कि रूस से जितनी भी मैत्री हो पर कई बातों में असहमति भी है। वह किसी गुट में नहीं है और दोनों राष्ट्रों की ज्यादतियों के खिलाफ है, रहा है, और रहेगा। यह सब मान लिया जा सकता है। लेकिन निर्गुट सचमुच आन्दोलन है और उसमें कुछ अपनी ताकत है, यह उसे अभी सिद्ध करना बाकी है। यदि निर्गुट समागम सभा के सब देशों को अपनी-अपनी सुरक्षा के खातिर शस्त्रास्त्र के आयात की आवश्यकता है, जैसी कि है,

तो उनके किए युद्ध के बादल छूटेंगे नहीं। न शस्त्र-निर्माण की गति धीमी होगी, न परमाणु आयुधों का विस्तार रुकेगा। न तनाव में कमी आएगी। न राजनीति किसी भी देश की स्वस्थ हो सकेगी।

बात यह है कि जिन बातों को बुनियाद मानकर हम खड़े है और चल रहे हैं, वहीं परिवर्तन और संशोधन की आवश्यकता है। मानते हैं कि शस्त्र ही सुरक्षा है और शस्त्र में ही बल है। सब देश, लोकतान्त्रिक समाजवादी या अन्य—अपनी ताकत जाने-अनजाने अपने सैन्यबल के प्रमाण में ही मानते हो, इसलिए जरूरी समझते हैं कि पड़ोसी से उसकी सैन्य शक्ति कहीं उन्नीस न रह जाए। और यदि कोई अपने को कम या छोटा अनुभव करता है तो वह किसी-न-किसी सैन्य गठबन्धन में शामिल हो जाना आवश्यक मानता है। किन्तु मूलतः वही सब देश यह भी स्वीकार करते हैं कि सैन्यबल से जनबल और नागरिक बल बड़ी चीज है और उनके आधार में तत्त्वतः वही है। तत्त्वतः है, किन्तु यथार्थतः नहीं है। यही अन्तर्विरोध विश्व की स्थिति को अस्थिर और तनावपूर्ण बनाए रखने का कारण है। गुट-निरपेक्ष देश मिलकर आपस में इस कदर संगठित और युद्धबद्ध हो सकते हैं कि दोनों बड़ी ताकतें इस तीसरे विश्व-जनमत की ताकत के आगे कोई भी दुनिया पर परमाणु युद्ध लादने का साहस न कर सके।

भारत ही समर्थ

पर इसको महज इच्छित विचार (विशफुल थिंकिंग) माना जाएगा। हाँ, अभी तो यह स्वप्न जैसी बात ही लगती है। किन्तु भारत से लिए सम्भावना है, और सम्भावना एकमात्र भारत के लिए ही है कि इस दिशा में पहल करके दिखा सके। यह इसलिए कह रहा हूँ कि यह देश महात्मा गाँधी का है, और अब इन्दिरा गाँधी के नेतृत्व के अन्तर्गत है। इन्दिराजी में साहस की कमी नहीं रही है। लेकिन अभी तक वह यहाँ दल-नेता के रूप में व्यवहार करती है, राष्ट्रनेता के रूप में नहीं। दलगत और दलीय-शासन दूसरे दलों के अथवा असहनीय के प्रति दमन में ही एक उपाय देखेगा। वह हार्दिक राष्ट्र-समर्थन प्राप्त नहीं कर सकेगा। कहा जाता है कि काँग्रेस के कोष्टक में जो 'ई' है वही असल है। यह स्थिति रही तो अन्तरराष्ट्रीय क्षेत्र में इन्दिराजी का वर्चस्व वह न हो पाएगा जो भारत की ओर से उनका होना चाहिए। इन्दिरा गाँधी अपने मन में महात्मा गाँधी को गहरे उतरने देंगी, कानून के बल से लोकश्रद्धा के बल को अधिक महत्त्व और प्रभाव को मानेंगी, तो हो सकता है कि भारत सचमुच दोनों बड़ी ताकतों के सामने एक उनसे कहीं बड़ी तीसरी ताकत उनके मुकाबले खड़ी करके दिखा सकने में समर्थ और सफल हो सके।

□

'युद्ध और शान्ति' का गम्भीर प्रश्न

'युद्ध और शान्ति' यह शीर्षक था उस ग्रन्थ का जो पूरी एक सदी पहले रूस के सन्त टॉल्स्टाय ने लिखा था। वह अब तक संसार का सर्वश्रेष्ठ कथाग्रन्थ माना जाता है।

इस सौ वर्षों में दुनिया कहाँ से कहाँ पहुँच गयी है। युद्ध और शान्ति का प्रश्न तब विचारणीय हो सकता था। अब वह विचारणीय नहीं रह गया है, एकदम 'करणीय' हो गया है। अब वह तात्विक नहीं, तात्कालिक है। विवेचक और विचारक मात्र संकेत दे सकते हैं कि प्रश्न का समाधान किस दिशा में मिलेगा। लेकिन क्योंकि अब यह करने का काम है, इसलिए अब जरूरत उन लोगों की है जो युद्ध के विरोध और शान्ति के पक्ष में जूझने और अपनी जान तक होमने को तैयार हों।

युद्ध में क्या होता है? जानें दी जाती हैं : इस कोशिश में कि उससे अधिक संख्या में जाने ली जा सकें यानी युद्ध में हताहतों की संख्या इसलिए बहुत बढ़ जाती है कि दोनों ओर से अधिकाधिक को मारने की कोशिश की जाती है। शान्ति के लिए जान निछावर करनेवालों की संख्या उनके मुकाबले सदा कम ही होगी। क्योंकि उन्हें जान लेना तो है नहीं, और स्वैच्छिक भाव से बहादुरी के साथ जान देने की तैयारी का प्रभाव इतना होगा कि शायद युद्ध की प्रक्रिया को ही सदा के लिए समाप्त कर देना पड़े। लेकिन कदाचित इसे अतिशय आदर्शवादी कल्पना कहा जाएगा।

यह था मार्ग जो गाँधी ने अपने लिए अपनाया था। अपने उदाहरण को सामने रखकर आमन्त्रित किया या लड़ते हुए पश्चिम के देशों को भी कि वे इसे आजमा कर देखें, लेकिन वह नहीं हुआ। होना आसान भी नहीं है। क्योंकि इतिहास में आदि दिन से अबतक हम हिंसा में दुश्मन को मारने के तरीके में, भरोसा रखते आये हैं। अहिंसा का प्रयोग हुआ हो सकता है कतिपय व्यक्तियों के द्वारा। जैसे क्राइस्ट, जैसे सोक्रोटिज, जैसे खुद गाँधी। लेकिन यह सिद्धान्त सामाजिक और

सामुदायिक तल पर भी उतना ही सिद्ध और प्रसिद्ध हो सकता है। इस दिशा में प्रयोग अब तक नहीं हुआ है। यह मार्ग शत्रु को नष्ट नहीं, मित्र बनाने का है।

सभ्यता को खतरा

किन्तु विज्ञान, उद्योग और यान्त्रिकी ने इतनी उन्नति कर डाली है कि अहिंसा सम्बन्धी वह प्रयोग यदि अधिक काल तक टलता रहा तो अब तक सम्पन्न हुई सभ्यता स्वाहा हुए बिना न रहेगी। हिंसा में भरोसा रखा जा सकता था। लेकिन अब जबकि अणु तक के भीतर बड़ी महासंहारक शक्ति का आविष्कार हो गया है, तब हिंसा का भरोसा, और वह तरीका आगे अपनाया नहीं जा सकता है। मारने की छूट कानून के पास अभी है। पर कानून राष्ट्र-राज्य के अन्दर सीमित है। अन्तरराष्ट्रीय क्षेत्र में उसका बल मौजूद नहीं है। कानूनी बल का यह आधार नैतिक होता है। अन्तरराष्ट्रीय क्षेत्र में मानवजाति के पास ले-देकर जो एक उपाय और उपकरण है, वह है संयुक्त-राष्ट्रसंघ। पर कानून का बल, अर्थात पर्याप्त नैतिक बल उसके पास नहीं है। सर्वोपरि वहाँ सिक्यूरिटी काउंसिल है जिसमें चार शक्तियों में प्रत्येक को वीटो का अधिकार प्राप्त है। 'इण्टरनेशनल कोर्ट' है तो उसके बारे में न कुछ कहना ही अच्छा है। अर्थात अन्तरराष्ट्रीय मामलों में ताकत ही सब कुछ है। अन्तिम निर्णय वहाँ युद्ध के पास है। यह स्थिति है आज की दुनिया की, और दो बड़ी ताकतें आमने-सामने होकर रह-रहकर एक-दूसरे पर गुर्राती हैं, साथ बातचीत के लिए हाथ भी बढ़ाती हैं।

तो उसी शान्ति के नाम पर इसी मास की चार तारीख को नई दिल्ली में 'पीस मार्च' के नाते बहुत भारी जमाव हुआ। वामपक्षीय सभी नेताजी ने यहाँ उस खतरे की ओर ध्यान दिलाया जो मानवजाति के सिर पर मँडरा आया है। यहाँ तक तो ऐसे यात्राओं और मेलों का लाभ है कि हमें चेतावनी प्राप्त होती है। लेकिन इससे आगे उनका शान्ति से कुछ भी लगाव या सम्बन्ध है, यह कहना कठिन है। सारा सरोकार उनका राजनीति से होता है और कुल प्रदर्शन का आशय यह जताने में समाप्त हो जाता है कि हमारे पास इतनी ताकत है। जताना यह किसको है? शायद सबसे पहले अपनी सरकार को, और इसके बाद शायद किसी दूसरी सरकार को।

रूस और अमेरिका के पक्ष-विपक्ष का सवाल नहीं है। यों तो दो ब्लाक और छावनियाँ हैं ही। जिनमें देशों की सहानुभूति इधर या उधर बँटी हो सकती हैं। यही तो समस्या है और दिल्ली के पीस मार्च की, का समस्या के हल से मतलब न था। वह तो समस्या को धार ही देकर रह गया। आवश्यकता है उस

तटस्थता की समाधान के लिए कि जो मानवता का पक्ष और दर्द रखे और इसे गहरायी और ऊँचाई से बोल सके।

तटस्थ देशों का, हाँ संगठन है जिसको 'नान एलाइड मूवमेण्ट' कहा जाता है। उसकी शीर्षस्थ बैठक अगले वर्ष मार्च में भारत में निर्धारित हो गयी है। भारत वहाँ अगुवाई भी करने वाला है। लेकिन क्या वही भारत वहाँ मानव जाति के अन्तःकरण की आवाज उठा सकेगा जो अपनी सुरक्षा के लिए चिन्तित होने की आवश्यकता देखता है। पहली तो अन्दरूनी सुरक्षा। इन्दिराजी राष्ट्रीय राजनीति में क्या अपने को सुरक्षित अनुभव करती है? और तो और, अपने खुद काँग्रेस दल और संगठन का उन्हें पूरा भरोसा नहीं हो सकता है। पहली आवश्यकता यह है कि वे राष्ट्रनेता के रूप में बर्ताव करना सीखें। केवल दल का नेतृत्व अस्थिर ही रहनेवाले का नेतृत्व अस्थिर ही रहनेवाला है। पिछले चुनाव में मिला भारी बहुमत क्या उन्हें अपर्याप्त सिद्ध हो रहा है? अर्थात केवल मत की गिनती का बल वह नहीं है तो नेता को सच्चे अर्थ में बलिष्ठ और शक्तिशाली बनाता है। वह तो लोकश्रद्धा में से प्राप्त हुआ नैतिक बल, पर जो राष्ट्रनेता को सच्ची शक्ति देता है। निर्गुट आन्दोलन यथार्थ में आन्दोलन बने, और दोनों शक्तियों के मुकाबले उनसे बड़ी एक तीसरी शक्ति खड़ी कर दिखाए, तो उस काम में अग्रणी होने के लिए इन्दिराजी के लिए आवश्यक है कि वे लोकश्रद्धा की पात्र बनें।

इस अन्दरूनी के बाद बाहरी सुरक्षा का प्रश्न कम महत्त्व का नहीं है। साफ है कि अमरीका अपने पक्ष में पाकिस्तान को क्षमताशाली बनाये रखना चाहता है। उसको यह हथियारों की पूरी मदद देता ही रहेगा। तो फिर भारत क्या करे? क्या वही करे जो अब वह कर रहा है? तात्कालिक और राजनीतिक दृष्टि से शायद वह वही ही माना जाएगा। अर्थात उसको भी वहाँ जैसे जिससे हो उससे आधुनिकतम हथियार प्राप्त करने चाहिए। लेकिन तब निर्गुट आन्दोलन में से शान्ति की आशा रखना वृथा हो जाएगा।

भारत की शक्ति

लेकिन यहाँ बहुत बड़ा प्रश्न खड़ा हो जाता है। क्या अपने बलबूते भारत भीतर-बाहर से सुरक्षित नहीं बना रहा सकता? जहाँ उसके राजनीतिक और औद्योगिक फलित की परीक्षा है। बाहर की सहायता पर जिस मात्रा तक वह निर्भर करेगा, उसी मात्रा तक दुनिया को निरस्त्रीकरण की ओर बढ़ाने के दिशा में वह निर्बल और असमर्थ सिद्ध होगा। याद रखना चाहिए कि शान्ति अभावात्मक चीज नहीं है। युद्ध रुका रहे, यह तो शान्ति के काम के लिए पहली शर्त भर है। लेकिन

शान्ति आगे है। उसके लिए विश्व की वह व्यवस्था आवश्यक है जहाँ कोई किसी को तलवार न दिखा सके। मानवजाति के जाग्रत अन्तःकरण के कुछ प्रतीक रूप कुछ ऐसा उपकरण उसके पास हो कि जिसकी सत्ता सबको नियमन में रख सके, कहने की आवश्यकता नहीं कि इस सत्ता और प्रभुता का स्वरूप नैतिक ही हो सकता है। तभी शस्त्रास्त्र की उद्धत शक्ति उसकी अधीनता में आ सकेगी।

□

राजनीति में साम्प्रदायिकता का उपचार नहीं

मेरठ, मुरादाबाद, अलीगढ़ और कुछ दूसरे नगरों के भी नाम साम्प्रदायिक दंगों के सिलसिले में बार-बार उछलकर अखबारों की सुर्खियों में आ जाते हैं। कर्फ्यू और पुलिस के डण्डे-गोली के बल से देर-सबेर में दब तो जाते हैं, पर जरा बहाना मिला कि फिर भड़क पड़ते हैं।

सवाल अब तक हिन्दू-मुस्लिम का था। अब वह फैल रहा है। शहीदी जुलुस को लेकर अकाली और पुलिस संघर्ष में जो कुछ हुआ वह तो हाल की बात है। अमृतसर में जामा मस्जिद के शाही इमाम आमन्त्रण पर पहुँचे और कहा कि वे अकाली आन्दोलन के साथ हैं। अल्पमत वालों को एकजुट होकर अपने अधिकारों को प्राप्त करने के लिए सरकार को मजबूर कर देता है।

उधर महाराष्ट्र के बम्बई में कपड़ा मजदूरों की हड़ताल जो चली तो पूरा बरस होने को आया कि जाती नहीं है। 'काम बन्द और बम्बई बन्द' की नयी पुकार पर हजारों गिरफ्तारियाँ हुईं और बम्बई अशान्त है। सार्वजनिक तल पर और सरकार के स्तर पर भी। मुख्यमन्त्री और मन्त्रिमण्डल को लेकर खींचतान चल ही रही है।

राष्ट्रीय प्रश्न

लक्षण ये भिन्न-भिन्न दीखते हैं, पर रोग जड़ में एक ही है। एक जहर फैल गया है राष्ट्र के शरीर में। वही रह-रहकर इन घटनाओं में फूटता है। सरकारी बल-प्रयोग के बस में तात्कालिक घटनाएँ कम-अधिक आ भी सकती हैं, लेकिन जहर का इलाज दमन-नीति के पास नहीं हो सकता है।

तो फिर क्या दमन की जगह मनाव-मनुहार (एपीजमेण्ट) की नीति अपनायी जाए? मुझे लगता है कि काँग्रेसी सेक्युलरिज्म में से कुछ उसी प्रकार की अवसरवादिता की गुंजाइश निकाल ली जाती है।

प्रश्न मेरी दृष्टि में साम्प्रदायिकता की जगह राष्ट्रीय है। अर्थात साम्प्रदायिकता

की नहीं, राष्ट्रीयता का है। क्या भारत एक राष्ट्र नहीं था? नहीं है? क्या उसके भीतर कोई दूसरा राष्ट्र नहीं था? नहीं है? हमारा संविधान संघीय और भारत राष्ट्र में राज्य अनेक हैं। किन्तु वे राज्य प्रदेश ही हैं एक देश के। कोई बाधा नहीं है कि वे शासन अपने को स्वशासी मानें, लेकिन वे देश के अन्तर्गत हैं। उसके अंग हैं, इस कारण पर्याप्त अंश में अनुगत और अधीन भी हैं।

लेकिन एक समय आवाज उठी कि राष्ट्र दों है। मुस्लिम अलग राष्ट्र है। इस 'टू-नेशन-थ्यौरी' पर कायदेआजम मोहम्मद अली जिन्ना ने झण्डा उठाया और दंगा-फसाद शुरू हुये। दंगा-फसाद उससे पहले नहीं होता था सो नहीं। लेकिन उनका रूप दुर्घटनात्मक था, राजनीतिक नहीं था। द्विराष्ट्र सिद्धान्त ने उनको एक राजनीतिक वैधता दे दी। वह राष्ट्रीय हक बन गया, जिसकी शक्ल अब तक उत्पात की थी, वह हक की लड़ाई हो गयी। हठात ऐसी 'सिविल वार' की स्थिति पैदा कर दी गयी तो फैसले के लिए मुस्लिम लीग ने, और आश्चर्य कि उसके साथ इण्डियन नेशनल काँग्रेस ने भी अँग्रेजी साम्राज्य की ओर देखा। परिणाम कि जो हिन्दुस्तान था यह कुछ हिस्सा अब पाकिस्तान के रूप में अलग इस्लामी राज्य है।

देश का विभाजन

इस विभाजन के इतिहास में नहीं जाना है। यद्यपि वह गहरे अध्ययन की चीज है। गाँधी थे कि उन्होंने दो राष्ट्रवाली बात को नहीं माना और काँग्रेस को सलाह दी कि इस विषय में वह अँग्रेज को कहें कि 'तुम जाओ' और अपनी फिक्र करो। भारत को भारत के भाग्य पर छोड़ दो। लेकिन काँग्रेस का सेक्युलर ईमान मजहब के आधार पर दो-राष्ट्र को मान गया और हिन्दू-मुस्लिम अलहदगी को सदा के लिए एक बन्द राजनीतिक स्वरूप मिल गया। मानो अब बात साम्प्रदायिक से आगे बढ़ गयी और सैद्धान्तिक हो गयी। आपसी सद्‌भाव और ऐक्यमात्र की सलाह और अब मात्र औपचारिक और गौण रह गयी है, क्योंकि अपने-अपने राजनीतिक हकों की माँग प्रथम और प्रधान बन गयी है। इस्लामी हक के बतौर पाकिस्तान पाने के बाद भारतीय मुस्लिम के लिए सम्भव नहीं रह गया कि वह दोहरी वफादारी से बचा रहा सके। साम्प्रदायिक मामलों की जड़ में इस दुहरेपन की बुनियाद पायी जाएगी। इस्लामी नेतृत्व इस छूत से चाहे भी तो बच नहीं सकता। अब आवाज उठ रही है कि कौमें तीन थीं। सिक्ख अलग कौम है मुझे प्रतीत होता है कि अगर काँग्रेसी सेक्युलरिज्म पहले जैसा ही बना रहा तो कहीं एक और विभाजन की नौबत न आ जाए। बहुत जरूरी है कि अपने सेक्युलरिज्म के ईमान के बारे में काँग्रेस साफ हो, और मजबूत हो।

राजनीतिक को तरह-तरह के समझौते करने पड़ते हैं। राज्य चलाने की नीति में यह लचक गर्भित ही है। लेकिन निरी अवसरवादिता राष्ट्र को आगे जाकर बहुत-बहुत महँगी पड़ जाती है। राष्ट्रीयता की दृष्टि से भारतीय राजनीति ने एक बार शिथिलता दिखाकर जो भोग पाया उससे देश कराह ही रहा है। आगे वैसी भूल नहीं होनी चाहिए। और मैं मानता हूँ कि सब कुछ हाथ से निकल नहीं गया है। भारत राष्ट्र में एक नागरिकता और अब भी प्रतिष्ठित की जा सकती है। कोई कारण नहीं कि 'सिविल लॉ' एक न हो। हिन्दू और मुस्लिम आखिर दो नागरिक तो हैं नहीं। दो 'नेशनलटिज़' किसी हालत में नहीं है। फिर नागरिकता में यह भेद रहता है तो क्यों? ठीक है कि लोकतन्त्र में अलग-अलग समुदायों को होने का अवकाश हो। उनकी सामाजिक रीतिनीति भी भिन्न हो सकती है। लेकिन सामाजिक-धार्मिक भिन्नता को लेकर नागरिक छिन्न-भिन्नता कैसे पैदा की जा सकती है। पाकिस्तान में भले सम्भव हो कि कोई पहली और दूसरी कोटि का नागरिक गिना जाए। यहाँ अब नहीं होने दिया जा सकता है। लेकिन मालूम होता है कि यदि पाकिस्तान में अल्पमत के नाम पर किसी समुदाय को 'हीन' माना जाता है, तो यहाँ उसी नाम पर उसे विशिष्ट ठहरा दिया जाता है।

कानूनी अलगाव

इस्लाम छोटा-मोटा धर्म तो है नहीं। उसको माननेवाले लोग दुनियाभर में फैले हैं। क्या इस कारण सिविल कोड दो हो गये हैं? बौद्ध और ईसाई बन्धुओं के साथ उन्हें सामान्य भाव से उस देशवासी के रूप में रहना पड़ता है। यहाँ भी यह स्थिति बन जानी चाहिए।

विवाह की ही बात लीजिए। सामान्य नागरिक के लिए एक के रहते दूसरा विवाह अपराध है। पर मुस्लिम नागरिक को अपवाद मान लिया जाता है। राजनीतिक मानस वाला सोच सकता है कि वयस्क मताधिकारवाले लोकतान्त्रिक देश में किसी के हक में इस अपवाद को रहने देने का आशय है कि उसकी जनसंख्या और मतसंख्या निरन्तर बढ़ती चली जाए। यह विशेषाधिकार क्यों?

यदि किसी कारण आपस में पृथक भावना को राजनीतिक स्वीकारता और मान्यता मिल जाती है तो फिर यह अपनी अलग अस्थिरता का भाव घटते-बढ़ते देश की सारी काया में फैल जाता है। देश की एकता इस तरह बिखरना शुरू होती है कि उस पर फिर काबू पाना मुश्किल हो जाता है। वही आज भारत में हो रहा है। 'नेशनल इण्टीग्रेशन' के विषय में किए जानेवाले सारे प्रयत्न क्यों कारगर नहीं होते? क्योंकि ऊपर राजनीति के तल पर हमने सम्प्रदाय के भेदभाव को बहुत महत्त्व देना आवश्यक माना है। निर्वाचन में जातिगत और सम्प्रदायगत विचार को

सार्थक और उपयोगी माना जाता है। साफ है कि राजनीतिक स्वार्थ के लिए अगर उस पृथक चेतना को गिनती में लिया जाएगा तो राष्ट्र में एकात्मभाव के पनपने में बाधा ही होगी।

सच यह है कि जिसको राजनीतिक जागरण कहते हैं वही संदिग्ध वस्तु है। उसमें हक का ख्याल बढ़ाया जाता है। कर्तव्य का भाव लुप्त ही रह जाता है। सेक्युलरिज्म ने कुछ ऐसी हवा पैदा की है कि धर्म व्यर्थ है, बस राजकारण है : दुनिया सब कुछ है, दीन फिजूल है। गाँधी ने दुनिया के स्वरूप के लिए दीन को आवश्यक माना था। इससे उनके समय में राजनीति को अद्‌भुत संस्कार प्राप्त हुआ था। किन्तु फिर सेक्युलरिज्म को कुछ इस प्रकार उकसाया और पनपाया गया कि एक दुनियादारी ही काम की चीज रह गयी। ईमानदारी एकदम बेकार पड़ गयी। वहाँ से नैतिक बुनियाद ढीली होनी शुरू हुई तो अब ऐसा जान पड़ता है कि संकट का स्वरूप हिंसक से अधिक नैतिक है।

राजनीति की सीमा

मेरा मानना है कि साम्प्रदायिकता दुनियादारी के सत्ता-सम्पत्ति के महत्त्व के बढ़ने के साथ बढ़ती ही जानेवाली है। तमाशा यह है कि दीन की लीडरी दुनियादार के पास पहुँच जाती है। जिन्ना साहब को क्या नमाज अदा करना सही-सही आता था? लेकिन इस्लाम के वे वाहिद नेता बने तो इसलिए कि मजहब ने अपने को सियासत के हाथों सौंप दिया था। इससे यह सबक मिलना चाहिए कि साम्प्रदायिकता का उपचार राजनीति के पास नहीं है। सही इलाज उसका स्वयं धर्म में है जो सार्थकता अपनी त्याग और बलिदान में मानता है पद प्रतिष्ठा में नहीं।

□

ऐतिहासिक निर्णय लेने का समय

प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गाँधी ने हाल में भोपाल में कहा था कि देश की अखण्डता की हर हालत में रक्षा करनी है। कहते समय उन्हें ध्यान होगा कि जिस भारत की ओर से और जिसके प्रति वह यह कह रही हैं वह एक बार खण्डित हुआ भारत ही है। इसलिए उनके इस आग्रह का आशय यह हो जाता है कि जिस नीति या नीति की शिथिलता के कारण देश को खण्डित होना पड़ा था, वह नीति या शिथिलता आगे सम्भव नहीं हागी।

प्रधानमन्त्री का यह आश्वासन देशबासियों के प्रति था, लेकिन उससे भी अधिक देश के राजकर्ताओं के प्रति उचित और संगत माना जाना चाहिए। हमने तब हिंसात्मक उत्पात और उपद्रव के आगे झुक जाने की भूल की थी। एक वर्ग से अलग कौमियत के दावे को अपने सेकुलरिस्ट ईमान के बावजूद लसलीम किया था। परिणाम उसका यह हुआ है कि कि वे आपसी सामाजिक सम्बन्ध जो सदियों में साथ हिलमिलकर रहने से निर्मित हुए थे, छिन्न-भिन्न हो गये। देश की एकात्मकता की बुनियाद में ही दरार पड़ गयी। एक राजनीतिक घटना के रूप में घटती विभाजन-वृत्ति समाप्त नहीं हो गयी। इस विभाजित मानसिकता का बीज सदा के लिए राष्ट्र की चेतना में डल गया। पाकिस्तान-हिन्दुस्तान कभी एक था, अब वे एक पड़ौसी हैं। लेकिन पड़ौसी रहते दोनों ने कभी कोई चैन अनुभव नहीं कर पाएगा। अमन रहेगा, लेकिन कानूनी। बातचीत शिष्टाचारपूर्ण और सुलह-सन्धि भी होती रहेगी, पर सन्देह है कि उनके बीच हार्दिकता सिद्ध हो सकेगी। यह इसलिए नहीं कि हुकूमतों एवं रियासतों की सीमाएँ घटती-बढ़ती नहीं हैं या कि भूगोल में देशों के नक्शे सदा 'एक समान' रहते हैं बल्कि इसलिए कि बँटवारा सिर्फ हुकूमती होकर नहीं रह गया था, प्रत्युत राष्ट्र के चित्त को चीरकर गहरा उतर गया था।

एकता का रहस्य

क्या था जिसने भारत को एक रखा था? इतिहास में कभी यह देश एकछत्र के नीचे नहीं रहा। अशोक, अकबर जैसे सम्राट के अन्तर्गत भूखण्ड तक ही भारत की व्याप्ति न थी। भारत की एकता और अस्मिता सैन्य सम्राट पर निर्भर थी ही नहीं। उसकी भूमि पर राजा लोग सदा आपस में लड़ते-झगड़ते रहे। और भी तरह-तरह के झगड़े-टण्टे होते रहे। वर्ग सम्प्रदाय परस्पर लड़ा-भिड़ा किये। राष्ट्र की काया के भीतर यह सब कुछ भले होता रहा पर समाया भी रहा। उस कारण राष्ट्र की भूमिका और अस्मिता भंग नहीं हुई। राष्ट्र की धारणा अखण्ड ही रहती चली गयी। कारण, उसकी आत्मा राज्य में केन्द्रित न थी वह तो उसकी संस्कृति में अन्तर्व्याप्त थी।

राष्ट्र का जीवन तब चलता था तलवार के बल पर नहीं, बल्कि एक सम-सामान्य आस्था के बल पर। वह परम्परा देश के ऋषि-मुनियों ने उसे दी थी। तलवारें बेकाम नहीं थीं, आपस में चलती रहती थीं, लेकिन समाज का अमुक क्षत्रिय वर्ग तक उसका उपयोग सीमित था। लोक जीवन का बल उस क्षेत्र शक्ति को मर्यादा में रखता था। एक भारतीयता की भावना थी जिसकी परिभाषा अथवा किसी की अलग-थलग, अलहदगी विशेष काल टिक नहीं पाती थी। कल का विदेशी आज स्वदेशी बना दिखता था। समाज पथ इस प्रकार विविध रूपरंग के धागों के ताने-बाने से बना था कि उनको अलग-अलग चिन्ह पाने और माने रखने का अवकाश न था।

इस प्रक्रिया में भंग आया, अँग्रेज के कारण। उसे केवल सत्ता अपेक्षित न थी। वह भारत के लहू से अपनी विलायत को मोटा किया चाहता था। इस देश की भूमि की समावेशी क्षमता और प्रतिभा को उसने पहचाना और सबसे पहले उसे तोड़ना आवश्यक पाया। मन्दिर, मस्जिद, चर्च, गुरुद्वारा, सब अब तक आसपास रह सकते थे, उसने इनमें भेद डाला। एक नयी नीति उसने चलायी जिसे राजनीति माना गया। लोकनीति, जिसके आधार पर यहाँ का जीवन चला था। इस राजनीति के तले आ गयी। पृथकभाव बनना और उगना शुरू हुआ और अँग्रेज के जाते-जाते पाया गया कि भारत इस नयी राज्य की नीति के असर में अपनी अखण्डता की क्षमता खो बैठा है और उसमें से एक खण्ड छिटककर तोड़ा जाकर बाहर हो गया।

अँग्रेज ने भारत को राज की एकता दी थी। हम मानने लग गये थे। वह एकता राज के कारण है, राज-निर्भर है। देश की वह ऐतिहासिक अखण्डता गहरी बुनियादों पर रहती आयी है। यह चेतना हमसे छूट गयी है। राजनीति सबसे ऊपर

आ गयी है।

परिणाम हुआ कि गाँधी की एक न चली। राजनीतिक व्यक्तियों ने अँग्रेज के साथ बैठ कर आपस में मिल-बाँट कर लिया और अखण्डता का सहस्त्रों वर्षों से अभिमान कर सकने वाला देश खण्डित होकर रह गया।

इतिहास का सबक

इस इतिहास में हमारे लिए सबक समाया है। राजनीति के अतिरिक्त हमारे पास कुछ न रहा, तो देश को फिर-फिर टूटना होगा। स्थिति साफ है, तनाव है, और बिखरने के लक्षण जहाँ-तहाँ बिखरे हुये हैं। जैसे एक सवाल उठ रहा था कि क्या हम भारत के भू-भाग है? पंजाब का संकट सामने और सिर पर है। सतह को जरा खुरचियें और भीतर से इस या उस नाते पृथक अस्मिता की माँग उझकती दिखाई देगी। हरेक को एहसास चाहिए कि हम है। यह खुदी का भाव तब तक पूरा रस नहीं देता जब तक यह दर्प जागे कि हम उसके मुकाबले में हैं।

केन्द्र की ताकत अपने को मजबूत नहीं पा रही है। वह ताकत जब तक राजनीतिक रहेगी, सही मजबूती उसमें आ भी नहीं सकती। लोकनीति का आधार उसके पास से खिचंता जा रहा है। जिस तौर-तरीके से शासन चलाया जा रहा है वह अनुकूल हो सकता है, एकतन्त्रता से। दिल्ली की गद्दी से शहंशाह सूबों पर अपने सूबेदार तैनात करके भेज दे सकता था। पर राज्यों के मुख्यमन्त्री इसी तरह दिल्ली की मर्जी पर बनते-बिगड़ते रहे तो लोकतन्त्र शब्द इस स्थिति के साथ न्याय नहीं कर पाएगा। यह बड़ा देश है और न केवल यह कि उसने अपने लिए लोकतान्त्रिक शासन उपयुक्त माना है। उसी भूमि की प्रकृति के लिए वहीं उपयोगी रही है और आगे उपयुक्त हो सकती है। किन्तु लोकतन्त्र लोकनीति से बहुत दूर नहीं जा सकता। उसके सर्वथा दलतन्त्र बन जाने में यही खतरा है। दल जब तक परस्परपूर्वक है, लोक को सँभाले रह सकते हैं। लेकिन अगर एक सब पर हॉवी होकर रह जाता है तो मालूम होता है कि अब शासन को सामनेवाली चीज निरी हुकूमती ताकत है, लोकबल नहीं एक बल है।

इन्दिरा जी का व्यक्तित्व

निश्चय ही एकमात्र इन्दिराजी का व्यक्तित्व है आज कि जिसे सही अर्थों में राष्ट्रीय कहा जा सकता है। दुख यह है वही दलीय बनकर रह जाता है। फिर काँग्रेस दल इन्दिराजी के व्यक्तित्व से अलग अपने में कुछ बचता ही नहीं है। कुछ राज्यों के चुनाव आनेवाले हैं। राजनीति की गतिविधि यही रही तो बिखराव बहुत दूर नहीं है। काँग्रेस (ई) का अपना संगठन भूमिज आधार से टूटा हुआ है। स्थानीय

नेतृत्व और ऊपर से आरोपित नामांकित नेतृत्व में रगड़-झगड़ है। इसका परिणाम यदि यह हुआ कि काँग्रेस (ई) की ताकत छिन्न-भिन्न होती है तो नहीं प्रतीत हो कि देश के पास कोई ताकत जो उसका स्थान ले सकती है।

हम नाजुक दौर से गुजर रहे हैं। बड़े और ऐतिहासिक निर्णय लेने का यह समय है। वैसा नहीं हो पाया तो दलगत स्वभाव देश को चीर-फाड़ने को उद्यत दीखता हैं। मुझे निश्चय है कि बाहरी सुरक्षा के लिए शस्त्र सन्नद्धता से अधिक देश को आन्तरिक सुरक्षा की आवश्यकता है। विघटन के कारण यदि समुदायगत स्वार्थ है तो संकट में सहायक बलिदान की भावना हो सकती है। इन्दिराजी में वह कल्पना है और मुझे आशा है कि साहसिकता भी हो सकती है कि दल के दारोमदार को छोड़कर वह राष्ट्र के प्रति अपने को सौंपने की हिम्मत करके उस आधार पर एक नई राजनीति का आरम्भ कर सकती हैं। काँग्रेस पार्टी का जनतान्त्रिक आधार बहुत पुष्ट नहीं है। दल के अन्दर अनुभव किया जा रहा है कि शक्ति सिमटकर एक नहीं तो बस कुछ ही एक हाथों में रह गयी है। इस तरीके को एकदम इन्दिराजी जनमत के सामने एक नया उदाहरण रख सकती है और तमाम राजनीति को स्वच्छ कर सकती है। देश पर विघटन का संकट छोटा नहीं हैं, तो उस मुद्दे पर पूरे देशों को आह्वान दे सकती हैं और एक कनसंन्सिस (Consensus) सर्वसंकल्प के निर्माण की चेष्टा कर सकती हैं।

□

युद्ध, आतंक और अहिंसा

जैनेन्द्र को अणुव्रत पुरस्कार दिया जाने का समाचार मिला है। अणुव्रत एक नैतिक अभियान है। कुछ वैसी आदर्शवादिता उसके शब्दों में देख ली गयी होगी। विडम्बना ही है कि आदर्श के सहारे की निरीवादिता भी सराहनीय मान ली जाती है। तथ्य यह है कि वादिता का वास्ता सामान्यतया आदर्श से होता ही नहीं, पर ऐसा ही कुछ अघट-घटित हुआ दीखता है।

वह जो हो, नैतिक के नाम पर मिली खयानत में पारिवारिक जैनेन्द्र कोई खयानत नहीं ला पाएगा। पुरस्कार आदर्श में ही काम आएँगा।

लेकिन प्रश्न है कि जिसमें यह काम आएगा वह आदर्श क्या? काम बहुत है और बहुत अच्छे-अच्छे हैं। चारों तरफ राहत की जरूरत है। कुछ इस तरह की सेवा और उपकार के काम में वह धन नहीं आ सकता है? आ सकता है। नहीं, वह नहीं होगा। कारण, उपकार असल नहीं होता। मूल का, और बुनियाद का नहीं होता, शरीर के निकट उसका सम्बन्ध है, आत्मा की अपेक्षा। यों फिर भावनाशील जन है जो वे कर ही रहे हैं। आदर्श शायद इस तरह के कामों के पार है। अत: वहाँ सब विरोधों का लय है। कर्म द्वैत में ही सम्भव हैं। सत्य सर्वथा अगम है। आदर्श के लिए रह जाता है सत्य का वह रूप जो आस्था से हमें प्राप्त होता है। अपनी आस्थानुसार वह विविध और विरोधी भी हो सकता है, पर परम सत्य की अभिन्नता अखण्डता से ही प्राप्त हो जाता है। एक निरपवाद धर्म, जिसको कह सकते हैं, अहिंसा। कहिए कि ईश्वर के निर्गुण रूप के प्रति भक्ति के लिए संज्ञा है, अहिंसा।

लेकिन क्या एक दैनिक राष्ट्रीय पत्र का स्तम्भ इस तरह की चर्चा के लिए सही जगह है? नित्य-नैमित्तिक घटनाओं और उनके फलितार्थों की चर्चा के लिए होते हैं सार्वजनिक पत्र। तत्त्वचर्चा के लिए तो है नहीं, पर अहिंसा को सिद्धान्त के नाम पर अपने से दूर कर देश तो नहीं चलेगा।

देश की राजनीति के साथ जो दुर्घटना घटित हुई आज दीखती है उसका

मुख्य कारण परस्पर में अहिंसा के विचार का तिरस्कार है। स्वराज मिलने तक हमारी राजनीति स्वच्छ और सात्विक थी। यह दूसरी बात है कि उस राजनीति में विभाजन के लिए स्थान निकल आया। यह भी इस कारण हुआ कि इस विषय में गाँधी जो राजनीति में भी मानवनीति के प्रतीक थे। संकीर्ण राजनीति के प्रभुओं ने अपने परामर्श से बाहर ही रखने में कुशलता देखी। माउण्टबेटन तो विदेशी साम्राज्य के प्रतिनिधि थे ही। नेहरू, जिन्ना भी अपने-अपने राज्य की कल्पना के मोह में मुग्ध थे। पर उस गहरी बात को छोड़कर शेष में देश की राजनीति का एक स्तर था। तब परस्पर-सह्यता ही नहीं थी सहकार का भाव भी था।

उसके बाद से सत्ता कुछ इस कदर मन पर छाती चली गयी कि परस्पर सम्बन्धों में भी उस कारण स्पर्धा-प्रतिस्पर्धा का भाव बढ़ता चला गया। एक-दूसरे के लिए समायी कम रह गयी। मतभेद तो अनिवार्य ही है। लेकिन उस कारण भेदभाव मन के गहरे में भी उतरने लगा। राष्ट्रीय काँग्रेस जिसके झण्डे के तले लोगों ने त्याग और बलिदान का उत्स देकर काँग्रेस के हित में अमित पुण्यार्जन किया था। सत्ताभोग के कारण वह पुण्य (सेक्शंस) क्षीण होता चला गया है। स्वराज्य की लड़ाई में अहिंसक संघर्ष की जो अद्‌भुत शिक्षा 'लोक' ने प्राप्त की थी। सत्ता की राजनीति के शोर में वह भुला दी गयी। संघर्ष रख लिया गया। उसके साथ अहिंसा की शर्त को फिजूल मानकर दूर कर दिया गया। परिणाम में हम देखते हैं कि हर क्षेत्र में हिंसा का उभार। जो चीज जोड़े रखती थी वर्ग को वर्ग से, जाति को जाति से और प्रान्त को प्रान्तों से और देश से वह चीज सूख गयी हैं। पृथकभाव ऊपर से उतरकर नीचे से नीचे तक फैला जा रहा है। विभाजक तत्वों की आ बनी है। अपनी-अपनी अस्मिताओं को लेकर खटक- छिटक कर अलग हो जाना चाहती हैं। देश टूटने के किनारे पर आ रहा है।

लोकतन्त्र में राजनीतिक दल परस्परपूरक होंगे, यह आशा की जाती है। हालत अब दूसरी है। दलों में विरोध नहीं, वैमनस्य है। कुल मिलाकर दलवाद देश को कमजोर कर रहा है। दलवाद गुटवाद की उपज रहा है, और शासनारूढ़ दल अपने अन्दर की गुटबाजियों से परेशान है। नतीजा यह कि सारी ताकत उस दल की एक थी, कुछेक हाथों में सिमट कर रह गयी है। कल्पना थी कि स्वराज का भोग हरेक के पास तक पहुँचेगा। इसके ठीक उल्टे वह आत्यन्तिक भाव से केन्द्रित होता जा रहा है।

यह तो हुई अहिंसा के विचार की आन्तरिक आवश्यकता की बात। किन्तु उससे कहीं अधिक अहिंसा की संगति है विश्व की स्थिति के सन्दर्भ में। युद्ध की तैयारियाँ दोनों ओर से इन्तिहा की हद तक जा पहुँची। दस करोड़ रुपये से ऊपर प्रति मिनट इन तैयारियों में खर्च किया जा रहा है। घोर मारक-संहारक शस्त्रों

के निर्माण की होड़ लगी है। भय है लेकिन वह भय उल्टे दुनिया को और भी उसी ओर ले जा रहा है। यह स्थिति शान्तिदल और शान्तिवादियों को पैदा तो कर रही है, पर शान्ति के विवादीजन विरोध में मार्च वगैरह आयोजित करते है अवश्य, पर युद्ध के प्रभु नेताओं पर उसका विशेष प्रभाव नहीं पड़ता है।

मैं मानता हूँ कि अभाव प्रकृति को सह्य नहीं है। 'नेचर अघोस्ट वेक्यूम' अर्थात भरोसे के लिए जब तक दूसरी ताकत नहीं होगी, हिंसा का भरोसा टूट नहीं सकता। अत्यन्त आवश्यक है कि समय रहते मानव जाति के समक्ष कुछ वह नयी शक्ति आविष्कृत हो जो संहार की जगह रचना कर सके। हिंसक से उल्टे जो अहिंसक हो।

अब तक हिंसा के अभाव को अहिंसक समझा जाता रहा है। गाँधी ने इस भ्रम को तोड़ा। अहिंसा को धर्म माननेवाले उस अहिंसा कि ओट में अब सिमट कर अपनी सुरक्षा नहीं माने रह सकते। सुरक्षा एक वहम बनी जा रही है। आणविक विस्फोट होगा, कौन सुरक्षित रह जाएगा। अर्थात हिंसा अगर संहार की ओर बढ़ती है, तो केवल अहिंसा में सुरक्षा नहीं, प्रत्युत स्वयं अहिंसा को आगे बढ़कर उस हिंसा के दर्प को चुनौती देनी होगी। हिंसा अगर भय में से निकली है तो अहिंसा अभय देती हुई आगे बढ़ेगी।

हिंसा की नीति के लिए अब आगे राह बन्द है। पराकाष्ठा पर जा पहुँची है उसकी सम्भावनाएँ। मानव बुद्धि की इसे सफलता ही कहना चाहिए। विज्ञान के उत्कर्ष ने परमाणु को भेद डाला है और दिखा दिया है कि वहाँ शक्ति का अक्षय स्रोत पड़ा है। यह मृत कण की बात है। फिर कल्पना की जा सकती है कि चित् कण के भीतर कितनी अनन्त शक्ति होगी। शास्त्र कह गये हैं कि आत्मशक्ति की सीमा नहीं है। अहिंसा का संधान शायद इसकी सत्यता का उद्घाटन करने में समर्थ होगा।

अहिंसा सार्वभौम मूल्य है क्योंकि वह निरपवाद प्रेम का नाम है। प्रेम की शक्ति ईश्वरीय है और यदि वह प्रकट होती है तो देश में से उत्पन्न संहार शक्ति उसके आगे विवश हो रहेगी। मेरी आशा है कि अहिंसा सार्वभौम का अभियान इस महासंकट की घड़ी में दुनिया के किसी कोने से आरम्भ हो सकेगा। क्या यह आशा न की जाए कि वह कौन स्वयं भारत होगा, जहाँ महावीर ने, बुद्ध ने, गाँधी ने अवतार लिया।

□

आधुनिक सभ्यता का संकट और उसका निवारण

क्या हम सही राह पर हैं? यह प्रश्न राष्ट्र नहीं विश्व के समक्ष है। उन्नति की जिस दिशा में हम बढ़ते चले आये हैं, पाते हैं कि उधर आगे राह बन्द है। उन्नति अवश्य उन्नति थी। प्रमाण उसके उजागर हैं। उसने हमारी अपनी दुनिया को छोटा कर दिया और हमें सारे ब्रह्माण्ड के प्रति खोल दिया। अपने-अपने राष्ट्र को लेकर हम व्यस्त रह सकते थे। समस्या उत्पन्न होने पर और नहीं तो आपस में लड़कर उसे निपटा ले सकते थे। पर राष्ट्र अब उस तरह लड़ पड़ने की स्वतन्त्रता और अवकाश खो बैठे हैं। छोटी-मोटी मुठभेड़ भले हो जाए, पर कुल मिलाकर शक्ति-सन्तुलन जो विश्व को थामे है उसमें विचलन नहीं आने दिया जा सकता। आया तो प्रलय ही आया समझिए।

अर्थात सन्तुलन के बड़े नाजुक काँटे पर हम तुले खड़े हैं। अपने आप में चाहे यह सुखद स्थिति न हो, पर उसकी चेतना तो है, और संकट की यह चेतना उन्नति ने हमें दी है। अन्यथा वैज्ञानिक युग से पहले अपने-अपने छोटे घरौंदों में बन्द होकर हम मग्न रह लेते थे। सम्भव था कि एक दूसरे से परिचय की आवश्यकता अनुभव न करें। वैज्ञानिक उत्कर्ष का ही परिणाम है कि परस्परता का इतना विस्तार हुआ है। यह पारस्पर्य सर्वथा अनिवार्य बन गया है। कोई देश अपने में समृद्ध है तो मतलब यही कि वह देश उद्योग प्रधान है। माल वह बनाता है, खपत के लिए दूसरे देश हैं। यानि एक की समृद्धि दूसरे पर निर्भर है। भले ही उसका मतलब यह हो जाता है कि कुछ की अमीरी बहुतों की गरीबी पर निर्भर है। भले यह विरोधाभास दिखे, विपरीतता नजर आये। लेकिन परस्परता का भाव तो दोनों ओर सघन बनता ही है। आपस में विषमता के सुलझाव के लिए फिर सम्मिलित विचार भी चलता है। उत्तर-दक्षिण सम्मेलन हुए ही हैं। 'हैव्स और हैव्सनाट्स' के आपसी विचार के लिए अवसर निकाले जाते हैं। अब तक परिणाम विशेष नहीं आया। यह दूसरी बात है, पर चेतना निरन्तर गहरी होती चली जा रही है कि दुनिया एक है और परस्पर की अवलम्बिता पर टिकी है।

मैं मानता हूँ कि यही बोध है जो गहरा जाए तो राजनीति का सर्वथा रूपान्तरण भी कर सकता है। विश्व की कर्मनीति में एक साथ मौलिक और नैतिक परिवर्तन ला सकता है।

क्या कारण है कि वह नहीं हो पाता? क्या कारण है कि वैज्ञानिक विचार विश्व को इस बोध के तट तक लाकर वहीं ठण्डा पड़ जाता है? परस्परावलम्बिता को सबके निकट सर्वथा प्रत्यक्ष कर देने के अनन्तर वहीं असंगत और व्यर्थ क्यों बन रहता है? परस्पर-हित-विरोध के आगे हितैक्य की भूमिका तक पहुँचने में अक्षम और असमर्थ बना क्यों रह जाता है?

यह प्रश्न क्या वैज्ञानिक बुद्धि अपने निकट प्रस्तुत नहीं पाती? इस प्रश्न का सामना लेकर कम से कम वह अपनी मर्यादा का अनुभव तो कर ही सकती है।

राह आगे बन्द है, क्योंकि गली के मुहाने पर अणुबम अड़ा बैठा है। वह अणुबम कहाँ से, और क्यों आया?

आया इसलिए कि दूसरे विश्वयुद्ध की समाप्ति चाहिए थी और जय चाहिए थी। विजय उससे मिली। हिरोशिमा-नागासाकी पर बम का गिरना था कि युद्ध समाप्त हुआ। मित्र देशों की जीत हो गयी। शत्रु देशों का पराभाव हुआ।

पर विज्ञान पर बपौती तो किसी की है नहीं। उसकी युक्ति छिपी नहीं रह सकी। न मित्रों की मित्रता ही बनी रह सकी। मित्रता में ही शत्रुता के बीज पा लिए गये और अब यह स्थिति है कि आमने-सामने महाशक्तियाँ हैं और खैरियत इसी में समझी जाती है कि दोनों में सन्तुलन बना रहे। इसके लिए दोनों को अपने-अपने अणुबमों के और वैसे दूसरे शस्त्रों के भण्डार को निरन्तर बढ़ाते ही जाना पड़ता है। विज्ञान दोनों की इसमें सहायता करता है, लेकिन इससे आगे दोनों की राजनीतिक और सामरिक प्रतिद्वन्दिता को पाटने के विषय में वह कुछ भी कर पाने में असमर्थ है।

ठीक इस बिन्दु पर आकर हमारी औद्योगिक और वैज्ञानिक उन्नति स्तब्ध है। व्यस्त अवश्य है अपने यन्त्रों को लेकर, पर फूले-फूले साँस ले रही है। सो कब तक?

गति तो जीवन है, लेकिन आगे जो है उसमें बढ़ते चला जाए तो उसका साहस नहीं। दूसरा विकल्प नहीं। महा-स्वाहा के सिवा और कुछ सम्भव नहीं।

यहाँ मुझे प्रतीत होता है कि विज्ञान को अपने सम्बन्ध में पुनर्विचार करना होगा। विज्ञान के हाथों बागडोर दिए रखने के सम्बन्ध में मनुष्य को ही पुनर्विचार करना होगा।

विज्ञान की विरोध में से शुरुआत हुई थी। धर्म की अन्धता को उसने चुनौती

दी थी। धर्म को निस्तेज और निर्जीव बना देने की उपलब्धि का श्रेय अधिकारपूर्वक विज्ञान का है। उसे धर्म से छीनकर स्वयं सत्य को पाना था। उसने आविष्कार किए जिन्होंने सारे जीवन को छुआ और शनैः-शनैः विज्ञान उसकी परिधि बन गया। समाज-शास्त्र के पारंगत मनीषी-तत्वज्ञ मार्क्स को कहना पड़ा कि धर्म अफीम है। धर्म के हाथ से मनुष्य का रहा-सहा नेतृत्व खिंचता चला गया। बागडोर नितान्त वैज्ञानिक चिन्तन ने सँभाली और अब यह वैभवशाली 20वीं शताब्दी अपनी समाप्ति के निकट आ गयी है।

विज्ञान का प्रयोग सर्वथा सार्थक हुआ। उसने आदमी की आँख खोली। वह अपने में बन्द अब हो नहीं सकता। खुल आया है वह अनन्त के प्रति। उसने अवसर दिया कि अनन्त के मध्य वह अहम की स्थिति को समझे। समझे कि एक अपने में नहीं है, अनेकानेक के मध्य है। उसका स्वयं अनन्य नहीं है, जो है अन्योन्याश्रित है।

इस परम अनुभव के तट पर ला देकर विज्ञान अपने को कृतार्थ मान ले सकता था। द्वैत-बोध का उसमें चरम जा छुआ। किन्तु द्वैत से आगे विज्ञान की गति है नहीं। अद्वैत में वह सर्वथा असंगत है। अर्थात वहाँ जानने को जाननेवाले से अलग कुछ नहीं रहता। विज्ञान जानता है कि वह जानता है यहीं उसकी मर्यादा आ जाती है। आदमी उसके सहारे अपने को अधिकाधिक रखना ही चाहेगा, अपने को खो देने की तैयारी उसमें से नहीं आ सकती। विसर्जन, समर्पण, बलिदान, उत्सर्ग आदि की प्रेरणाएँ वहाँ से आ नहीं सकतीं। यह क्षेत्र उसकी क्षमता से परे का है। गणनात्मक से अलग, गुणात्मक यह क्षेत्र है और ज्ञान इस अनुभूति के क्षेत्र में मानों मात्र दम्भ बन रहता है। यहाँ 'जीने' से अलग होकर 'जानना' कुछ है ही नहीं।

प्रतीत होता है कि आस्था की मूढ़ता से उबरकर बुद्धि के प्रकाश में जिस मनुष्य ने अपने लिए विज्ञान की सृष्टि की थी, और अपनी सब सम्भावनाओं को विज्ञान के हवाले कर दिया था। वह 20वीं सदी के अन्त तक आते-आते, विज्ञान की समस्त उपलब्धियों पर आरूढ़ होने के अनन्तर, अब अपने को भ्रान्त, दिशाहीन और निरुद्देश्य अनुभव कर उठा है। ठीक यह समय है कि चाहे तो विज्ञान अपनी हार मान ले और प्रार्थना में झुक आये। यह अपने में उसकी जीत होगी।

दो हैं, पर दो एक है। उस एक में दो के दोपन की अस्वीकृति नहीं है। दोनों की परस्पर ऐक्य के सन्दर्भ में स्वीकृति ही नहीं, बल्कि सतकृति है।

शब्द ये अटपटे, गूढ़ और तात्त्विक से लगते होंगे। प्रतिद्वन्द्विता में आमने-सामने डटे दो पक्षों को द्वैत-बोध से ऊपर और भीतर ऐक्य बोध की अनुभूति कैसे

पहुँचे, 'हितों में एकता कैसे दीखे', बल प्रयोग के अतिरिक्त समाधान के विकल्प की युक्ति कैसे मिले? यह प्रश्न प्रत्यक्ष और तात्कालिक है और विज्ञान इसका सामना लेने से मानो पहले ही हट चुका है। □

देश बड़े शक्तिशालियों का अखाड़ा न बन जाए

अकाली, सिख, पंजाब—यह समस्या क्या एक है? सब सिख अकाली नहीं हैं, और सब पंजाबी सिख नहीं हैं। उपासी समुदाय सिख माना जाता है, लेकिन उनका कहना है कि वे हिन्दू हैं। निरंकारियों में अधिकांश सिख हैं, पर अकाली उन्हें अपना शस्त्र मानते हैं। फिर भी अपनी राजनीतिक क्षमता और संगठन के बल पर अकाली दल का दावा है कि वे पूरे पंजाब की ओर से बोल रहे हैं।

अकालियों की पांथिक माँगों को स्वीकार करने में कोई कठिनाई नहीं है। वस्तुतः भारत सरकार यह संकेत दे भी चुकी है। लेकिन पूरे पंजाब के विषय में राजनैतिक माँगें उनकी ओर से आती हैं तो और बहुत से तत्त्व हैं जिनको विचार में लेना आवश्यक होगा। अभी हरियाणा और राजस्थान सरकार के मुख्यमन्त्रियों ने जो तेवर दरसाएँ हैं, उनसे सन्त लोगोंवाल को अपनी माँगों के सम्बन्ध में तनिक ठिठककर सोचना चाहिए। भारत सरकार एक पक्ष के लिए दूसरे के हितों का अविचार नहीं कर सकती।

वह जो हो, अकाली समस्या जैसे भी निबटारा हो या न भी हो, इतना तो अनिष्ट उससे अब तक हो ही गया है कि पंजाब में हिन्दू-सिख में गहरा दुराव और अलगाव पड़ गया है। यह इतिहास में एकदम नयी बात है कि सिख-हिन्दू अलग-अलग। संविधान में तो ऐसा है नहीं, लेकिन यह अलहदगी का भाव राजनीतिक सत्ता को सामने लेकर अगर बढ़ता और गहरे उतरता है, तो इसका परिणाम भयंकर होगा। इस्लाम के नाम पर एक बार अलग कौमियत स्वीकार कर ली गयी थी। उसका विषफल अब तक भारत भुगत रहा है। अगर इस नयी कौमियत के दावों के आगे झुक जाया जाता है तो फिर भारत की समग्रता के खण्डित होते जाने की प्रक्रिया रुकेगी नहीं।

अभी पृथकवाद का रोग बुरी तरह भारत के शरीर में व्याप्तता दिख रहा है। प्रदेश, सम्प्रदाय, भाषा, जाति और धर्म। इस तरह जिस किसी को लेकर अपनी अलग पहचान बनाने और एक नयी पृथक अस्मिता खड़ी कर लेने का जुनून लोगों

पर सवार है। इस रोग का जल्दी उपाय और उपचार न हुआ तो आशंका है कि यह देश बड़ी शक्तियों के कूटनीतिक खेल के लिए खुद अखाड़ा न बन जाए। यह महाद्वीप जितना विशाल भारतवर्ष सहस्रों वर्षों के इतिहास में सतह पर सब तरह के धार्मिक, साम्प्रदायिक आदि और राजकीय देश और विदेश और कलह-विग्रह के बावजूद गहरे में किस रसायन की उपस्थिति के कारण भारतीय राष्ट्रभाषा में एकात्मक बना और जुटा रह सका यह अनुसन्धान कर्त्ताओं के लिए मनन और अध्ययन की चीज होनी चाहिए। मालूम होता है कि भारतवर्ष की धारणा राजनीतिक स्वरूप की थी ही नहीं। राजनीति में भेद पर भेद मुख्यता पाने लग जाते हैं। भारतवर्ष की संकल्पना ऋषियों-मुनियों ने दी थी और वह भारत की लोकचेतना में गहरी उतरी चली गयी थी। एक वर्ग जो अधिकार के लिए लड़ता-झगड़ता रहता था, लेकिन जन-सामान्य अपने-अपने हाथ के काम में व्यस्त रहता और कर्त्तव्य की ओर ध्यान रखता था। सामान्य लोक जीवन ऊपरी झगड़ों से विचलित नहीं होता था। वह तल था जहाँ सांस्कृतिक चेतना की रचना होती थी और राजनीतिक चेतना उसकी अधीन ही बने रहने को बाध्य थी, और उस पर हावी नहीं होनेवाली थी। यहाँ कि मानसिकता में यह कूटकर भर दिया गया था कि एकता को ऊपर से बनाना नहीं है वरन प्रत्येकता के समादार में से एकता अपने आप ही खिलती चली आनेवाली है। यहाँ का धर्म प्रचारवादी नहीं था। अहमवादी होने के लिए भी उसके पास अवकाश नहीं था। वह स्वीकारवादी था और उसमें समावेशिता थी। बाहर से ईसाई धर्म आया, इस्लाम आया, तो इस भूमि के लिए वह अस्वीकृत नहीं हुआ, प्रत्युत सत्कृत हुआ।

भारत की यह क्षमता, विशिष्टता हमसे खो गयी। अँग्रेज के रूप में विदेशी जीवन दृष्टि से सम्पर्क के कारण उससे राज की नीति प्रधान बनकर हमारे सिर पर बैठ गयी। अन्यथा यह नीति मानवनीति थी और राजाओं-महाराजाओं को उसकी अधीनता से मुक्ति न थी। अपने से छोटे अधिकार क्षेत्र में यदि वे मनमानी कर भी पाते थे तो भी इस महादेश में व्याप्त लोकचेतना पर उसका विशेष प्रभाव नहीं पड़ता था। कह सकते कि राज्य समाज से ऊपर न था बल्कि समाज के अन्तर्गत रचा-पचा था।

भारतीय काँग्रेस का उदय इसी प्रबल भारतीय चेतना में से हुआ था। उसकी राजनीति को स्पर्श प्राप्त था यहाँ की संस्कृति का भी। यह संयोग ही नहीं है कि लोकमान्य बालगंगाधर तिलक ने 'गीता-रहस्य' लिखा और अरविन्द घोष ने 'गीता-दर्शन' और अध्यात्म की व्याख्या में अपना जीवन होम दिया। मोहनदास कर्मचन्द गाँधी इसी प्रक्रिया के उत्कर्ष बिन्दु थे। किन्तु दुःख की बात यह है कि वह उसके उपसंहार सिद्ध हुये।

पृथकवाद और अहमवाद के आज के संकट के लिए मैं उस दृष्टि को दोषी मानता हूँ जिससे राज को इतनी प्रधानता दे दी जाती है कि समाज इसके तले आ जाता है। कहने को तो राजनीति सब कहीं लोकतान्त्रिक होने को बाध्य है। पर यथार्थ में जब तक उसका दारोमदार मुष्टिबल (मस्सल पॉवर) पर है तब तक सही अर्थों में लोकतन्त्र पनप नहीं सकता। काँग्रेस स्वराज से पहले भारतीय आकांक्षाओं की प्रतीक और प्रतिनिधि संस्था थी। स्वराज के साथ ही उसने राजनीतिक दल का रूप ले लिया। चाह गया था कि ऐसा न हो पर राजनीतिक मानस अँग्रेजी प्रभुता के नीचे इस कदर पनप चुका था कि भारतीय शील और संस्कृति की सलाह उसके गले में उतरी नहीं। विभाजन हुआ और काँग्रेस उत्तरोत्तर राष्ट्र की व्यापकता से उतरती हुई दल और ग्रुप में परिणत होती चली गयी। नेहरू और शास्त्री तक तो भी गनीमत रही, लेकिन बाद में काँग्रेस में फटाव आता गया और अब प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गाँधी के व्यक्तित्व को छोड़कर माना जाता है कि इस संस्था के नीचे व्यक्तित्व राष्ट्रीय आधार का अब रह नहीं गया है। शासन राष्ट्र का नहीं दल का है। इन्दिराजी की छवि अलबत्ता राष्ट्रीय है पर उनका व्यवहार दलाधिपति से ऊँचा उठा हुआ नहीं है।

इस परिणाम से दलबन्दी की कला के ऊपर से उतरकर नीचे तक फैलते जाने के सिवा क्या हो सकता था। दल तो दल बात गुटबन्दी तक आ गयी। यदि यही हाल रहा तो भारतीय भाव बिखरता जाएगा और देखेंगे कि राष्ट्रीयता फटकर विधि प्रान्तीयताओं में बिखरकर रह जाएगी। कश्मीर और तमिलनाडु में ही क्षेत्रीय दलों का शासन नहीं है और प्रादेशिक राज्यों में भी वह रोग पनप रहा है। पंजाब, असम और आन्ध्र तो समक्ष है ही। दूसरे राज्य भी उसी तरह चलना चाहते दीखते हैं। पंजाब, हरियाणा के बीच है, वैसा ही कुछ हाल कर्नाटक महाराष्ट्र के दरमियान है।

यह फिसलन रुकेगी नहीं, अगर राजनीति सँभलती नहीं। राजनीति के पास इसका उपचार इसलिए नहीं है कि वहाँ तो इसकी उपज है। अगर मस्ल पॉवर ही उसके पास एक पॉवर है तो उसके साथ भ्रष्टाचार का योग हुए बिना रहेगा नहीं, तथास्थिति एक्जीक्यूटिव रहेगी, मॉरल न हो पाएगी।

मैं मानता हूँ कि श्रीमती इन्दिरा गाँधी के पास अवसर है कि वह काँग्रेस को गुटबन्दी से मुक्त करें। स्वयं दलिय से अपने लिए राष्ट्रीय आधार का निर्माण करे, विरोध पक्ष को जीते और उसे मान मिलने दें। यही उपाय है कि अराजकता का वातावरण को दूर करें और लोग अपने आग्रह में सत्याग्रह के नाम पर संघर्ष छेड़ देने और इस प्रकार अराजकता के वातावरण बनाने के मोह से बचे।

□

विनोबा : निवृत्तिपरक प्रकृति के धनी

विनोबा गये। मृत्यु उन्हें नहीं ले गयी। बुलाकर वही उसे अपने साथ ले गये। मानो उन्होंने इस प्रकार जगत को बताया कि मौत भयंकर नहीं है। उससे सुरक्षा खोजने की आवश्यकता नहीं है। यदि आती है तो अपने समय पर आती है और व्यक्ति के भले के लिए ही आती है। जीर्ण-शीर्ण हो जाए तो शरीर किस काम का? मृत्यु चेतना को फिर नया शरीर पहनाने के लिए उसे अन्त:पुर की ओर ले जाती है।

विनोबा अपने में अलग और अनोखे थे। गाँधी के शिष्य थे, पर उनसे अतिरिक्त स्वयं भी थे। वह सन्त थे, तपी और तपस्वी थे! वह उस परम्परा में थे जिनमें मुनि और महर्षि होते आए हैं।

किन्तु एक प्रश्न है जो उनके बाद भी प्रश्न ही बना है। शास्त्रकारों ने आदर्श को मोक्ष का नाम दिया है। बताया है कि वह परम निवृत्ति है। उसके प्रतिपक्ष में प्रवृत्ति है जिसमें संघर्ष और युद्ध है। इस प्रकार निवृत्ति और प्रवृत्ति दो मार्ग बन जाते हैं। इन दो समानान्तर मार्गों पर चलकर एक ओर इतिहास को यदि परमज्ञानी, ध्यानी, योगीजन प्राप्त होते हैं तो दूसरे छोर पर प्रबल प्रतापी नेता, सम्राट उपलब्ध होते हैं। युद्ध से मुक्त इतिहास कभी हो पाया नहीं है। प्रवृत्तिशीलता मनुष्य से दूर कभी नहीं होगी, और विश्वास रखना चाहिए कि संघर्षों की उपज भी कभी समाप्त नहीं होगी। धर्म और कर्म के मार्गों की विमुखता इस प्रकार सदा सम्मुख रही है और परिणामस्वरूप जीवन में व्याप्त यह अन्तर्विरोध नाना प्रकार के दर्शनों को जन्म देता रहा है। अद्वैत को माना गया है, तो साथ द्वैत की उपस्थिति को देख कर द्वैताद्वैत और विशिष्टाद्वैत आदि से उसे अभिहित करना भी आवश्यक प्रतीत हुआ है।

साधु और योद्धा, ये दो आमने-सामने खड़े दीखते हैं। साधु वह कि जो किसी से नहीं लड़ता, और योद्धा वह कि जो सामने ललकार पाकर कभी किनारा नहीं लेगा, पीछे नहीं हटता।

इस द्वैत के बीच में से जीवन को निभना और चलना पड़ता है। इसलिए हठात उनको हमें अवतारी पुरुष कहना पड़ता है कि जिनमें यह द्वित्व एक अद्भुत एकत्व में खो जाता है। साधुता उनमें मानो युयुत्सु बनकर प्रकट होती है। मुक्तिकामी यह पुरुष उतनी ही प्रखरता से जगतगामी प्रतीत होता है। निवृत्त, पर उतना ही प्रवृत्त। इनके जीवन में युद्ध से विराम नहीं दीखता, लेकिन युद्ध के घमासान में भी एक प्रकार की तटस्थ निस्पृह शान्ति उनमें अक्षुण्ण विराजी रहती है।

गाँधी ने प्रचण्ड कर्म को जगा डाला भारत में। विनोबा घर से निकलकर तब हिमालय की एकान्त शान्ति में पहुँचना चाहते थे। उन्हें प्यास अध्यात्म की थी। गाँधी की प्रखरता में उन्हें उस अध्यात्म की निर्मलता और तटस्थता की झाँकी मिली। उधर विनोबा में क्रान्ति के प्रति भी आकर्षण था, तो मानो क्रान्ति का सत्व भी उन्हें गाँधी में दीख गया। विनोबा में यह दो तट दो थे। गाँधी में उन्हें उनकी अभिन्नता और अखण्डता दीखी और एक चुम्बकीय आकर्षण में वह उनसे जा चिपके।

लेकिन विनोबा विनोबा रहे। उनका मार्ग अद्वैत का था, पर गाँधी के प्रभाव से मुक्त रहना उन्हें सम्भव न हो पाया। प्रवृत्ति की ओर झुके तो अतिशयता के साथ। चरखे पर सूत निकाल रहे हैं तो आठ-आठ, दस-दस घण्टे लगातार। मानो यह साधना बाहरी किसी स्वराज, स्वदेशी आदि से असम्बद्ध हो, जुड़ी हो केवल आत्मानुशासन से। गाँधी के बाद स्वभावत: लोगों की आशाएँ विनोबा पर लग गयीं। यह अन्याय था, पर क्या वही गाँधी-नियुक्त प्रथम सत्याग्रही न थे, किन्तु नेतृत्व उनके स्वधर्म में न था। थोपा हुआ नेतृत्व उन पर टिका न रह सका। अनुयायियों को निराशा हुई तो दोष उन्हीं का अपना था।

तेलंगाना में उत्पात शुरू हुआ। कम्युनिस्टों ने सीधी कार्रवाई हाथ में लेकर जमीन हथियाना और बाँटना शुरू कर दिया। इसमें उस क्षेत्र के सर्वहारा वर्ग की इतनी सहानुभूति और ऐसा सहयोग प्राप्त हुआ कि सरकारी तन्त्र का बस उस पर न चल सका। शासन के भंग की नौबत आ गयी। तब एक तरह शासन की माँग पर विनोबा वहाँ पहुँचे। गये इस शर्त के साथ कि पैदल चलकर जाएँगे। वहाँ की व्यापकता सुनी और एक सभा में करुणार्द्र होकर जमीन की माँग कर बैठे। माँग गहरे में से आयी थी और एक भूमिवान के जी को गहरे में छू गयी। उसने वहीं सौ एकड़ भूमि का दान बोल डाला। इस प्रकार गंगोत्री खुली और भूदान गंगा का प्रवाह वेग से बह निकला। नेहरू ने 'वन मैन फोर्स' कहकर विनोबा के प्रभाव को अर्घ्यदान दिया। बढ़ते-बढ़ते भूदान ग्रामदान में परिणत हो गया। अब तक प्रेरणा करुणा की थी, अब दृष्टि समाज-निर्माण और ग्राम-स्वराज की हो आयी। यहाँ से आन्दोलन की प्रकृति में भी अन्तर आया। मानो गुणात्मक से

आन्दोलन गणनात्मक हो चला। इतने-इतने ग्रामदान, प्रखण्ड दान, प्रान्तदान इत्यादि। यों फल की आसक्ति आयी तो सामने विफलता दीखनी ही थी। प्रतिक्रिया में विनोबा ने सूक्ष्म-प्रवेश व क्षेत्र-संन्यास की घोषणा की और कहा कि अध्यात्म और विज्ञान के अतिरिक्त वह दूसरी बात नहीं करेंगे।

मैं मानता हूँ कि विनोबा अपनी इस स्वभावगत नितान्त निवृत्तिपरक प्रकृति के कारण कई जनों के लिए ध्रुव और अचूक दिग्दर्शन बने। भावी इतिहास के लिए भी उनके व्यक्तित्व की यह विशेषता सदा चेतावनी देती रहेगी। भूदान और ग्रामदान में जयप्रकाश नारायण उनके दाहिने हाथ थे, लेकिन राजनीतिक क्षेत्र में भ्रष्टाचार और एकाचार का अनुभव पाकर उन्होंने जो सम्पूर्ण क्रान्ति की अलख जगायी तो विनोबा ने चेतावनी दी। गाँधी में विनोबा, जयप्रकाश ही नहीं, नेहरू भी समाये थे। मैं मानता हूँ कि यदि गाँधी रहते तो इन्दिरा भी उनके भीतर समायी दीखतीं। पर विनोबा जयप्रकाश फट गये। मानो निवृत्ति और प्रवृत्ति एक-दूसरे से वंचित और अलग हुई। ऐसे दोनों ही एकान्तिक और विफल बनकर रह गए।

□

एशियाई खेल उपलब्धियाँ और शंकाएँ

एशियाई खेल समारोह उभार के बिन्दु से अब उतार पर आ रहा है। कहाँ टिकट काले बाजार में भी मिलना मुश्किल था। कहाँ अब खरीददार भी नहीं हैं, लेकिन इस समारोह से भारत की धाक अवश्य बढ़ी है। सबको कायल होना पड़ा है, उसकी व्यवस्था की क्षमता का। अधिकारी पुरुषों की राय बनी कि भारत ओलम्पिक को भी बखूबी सम्भाल सकता है। मानना होगा कि व्यवस्था और निर्माण की दृष्टि से भारत ने एक कीर्तिमान स्थापित किया है। नयी-नयी विशाल अत्याधुनिक 'स्टेडियम' 'फ्लाई ओवर' 'फाइव स्टार्स होटल' रिकार्ड समय में निर्माण कर दिखाना हँसी खेल न था। रुपया बहा पर काम हुआ। यह कम श्रेय की बात नहीं है। यह जुदा बात है कि धूआँधार विज्ञापन के बावजूद जितनी आशा थी उससे तिहाई से भी कम विदेशी आये और उनके स्वागत के लिए जो तैयारी रखी गयी थी, अतिथि भवनों और होटलों में जो अतिरिक्त व्यवस्था की गयी थी, वह व्यर्थ गयी। केरल जितने दूर से विशेषतौर पर चौतींस हाथियों के आने का प्रयोग भी कुछ विशेष उपयुक्त न रहा। लेकिन बड़े और विराट पैमाने पर होनेवाले समारोह में इस तरह की थोड़ी बहुत त्रुटिया रह जाना अधिक चिन्ता की बात नहीं होनी चाहिए। सन्तोष इस बात का भी है, खुद खेलों में भारत का स्थान उतना निम्र नहीं रहा, जितना डर था, प्रत्युत दक्षिण और पश्चिम एशिया के देशों में तो उसका स्थान सर्वोपरि रहा।

पर विचार और चिन्ता की चीज दूसरी है। वह है—मनोवृत्ति, जिसकी झलक और जिसके बीज विराट संकल्पना के तल में खोज लिए जा सकते हैं। यह सही है कि आवश्यक था कि बाहर के मेहमानों पर भारत की अच्छी छाप छूटे, लेकिन क्या 1400 करोड़ रुपये से कम में काम नहीं चलाया जा सकता था? जो सुविधाएँ इस भारी खर्च से मुहैया की गयीं उसका पूरा उपयोग हुआ? मगर मालूम होता है कि इस सोचने के तरीके में ही कुछ अतिरेक था। असर था उस जहनियत का जो शहंशाहियत को जेब देती है। जाहुल जलाल और शान शौकत जरूरी होते

थे शहंशाहों के लिये। उन चमत्कारों के बल पर उनके राज्य को थिरता मिलती थी। लोग उनमें बहले रहने का सामान पा जाते थे और इस तरह राज्य के लिए दूसरी समस्याओं को पैदा करने से बचे रहते थे। उनके लिए यह खासा शगल हो जाता था। लेकिन भारत वह लोकतन्त्र है जिसकी आबादी का तिहाई से अधिक हिस्सा गरीबी की रेखा से नीचे रहता है। वह बहल सकता था? लेकिन काँग्रेसी राज की परम्परा में स्वतन्त्र भारत की जनता को खुले निर्वाचन के जरिये काफी जगा दिया। वह अपनी माँगों और अपने अधिकारों के बारे में सचेत बना डाला गया है। यह भरोसा नहीं रखा जा सकता कि ऐसे बड़े प्रश्नों की बाद में प्रतिक्रिया नहीं होती। अर्थव्यवस्था पर इस भारी खर्च का गहरा प्रभाव पड़ सकता है। मुद्रा-स्फीति को निश्चय ही इससे बढ़ावा मिलेगा। इसके द्वारा प्राप्त फौरन एक्सचेंज का सहारा भी भारत के स्वावलम्बन की आवश्यकता को देखते बहुत शुभ नहीं होगा।

हमें अपने सम्बन्ध में स्पष्ट होना है। क्या हम स्वस्थ और सत्वशील जीवन से हटकर नुमायशी जिन्दगी की तरफ बढ़ चलना चाहते हैं? खेल तो अब खत्म हो जाएँगे, लेकिन दिल्ली इन दिनों जगमगायी रही है। कहीं कुछ और बात ही न थी सिवा खेलों के। गोल्ड, सिलवर, ब्रोन्ज किसने कितने जीते? जहाँ जाइए यही चर्चा सुनने को मिलती थी। दिल्ली में खूब सरगर्मी रही और भरपूर रौनक। लोगों ने देखा के खिलाड़ियों और खिलाड़ियों के करतब और बड़ी गर्म-जोशी से उन्हें सराहा। पर घटना घट कर भले बीत जाए। दिल्ली के इतिहास को याद रहेगी। यही नहीं इसके बाद दिल्ली बाहर सदा-सदा के लिए एक नुमायशी शहर बना रहेगा और दिल्लीवाले उस पर गर्व करते रहेंगे। पर्यटकों के लिए कुछ अतिरिक्त सामान आर्कषण के लिए हो जाएगा, लेकिन कुल मिलाकर मुझे भय है कि अपनी आन्तरिक समस्याओं से उचटकर राजकर्त्ताओं का मोह और बहिर्मुखी न होता चला जाए। दूसरे की आँखों में जँचे रहने के लिए ही भारत को रहना और जीना नहीं है। अन्तरराष्ट्रीय क्षेत्र में किसका बल और वर्चस्व इस पर निर्भर है? भारत की अपनी आन्तरिक समस्याएँ कम विकट नहीं है। राजनीतिक परिस्थिति काफी चिन्तनीय है। क्षेत्रवाद और गुटवाद का सब तरफ बोलबाला है। खुद शासनस्थ काँग्रेस के संगठन में दरारें दीखती हैं। व्यक्तित्त्व इन्दिरा गाँधी का है फिर भी स्थिति अपने हाथ में से भी निकलती प्रतीत होती है। विरोधपक्ष में कोई दल मन में सम्भावनाएँ उत्पन्न नहीं करता है। अन्दरूनी से अलग बाहर के सम्बन्धों की समस्या भी सिर पर है। निर्गुट सम्मेलन जिसका अधिवेशन अगले मार्च दिल्ली में ही होने जा रहा है। महाशक्तियों की प्रतिस्र्धा के बीच अपना अलग स्वत्व और बल बनाये रख सकेगा कि नही यह देखना है? कहीं भारत निर्गुट आन्दोलन

को धार और शक्ति दे सकेगा? जिसको अपनी अपार जनता का बल प्राप्त है और इस प्रकार जिसकी शक्ति सामरिक के अतिरिक्त नैतिक स्वरूप की भी है।

मैं मानता हूँ कि इसके लिए राजनीतिक मानस में ही परिवर्तन की आवश्यकता है। असर का प्रदर्शन नहीं चलेगा। सत्ता के नीचे ठोस आधार का निर्माण करना पड़ेगा। अभी जो योजनाएँ बनती है उसमें लगा पैसे गरीब तक नहीं पहुँचता, अमीर को और अमीर बना जाता है। इस खेल समारोह में लगा पैसा श्रमिक के पास नहीं पहुँचा, उसको तो सही मजदूरी भी नहीं मिली। मालामाल वे हुए जो पहले ही मालामाल थे। धन की ओर सत्ता की यह केन्द्रित स्थिति देश को सही अर्थों में मजबूत नहीं होने देगी। लोकशासन की दृढ़ता और स्थिरता सामान्य में लोकजन में से प्राप्त होनी है। वहाँ हम देखते है कि राष्ट्र का ध्यान टूट रहा है। अपने-अपने क्षेत्र की चिन्ता उसकी जगह ले रही है। इसका उपाय राजनीति के द्वारा शीघ्र न हुआ तो देश नुमायशी बनकर टिक न सकेगा, प्रत्युत टूटने की ओर बढ़ेगा।

□

नेताओं की बेबसी जनता की पैदा की हुई है

फ्रांस के राष्ट्रपति श्री फ्रेकों मित्तरा ने उस दिन यहाँ प्रेस के समक्ष कहा कि सैनिक गुटों के शासनों के टकराव से विश्वशान्ति को जो खतरा पैदा हो गया है, वह हमेशा नहीं बना रहना चाहिए। आगे उन्होंने यह भी कहा कि एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमेरिका के अनेक देशों के दौरा करते हुए उन्होंने पाया कि सभी जगह लोग एक-सा सोचते हैं। सैनिक गुटों के कारण जो कुछ हो रहा है, उससे वे असन्तुष्ट ही नहीं, सशंक हैं।

लेकिन यह सब कहने के अनन्तर पूछे जाने पर अपने सम्बन्ध में उन्होंने सफाई दी कि हाँ, यद्यपि वे नाटो के सदस्य हैं, तथापि उस सदस्यता को वे सीमित मानते हैं, और उससे अनेक मुद्दों पर उनके स्वतन्त्र निर्णय पर बाधा नहीं आ जाती। सफाई में फिर उन्हें उन कारणों का भी बखान करना पड़ा कि जिससे वे अपने परमाणु शस्त्रों के निर्माण में विश्वशान्ति की उत्कट चिन्ता रखने के बावजूद कटौती क्यों नहीं कर सकते? स्थिति तनिक भी सामान्य होती तो वह अकेले अपनी ओर से निरस्त्रीकरण का कदम उठाने की सोच सकते थे; लेकिन दोनों ओर से दुनिया में शस्त्रों की प्रतियोगिता की होड़ होने की स्थिति में उन्हें सुरक्षा के साधनों का ध्यान रखना जरूरी होता है।

श्री मित्तरा मान सकते हैं कि वे एक सैनिक गुट के मध्य सामान्य सदस्य भर हैं, अर्थात अमेरिका और रूस की तरह परमाणु शस्त्रों की होड़ को जारी रखने का दायित्व उन पर नहीं आता। विवशता की परिस्थिति के वे शिकार हैं, जनक नहीं हैं।

लेकिन ठीक यही बात अमेरिका और रूस के अध्यक्ष रीगन और ब्रेझनेव कह सकते थे और अब श्री ब्रेझनेव के उत्तराधिकारी आन्द्रोपोव कह सकते हैं। उन शस्त्रों की सामर्थ्य रखनेवाले प्रत्येक देश के अग्रतम नेता दुनिया को यही विश्वास दिलाते आ रहे हैं कि केवल अपनी सुरक्षा के लिए ही उनकी यह कार्यवाही है, अन्यथा उनका आक्रामक उपयोग उनकी ओर से होना असम्भव है।

'प्रथम प्रहार' का दायित्व कोई अपने ऊपर लेने को तैयार नहीं है और सब कहते हैं कि और प्रतिरक्षा में ही उन शस्त्रों के उपयोग की सम्भावना हो सकती है। लेकिन पूरी तैयारी अपनी ओर से रखना इसलिए जरूरी है कि उसी कारण प्रतिपक्ष को आक्रमण के लोभ में ठिठके रहना पड़ता है।

शस्त्रास्त्र सन्नद्धता की नीति के पीछे सबका यही दावा है कि उनके भय से युद्ध का विस्फोट रुका हुआ है। उनकी उपयोगिता 'डेटेरेण्ट' यानि रोकथाम की है।

किन्तु शीत युद्ध अपने आप में अनन्त काल तक जारी नहीं रखा जा सकता। मित्तरा महोदय का इसी ओर संकेत है। लेकिन अगर वह स्वयं शस्त्र निर्माण के कार्यक्रम में शान्ति की पूरी भावना रखने पर भी किसी तरह की कटौती तक नहीं कर सकते हैं तो क्या अन्यान्य देशों की स्थिति भी सामान्य नहीं है? सच यह है कि सभी अपनी-अपनी जगह विवश हैं और महासंहार की ओर दुनिया तेजी से बढ़ी जा रही है तो उसके वेग को अपनी ओर से रोकने में असमर्थ हैं।

परमाणविक शस्त्रों की संहारलीला की भीषणता को यह राष्ट्र-नेताजन जितना जानते-मानते हैं, उनसे अधिक कौन जानेगा। उसके कारण यह भी विश्वास रखा जा सकता है कि उनसे अधिक विश्वशान्ति की चिन्ता से व्यक्ति भी दूसरा कोई नहीं होगा। लेकिन स्वयं अपने विरुद्ध होकर वे फिर क्यों ऐसा आचरण कर रहे हैं? जानते-बूझते क्यों प्रलयान्त तक विध्वंस की ओर बढ़ते ही चले जा रहें हैं। प्रयत्न होते हैं पर व्यर्थ होते हैं। भयावरोध (Deterrent) की बात बासी-पुरानी हो गयी। साल्ट-सन्धि में पहले कदम के तौर पर कुछ बढ़ गया था और अब दो-तीन कदम पीछे हटना पड़ा है। आन्द्रोपोव और रीगन की एक-दूसरे के प्रति घोषक्तियाँ आश्वस्त करने की जगह उल्टे संत्रस्त करती हैं। स्थिति में दिन-ब-दिन कठोरता आती जा रही है।

आसान है यह कि इन नेताजनों पर अपना क्षोभ उतारा जाए। आलोचनाओं की बौछार उन पर नहीं पड़ रही है, ऐसा नहीं। अमरीका और यूरोप के देशों में जबर्दस्त शान्ति के आन्दोलन चलाए जा रहे हैं। स्वयं रूस में शान्तिवादी जन हैं। यह पूरे तौर पर अपने राष्ट्रनेताओं की शस्त्र-नीति से सहमत न हों, लेकिन होता है कि समीक्षा-मीमांसा से अधिक उनके पास कोई कार्यकारी विकल्प नहीं है। यथार्थ पर उनका काबू नहीं है। राजसत्ता और धनसत्ता के समक्ष अभी कोई दूसरी सत्ता नहीं है। विश्व का जनमत हो सकता है—संत्रस्त और भयभीत! गहरी भावना हो सकती है शान्ति की, लेकिन उस विश्व जनमत को कोई सत्तागत स्वरूप प्राप्त नहीं है। मानवजाति अपने विकासक्रम में, संयुक्त-राष्ट्रसंघ तक आयी अवश्य है, पर वह संघ राज प्रतिनिधियों और राजकर्त्ताओं का संघ है। वे सभी अपने-अपने राष्ट्रहित के प्रति इतने अर्पित हैं कि उन्हें इस माने गये राष्ट्रहित से आबद्ध

माना जा सकता है, इससे मानव-हित और विश्व-हित के साथ क्या हो सकता है? मानो इस पर ध्यान देने की उन्हें फुर्सत नहीं हो पाती है। होती भी है तो राष्ट्र-हित का सन्दर्भ देकर देखने से मानव-समस्या का स्वरूप उनके निकट कुछ दूसरा ही हो जाता है।

राष्ट्र-राज्य नेताओं को अपनी नीतियों में क्या अपने राष्ट्रवादियों का बल प्राप्त नहीं है? न होता तो वे वहाँ टिक कैसे सकते थे? इसलिए मानना होगा कि उसी बल के भरोसे वे अपने युद्ध वाली नीति चलाए जा रहे हैं। पर यही मतदाता नागरिक यदि निरे प्रतिनिधि मानव के रूप में सोचें तो स्थिति बदली दीख सकती है अर्थात राष्ट्रवाद को युद्ध में से अपनी सुरक्षा आहुति दीख सकती है। मानव के बाद तो शान्ति ही अपेक्षित है और रहेगी।

तो प्रश्न है कि क्या राष्ट्र-नीति मानव-नीति की अनुकूल नहीं हो सकती? राजनीति मानव-नीति से आदेश-निर्देश लेकर नहीं चलायी जा सकती? मैं मानता हूँ कि ठीक इस पर रुकने या ठिठकने का अवकाश शायद नहीं हो सकेगा। निरे राष्ट्रवाद में से इतिहास ने साम्राज्यवाद फलित होते देखा है। विस्तारवाद का फल तो आँखों के सामने है ही। अत्यन्त विकसित होने पर अमेरिका और रूस दोनों के लिए आवश्यक हो गया कि अपने प्रभाव के नीचे दूसरे देशों को लें और उसकी अधीनता में से अपनी राष्ट्रसत्ता को उत्तरोत्तर महिमामय अनुभव करें।

इस सत्ताशाली, महिमामयता के सपने के आधीन मानवजाति को चलाये जाता रहा है। विज्ञान ने यन्त्र दिया। यन्त्र ने विशाल उद्योग की सम्भावनाएँ जगायीं और उस दिशा में बढ़ते-बढ़ते सभ्यता उस ऊँचे कगार पर आ गयी है कि जहाँ राह का अन्त है, और आगे बस ध्वंस ही दीखता है। मुझे प्रतीत होता है कि इस यन्त्रचालित स्वप्न को टूट जाने देना होगा। कारण, इसके आधीन चलने और व्यवहार करने से हमने यह विवशता कमा ली है कि एक दूसरे के अपनी रक्षा की खोजें और एक दूसरे के लिए आश्वासन का कारण बन सकें। जिस रहन-सहन के तरीके में समाज-व्यवस्था, अर्थ-व्यवस्था, राज-व्यवस्था को हमने अपनाया है उसमें से परस्पर स्वार्थ-भाव और हिंस्र-भाव फलित होता गया है। वहीं कहीं-कहीं उठ कर और जमा होकर युद्ध की घनी घटाओं में परिणत हो जाता है। अर्थात नेताओं की बेबसी हम जनताओं की पैदा की हुई है। दोष इसलिए देना नहीं हमें अपनाना है यानी कि मूल जीवन-दर्शन और जीवन-विधि में ही फेरफार लाना है। अब तक यदि वृत्ति स्वार्थमय थी तो अब यज्ञमय बनाना है। हिंसक थी तो उसे अहिंसक करना है। बदलाव ऊपर से नहीं आएगा। नीचे से और भीतर से आएगा। राजनीतिक राज्य से बच कर अगर नहीं सोच सकता है तो मानव स्वतन्त्र है कि वह मानव-मूल्य की भाषा में सोचें।

□

हथियार और युद्ध की ललकार

परमाणु शस्त्र निर्माण की लगातार जारी बढ़त, होड़ और आसन्न युद्ध की विभीषिका के नीचे दुनियाँ शंका में साँस लेती हुई जी रही है। दोनों ओर से सैनिक-गुटों में प्रतिस्पर्द्धा हैं और माना जाता है कि यह घातक तनातनी दो प्रकार की व्यवस्थाओं के दरम्यान है। संकट का स्वरूप हैं : लोकशाही बनाम तानाशाही।

क्या सचमुच यथार्थ यही है? अमरीका लोकशाही का नमूना है और रूस तानाशाही की मिसाल? ब्रेझनेव के बाद उत्तराधिकारी आन्द्रोपोव उनके द्वारा नामांकित नहीं हुए वरन निर्वाचित हुये है। और यदि अमेरिका सच्चे अर्थों में लोकशाही है तो 'नेटों' के रूप मे सैन्यशाह है के चेहरे की आवश्यकता उसे नहीं होनी चाहिए। लोकतन्त्र का आधार सैनिक से अधिक नागरिक हैं। सैनिक का बल हथियार है और नागरिक के हाथ में औजार है और बल बस मत है जिससे कि लोकमत का निर्माण होता है। यह लोकमत यदि बाहरी दबाव से मुक्त हो तो विश्वमत का स्वरूप ले सकता और उसका आधार बन सकता है। अर्थात राष्ट्रगत लोकतन्त्र परस्पर सहयोगी तो हो सकते हैं, इस अर्थ में प्रतिस्पर्द्धी नहीं हो सकते कि उनके बीच सशस्त्र और रक्त-युद्ध की आवश्यकता ठन आये। स्पर्द्धा उनमें होगी तो नैतिक और सांस्कृतिक, जिससे कि दोनों को लाभ होगा और किसी के लिए खतरा पैदा न हो पाएगा।

युद्ध की ललकार

लेकिन आज तो बीच में हथियार है और युद्ध की ललकार है। लगता है कि फैसला हिंसा के सिवा किसी और राह से हो पाना सम्भव नहीं है। एक शान्तिवादी पाश्चात्य मनीषी लेखक ने 'एक्सटर्मिनिज्म' (विनाशवाद) शब्द का आविष्कार करके अपने ग्रन्थ में प्रतिपादित किया है कि यह आत्यन्तिक विनाशवाद ही हमने अपनी औद्योगिक उन्नति द्वारा अपने बीच पैदा किया है। यही आज का आधुनिकतम मतवाद है।

मानने का रिवाज है कि राजशाही के दिन गये और यह लोकशाही का युग है। रूस को दूसरी तानाशाही व्यवस्था कहें, लेकिन वह तो अपने को राज्यशाही तक मानने को तैयार नहीं है। यदि निर्वाचन वहाँ लगभग शत-प्रतिशत मतों द्वारा होता हो तो इस आधार पर उनका दावा हो सकता है कि उनकी व्यवस्था लोकतन्त्र और लोकशाही का आदर्श है। उधर अमरीका इंग्लैण्ड से भी अधिक अपनी व्यवस्था को लोकतन्त्रात्मक मानने का दावेदार है। जहाँ राजा मौजूद हैं, वहाँ भी सहारे के लिए लोकतन्त्रात्मक ढाँचा देशों के लिए आवश्यक हुआ है। लेकिन लोकतन्त्र शब्द में गर्भित है कि सत्ता वहाँ केन्द्रित नहीं विकेन्द्रित होगी, इतनी कि प्रत्येक व्यक्ति अपने को सत्ताशाली अनुभव कर सके। राज्यसत्ता क्रमश: इस अर्थ में अनावश्यक होती जाएगी कि उसका स्वरूप उत्तरोत्तर नैतिक होगा, हुकूमती और अफसरी न रहेगा। अर्थात नागरिक बल से अतिरिक्त सैन्य बल की आवश्यकता उसके लिए कम-से-कम होती जाएगी।

राजशाही के विकासक्रम से हम लोकशाही की कल्पना तक आये तो इसका अर्थ यही है कि हिंसा की शक्ति का भरोसा कम हुआ और हम में किसी दूसरी शक्ति का भरोसा पैदा हो सका अर्थात शस्त्र बल और सैन्य बल को अपेक्षा में जनबल और मतबल को बड़ा और श्रेष्ठबल के रूप में हमने पहचाना। इस आविष्कार पर मानव जाति अपने को बधाई दे सकती है।

इधर रीगन महोदय की ताकत भी उनकी अपनी ताकत नहीं, बल्कि सौंपी हुई है। कुछ साल बाद निर्वाचन में वे गिरा भी दिये जा सकते हैं। अभी शासन के एक अंग ने उनकी नई-शस्त्र योजना में अपनी अनुमति देना बहुमत से अस्वीकार कर दिया। यदि वहाँ की प्रतिनिधि सभा भी इन्कार कर देती तो उनका बस न था कि वह कुछ कर सकते।

अर्थात जो ऐतिहासिक और सांस्कृतिक विकास में हमने शस्त्रसत्ता और राजसत्ता के समक्ष लोकसत्ता की धारणा का आविष्कार किया, अभी तक उसके आंशिक परिपालन में ही हम समर्थ हो पाये हैं। आगे उस सामर्थ्य-सम्पादन की ओर हमें और बढ़ना है, और बढ़ते जाना है। सूक्ष्मता से देखें तो यह क्रम हिंसा से अहिंसा की शक्ति की पहचान और उपयोग की ओर बढ़ना ही है।

राष्ट्र नेताओं के हाथ में अपने-अपने राष्ट्र-राज्यों की सत्ता का बल है, जिसका मुख्य रूप शस्त्र-सैन्य-बल का है। वह बल मुख्य इसीलिए बना हुआ है कि जन-बल और लोकबल अभी तक मुख्य बनने तक नहीं उठ सका है। गौण ही बना रह गया है। यही कारण है कि वे नेताजन शस्त्र निर्माण पर भरोसा बाँधे हुए हैं, और जानते बूझते कि वह सर्वनाश की दिशा है, विवश उधर ही बढ़े जा रहे हैं। मैं मानता हूँ कि उन्हें समझना होगा कि उनका बल राजशाही का

बल है। वह बल सही अर्थों में डेमोक्रेटिक नहीं है, मानवता का बल नहीं है। वह संकीर्ण और स्वार्थ हित की दृष्टि है जिसके मातहत वे चल रहे हैं। वैश्विक (ग्लोबल) दृष्टि नहीं है, आज जिसकी आवश्यकता है। विज्ञान ने, व्यवहार ने, व्यवसाय ने, उस दृष्टि को अनिवार्य बना दिया है, और आशा करनी चाहिए कि अपने ही राजनीतिक वृत्त में घिरे न रहकर वे साहसपूर्वक मानव हित की भाषा में सोचकर परस्पर बातचीत में से कोई मार्ग निकालेंगे कि इस सांघातिक शस्त्रों के निर्माण पर सीमा आये और संकट कुछ घटता मालूम हो। मानव जाति की ओर से उन पर यह दायित्व आता है। अन्यथा इतिहास निर्णय देगा कि वे समय पर चूक गये और विकास का साथ देने में असमर्थ सिद्ध हुये। राष्ट्रीय आवेश और अभिनिवेश हो सकते हैं, लेकिन यदि वे सच्चे अर्थों में नेता है तो उनसे अपेक्षा है कि वे उनके शिकार न बने, उनसे ऊँचे उठे और पहचाने कि एक का हित दूसरे को समाप्त करने में नहीं है। समूची मानव जाति का हित है परस्पर सहयुक्त और संयुक्त होने में।

राजनीतिक दृष्टि

मैं मानता हूँ कि राजनीतिक दृष्टि इतनी दूर तक न जा पाएगी। उसके लिए अधिक तटस्थता की आवश्यकता है। लेकिन यह तो तात्कालिक राजनीति की ही परम आवश्यकता है कि किसी न किसी उपाय में आमने-सामने सन्नद्ध दोनों सैनिक गुटों के शीर्ष नेताओं में आपसी चर्चा हो और कुछ-न-कुछ ऐसी संधि हो कि युद्ध का भय टले और थोड़ी देर के लिए सही दुनिया को चैन की साँस लेने का मौका मिले।

यदि 'साल्ट सन्धि' का आगामी चरण भी सम्भव हो पाता है तो फिर चिन्तकों और समाज शक्तियों के लिए अवकाश होगा, अवसर होगा, कि वे आगामी निर्माण की दिशा में रचनात्मक भाव से कुछ सोच सकें। यह स्पष्ट है कि सत्ता का केन्द्रीकरण लोकतन्त्र के विकास के अनुकूल नहीं है। इतिहास लौटकर वापस राजशाही पर नहीं जा सकता है। राजशाही ही है जो युद्ध की तैयारी रखने और फिर स्वयं युद्ध की तैयारी रखने और फिर स्वयं युद्ध की ओर बढ़ने को आवश्यक बनाती है। यह भ्रम टूट जाना चाहिए कि दोनों ओर से मुकाबला राजशाहियों का ही नहीं है।

मैं मानता हूँ कि आज की चुनौती यही है कि कैसे राजशाहाना दिमाग, राजसी मानसिकता से निजात पायी जाए और कैसे जनवादी मनोवृत्ति अपनायी जाए। आम आदमी की हालत का अन्दाजा शासकीय मनोदशा वाले को हो पाता नहीं है। अरबों-खरबों की योजनाओं के बीच रहकर वह सोच ही नहीं सकता कि

एक-एक पैसे के लिए तरसने वाली हालत क्या होती है? नतीजा यह है कि डेमोक्रेसी के आधार पर उठने और शासन के आसन पर पहुँचनेवाले नेता का दिमाग अपनी धरती छोड़कर आसमान में उड़ने लग जाता है। ऐसे शासक और जनता के हित के बीच की खाईं बढ़ती ही जाती है। मानो नेता उत्तरोत्तर मजबूर होता जाता है कि अपने हित में जनता के हित को स्वाहा ही करता जाए। यही विवशता है जो राष्ट्रनेताओं को बरबस उसी ओर खींचे लिए जा रही है जिधर स्वयं उनकी जनताओं का सर्वनाश रखा हुआ है।

□

अधिक लोकतन्त्र से लोकतन्त्र का सुधार

पटना जिला सेमरिया गाँव में स्वर्गीय दासू सिंह (अपने जीवन काल में विधायक रहा करते थे) परिवार के सदस्यों को उनके खेत में ही काम करनेवाले मजदूरों ने नक्सली अदालत में पाँच जूते, एक हजार रुपया और दस मन अनाज का जुर्माना किया। बहुत आरजू-मिन्नत करने पर पाँच जूते माफ कर दिए गये। बाकी जुर्माने की भरपायी तत्काल कर दी गयी...इस घटना की खबर पुलिस को करने की हिम्मत किसी को नहीं हुई।

इसी प्रकार की दूसरी घटना है कि जहानाबाद जनता पार्टी के कार्यकर्ता को नक्सली अदालत में सुनवायी के लिए गिरफ्तार किया गया...औरंगाबाद पार्टी की बैठक में भाग लेने जाने के लिए बस स्टैण्ड पर खड़े थे कि टैक्सी में अपहरण किया गया, पर रास्ते में ही बेहोशी की दवा सुँघाकर बेहोश कर दिया गया। होश आया तो नक्सली अदालत में अपने को पेश पाया। अदालत ने फैसला सुनाया—एक लाख रुपया जुर्माना। अभियुक्त ने दृढ़ता दिखायी और कहा, "मैं राजनीतिक कार्यकर्ता हूँ, अमुक मेरे नेता हैं, मैं जो करता हूँ उनकी सलाह से, आदेश से। आप मुझे गोली मार दीजिए, लेकिन मैं उस घराने से नहीं आता जिसकी हैसियत एक लाख जुर्माना देने की हो।" अभियुक्त की दलील पर विचार करने के लिए रात में आमसभा बुलाई गयी जिसमें आसपास के गाँवों के लोग भी शामिल हुये। काफी गरमा-गरमी के बाद सभा ने सुधारवादी और सामन्त-विरोधी घोषित करके अभियुक्त की आँखों पर पट्टी बाँधी और जंगल की सीमा पर ले जाकर छोड़ दिया।

यह कार्यवायी अराजकता की सोची जाएगी। इसमें दो मत नहीं हो सकते लेकिन मालूम होता है कि इसमें किसी निजी बदले की भावना नहीं थी, न लूटपाट की बात थी। अदालत बिठाई गयी और वहाँ से 'न्याय' किया गया यानि करनेवाले मानते होंगे कि वे राजकर्ताओं की त्रुटि की क्षतिपूर्ति कर रहे हैं। सामाजिक न्याय तो मिलना चाहिए। राजकीय और कानून की तरह से अगर वह नहीं मिलता है

तो समाज के अंग होकर हम इसकी अनदेखी कर जाए अर्थात अपने विचार से नक्सली बन्धु न्यायदान का पुण्यमय दायित्व ही निबाहते हैं, वे ग्रामवासियों से उनका मंतव्य प्राप्त करके असामाजिक तत्त्वों के दण्ड-विधान की प्रक्रिया पूरी करते हैं। यह आत्म-समर्थन ही उन्हें बल देता है कि वे अपनी जान पर खतरा लें और इस तरह के काम कर गुजरें।

लेकिन उन्हें सोचने का अवसर होना चाहिए कि वे लुक-छिपकर ऐसा क्यों करते हैं। अपहरण करना और आँखों पर पट्टी बाँधकर रात में यह सब कुछ करना क्यों जरूरी होता है? क्या यह उन्हें अच्छा न लगेगा कि गाँव की चौपाल में दिन की धोली धूप में ग्राम पंचायत की खुली अदालत बैठे। अभियुक्त को अपने पक्ष में कहने की खुली छूट हो और पंचायती फैसला विधिसम्मत हो। मैं मानता हूँ कि अगर ऐसा हो तो नक्सली बन्धु प्रसन्न ही नहीं होंगे वरन् जो उनका लक्ष्य है, उस सम्बन्ध में कृतार्थ भी अनुभव करेंगे।

तब क्या उन्हें, वैसे ही परिस्थिति लाने के उद्यम में नहीं लगना चाहिए। यदि उन्हें लुक-छिप कर, डरते हुए अपना काम करना पड़ता है तो स्पष्ट है कि जिस जनमत के बल को वे अपने पक्ष में मानकर वह वहाँ से सामाजिक न्याय प्राप्त करने का दावा रखते हैं, वह मुक्त-बल नहीं है, आतंकित बल है। आतंक की शक्ति तो राज्य के पास उनसे कई-कई गुनी अधिक है। कदाचित् वे मानते होंगे कि जिस आम निर्वाचन द्वारा शासक जन संवैधानिक राजसत्ता पर पहुँचे हैं, वह अन्तिम विश्लेषण में आतंक और प्रलोभन के द्वारा प्राप्त हुआ जनमत का अनुमोदन (सैंक्शन) ही तो है। तब तो और भी उनके लिए सोचने का अवसर है कि उसी हिंसक साधन का उपयोग वे कैसे क़र सकते़ हैं जिसके आधार पर कि वह लोकसत्ता-विरोधी राजसत्ता कायम है कि जिसका वे उच्छेद किया चाहते हैं।

हो सकता है कि प्रचलित निर्वाचन द्वारा पूरे अर्थों में लोक सत्तात्मक शासन प्राप्त नहीं हो पाता है कि आज लोकतन्त्र सम्पूर्ण सामाजिक न्याय देने में असमर्थ सिद्ध होता है। लेकिन क्या इसका उपाय यह नहीं है कि लोकतन्त्र को अधिक लोकतन्त्रात्मक बनाया जाए। हिंसक साधन अपनाने से यह होना असम्भव है। उन साधनों के अपनाने से जाने-अनजाने जो परिणाम आना अनिवार्य है, वह यह कि आतंक और हिंसा का मूल्य बढ़े, उसी का एक सहारा और भरोसा रह जाए, और लोकशाही के नाम पर हमारे बीच में एक तानाशाही खड़ी होती जाए।

मैं मानता हूँ कि सच्चे लोकतन्त्र का रूप अनिवार्यत: पंचायती राज का ही हो सकता है। इसका यह अर्थ नहीं कि ग्रामों की अथवा ग्राम सभाओं की इकाइयों में राष्ट्र बिखर-छितर जाकर केन्द्रहीन हो जाएगा। विकेन्द्रीकरण शब्द में जो यह

अर्थ देखते हैं, वे मानों इतिहास को और सभ्यता को पीछे लौटा ले जाना चाहते हैं। समय पीछे नहीं जाता। उसे तो आगे ही बढ़ना है। अर्थात राष्ट्र के विस्तार की एकात्मक धारणात्मक तक अगर विकास आगे जा सका है तो अब उसे और आगे पूरी मानवजाति की एकात्मकता तक बढ़ना है, लेकिन ग्रामसत्ता ही राष्ट्रसत्ता के लिए ध्रुव और पुख्ता बुनियाद सिद्ध होनेवाली है। दूसरे शब्दों में राजसत्ता के स्थानीय प्रतिनिधि को भी पंचायती अदालत अपने समक्ष पाकर दण्डनिर्णय का विधान कर सकती है। ग्राम जनवाद की पहली इकाई है। जनसत्तात्मक राष्ट्र का उत्स यहाँ है। उस नींव पर खड़ी रचना ही सही अर्थों में गणतन्त्र या लोकतन्त्र कही जाने की अधिकारी होगी। यदि ऐसा नहीं है, तो हम पाएँगे कि केन्द्रित शासन का दारोमदार उत्तरोत्तर दमन और दण्डनीति अथवा शस्त्र-आतंक-नीति के सहारे की आवश्यकता में पड़ता जा रहा है, लोकश्रद्धा का आधार उसके नीचे से शिथिल और जर्जर होता जा रहा है।

क्यों है कि राष्ट्र-राज्य अपने को सुरक्षित अनुभव करने और पड़ोसी के खतरे से बचने के लिए शस्त्रों में ही सुरक्षा खोजने को विवश हैं? क्यों है कि सर्वसत्तात्मक (टोटेलिटेरियम) राष्ट्रों के साथ लोकसत्तात्मक (डेमोक्रेटिक) राष्ट्र भी उस विवशता के शिकार हैं? क्यों अस्त्रों की होड़ जारी है और कोई रास्ता उसके थमने और रुकने का नहीं दीखता है? क्यों है कि मानवहित और राष्ट्रहित में भेद पड़ गया है? क्यों है कि दुनिया जब शान्ति चाहती है तब दुनिया के राष्ट्र सभी युद्ध को झेलने की तैयारी में लगे हैं? क्यों हैं कि मानवजाति की ऊर्जा, सृजनशीलता, रचनाधर्मिता ध्वंस का सामान तैयार करने में नष्ट हो रही है? विधायक कुछ कर पाने का उसके लिए अवसर नहीं है।

इस महाप्रश्न के अन्तर में उतरेंगे तो प्रतीत होगा कि कहीं मनुष्य के सत्ता की कीमत पर ही तो राज की सत्ता खड़ी नहीं की जा रही है। इन दोनों सत्ताओं में यदि मूल में विरोध रहता है तो उस स्वप्न तक कभी पहुँचा जा सकेगा जिसको आध्यात्मिक और भौतिक, पारमार्थिक और आर्थिक, धार्मिक और लौकिक गाँधी और मार्क्स दिशाओं के चिन्तकों ने अपने शब्दों और कृत्यों से स्वरूप देने की चेष्टा की है।

□

दो-राष्ट्र सिद्धान्त को जीवित रखा जा रहा है

मेरठ भुगता भी न था कि अब बड़ोदरा। यह इस या उस नगर की बात नहीं है। न इसे साम्प्रदायिक कहकर छुट्टी पा ली जा सकती है। यह रोग गहरा है इसकी जड़े मानसिकता में है, बाहर जब-तब घटनाएँ फूटती ही रहेंगी, अगर रोग का इलाज उस गहराई पर न होगा। हिन्दू-मुस्लिम सवाल असल में मुस्लिम सवाल है, हिन्दू शब्द नाहक उसमें जुड़ गया है। यानि वह साम्प्रदायिक नहीं, राष्ट्रीय है। द्वि-राष्ट्र सिद्धान्त को देखते वह सवाल अन्तरराष्ट्रीय है।

पाकिस्तान मानता है कि दो-राष्ट्र के सिद्धान्त पर उसने हिन्दुस्तान से पाकिस्तान को जीता है। हिन्दुस्तान का मानना है कि हमारा ईमान 'सेक्युलरिज्म' था, है, और रहेगा। धर्म को हम राष्ट्र की बुनियाद नहीं मानते। सब धर्मों के नीचे बुनियाद इंसानियत की मानते हैं और इसलिए भारत का राज धर्म-निरपेक्ष है, जिसका आशय है कि सब धर्म उसके लिए समान आदर के पात्र हैं।

फिर भी विभाजन तो भारत की राष्ट्रीय काँग्रेस की स्वीकृति से हुआ। मुस्लिम लीग, जिसने पाकिस्तान की हुकूमत पाई, काँग्रेस को 'हिन्दू काँग्रेस' गरदानती थी। यानी उसके हिसाब से बाकी बचा भाग हिन्दू (काँग्रेस) राज्य के लिए रह गया। उसके तर्क से अगर पाकिस्तान मुस्लिम देश हैं तो भारत को हिन्दू देश रहना चाहिए।

दो-राष्ट्र सिद्धान्त

वह दो-राष्ट्रवाला सिद्धान्त विभाजन के बाद बीत नहीं गया है। पाकिस्तान में उसे जिन्दा रखा जा रहा है। इतना ही नहीं, उसे इस तरह सुलगाए रखा जाता है कि जरूरत पर वह भड़क भी सके। हाल में हुई दक्षिण एशिया की सुरक्षा के प्रश्न पर सम्बद्ध देशों की गोष्ठी से, जिसे पाकिस्तान ने बुलाया था, यह बात और स्पष्ट हो जाती है।

पाकिस्तान का यह तर्क उस आर.एस.एस. को मान्य होगा जिसे भारत के

मुस्लिम बन्धु अपना शत्रु नम्बर एक मानते हैं। आगे उसका कहना होगा कि मुस्लिम भारत में क्यों भारतीय बनकर नहीं रह सकता? वह विदेशी नहीं, स्वदेशी है। हिन्दी है, और हिन्दू (भी) है। काँग्रेस, जो स्वतन्त्रता से आज दिन तक राष्ट्र के शासन पर रही है, (तीन वर्षों को छोड़) मुसलमान को गैर-मुल्की मानने को तैयार नहीं, वह उसको मानपूर्वक और सन्तुष्ट रखना चाहती है।

अब भारत के मुस्लिम भाई को अपने बारे में सोचना और निर्णय कर लेना है कि क्या वह पाकिस्तान के दो-राष्ट्र वाले सिद्धान्त में सहानुभूति रखता है? उसके व्यवहार से मालूम ऐसा ही होता है। अभी जनाब शाहबुद्दीन के साथ कुछ संसद-सदस्यों का बयान निकला है। श्री शाहबुद्दीन जनता पार्टी के पदाधिकारी हैं। दूसरे अन्य राजनीतिक पार्टियों के सदस्य हैं। लेकिन इस्लाम की कड़ी उनके बीच ज्यादा पक्की है, दल की वफादारी उतने महत्व की नहीं है। इससे और दूसरे प्रकार के मुस्लिम व्यवहार से मालूम होता है कि भारत की सामान्य राष्ट्रीयता में मुस्लिम वर्ग मिलने-जुलने को तैयार नहीं है, बल्कि अपना अलग अस्तित्व बनाये ही रखना चाहता है। दूसरे शब्दों में द्वि-राष्ट्र सिद्धान्त को पूरी तरह से वह हाथ से जाने देना नहीं चाहता है।

ठीक यहीं दुविधा की स्थिति है जिसने घपला पैदा किया हुआ है। इस्लाम बड़ा धर्म है। मुस्लिम दुनियाभर में फैले हैं, लेकिन और कहीं ऐसी समस्या नहीं है। चीन में है, रूस में है, लेकिन और कहीं ऐसी समस्या नहीं है, लेकिन वहाँ के लोकजीवन में वे हिले-मिले हैं। मजहब की उन्हें खुली आजादी है, पूरी रक्षा की, लेकिन नागरिकता में भेद नहीं है। अन्यान्य के लिए अगर एक पत्नी का विधान है तो मुस्लिम उससे बाहर नहीं हैं। उसे नहीं महसूस होता है कि इससे शरीयत पर जब्र आता है। किसी प्रकार की उससे राजनीतिक समस्या पैदा नहीं होती। न उसके लिए, न राज्य के लिए। अलग सुरक्षा, अलग अधिकार का सवाल नहीं उठता।

अँग्रेजों की भूमिका

अगर भारत का मुसलमान और देशों के मुसलमानों से इस मामले में कुछ अलग है, तो कारण यह है कि अँग्रेज ने इरादे के साथ उसे इस तरह अलग बने रहना सिखाया है। मुसलमान यहाँ आये कुछ तसवीह लेकर, कुछ तलवार लेकर। पहले वालों को हर प्रकार का सत्कार मिला। मगर तलवारवाले को संघर्ष का सामना करना पड़ा तो तभी तक जब तक वे आक्रान्ता रहे। बाकायदा गद्दी पर बैठकर इस देश में रच-बसकर यहाँ के वासी होने का इरादा किया तो इस देश ने उसे सबकी तरह हिन्दुस्तानी स्वीकार कर लिया। अँग्रेज आया तो उसे तो यहाँ बसना

न था, सिर्फ दौलत लूटनी थीं। हाकिम बनने पर तो उसे इस नीयत को पूरी करने का सभी तरह का सहारा हो गया। लेकिन उसके राज्य के लिए जरूरी था कि हिन्दू-मुस्लिम को मिलने न दे, उनमें फूट डाले रखे। साथ रहने-बसने से स्वभावतया जो हेल-मेल की प्रक्रिया शुरू हुई थी, उसमें भंग आया। राज के स्वास्थ्य के लिए राष्ट्र में फाँक पैदा की गयी। अन्त में नौबत आयी कि जिन्ना साहब के झण्डे के नीचे मुसलमान ने कहा कि हम अलग कौम है, और जाते-जाते अँग्रेज का पल्ला पकड़ा और अलग घर (होमलैण्ड) बसाया।

नहीं, कौमें अलग नहीं थीं। क्योंकि नए बने पाकिस्तान में जिन्ना साहब को वही कहना पड़ा जो यहाँ भारत में कहा गया। यानी कि राज्य सबको सुरक्षा देगा और धर्म का भेदभाव नहीं होगा। पाकिस्तान की विधान-निर्मात्री समिति में हिन्दू भी शामिल था। विभाजन का आधार जो भी चाहे रहा हो, हुकूमते बँट जाने पर जाप्ते के तौर पर दोनों तरफ माना गया कि हिन्दू या मुस्लिम दोनों देशों के एक-से नागरिक हैं, गैर नहीं हैं।

लेकिन गैरियत तो बावजूद दोनों तरफ के दावे के पैदा हुई और लगातार बढ़ती ही चली गयी। क्या महासंहार हुआ अलग होते वक्त कि उसकी याद करते ही जी काँपता है। अगर अब भी दो कौमोंवाली बात धधकाए रखी जाती है तो हश्र क्या होगा, खुदा जाने!

तथ्यों का सामना करना होगा

हमें कठोर तथ्यों से बच निकलना नहीं है। उनका सामना लेना होगा। पाकिस्तान पड़ोसी देश है। पड़ोसी है, इसलिए दस तरह के सम्बन्धों के सवाल आएँगे और उन्हें कुशलता के साथ निपटना होगा। स्वतन्त्रता के इन पैंतीस वर्षों के दोनों देशों का इतिहास परस्पर मीठा नहीं रहा है। गलतफहमियाँ ही नहीं रहीं, लड़ाइयाँ भी होती रही हैं। लेकिन हर लड़ाई को खत्म होना पड़ता है, उसे कायम रखा नहीं जा सकता है। जिया साहब यहाँ प्रधानमन्त्री से मिले थे और फलस्वरूप अधिकारियों की आपस में बातचीत चल रही है। आशा करनी चाहिए कि नतीजा निकलेगा और अच्छा निकलेगा। सवाल यही है कि दोनों के आपसी सम्बन्धों में किसी तीसरे देश का हस्तक्षेप न हो।

यहाँ का हिन्दू-मुस्लिम प्रश्न राजनीतिक अन्तरदेशीय और अन्तरराष्ट्रीय परिस्थिति से जुड़ा हुआ है, मगर राजनीति के पास इसका इलाज नहीं है। 'सुलह कुल मसलहत' चलती रह सकती है। कूटनीतिक सम्बन्ध रखे जा सकते और चर्चाएँ बढ़ायी जा सकती हैं, लेकिन दिल साफ न हो, तो सुलह कागज पर हो भी जाए, असल में नहीं हो पाएगी।

अब इलाज के दो ही तरीके हैं। एक तरीका है जिसमें भरोसा पुलिस और फौज की ताकत में रखा जाता है। हम जानते हैं कि पुलिस के बूते दंगों की सम्भावना खत्म नहीं हुई। फौज के भरोसे लड़ाई छिड़ी तो फिर उसका सिलसिला कभी खत्म नहीं हुआ। दूसरा तरीका हिंसा की जगह अहिंसा का है।

उस तरीके को गाँधी ने अजमाया था। उसमें पहली बात तो सही थी कि किसी तीसरे को बीच में न लाया जाए। बीच-बचाव के लिए तीसरे को बिठाकर बन्दर-बाँट करवाने में खैर नहीं है। लेकिन सबसे बुनियादी बात अहिंसा के मार्ग पर जो गाँधी जी ने की वह थी सायं-प्रात: में प्रार्थना : 'ईश्वर अल्लाह तेरे नाम।'

यह तरीका गुरु नानक, कबीर और दूसरे सन्तों ने भी अपनाया था। यह तरीका है जिससे मजहब बैरूनी से रूहानी हो जाता है। धर्म मत से ऊँचे उठ जाता है। तब वह तफकी नहीं डालता, मेल में लाता है। अन्यथा राजनीति 'सेक्युलरिज्म से आगे या अलग नहीं जा सकती है।' और साफ है कि दुनियावी खिंचाव सदा कमजोर ठहरेगा।

□

बढ़ती औद्योगिक समृद्धि और घटता मनुष्य

वर्ष 81 बीता और नया वर्ष क्षितिज पर उझक आया है। क्या सम्भावनाएँ लेकर यह उदय में आ रहा है और क्या आशंकाएँ? क्या चुनौतियाँ और क्या विकल्प?

सबसे भयावह आशंका है कि कहीं युद्ध न फूटे और फैलकर सार्वभौम और महाविकराल न बन जाए। बीसवीं सदी ने शुरू से ही राष्ट्रवादों का युद्ध देखा। युद्ध इतिहास में सदा से रहे हैं, पर उनके रूप और विस्तार में बदलाव आते गये हैं। छोटे से वे बड़े बने हैं और क्रमशः राजा और राज्यों से वे राष्ट्रों के युद्ध होते गये हैं। इस सदी के युद्ध राष्ट्र-युद्ध न थे, उन्हें विश्व युद्ध ही कहना चाहिए। दोनों ओर यह था वह राष्ट्र नहीं, बल्कि राष्ट्रों के समूह और गुट थे।

दूसरे विश्व-युद्ध के बाद युद्ध के स्वरूप ने और विस्तार पाया। उसके हेतु में सिद्धान्तवाद (आईडियोलोजी) ने प्रवेश कर लिया। साम्यवादी क्रान्ति रूस में हुई और इस क्रान्ति के लिए आवश्यक हुआ कि वह राष्ट्र में ही नहीं रहे, इधर-उधर सब ओर फैले। यानि राजनीति ने मतवादी धर्म का रूप पकड़ा। इसने भी एक इल्हामवाद का रूप लिया। मार्क्सिज्म जीवन दर्शन, समाज-दर्शन, और राजदर्शन बना। उसमें बाद में लेनिनिज्म और माओईज्म जुड़ा। शनैः-शनैः इस इज्म ने एक बड़ी छावनी का विस्तार पकड़ा।

उधर प्रतिपक्ष लोकतन्त्र नाम की व्यवस्था विधि ने मोर्चे की शक्ल अख्तियार की और मुकाबले में अब वह भी संगठित छावनी के रूप में समक्ष है।

दो महाशक्तियाँ

रूस और अमरीका अब सिर्फ दो राष्ट्र नहीं हैं। वे दो महाशक्तियों के प्रतीक और पुंज हैं।

इसलिए, युद्ध क्योंकि अब राजनीतिक सिद्धान्तवाद का आधार पा गया है। उसमें अब दाया-बाया की तनिक भी गुँजाइश न होगी। वह होगी तो इस कदर यान्त्रिक और मशीनी होगी कि लाखों-करोड़ों जनों की कीमत लेने और देने का

कुछ महत्त्व न रह जाएगा। मानसिकता दोनों ओर सन्तुष्ट होगी कि यह सब उचित है और मानवजाति के भविष्य की सुरक्षा के लिए किया जा रहा है। उस युद्ध के नेता आश्वस्त होंगे कि उनका साध्य शान्ति है, केवल साधन में युद्ध है। शान्ति के अभीष्ट के लिए आ गये युद्ध को इसलिए अनिष्ट नहीं, इष्ट ही मानना चाहिए।

यह आशंका है लेकिन गत वर्ष के बीते-न-बीतते सोवियत संघ ने संकेत दिया है कि वह रीगन के साथ शिखर-वार्त्ता के लिए तैयार हैं। दोनों ओर से शस्त्रास्त्र की कटौती और परिसीमन के अलग-अलग प्रस्ताव आते हैं, जो एक-दूसरे को अधिकांशतः मान्य नहीं होते, लेकिन यह संकेत अवश्य देते हैं कि दोनों पक्षयुद्ध को टालने और शान्ति की रक्षा के लिए समझौते पर पहुँच जाना चाहते हैं। चर्चाएँ हुई हैं, हो रही हैं, और होगी, और क्या ही शुभ हो कि यह नया वर्ष उन्हें सफल बना सकें

पर अत्यन्त उन्नत औद्योगिकी और यान्त्रिकी ने कुछ ऐसी विवशताएँ मानवता की काया में भर दी हैं कि सम्भावना से आशंका का ही पलड़ा भारी रहता है। परमाणु अस्त्रों की बढ़वारी रुक नहीं रही है और यह समझ में आना मुश्किल है कि उन्हें इसीलिए बनाया जा रहा है कि वे खुद काम न आए, बस युद्ध को रोके रखने का काम निबाह दें। दोनों प्रतिस्पर्धी महाशक्तियों में विचारणीय बिन्दू है इस समय डेटेरेण्ट (अवरोधक) की मात्रा के निर्णय की जरा भी ऊँच-नीच बर्दाश्त न होगी। अलग-अलग अस्त्रों की मारक क्षमता का हिसाब जब भी जोड़ा जाता है। थोड़ी-बहुत ऊँच-नीच निकल ही आती है। इसलिए अस्त्र निर्माण के होने का अन्त कहीं आता दिखता नहीं है।

शान्ति आन्दोलन

नए वर्ष के उदय के साथ यादि यह विभीषिका जुड़ी है तो सन्तोष यह है कि शान्ति-आन्दोलन, विशेषकर पश्चिम के देशों में, बल पकड़ते जा रहे हैं। इतना कि वहाँ के राजनीतिकों के लिए उनको नजरन्दाज करना असम्भव नहीं है। बस शान्तिवादियों के समक्ष कठिनाई यह है कि विश्व के जनमत को, जो निश्चय ही शान्ति के पक्ष में है, राष्ट्र के माध्यम से वहाँ की राजनीतियों में कैसे प्रबल और अप्रतिरोध्य बनाया जाए।

सन 82 का वर्ष चलते-चलते नये वर्ष के लिए एक शुभ सूचना यह दे गया है कि उद्योगवादी तिलस्म पर भरोसा नहीं रखा जा सकता। विकसित देश हठात् आयी मन्दी से चिन्तित है, और उन्हें आवश्यक प्रतीत होता है कि खपत को कायम रखने के लिए विकासशील देशों को अधिकाधिक पैसा मुहय्या करे। अन्यथा स्वयं उनके उद्योग ठप्प हो जाएँगे। आशा करनी चाहिए कि यह गया वर्ष

पूरी तौर पर स्पष्ट कर देगा कि उत्पादन और खपत के सन्तुलन के प्रति निरपेक्ष होकर जो यान्त्रिक उद्योगवाद चल रहा है, वह निर्धनता और बेकारी के प्रश्न को हल नहीं करता, उलटे जटिल ही बनाता है।

ये आशंकाएँ और आकांक्षाएँ है। माँग किन्तु विकल्प की है। एक दल अथवा अनेक दलवाली राजव्यवस्था यानि इक्के-दुक्के जगह की सैनिक सत्ता, सब असफल और अपर्याप्त सिद्ध हो गयी है। कहीं स्थिरता नहीं है, सुरक्षा की प्रतीति नहीं है। समाजवाद के विचार ने आशाएँ दी थीं, वे झूठी पड़ गयी है। प्रचलित सभी शासन विधियाँ कसौटी पर कसी जा रही है और युद्ध की तैयारियाँ स्वयं प्रमाण है कि वे मानव प्रकृति के अनुकूल नहीं हैं, भविष्य उनसे बचनेवाला नहीं है।

वैज्ञानिक उत्कर्ष

यह नया वर्ष मनुष्य के सामने वे सब विभ्रातिंयाँ लेकर खड़ा है जो विज्ञान के उत्कर्ष ने सम्भव की है। लेकिन यह अनुभव भी अस्त होते-होते गत वर्ष उसे दे गया है कि यह असल नहीं है। मशीनें अवश्य बढ़ी है, पर मनुष्य को शायद घटा गयी है। मानव के आपसी सम्बन्धों में स्निग्धता समाप्त हो गयी है, रगड़-झगड़ अनिवार्य बन गयी है। वहीं से जो ताप और उत्ताप पैदा होता है उसके ही बादल घने होकर मानव जाति के ऊपर काले विकराल काल के रूप में बने और छाये हुए हैं।

यह सन् 83 का नूतन वर्ष चेतावनी देता है कि हम नई बुनियादें दे जिसके ऊपर खड़ी समाज-रचना मनुष्य को स्वस्ति, सुख और शान्ति उपलब्ध करा सकें।

□

गति के वेग में प्रेम पर पैसे की महत्ता

धर्म विज्ञान के बिना लंगड़ा है और विज्ञान धर्म के बिना अँधा—यह उक्ति और किसी की नहीं परम वैज्ञानिक आइन्सटाइन की है। दूसरे शब्दों में विज्ञान के पास दृष्टि नहीं, मगर गति है। यह गति तीव्र से तीव्रतर होती गयी है। पिछले सहस्रों वर्षों में उतनी उन्नति न हुई होगी, जितनी विज्ञान की गति दो सदियाँ में मानव ने की है, बल्कि उन डेढ़ सौ सालों से अधिक गत पाँच दशकों में उन्नति का वेग कहीं तीव्र रहा है।

गति होती जाए और दृष्टि न हो तो फल क्या होगा? अन्त क्या होगा? शायद उसी फल और अन्त तक वैज्ञानिक गति ने हमें ला पहुँचाया है। विज्ञान के समक्ष उसी के उत्कृष्ट-फल का भूत आ खड़ा हो गया है।

विज्ञान यान्त्रिकी का नाम तो नहीं था। वह तो सिर्फ बाइप्रोडक्ट था। यन्त्र के सहारे उत्पादन बढ़ा और वह मनुष्य की आवश्यकता से निरपेक्ष होता चला गया। इस प्रकार औद्योगिकी का विकास हुआ और उत्पादन की विफलता अब इस बिन्दु पर आ गयी है कि मन्दी और खपत से उसका तालमेल बिल्कुल टूट गया है। अमीरी है और गरीबी है। एक शिखर है, दूसरा पाताल, और दोनों के बीच समझ नहीं है, सेतु नहीं है, बस, भयावह खाई है।

विज्ञान को समर्पण

दो-ढाई सदी पहले मनुष्य ने अपने को और अपने भाग्य को विज्ञान के हाथों सौंप दिया। धर्म उसे अपर्याप्त हुआ और लगा कि वह बुद्धि का साथ नहीं दे पाता है। यह जिस गन्तव्य की बात करता है। वह कहीं है नहीं और आँखों के सामने जो फैला हुआ वस्तु जगत है, उसके समक्ष धर्म सर्वथा निर्बल और निरर्थक पड़ जाता है। शनैः शनैः धर्म मनुष्य के जीवन में से केन्द्रच्युत हुआ और विज्ञान ने वहाँ आसन जमाया।

विज्ञान में उससे तेजी तो आयी और प्रगति भी होती मालूम हुई, पर जैसे

जीवन का आशय मनुष्य के पास से खोता भी चला गया। पदार्थ-जगत की बहुतायत ठीक, वैभव ठीक, पर यह सब किसलिए? मानो विज्ञान से उपलब्ध ऐश्वर्य पाकर मनुष्य अपने से पूछ उठा कि अब?...मालूम हुआ कि इस 'अब?' का उत्तर कुछ नहीं है। विपुलता की सफलता स्वयं वैपुल्य में नहीं है तो कहीं नहीं है। सम्पत्ति का भोग स्वयं सार्थक नहीं है तो फिर उसका अर्थ भी कहीं नहीं है।

इस प्रश्नाकुल स्थिति में पहुँचकर मनुष्य ने हठात अनुभव किया कि नही, इसमें रस है, केवल व्यर्थता ही नहीं है, यद्यपि रस तीखा है। सामनेवाला मेरे बराबर क्यों है? मेरे अधीन क्यों नहीं है? जब वह मुझसे अधिक हैं तो क्यों अधिक है? मैं कम हूँ तो क्यों कम हूँ? सुख-भोग ने यह तुलनात्मक बुद्धि आदमी में पैदा की और उस रस के लिए यह आवश्यक हुआ कि एक के पास हो, दूसरे उससे वंचित रहे। सफल के लिए सफलता का रस इसमें प्रतीत हुआ कि वह दूसरे को निष्फल करे। मद में रस है, मत्सर में रस है, अपने को ऊपर और दूसरे को नीचे पाने में रस है। यह द्वन्द्वात्मक रस उसे उभारे रख रहा है।

इस रस के चाव में गति निरन्तर तेजी पकड़ती जा रही है और शस्त्रों की होड़ आवश्यक हो आयी है।

इस तमाम गतिवेग में स्थिति का क्या हाल हुआ है? मालूम होता है कि स्थिति विचलित हो आयी है। वह खतरे में ही पड़ी जा रही है।

आदमी है तो स्थिति में है। लेकिन जीने के लिए गति आवश्क है। इन दो के बीच वह जीता और चलता रहा है। स्थिति के लिए घर-परिवार है, गति के लिए दफ्तर-दुकान। दफ्तर-दुकान से आय लेता और घर-परिवार में उसका व्यय करता है। यानी गति सब स्थिति की पुष्टि के लिए है। किन्तु गति की तीव्रता से घर-परिवार क्षीण हुआ है और बाजार खूब फैलता गया है। 'वसुधैव कुटुम्बकम' की बात नहीं रह गयी है। मालूम होता है कि वसुधा के कुटुम्ब नहीं, बाजार है और वहाँ सब सौदे और पैसे का खेल है।

परिवार का केन्द्र बिन्दु

घर-परिवार के केन्द्र में थी स्त्री। वह माता थी। गृहिणी थी। गति वेग में स्थिति को थामनेवाली स्त्री केन्द्र से मानो अब परिधि पर फिंक आयी है। बुद्धि के साथ स्त्रीत्व की क्षमता मिलाकर अगर वह आदमी की बराबरी और मुकाबले में नहीं आ जाती है तो उसके-लिए जगह सिर्फ हाशिए पर है। गति के वेग में अनिवार्य तौर पर पैसे का चलन तेज हुआ है, और पैसा खूब बढ़ता भी गया है। जिस चीज को हरा कर पैसे ने अपनी महत्ता स्थापित की है वह था एक अनावश्यक

तत्व जिसे प्रेम कहते थे। प्रेम मूल में काम के सिवा क्या है? कामना की तृप्ति का साधन यदि पैसा है तो क्या कुछ नहीं है? सब कुछ जो बाजार में है सो पैसे के अधीन ही तो है। विवाह बंधन है। परिवार बन्द दायरा है। उसमें घिर कर कैसे रहा जा सकता है? कामनाओं को सीमित करके आदमी क्या खुद ही सीमित नहीं होता? इसलिए पैसे के बल पर कामनाओं को मुक्त होने दिया जा सकता है और फिर उनकी भरपूर तृप्ति पा ली जा सकती है। सब कुछ पण्य है। 'लेबर' खरीदी जा सकती है और अन्य भोग्य सामग्री के साथ भोग्या भी खरीद में प्राप्त की जा सकती है!

अगर उन्नति इस जगह पर आ जाती है, आ गयी है, तो इसमें 'उन्नति' का कोई दोष नहीं है। उसके अन्तर्गर्भ में ही इसका तर्क निहित था। मैं मानता हूँ कि विज्ञान ने वस्तु-परक यह वृत्ति दी और बतलाया कि इससे भिन्न आत्मपरकता अवास्तव है। किन्तु अब अनुभव किया जा रहा है कि कहीं हम विज्ञान के अर्धवृत्त को ही कहीं पूर्ण वृत्त नहीं मान बैठे थे। क्या आर्थिक स्वतन्त्र है? उद्योगवाद स्वच्छन्द हो सकता है? यान्त्रिकी अपने में ही समर्थित मान ली जा सकती है? या कि सब को किसी अन्य सन्दर्भ की आवश्यकता है और उस सन्दर्भ के बिना यह सब कुछ संदिग्ध बन जाता है? समाज को और जीवन को स्वस्थ बनाने की जगह उस सन्दर्भ के अभाव में यह सब कुछ बिखरकर मानो अर्थशून्य ही बना दे रहा है।

विज्ञान की विवंशता

प्रतीत होता है कि विज्ञानयुग अपने चरम पर स्वयं वैज्ञानिक के निकट संदिग्ध बना जा रहा है। कारण, मनुष्य अपने हाथ में न रहकर सर्वथा किसी अपर शक्ति के हाथ विवश बना जा रहा है। ईश्वर की धारणा के नीचे वह अपने को बचा हुआ अनुभव करता था। अभी तो जैसे वह निरा आखेट है। वह मूढ़ताएँ थीं, धर्म-संस्था के कारण और इसलिए शोषण की प्रणालियाँ भीषण थी, लेकिन इस सबकी एक सीमा थी। अब तो शोषण सार्वभौम बना दीखता है और मूढ़ताएँ विज्ञान के नाम पर चलती है, उन्हें मूढ़ता समझने का अवसर ही समाप्त हो जाता है।

मनुष्य अपनी जगह एक अद्भुत यन्त्र है। उसकी बराबरी का यन्त्र कभी न बन पाएगा। इसलिए उसमें डालने को चेतना बाहर से खरीद में न आ सकेगी। इस मानव यन्त्र का तिरस्कार करके अगर किसी आरोपित यान्त्रिकी को सार्वभौम प्रभुता दे दी जाती है तो परिणाम इसके सिवा दूसरा नहीं आ सकता कि मनुष्य मशीन का कलेवा बन जाए।

राष्ट्र की और विश्व की राजनीति राज्य केन्द्रित है, विज्ञान केन्द्रित है। इतने

से समाधान नहीं मिलेगा। विज्ञान का उपयोग है और राज्य-व्यवस्था का भी, लेकिन उपयोगिता तभी तक है जब तक विचार के केन्द्र में मनुष्य है। यह मानवाभिमुखता स्वीकृत होगी तभी यह सभ्यता स्वस्ति दे पाएगी नहीं तो अभी उसका रुद्र रूप मनुष्य को आतंकित ही किए दे रहा है।

□

काँग्रेस के लिए रुख बदलना सर्वथा जरूरी

गणतन्त्र दिवस पर राष्ट्रीय पर्व दिल्ली में पारंपरिक धूमधाम से मनाया गया। प्रदर्शन हुआ राष्ट्र की शक्ति का और उस संस्कृति का जो विविध रूप होकर भी मूल रूप में एकात्म है।

किन्तु दिल्ली राष्ट्र नहीं है। शक्ति केन्द्रित मानी जा सकती है, दिल्ली में, क्योंकि वह राजधानी है, और राष्ट्र की महिमा-गरिमा का प्रदर्शन दिल्ली विश्व के समक्ष प्रस्तुत कर सकती भी है। यहाँ एशियाड समारोह का आयोजन हुआ, जिसने उसकी व्यवस्था क्षमता को जगत के प्रति प्रमाणित कर दिया। बहुत ही सीमित समय में एशियाई के लिए आवश्यक विराट निर्माण सम्भव कर दिखाया गया। यह कम गौरव की बात न थी। दिल्ली यह सब कुछ कर दिखा सकती है, लेकिन भारत राष्ट्र की स्थिति सन्तोषजनक नहीं है।

राष्ट्र को अब तक सँभाले रखा है उसकी काँग्रेस ने। बीच में कुछ समय को छोड़कर केन्द्र में काँग्रेस की अखण्ड सत्ता रही है और अधिकांश राज्यों में भी, लेकिन कुछ समय से निरन्तर उस संस्था का अवमूल्यन होता गया है। हाल में दक्षिण के दो राज्यों के चुनाव से पूरा दक्षिण कांग्रेस प्रभाव से बाहर हो गया है। परिणाम कि दिल्ली में होनेवाले महानगर परिषद और नगर निगम के चुनाव में काँग्रेस 'ई' सफलता के लिए बहुत ही ज्यादा जोर लगा रही है। यह जरूरी है भी, क्योंकि दिल्ली अगर काँग्रेस 'ई' के हाथ से निकल जाती है तो उस पार्टी के शासन को फिर शेष भारत पर सँभाले रखना लगभग असम्भव हो जाएगा।

काँग्रेस का इतिहास

काँग्रेस का इतिहास राजनीति के विद्यार्थियों के लिए बहुत शिक्षाप्रद हो सकता है। स्वराज से पहले और गाँधी के आगमन के बाद भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस राष्ट्र की आत्मा और अस्मिता की प्रतीक बन गई थी। एक समय तो था हिन्दू-मुस्लिम भेद भी राष्ट्रभाव के ज्वार में सर्वथा डूब गया था। यह स्थिति कायम रहती अगर

दुर्भाग्य से नीति के ऊपर राज न आ जाता, किन्तु शासक अँग्रेज था और दूरदर्शी था। अँग्रेजी शिक्षा देश के मानस में रचा-बसा दी गई थी। गाँधी के प्रभाव से राजनैतिक काँग्रेस को नैतिक अधिष्ठान मिला और देखते-देखते काँग्रेस महाशक्तिशाली संस्था बन गयी। अँग्रेजी साम्राज्य जिन खम्भों पर टिका था, वे मन से तो गिर ही गये, सचमुच में भी गिरने को आ गये थे। असहयोग की पुकार में काउंसिलों का बायकाट हुआ और बायकाट हुआ अदालतों का भी। स्कूल-कालेजों से लड़के निकले और माँग की उन्होंने अँग्रेजी शिक्षा की जगह राष्ट्रीय शिक्षण की। तब लगता था कि सत्याग्रह का एक हल्ला आया कि बर्तानी राज के पैर उखड़े दीखेंगे। इसमें अत्युक्ति भी न थी। साम्राज्य के प्रतिनिधि वायसराय इर्विन के साथ काँग्रेस की ओर से गाँधी की समानता के स्वर पर बातचीत हुई और पैक्ट गाँधी-इर्विन पैक्ट कहलाया। आगे भी गोलमेज कान्फ्रेंस—यथार्थ में दो पक्षों के बीच समान भूमिका पाने के लिए थी। दूसरे हितों के प्रतिनिधि यदि उसमें ब्रिटिश कूटनीति ने परामर्श में सम्मिलित कर भी लिए। ये तो वे सब वस्तुतः नगण्य ही थे। ऐसे समय मुस्लिम लीग खड़ी हुई, केन्द्र में मिलीजुली सरकार बनी और अन्ततः मुस्लिम होमलैण्ड के नाम पर विभाजन हुआ—यह एक अलग कहानी है। किन्तु निश्चय ही, गाँधी के आने के दिन से स्वराज की प्रतिष्ठा के दिन तक, भारत का भाग्य-निर्णय काँग्रेस के हाथ में रहा, इसमें दो मत नहीं है।

शक्ति का स्रोत

यह शक्ति काँग्रेस को कहाँ से प्राप्त हुई थी? उत्तर एक ही है। यह क्षमता प्राप्त हुई थी उस सेवा और तप-त्याग के बल पर। उसके समक्ष राज-योग नहीं बस आत्म बलिदान था, और उस मार्ग पर चलकर उसने देश की श्रद्धा उपार्जित की थी।

वहाँ से काँग्रेस अब कहाँ उतर आयी है? वह खण्ड-खण्ड हो चुकी है। काँग्रेस अब कई हैं और सब व्यक्तिपरक नामों से पहचानी जाती है। मुख्यतः काँग्रेस इन्दिरा के नाम की काँग्रेस है और वही शासनस्थ है। कहा जाता है कि इस 'ई' के नीचे काँग्रेस जैसी कोई चीज नहीं है, सब 'ई' ही है। उसके राज्यों में जो होता है दिल्ली में बैठे उस संकरे मण्डल द्वारा होता है जो 'ई' के विश्वस्त और निकटस्थ है। काँग्रेस राष्ट्र थी, अब वह व्यक्ति है। स्थिति अगर वहाँ से यहाँ तक आ गयी है, तो कारण मात्र एक रहा है, और वह कारण है। सत्ता की भूख। सत्ता की यह भूख सत्ता तक उठा ले जा सकती है, तो रसातल में भी गिरा दे सकती है। यह समझ जब-जब राज को राजपद में विस्तृत हो गयी है,

तब-तब उसे यह परिणाम भोगना ही पड़ा है।

दक्षिण में कर्नाटक और आन्ध्रप्रदेश के चुनाव का फल का परिणाम अगर देश में स्वच्छ और सात्विक राजनीति का उदय न हो सका, तो सिवा इसके कुछ न आएगा कि उस क्रम में प्रदेशवाद फैले और देश की एकता बिखरे और टूटे।

राष्ट्रीय छवि

यदि यह नहीं होने देना है, और किसी भी हालत में यह नहीं होने देना चाहिए, तो सर्वथा आवश्यक है कि काँग्रेस अपना रुख बदले। कारण, वही एक दल है जिसकी छवि राष्ट्रीय है। इन्दिराजी मात्र एक वह व्यक्ति है जिनकी छवि राष्ट्रीय है। राष्ट्र अपनी एकता के उस प्रतीक से सहसा वंचित हो जाए यह अशुभ होगा। तब देश को टूटने से बचाने का कोई उपाय न रह जाएगा। किन्तु काँग्रेस, चाहे इन्दिराजी के बावजूद और चाहे तो इन्दिराजी के कारण, लोकतांत्रिक नैतिकता के मान से सर्वथा गिर गयी है। कठिन होगा यद्यपि काँग्रेस को नैतिक मानो पर पुनः प्रतिष्ठित करना, पर इसके सिवा और दूसरा उपाय भी नहीं दिखता है।

जिस ढंग से दिल्ली में चुनाव अभियान चलाया जा रहा है, उससे प्रतीत होता है कि काँग्रेस को उस नैतिक और राजनीतिक संकट की अनुभूति नहीं है जिसमें देश आ पड़ा है। बुनियादी कुछ ऐसा होना चाहिए जिससे देश जाने की सत्ता की भूख नहीं रह गयी है, जो काँग्रेस को अब चलायेगी। अच्छा होता है कि दिल्ली के चुनाव नागरिक स्तर पर होते और राजनीतिक पार्टियाँ उसमें फँसती ही नहीं। अगर काँग्रेस (ई) दूसरों के लिए यह पथ प्रदर्शन करता तो स्वयं उसके लिए बहुत हितकर होता, पर यदि अपने रुख में काँग्रेस यह कल्पनाहीनता ही प्रदर्शित करती जाएगी, तो मालूम नहीं आगे क्या होगा? राजनीति के चरित्र में संस्कार न आया तो देश के भाग्य में दुर्दिन देखना बदा है।

□

खर्चीले चुनाव की राजनीति कहाँ ले जाएगी ?

'गाँधीजी ने गाँधी को जगा डाला है। हमने तो सुलाने की चेष्टा की थी। दिल से निकालकर उसे बुस्तें और इमारतों में चिनकर अर्घ्यदान किया था। गाँधी कभी था और उसे सम्मानपूर्वक अतीत का ही बना रखने में हमने खैर मानी, लेकिन लगता है कि जहाँ 'गाँधी' फिल्म दिखाई जाएगी वहाँ ही नहीं, बल्कि धीरे-धीरे गाँधी की आग सारे विश्व में फैले न रहेगी। कारण, दुनिया राजनीति की गतिविधि से परेशान है। राजनीति अनिवार्य तो है पर उसका वह रुख लोगों को याद है जो गाँधी युग से सम्भव हुआ था। भारत तो उसकी कर्मभूमि रहा है, लेकिन दुनिया के कोने-कोने तक उसकी खबर पहुँची थी और लोगों को सान्त्वना प्राप्त हुई थी जो शासन के नीचे और शासन के प्रति रहने को बाध्य है और जो प्रजाजन कहलाते हैं।

हमने माना था कि राजा और प्रजा शब्द मध्यकाल में ही छूट गये हैं। हाँ, शब्द बदले है लेकिन क्या यथार्थ भी बदला है ? लोकतन्त्र में क्या लोक तन्त्राधीन ही नहीं है ?

लेकिन नहीं, अन्तर आया है। तलवार की ताकत अगरचे बीती चीज नहीं है तो भी एक बड़ी ताकत खड़ी हुई है—वह वोट की ताकत है। इस ताकत को आदमी से दूर की नहीं कह सकते और न वह हिंसा की है, लेकिन वह है और उसका प्रभाव समक्ष है।

आँध्र में नई शक्ति

आँध्र में उस शक्ति के दर्शन हुए हैं। एन. टी. रामाराव को उठे अधिक दिन नहीं हुए थे। राजनीति में तो उनका पता ही नहीं था, लेकिन सहसा वह आए और कहा कि उनका प्रवेश ऊपर के शासन के लिए ही नहीं है, वह स्वयं भी कुछ है। तेलुगुदेशम नई जन्मी पार्टी थी। संगठन विशेष न था, न साधन ही थे। उधर काँग्रेस (ई) की विशाल संस्था और सत्ता थी, लेकिन मालूम होता है कि काँग्रेस

की ओर से किया गया अन्धाधुन्ध सब ओर बेतहाशा प्रचार ही तेलुगुदेशम के काम का आ गया। रामाराव दल की अनूठी जीत हुई और रामाराव वहाँ के मुख्यमन्त्री की हैसियत से दिल्ली आए तो मालूम हुआ कि यद्यपि आन्ध्र की अस्मिता की प्रतिष्ठा उनके लिए आवश्यक थी। किन्तु देश के हित में है और देश के एकीकरण में उसे बाधा नहीं इतना है अर्थात् वहाँ से क्षेत्रीयता के प्रसार की आशंका करने की आवश्यकता नहीं है।

किन्तु श्री रामाराव के रूप में राजनीति में एक नये तत्व का प्रवेश होता है। गाँधी के पास से 'रामराज' शब्द आया था। यह शब्द लम्बे युग के बाद इन मुख्यमन्त्री के मुँह से देश को फिर सुनने को मिला, अन्यथा डिमोक्रेसी और सोशलिज्म की गुँज-अनुगूँज है जिनको सही तौर पर देश समझ नहीं पाता। कदाचित वे धारणाएँ आयातित और विदेशी है। 'रामराज' विज्ञान सम्मत न हो, पर भारत के हृदय के निकट है। राष्ट्र-राज्य की कल्पना विदेश से भारत को मिली है। राष्ट्र के रूप में भारतवर्ष इतिहास के आरम्भ से ही जीता आया है। राज्य के सहारे की उसे आवश्यकता नहीं है। राजा लोग अनेकानेक इसकी काया में रहते गये और लड़ते-झगड़ते रहे हैं, इससे भारतवर्ष का विशेष कुछ बना बिगड़ा नहीं है। ऋषियों, मनीषियों ने जिन मूल्यों की साधना की और समाज में प्रतिष्ठित किया, उनके आधार पर भारतवर्ष की आत्मसत्ता अक्षुण्ण रहती गई है।

किन्तु अब संकट अनुभव हो रहा है-भ्रम हो रहा है, केन्द्र का क्या होगा? क्षेत्र स्वायत बनेंगे तो केन्द्र क्या दुर्बल न होगा। दक्षिण काँग्रेस (इ) के प्रभाव से स्वाधीन हुआ है—काँग्रेस (इ) देश की एकता की प्रतीक थी और है। यदि उसका वर्चस्व खिसकता है तो क्या केन्द्र में शून्यता नहीं हो जाएगी।

राजनीति को प्रधानता

यह शंका और ये संकट इसीलिए अनुभव हो रहे हैं कि हम राजनीति को बहुत प्रधानता देते आए। दिल्ली में चुनाव अभी होकर चुका है और उसके परिणाम की प्रतीक्षा है। भारी खर्च हुआ है इस चुनाव में। काँग्रेस (ई) को निश्शंक भाव से श्रेय दिया जा सकता है। इस बात का कि चुनाव बेहद खर्चीले हो गए है खबर है कि पत्र, पोस्टर और झंडियों पर ही सिर्फ चार करोड़ रु. काँग्रेस (इ) ने खर्च किया—इस हिसाब से प्रति सदस्य पच्चीस लाख से भी अधिक रुपया काँग्रेस औसत खर्च का अनुमान तो वो गलत न होगा। यह राजनीति देश में कब तक सँभल पाएगी? यदि यह सब देखते कांग्रेस (इ) का भाग्य दिल्ली चुनाव से तो बहुत चमकता हुआ न दीखे तो विशेष विस्मय की बात न होगी।

फिर क्या होगा? यह प्रश्न देश के समक्ष है। मैं मानता हूँ, कि ऐसे समय

गाँधी की याद उसकी जाग हमारे लिए अवलम्बन का काम दे सकेगी। गाँधी ने अलग-अलग किसी नैतिकता अथवा आध्यात्मिकता की सिखावन लोगों को नहीं दी थी।

नित्यप्रति के व्यवहार में नैतिक और अध्यात्म के मूल्यों को संगत करके दिखाया था। बताया था कि राजनीति शक्ति है तो नीतिजन्य। वैसा अधिकारत: उनका है जो उससे वंचित है क्योंकि वहीं है जो श्रमशील हैं। सत्ता सेवा के लिए है और उसकी प्राप्ति के आधार में प्रेम ही है। राजनीति वह लूली है जो अपने आधार को नहीं पहचानती और उसके प्रति अपने कर्तव्य में चूकती है। गाँधी ने देश और विश्व के समक्ष प्रमाणित किया था कि मानव की आत्मसत्ता है जिसे राजसत्ताओं द्वारा मानव जाति को सिद्ध करना है। अन्यथा सत्ता स्वयं में समर्थित नहीं है। गाँधी ने संकेत दिया था कि स्वाधीनता के चलते-चलने काँग्रेस को कि वह सेवा का मार्ग न छोड़े और सत्ता के फेर में न पड़े। उसे यह नहीं भाया और काँग्रेस राज्य पर बैठकर गाँधी को कदम-दर-कदम भूलती चली गयी। यह अन्तर्विरोध स्वयं उसको और देश के लिए भारी पड़ता जा रहा है, और आशा है कि राजनेताजन शासनस्थ या कामकाजी से आगे सोचेंगे कि राजनीति को मानवीय कारण के अनुकूल यदि बनाया जा सकता है, तो कैसे?

□

धर्म राजनीति को स्वच्छ बनाने में सहायक

शुभ माना जाना चाहिए यह कि दिल्ली निर्वाचन में नगर निगम और महानगर परिषद दोनों सदनों में इन्दिरा काँग्रेस को स्पष्ट बहुमत द्वारा पूर्णाधिकार पाने में सफलता प्राप्त हुई है। शुभ इसलिए कि दिल्ली में इन्दिराजी का प्रभाव शिथिल पड़ जाता तो देश के केन्द्र में शून्यता की स्थिति पैदा हो जाने की आशंका थी। आशंका पूरी तरह दूर तो अब भी नहीं कही जा सकती, लेकिन आने वाले आम निर्वाचन में अभी दो बरस का समय है, और राष्ट्र आशा रख सकता है कि इस अन्तराल के समय का इन्दिराजी जो प्रधानमन्त्री के साथ काँग्रेस दल की अध्यक्ष भी है, इस प्रकार लाभ उठा सकेगी कि उनकी छवि जो आन्ध्र और कर्नाटक के चुनावों के कारण काफी धूमिल हो गयी है, सुदृढ बन जाएं और राष्ट्र को स्थिरता प्राप्त हो। कारण, यह सच है कि आज के दिन दूसरा कोई दल या व्यक्ति नहीं है जिसे पूरा देश जानता और मानता हो।

काँग्रेस संस्था महात्मा से महारानी (इन्दिरा) गाँधी के काल तक कहाँ से कहाँ तक उतर आयी है। इस पर चिन्ता अवश्य हो सकती है। गाँधी के समय आध्यात्मिक और नैतिक आदर्शों से उसका संचालन हो सकता था। तब पराधीनता से स्वाधीनता प्राप्त करनी और साम्राज्यवाद की जकड़ से छूटना था अर्थात् तब अनिवार्यतया तप, त्याग और बलिदान अपनाना था। स्वराज की कीमत प्राणों से चुकानी थी। स्वराज आया तो देश की ओर से काँग्रेस ने उसे अपना भाग्य माना। उस राज के संचालन का दायित्व स्वयं स्वीकार किया। यह दूसरी बात है कि गाँधी चाहते थे कि काँग्रेस अपना राजनीतिक स्वरूप समेट ले और राज्य पर जाने की बजाय इस विशाल देश के गाँव-गाँव में फैल जाए? पूरे अर्थों में इस राष्ट्र को पराश्रय से छुड़ा लिया जाए, स्वाश्रय बन दिखायें। यह काम राजपथ से, राज्यशक्ति से नहीं हो सकता था। सामान्य जनता से अभिन्न बनकर उसकी सेवा द्वारा ही सम्पन्न किया जा सकता था। लेकिन राजनीति के क्षेत्र में नेतृत्व ही छोड़ देने की बात कैसे मान्य हो सकती थी, और राजनीति धर्मनीति से तो चल नहीं

सकती थी, इसलिए काँग्रेस को लोकनीतिक (सेक्यूलरिज्म) तक अपने को रखना पड़ा, और राज को प्रधान मान लेने के कारण शनैः शनैः देखा गया कि 'लोक' को और उसके तन्त्र को साधे रखने में नीति क्रमशः छूटी जा रही है, और उत्तरोत्तर अनीति का सहारा लेना पड़ रहा है। किन्तु क्या किया जाता लोक-जीवन में नैतिक क्षमता जैसी चीज तो रह ही नहीं गयी थी। सेवकजन पदों पर जा बैठे थे। लोकमानस में से तप-त्याग के मूल्यों का अवमूल्यन हो गया था। ऊपर राज्य को थामने के लिए नीचे से नैतिक लोकशक्ति का सहारा छूट गया था। इसलिए देश में ही मूल्यों की हानि, समझो उनकी मृत्यु हो चली थी। अनीति के सम्बन्ध में अनीति का बोध ही मिट गया। भ्रष्टाचार उठकर मानो शिष्टाचार हो गया। यह सब कुछ इसलिए कि ध्येय सत्ता और पश्चिम से आयातित सत्ता के शास्त्र ने बताया कि धर्म अलग है, राज्य अलग है। (Politics is Politics Business is Business) व्यापार व्यापार है, राजनीति राजनीति है। इसमें धर्म व नैतिकता का क्या काम—शुद्ध लाभ, वैयक्तिक अथवा समूहगत। व्यापक, विराट, सम्यक-जनहित से वहाँ छूट ही गया।

आन्ध्र और कर्नाटक, विशेषकर आन्ध्र के निर्वाचन से इन्दिराजी और उनकी काँग्रेस को स्पष्ट हो जाना चाहिए कि लौकिक और नैतिक यह सर्वथा दो और अलग आयाम नहीं है।

चाहिए, पर क्या हुआ है। दिल्ली निर्वाचन के रंग ढंग से यह तो सिद्ध नहीं होता है। निश्चय ही आवश्यक था कि यहाँ इन्दिरा काँग्रेस जीते। पर जीत पूरी तरह मन से आती, धन का योग उसमें उतना न होता, तो काँग्रेस को उससे कहीं अदि लोकशक्ति का सम्बल भी पुष्ट न हुआ होता? सत्ता प्राप्ति का उपचार तत्काल लाभ देने के अनन्तर अन्त में प्रतिक्रिया भी उत्पन्न कर सकता है।

इन्दिराजी की योग्यता के सब कायल है। राजनीति में वियुत्पन्न उनकी तुलना में दूसरा कोई नहीं दिखता है। पर यह दक्षता काम नहीं आ सकी। दक्षिण में बल्कि यहाँ तक कहा जा सकता है कि वही दक्षता काम दूसरे के आ गयी है। एक समय इन्दिराजी ने मन जीता। पर धन पर इस काम में बहुत भरोसा रखा जाएगा, तो मन देश का हाथ से निकल जाएगा। इसमें संशय नहीं है।

अनुमान अलग-अलग है। एक जानकार का कहना है कि इन्दिरा काँग्रेस ने अपने सेण्ट्रल फण्ड से ही इस चुनाव में 22 करोड़ रुपया खर्च किया। प्रत्याशियों के जेब से लगा वह अलग। हमें अंकों का भरोसा नहीं है, लेकिन प्रचार की अन्धाधुन्ध धूमधाम के हम साक्षी है। कहानियाँ तो बढ़ी-चढ़ी हैं। एक ने कहा कि उसने पोलिंग बूथ पर पाँच-पाँच सौ रुपये मतदाताओं के जेब में डालते देखा था। आवश्यकता यह नहीं है कि इन कहानियों पर विश्वास किया जाए। चिन्ता

की बात है यह है कि ऐसी कहानियाँ उगती और चलती है। बात शराबों के मुहय्या की जाने की भी की जाती है। इस तरह बातों और प्रवादों से वातावरण बिगड़ता है और आम धारणा बन चलती है कि राजनीति में जिस शक्ति का खेल है वह लाठी और धन की शक्ति है।

हर हालत में राजनीति के क्षेत्र को अपने को सम्भालना है। भारतीय जनता पार्टी के अध्यक्ष अटल बिहारी वाजपेयी इस पर अफसोस करते है मालूम होते हैं कि बहाने के लिए उनके पास धन कम था। अर्थात् शासकदल को विपक्ष की ओर से भी अपने को स्वच्छ बनाने की दिशा में विशेष सहारा नहीं मिलता। साफ है कि इस खेल में काम आनेवाला पैसा ज्यादातर काला पैसा होता है। क्या हमें पछतावे की जरूरत नहीं होनी चाहिए कि हमारे पास यह पैसा कम है?

यह हम सामान्य राजनीति और चरित्र की बात कर रहे हैं। निश्चय ही गाँधी के मान तक हम नहीं उठ सकते। लेकिन क्या नैतिक मूल्य केवल इसलिए है कि वह शास्त्रों में हो और जुबान पर हो लेकिन व्यवहार में उनकी तनिक भी संगति न रहने दी जाए? आन्ध्र की आज खबर है कि वहाँ के मुख्यमन्त्री रामाराव प्रमुख ब्रह्मचारियों का एक सम्मेलन बुला रहे हैं। धर्मपुरुष राजनीति के लिए अब तक अनावश्यक रहे हैं। गाँधी आदि से अन्त तक अपने को धार्मिक व्यक्ति मानते थे, इसलिए यह भी क्रमशः अनावश्यक होते गये हैं, लेकिन भारत सदा धर्म प्राण देश रहा है। अब भी उस ध्रुव से वह पूरी तरह हटा नहीं है। राजनीति ने धर्म की काया को भी बिगाड़ डाला था, लेकिन धर्म अपनी जगह से डिगता नहीं है, तो वह राजनीति के क्षेत्र को स्वच्छ करने में बड़ा सहायक हो सकता है। क्योंकि वहाँ तृष्णा नहीं है, सन्तोष रखना सिखाया जाता है, और इस प्रेरणा में आदमी लेता नहीं है और देने को तत्पर रहता है।

हम मानते हैं कि आगे आनेवाले दो वर्षों में इन्दिराजी अपनी लौकिक नीतियों में नैतिक मूल्यों के समावेश पर अधिक ध्यान देंगी और देश को क्षेत्रवाद से बिखरने से बचाने में सहायक होगी।

□

अहिंसा विज्ञान से सिद्ध नहीं होगी

'हमने आदमी को वैज्ञानिक ढंग से पैदा करने के सम्बन्ध में सोचा ही नहीं। अहिंसा-अहिंसा सिखाने की बहुत जरूरत नहीं है। 'नान एग्रेसिव' आदमी पैदा किया जा सकता है।'

यह कथन 'भगवान' का है। 'भगवान' रजनीश का।

विज्ञान पर 'भगवानों' को भी इस कदर भरोसा है। तब यह अपने को सर्वशक्तिमान माने तो अचरज क्या है?

लेकिन विज्ञान की उन्नति ने ही बता दिया है कि वह अपने में अपर्याप्त है, अर्द्धवृत्त है, और पूर्ण होने के लिए उसे शेष अर्द्धवृत्त की आवश्यकता है। अर्द्धसत्य असत्य ही हो सकता है।

प्रयोग हो रहे हैं प्रजनन के क्षेत्र में। उनसे बड़ी-बड़ी आशाएं भी रखी जा रही हैं। नोबेल पुरस्कार विजेताओं के शुक्रकणों को प्राप्त करने के लिए महिलाएँ उद्धत हुई है और आशा की जाती है कि इस प्रकार एक नए मानव-अंश की उपलब्धि हो सकेगी। उद्यत महिलाओं का चुनाव सूक्ष्म विवेचनपूर्वक किया गया है।

दर्प टूट जाएगा

मानव जाति से इन आशाओं को छीनने की आवश्यकता नहीं है, लेकिन विज्ञान का दम्भ और दर्प टूटे बिना न रहेगा। विज्ञानीय विश्लेषण की पद्धति से हम कहीं भी पहुँच जाएँ, अन्तिम संश्लिष्ट और अखण्ड तत्व तक नहीं पहुँच सकेंगे। उसे तत्व कहना भी भाषा की अपंगता है। वह है सत्यः अर्थात् जो है, अन्तिम, नितान्त, सनातन भाव से है। आकाश जिसके भीतर है और काल जिसके भीतर है, किन्तु जो सबके भीतर होकर भी सबके पार है।

आज जिस भीषण संकट में जगत अपने को अनुभव कर रहा है वह अपने को विज्ञान के हाथों में सौंप रहने के कारण। वह प्रकृति में और प्रकृति के साथ था, किन्तु उसके अहं ने बताया कि प्रकृति को हराकर उसमें बुद्धि का उदय हुआ

है। उसके द्वारा प्रकृति पर सम्पूर्ण जय पाई जा सकती है। उस विजय के लिए ही पुरुष है और पुरुषार्थ है। विज्ञान सब रहस्य पा लेगा और उस प्राप्ति के अनन्तर वह सबकुछ अपने अधीन होगा।

इस सम्भ्रम में विज्ञान तरक्की करता आया है, अपनी और इन्सान की। परमाणु को उसने भेद डाला है और परमाणु शक्ति के आविष्कार ने उसे समर्थ बना डाला है कि वह उससे अपने को और शेष सब को स्वाहा कर डाले।

परमाणु शस्त्रास्त्र का इतना भण्डार अब उसके पास है कि वह भूमण्डल पर से समूचे जीवन को बारम्बार, बारम्बार, नष्ट कर सकता है।

सृजन का प्रश्न

पर सृजन? मालूम होता है कि सृजन का प्रश्न उससे अलग है। निर्माण उसके वश का है और अद्‌भुत चमत्कारी निर्माण विज्ञान के फलस्वरूप हम अपने चारों तरफ देखते भी हैं। लेकिन परखनली के प्रयोग के बाद भी यह संदिग्ध ही बना हुआ है कि शिशु-सृष्टि विज्ञान के द्वारा हो सकती है। हम मानते हैं कि और सब-कुछ सम्भव है, पर जीवन सृष्टि सम्भव नहीं है।

रजनीश अहिंसा के लिए विज्ञान का सहारा बस समझ सकते हैं। हिंसा कहाँ से? अमुक हारमोन से। उसे कम कर दीजिए। लीजिए हिंसा खत्म। बहुत सीधा नुस्खा है। पर अहिंसा नकार नहीं है। इसलिए वह उतनी सीधी बात भी नहीं है। बधिया किया तो बैल ब्रह्मचारी नहीं हो गया। बस इतना हुआ कि वह हल के काम आ गया। अपनी गाड़ी में जोत लेना उसे आसान हो गया। इसी तरह हारमोन को कुचलकर, मारकर न कोई अहिंसक बन जाता है, न ब्रह्मचारी बना डाला जा सकता है। ये नकारात्मक धारणाएँ अब तक पोसी जा रही हैं और समझदार व्यक्तियों द्वारा यही परम आश्चर्य है। विज्ञान के सम्मोहन ने मनुष्य के साथ यहाँ अघट घटित किया है।

रजनीश कदाचित युद्ध का उपचार चाह रहे होंगे। निश्चय ही वह उपचार और समाधान अहिंसा में है। लेकिन अहिंसा हारमोन के अभाव से सिद्ध हो सकती होती तो युद्ध की उपज उसी क्षेत्र में विशेष न देखी जाती जहाँ हारमोनों की भाषा का खूब चलन है, और विज्ञान खूब उन्नत है। विज्ञान बराबर संहार की भाषा में समाधान सुझाता रहा है। युद्ध के रास्ते से मानव जाति समूचे इतिहास में से अपने लिए समाधान की स्थिति खोजती जा रही है। पर हर बार समाधान की जगह नये युद्ध की सम्भावना उग आयी दीखती रही है।

आंशिक नहीं, समग्र

किन्तु इस बार संहार होगा तो आंशिक नहीं होगा, समग्र होना, टोटल

होगा। अगर समाधान इसी में देखा जाए कि पृथ्वी मनुष्य के अस्तित्व से ही मुक्ति पा जाए तो बात दूसरी है। अन्यथा उस युद्ध की पद्धति के विषय में ही प्रश्न उठना आवश्यक हो गया है। मैं मानता हूँ कि वह प्रश्न विज्ञान ने अन्तिम रूप से हमारे सामने ला खड़ा किया है तो इसीलिए कि उत्तर की उसे किसी ओर दिशा से अपेक्षा है। नहीं, हिंसा का अभाव अहिंसा नहीं है। अभाव असत है, प्रकृति को असह्य है। इसलिए युद्ध की अक्षमता में युद्ध की समाप्ति नहीं है। निर्बल अहिंसक हो नहीं सकता है। हिंसा में यदि बल है तो अहिंसा वह है जो उससे अधिक प्रबल होगी। रजनीश मान लेते मालूम होते हैं कि बल होने के कारण ही बुद्ध है, बलहीनता में युद्ध की सम्भावना रहेगी ही नहीं। लेकिन जीवन को बलहीनता की भाषा में समझा नहीं जा सकता। उस दिशा में समाधान को देखना और खोजना नपुंसकता को ब्रह्मचर्य मान लेना है। मैं मानता हूँ कि कुछ इसी तरह की नकारात्मक धारणा में धर्म निवीर्य होता चला है और द्वन्द्वात्मक राजनीति ही मनुष्य की मनबुद्धि पर छाती चली गयी है। मनुष्य को अपना गौरव और साफल्य प्रतीत होता गया है इससे कि वह कितने दूसरे मनुष्यों को अपने अधीन बना सकता है। स्वाधीनता अनुभव हुई है दूसरों को पराधीन बनाने में। लगता है कि 'वह' है, इसी में 'स्व' सीमित हो आता है। सीमा-सम्भव है, इसलिए स्वयं का विकास इसमें है कि अन्य का अस्तित्व मेरे लिए शून्यवत शून्यता हो जाए। प्रभुता की वह भूख उन्नत और विकसित राष्ट्रों को घेरे बैठी है। जिस मनुष्य ने प्रकृति पर विजय पाने में सार्थकता देखी थी। उसकी जिजीविषा विजयोन्माद में निर्माता तक बढ़ आयी है। प्रकृति को वश में करने के बाद अब मनुष्य को वशवर्ती करना होगा। दो ही कोमें रहेगी, दो ही वर्ग, एक जेता, दूसरा विजित।

इस स्पर्धा और प्रतिस्पर्द्धा के जीवन-दर्शन को विज्ञान ने नाना प्रकार की साधन-सुविधाएँ उत्पन्न करके भरपूर सिंचन किया। परिणास्वरूप शस्त्र निर्माण की होड़ सम्भव है, और समक्ष परमाणु विस्फोटक युद्ध।

नहीं, अहिंसा विज्ञान से सिद्ध नहीं होगी। कारण, अहिंसा वह है जिसमें दूसरे को अपने निकट असिद्ध करना नहीं है, उलटे दूसरे में अपने को आहुत कर पाना है। यानि दूसरों में, उनके हितों में अपने को मिटा डालना है। विज्ञान से यह चीज हासिल होने वाली नहीं, बल्कि यह है जिसको अपने लिए विज्ञान को हासिल करना है। यानि कि वैज्ञानिक अपने विज्ञान को लोकहित से जोड़ें, और जहाँ वह लोकहित से न जुड़ पाए, वहाँ उस सहारे को तज देने में घबराए नहीं।

□

दर्पोद्यत सरकार, राजनीति और उभरता जनप्रतिरोध

अटरम-सटरम सब घट रहा है। आन्दोलन है और उसमें खूब खींचतान है। विपक्ष इसे विरोध के स्तर पर जन आन्दोलन स्वीकार करता है। राजनीतिज्ञों को शह मिली है, जयप्रकाशजी के व्यक्तित्व के कारण। चरणसिंह, अडवाणीजी, वाजपेयी ने लंगोट कसे हैं। ये अवसरवादी है जो केवल अपने स्वार्थों की पूर्ति हेतू आन्दोलन में है। शेषजन बँटा है, संशय में है, कुछ कहना कठिन है। रैलियाँ हैं, कहीं किराया दिया जाता है और दिया नहीं जाता तो भी लाखों की भीड़ है। राष्ट्र-मानस भंवर में पड़ आया है। जे.पी.-इन्दिरा संघर्ष बना है। जबकि फलश्रुति निल है। बुद्धिजीवी वर्ग ने बहुत कुछ उगला है। कुछेकों ने हिंसा के विस्फोट की बात सहज कही है। कहना है स्थिति काफी गम्भीर है। सर्वसेवा संघ में भी इस पर दरार है। बाबा (विनोबा) चुप है। इसे कई व्यक्ति सत्य से मुँह मोड़ना भी कह रहे हैं।

गुजरात में व्यापक दंगे हुए हैं। ऐसा माना जाता है कि बिहार में भी कुछ हिंसात्मक घट गया है। इस सबको मैं इसलिए ठीक मानता हूँ कि समाज सत्ता की अशान्ति से समझौता नहीं करता है तो वह कायर है। जो इस प्रकार की अशान्ति से नहीं टकराते, वे शान्ति नहीं ला सकते। जो समाज अशान्ति को चुनौती नहीं दे सकता वह शान्तिप्रिय समाज कदापि नहीं है।

देश में आज आग है। गरीब गरीबतर हुआ है। जो बीमार था वह मर गया है। फासला बढ़ा है निजी स्वार्थों के कारण। हमारे संस्थानों में हमारे ही देश का घुन लगा है। नीतियों व योजनाओं का कितना सुलझा रूप सामने आया है, देश सत्ताईस वर्षों में खूब जान गया है। 'गरीबी हटाओ' का फल उल्टा आया है। शासन पर काँग्रेस है। आड़ ले रहा है कम्युनिस्ट। देश की पचास प्रतिशत जनता अपना मत नहीं देती। छत्तीस प्रतिशत बहुमत है, शेष अट्ठारह प्रतिशत कटा है, बँटा है। लोकतन्त्र यहाँ नहीं है, यह स्पष्ट है, पंकित है और बनिया बैठा है। तस्कर है और 'मीसा' का तोहफा है। अम्पलायमेण्ट एक्सचेंज खुले हैं, आइये...बाल पक आए तो कोई आश्चर्य नहीं, उनकी लाइनों में खड़े-खड़े। धन

काले से सफेद बना है। फिर उसका क्या हुआ, कौन जानता है? रैलियों में लगा या कहाँ गया? पत्रकारिता पर मुक्का है। फिर भी थोड़ा लगता है। सुनता हूँ एक माँ ने अपने बच्चे को पाँच रुपये में बेच खाया। हूँ...हूँ...हैं। 'चाहिए' की भाषा का प्रयोग धड़ल्ले पर है। पोकरण में विस्फोट है। बिलबिलाते कीड़े वाला राशन है। आदि-आदि शब्दों को बढ़ाने की आवश्यकता नहीं है। बहुत है शेष, मैं भी जानता हूँ, आप भी। काँग्रेस जिस दिन गाँधीजी से अलग हुई, गाँधीनीति का त्याग किया। गाँधीवाद पकड़ा, जिसमें वाद है, वहाँ विवाद हो, नहीं कहा जा सकता। विवाद हुआ है, प्रतिवाद हुआ है। कर्म नहीं फिर धर्म के पीछे हाथ धोकर पड़ा है। दुनिया को मार्गदर्शन करनेवाला देश आज स्वयं रास्ता चाहता है। धर्म खो चुका है। गाँधी से जो कुछ मिलता था वह छोड़ा इसीलिए कि उसमें सेवा चाहिए, सत्ता सेवक हो आती है उसमें उन्हें खतरा दीखा, तो नीति का दोष नहीं सत्ता का ही दोष है। आज जनता सेवक बनी है, सत्ता स्वामी! जबकि होना उल्टा चाहिए था। वोटों के चक्कर में अपने खास गद्दी पर बिठाये को देखना पड़ रहा है। राजा और प्रजा का सम्बन्ध खत्म है। जनता है, देश है, बुद्धि का श्रम पर राज है। देश जिस पर टिका है वह टूट रहा है। जिच है, आस्था डगमगा आयी है। परेशानी है और आम आदमी केवल दर्शक बना है। पिसा है, रोजमर्रा की वस्तुएँ मुझ अदना को भी नहीं प्राप्त।

इतने सब पर कैसे आशा करें कि समाज संघर्षरत नहीं होगा। उसे नेतृत्व मिला है। उससे जो फूटा है, उसे संघर्ष कहना राजनीतिकों का प्रश्न है। आम जनता का आदमी परेशानियों से छूटना चाहता है। उसे इस प्रकार की खींचतान से कुछ नहीं मिलता। जे.पी. सत्यनिष्ठ व्यक्ति है। इन्दिराजी भी कम नहीं है। लेकिन दोनों में संघर्ष हो और ये नहीं कि इन्दिराजी के लिए कोई हीन भावना है। बांग्ला देश में हुआ काम सर्वमान्य है, लेकिन मानना होगा, इन्सान है, गलती हो सकती है।

एकता का बल कम हो, ऐसा नहीं चाहा है। टक्कर का मुद्दा उठे इससे पहले कुछ होना चाहिए। जहाँ ज्यादा परेशानी वहाँ ज्यादा रोष है, जोश हैं। फिर भी कहता हूँ कि आन्दोलन में शान्ति है। उसे आतंक, ईंट, रोड़ा, उपद्रव जैसा कुछ नहीं कहा जा सकता। अभिव्यक्ति है, क्यूँ हुई, यह सत्ता को सोचना है। उसके पीछे वेदना है, घुटन है। लाखों पेट की अग्नि है, ज्वाला है, भ्रान्ति कहीं नहीं है आन्दोलन के विषय में। यह गाँधी का देश है। जनता ने जितना गाँधी को समझा है, उतना राजनीतिज्ञ समझते हैं? गद्दी के कारण अनादर रखते हैं।

बातचीत एक राह है। ये राहें हमारी सरकार काफी दूसरों को समझाती आयी है। बातचीत परस्पर इनमें हुई। पता चला न के बराबर हुई। झुकाझुकी का सवाल

हो आया। बांग्ला देश में मानवता को समझनेवाली इन्दिराजी महामानवता यहाँ क्यों खो रही है? प्रश्न है देश में कुछ नहीं, विदेश में वे विश्वनीति की प्रेरक है। उन्होंने कहा, ''मैं किस मुद्दे पर उनसे बात करूँ। जे.पी. तो लोकतन्त्र को नष्ट करना चाह रहे हैं। दूसरा सवाल मुझे हटाने का है। दोनों मुद्दे कैसे मान्य हो सकते हैं?'' पूछना है, वह लोकतन्त्र है, जिसे इन्दिराजी बचाये रखना चाहती है? लोकतन्त्र तब है जब लोकप्रतिनिधि जन से अलग-थलग न हो। क्या ऐसा है? लोकप्रतिनिधि क्या शेष जन की सुनते हैं? भाई, झगड़ा क्या है? झगड़ा यही है। जनता का दिमाग फिरा नहीं है, जो जनता को नीचे आने को क्यों कहें? कुछ है, तभी कुछ है। जनता के पास जन है और मन है। मन वह तब तैयार करती है जब भय और दमन आता है। यह है अभिव्यक्ति उन लाखों की भीड़ की। कुछ है तभी छात्र सक्रिय हैं। आप इसे तर्क मानते हैं, मैं इसमें कोई त्रुटि नहीं देखता। जनता की हाय-हाय जब सुनी नहीं जाती। कीड़े वाला गेहूँ भी जब उसे नहीं मिलता पर्याप्त मात्रा में, आमजरूरत की चीजें होते हुए भी उसे जब क्यू में खड़े होकर भी वह नहीं मिलती, तब हो आता है कि सुनने वाला कोई नहीं है। सरकार जब इसे उपद्रव मानती है तो माने। वह इसलिए उपद्रव मानती है अपने हिंसक औजारों को चलाने का कोई रास्ता तो मिले। जनता, जो यथास्थिति से समझौता करे वह जनता नहीं। उसका कोई चरित्र नहीं। अपनी जनता को सरकार प्रतिक्रियावादी बताती है, तो संघर्ष नहीं आएगा तो क्या होगा? 'वादी' वह अगर है तो सरकार स्वयं विवाद खड़ा करती है। आन्दोलन उपजा है सत्ता की कमियों से और तिस पर इसलिए भी कि सरकार ने उसे चोट दी है अपने बराबर बन आने के लिए। ऐसे संघर्ष में किसका हित है? दोनों का एकदम नहीं। जनता और सरकार की कट्टरता में क्या देश का विनाश निहित नहीं है? वह यदि सुनती-देखती रहे तो ऐसे आन्दोलन का मौका ही क्यों मिले? बिमारी होने से डॉक्टर को लाभ होता है। ऐसा सत्ता क्यूँ कर चाहती है कि जनता के बिमार होने से उसे लाभ हो?

दो बातें एक सी पाता हूँ। जे.पी. कहते हैं भ्रष्टाचार दूर करने के लिए उठा हूँ। सरकार ने भी ऐसा कहा। पूछता हूँ फिर आन्दोलन का क्या अर्थ? लेकिन सरकार की बातचीत से इन्कार करना, संघर्ष के लिए खुली चुनौती है। मेरे मन में साफ हो आया है कि सरकार अपने पक्ष में कमजोर है और ऐसे ही आन्दोलन उठा भी है। सरकार कुछ करती नहीं। उसकी कथनी करनी में बड़ा अन्तर है। लोगों का विश्वास है कि अँग्रेज सरकार से न्याय की ज्यादा आशा थी अपनी सरकार से तो कतई नहीं है...। फिर क्या कहूँ! युद्ध की स्थिति की सोचता हूँ तो काँपता हूँ। पश्चिमी सभ्यता की बरबर्रता का देश नहीं हमारा जहाँ शासकों

को रातों-रात गोली से उड़ा दिया जाता है। गाँधी परम्परा है हमारी। छीन-झपट का सौदा यहाँ नहीं होना चाहिए। दो हाथ दोस्ती के बढ़ाने का ही हित है। कुश्ती भी करनी है तो दूसरे को मजबूत कर हराने की दृष्टि से नहीं। देश रेलियों के चक्करों के काबिल नहीं है। बस देश की हालत क्या है? देखें, देश के नेताजन? रोता बिलखता नहीं है! क्या इस भारत माँ का लाल! कैसी होगी जवानी जब बच्चे का जीवन गटर में पलता है! चीन का पड़ौसी पाकिस्तान है। पड़ौसी द्वेष और ईर्ष्या रखता है, निगाह उनकी लगी हैं! दो की लड़ाई में तीसरे की सफलता निहित है। समझे! गाँधीनीति में समाधान है, गाँधी को न भूले।

समझ आना चाहिए कि सरकार को कि उसका देश भूखा है, नग्न है। प्रसन्न तो आज कम से कम नहीं है। आएं मिलें, मिल-बैठकर सोंचे। ऊपरी सवालों को छोड़कर वहाँ जाएँ जहां समाधान है।
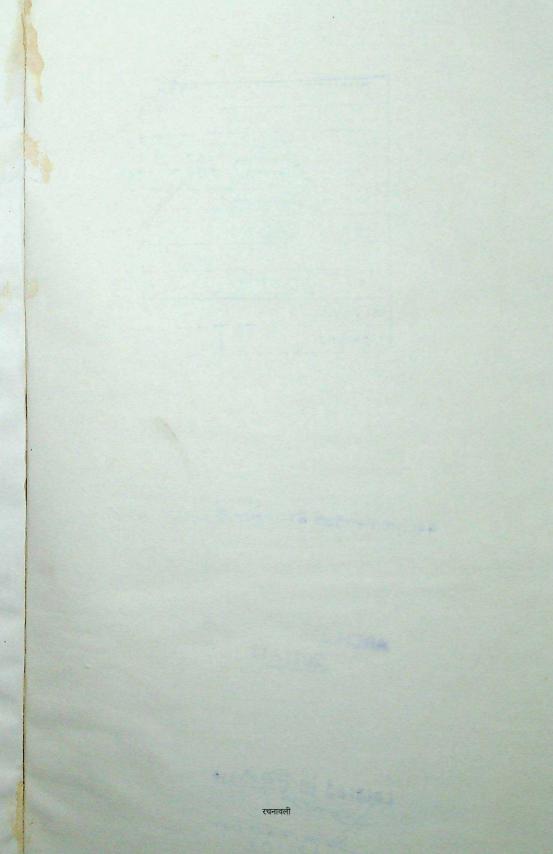
□□□

जैनेन्द्र
रचनावली

जैनेन्द्र कुमार

भारतीय ज्ञानपीठ

18, इन्स्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड, नयी दिल्ली - 110 003

संस्थापक : स्व. साहू शान्तिप्रसाद जैन, स्व. श्रीमती रमा जैन